गृह्यानुष्ठानों का सांस्कृतिक अन्वेषण

डॉ० रीना अस्थाना



पब्लिशर्स

गृह्यानुष्ठानों का सांस्कृतिक अन्वेषण

डॉ० रीना अग्रवाल



नाग पब्लिशर्स

गृह्यानुष्ठानों
का
सांस्कृतिक अन्वेषण

डॉ० रीना अस्थाना



नाग पब्लिशर्स
११ ए., यू.ए., जवाहर नगर
दिल्ली - ११०००७
भारत

राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली के वित्तीय सहयोग से प्रकाशित

नाग पब्लिशर्स

(i) ११ ए, यू. ए. जवाहर नगर, दिल्ली - ११०००७

(ii) जलालपुर माफी, चुनार, मिरज़ापुर, यू.पी.

दूरभाष: २३९५७४४०, २३९१५८८३, २३९६७९७५

ISBN ८१-७०८१-५८७-८

प्रथमं संस्करण् २००४

मूल्य : रूपये १२४.००

श्री सुरेन्द्र प्रताप द्वारा नाग पब्लिशर्स, ११ए, यू.ए., जवाहर नगर, दिल्ली-११०००७ द्वारा प्रकाशित तथा जी. प्रिंट प्रासेस, ३०८/२, शहजादा बाग, दया बस्ती, दिल्ली-११००३५ द्वारा मुद्रित तथा अक्षर योजक मोहन कम्प्यूटर प्वाईन्ट ८ए.यू. ए./३ जवाहर नगर, दिल्ली - ११०००७ ।

सम्मतिः

सुश्री-रीना-अस्थानालिखितस्य 'गृह्यानुष्ठानों का सांस्कृतिक अन्वेषण' इत्याख्यस्यग्रन्थस्य सम्यगनुशीलनं मया विहितम्। अनेनाऽनुशीलनेनैतत्सुष्ठु विज्ञापितं, यदेष ग्रन्थो वैदिकवाङ्मयस्य गृह्यसूत्राणां यत्सांस्कृतिकमध्ययनं प्रस्तौति, तदद्यावधिपर्यन्तलिखितानां सांस्कृतिकग्रन्थानां विषयेषु वैदिकवाङ्मयस्य किञ्चिन् नवनवानि प्रफुल्लितानि सुमनांसि समेषामावर्जयति। वैदिकगृह्यसूत्रेषु वर्णितानां संस्काराणामनुष्ठानानां च सामाजिकाऽऽर्थिक धार्मिकराजनैतिकक्षेत्रेषु किं महत्त्वं वरीवर्त्ति उत चैतेषां किमस्ति वैज्ञानिकं मनोवैज्ञानिकं वा प्रभावजातमिति सर्वमत्र सम्पक्प्रकारेणाऽऽम्नातं विदुष्या लेखिकया। अथ च गृह्यकर्मणि प्रयुक्तानां यज्ञपात्राणां सूचन्या सहायक ग्रन्थ सूच्या च ग्रन्थोऽयं नितरां समुपयोगी विहितः। लेखिकाया अनुसन्धानदृष्टिरपि पुस्तकेऽस्मिन्नितरां चकास्ति यतो ह्यत्राशेषाणि विवरणाति सन्दर्भपल्लवितानि दरीदृश्यन्ते। अनेन पुस्तकेन निश्चप्रचमेव वैदिकवैभवसुरभिता बोभूयिष्यते भारतीसंस्कृतिरिति लेखिकाया रीनाऽस्थानायाः शुभं कामयमानोऽहमवतिष्ठामीति शम्।

बृजेशकुमारशुक्लः
उपाचार्यः संस्कृतविभागे,
संयोजकश्च ज्योतिर्विज्ञानविभागे
लखनऊ विश्वविद्यालये
लखनऊ

प्राक्कथन

जिज्ञासा मानव की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। शिशु पाठशाला जाकर प्रथमतः प्रत्यक्ष तथ्यों के प्रति उत्सुकतापूर्ण दृष्टि से उनके विषय में जानने की इच्छा करता है। वास्तविकता का ज्ञान होने के पश्चात् ही उसे संतुष्टि होती है। शिक्षा का क्रमिक अध्ययन करते हुए उसकी गहराइयों की ओर गम्भीर चिन्तन की आवश्यकता होती है। इसी गम्भीर चिन्तन को जिसके द्वारा उसकी उपयोगिता का भान हो सके, इसे अनुसंधान कहा जाता है।

मानव जीवन में संस्कार का क्या महत्व है? यह संस्कार हमारे जीवन पर सामाजिक सांस्कृतिक दृष्टि से क्या प्रभाव डालते है यही जिज्ञासा इसका विषय है। यद्यपि जीवन को प्रथम अवस्था से संस्कारों के उत्सव के रूप में देखते हुए आ रहे है। उनको देखकर जो इच्छा प्रश्न के रूप व्यक्ति के मन में प्रस्फुटित होती है कि अगर संस्कार न किये जाए तो क्या व्यक्ति का जीवन एक सभ्य नागरिक कहलाने योग्य होगा? कदाचित नहीं क्योंकि संस्कार का उदय समुदाय की नागरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए होता है। जनसाधारण जाति के महत्व का समझकर सामुदायिक जीवन को किसी भी मूल्य पर सुरक्षित रखना चाहता है इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए नव विकसित सुमनों को अनुशक्षित किया जाता है जिससे वे सभ्यता तथा संस्कृति की रक्षा का भार वहन कर सके। सांस्कृतिक क्षमता के आधार पर ही कोई भी व्यक्ति समाज की सदस्यता प्राप्त कर सकता है।

वैदिक गृह्यसूत्रों में सामाजिक तथा सांस्कृतिक परिवेश अवश्य चित्रित हुआ है। इस ग्रन्थ का विषय इसी से संयुक्त होने के कारण समस्त विषयों का सांगोपान निरूपण अवश्य ही वैदिक गृह्यसूत्रकालीन संस्कृति का परिचायक बन सकेगा।

प्रस्तुत ग्रन्थ को परिपूर्ण करने में जिन महानुभावों का सहयोग प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में प्राप्त हुआ है उनके प्रति कर्तव्य ज्ञापन

लेखिका का पावन कर्तव्य है इस संदर्भ में सर्वप्रथम संस्कार और अन्य गृह्यकृत्यों को समझने में म.भ.पी.वी. काणे कृत **"हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र"** डॉ. राजबली पाण्डेय कृत **"हिन्दू संस्कार"** तथा प्रो. रामगोपाल रचित **"इण्डिया ऑफ वैदिक कल्पसूत्राज"** से महत्वपूर्ण सुविधा मिली। अतः महान मनीषियों के प्रति लेखिका श्रृद्धया विनत है।

पारस्कर गृह्यसूत्र का अध्ययन लखनऊ विश्वविद्यालय में संस्कृत के प्रवाचक परम पूज्य डॉ. गुरू डॉ. ब्रजेश कुमार शुक्ला के सान्निध्य में किया था। उन्हीं के आर्शिवाद से यह ग्रन्थ यजुर्वेदीय गृह्यानुष्ठानों का सांस्कृतिक अनुशीलन भी पूर्ण हुआ है।

प्रस्तुत पुस्तक को पूर्ण करवाने में डॉ. ब्रजेश कुमार शुक्ल प्रवाचक संस्कृत विभाग लखनऊ विश्वविद्यालय ने अपना मार्ग दर्शन और प्रोत्साहन प्रदान किया। इस कृतज्ञता को शब्दों में बांध पाना दुष्कर कार्य है।

१३/१९५, निकट गोमती स्कूल
मो. महतवाना सण्डीला,
हरदोई (उ.प्र.)

रीना अस्थाना

भूमिका

गृह्यानुष्ठान मूलतः दो शब्दों से मिलकर बना है। "गृह्य तथा अनुष्ठान।" गृह्य का अर्थ है घर तथा अनुष्ठान का अर्थ है धार्मिक यज्ञ तात्पर्य यह है कि जो कृत्य धार्मिक मान्यता के रूप में किये जाते है उन्हें गृह्यानुष्ठान कहते हैं।

जब तक मनुष्य अपनी जीविका के लिए शिकार पर अवलम्बित रहता था तथा एक स्थान से दूसरे स्थान पर अपने सामान को अपने साथ लेकर भ्रमण किया करता था तब तक उसमें न सभ्यता का उदय न संस्कृति का उत्थान हुआ था। मानव का विकास करने के लिए उसके जीवन में कतिपय संस्कार विर्निमित किये गये जो परिवार के अर्न्तगत किये जाते थे मानव शरीर वेदानुकूल आचरण करने के लिए प्रदान किया गया है क्योंकि शास्त्र वचन है – "आचारहींन न पुनन्ति वेदाः"।

तात्पर्य यह है कि आचारहीन व्यक्ति न पवित्र होते है और न पवित्र आचरण करते है मानव जीवन को अपवित्रता से हटाकर पवित्रता की ओर तथा मानव के प्राकृतिक जीवन को शालीन बनाकर संवारना तथा जीवन में आध्यात्मिक कलात्मक और सेवात्मक पक्ष की प्रतिष्ठा और विकास करना ही इन गृह्यानुष्ठानों का उद्देश्य था। गृह्यानुष्ठानों में प्रतिपादित कृत्य प्रायः समन्त्रक होते थे जिनकी प्राचीनता वैदिक काल तक पहुँचती है।

संस्कारो का मानव जीवन में विशेष महत्व है संस्कारों के द्वारा मानव के दोषों को दूर करके उसे शुद्ध करने में नितान्त सहायक होते है। मानव का सर्वागीण विकास करना ही इन गृह्यानुष्ठानों की आधार शिला है इसके महत्व को दृष्टि में रखकर प्राचीनकाल से ही वेदो में गृह्यसूत्रों की रचना की गयी है। गृह्यसूत्र कल्पसूत्र का एक अंग है जिसमें कर्मकाण्ड का ही निरूपण किया गया है। संस्कारों के माध्यम

से मानव से संबध मानव जीवन में संस्कारों का योगदान संस्कारों की वैज्ञानिकता आदि पक्षों का उल्लेख है।

मूलतः गृह्यसूत्र ऋग्वेद से ही रचे हुये है। परन्तु पारस्कर मुनि द्वारा रचित पाररकर गृह्यसूत्र एकमात्र गृह्यसूत्र है इसमें मानव जीवन के प्रत्येक पक्ष पर प्रकाश डालना ही इस काव्य का प्रमुख लक्ष्य है।

प्रस्तुत ग्रन्थ प्रबन्ध नौ अध्याय में विभक्त है अध्याय क्रम से इसका प्रतिपाद्य इस प्रकार है।

प्रथम अध्याय में गृह्यसूत्र कल्पसूत्र का अंग है क्योंकि कल्प का व्युत्पत्ति मूलक अभिप्राय यज्ञ के विभिन्न विधानों का सर्मथन और निरूपण है। यज्ञ के सूत्रों का निरूपण करना ही इनका विषय है। गृह्यसूत्रों का उद्‌भव एवं विकास के अन्तर्गत मुख्य रूप से आर्यो के दैनिक धार्मिक जीवन से सम्बन्धों का वर्णन किया गया है। इनके जीवन की प्रत्येक घटना और क्रिया में धार्मिक विश्वासों और श्रद्धा पर निर्भर थी यही गृह्यसूत्रों के उद्‌भव का मूल स्रोत था गृह्यसूत्रो के विषय विस्तार को जीवन से सम्बन्ध संस्कार दैनिक जीवन के होमकर्ता तथा अन्न की बलि, मासिक पर्वो पर किये जाने कर्म प्रायश्चित कर्म, वार्षिक कर्म से सम्बन्ध कर्म श्रौतकर्म सम्बन्धी कृत्य जैसे श्राद्ध आभिचारिक कर्म अभिमन्त्रणा के निर्देश आदि वर्गो में विभक्त किया गया है गृह्यसूत्रों में मुख्यतः इन याज्ञिक कर्मो और संस्कारों का वर्णन है जिनका सम्बन्ध मुख्यतः गृहस्थ से है सामाजिक रीति रिवाजो प्रथाओं श्राद्ध कर्म पञ्चमहायज्ञ तथा अभिचारिक कर्मो का निरूपण ही गृह्यसूत्रों का वर्ण्य विषय है। गृह्यसूत्रों में ११ से १८ संस्कारों तक का विवेचन किया गया है। गृह्यसूत्रों की कतिपय विशेषतायें है। गृह्यसूत्रों का अत्यधिक महत्व है क्योंकि इसमें एक ओर संस्कार को जन्म दिया तो दूसरी ओर शास्त्र निष्ठ भारतीय ब्राह्मण धर्म तथा वर्णतेंगत धर्म निरूपण है। संस्कार क्या है? गृह्यसूत्र कालीन जीवन दर्शन के अर्न्तगत आशावादी दृष्टिगत व्यवहारिकता आत्म संयम सत्य आस्था और उदारता सामाजिक आधार पारिवारिक जीवन खान पान भोजन पेय गृहपात्र अजिन ऊनी तथा रेशमी वस्त्र शिक्षा पद्धति शैक्षिक जीवन के अन्तर्गत स्नातक का अर्थ तथा समाज में नारी की मनोविनोद के साधन कृषि पशुपालन अन्य उद्यम हस्तकलायें यातायात

के साधन राजनीति व्यवस्था के अर्न्तगत सभा समिति का स्थान तथा गृह्य सूत्रकालीन आर्यो की दैनिक यज्ञ किया आदि बिन्दुओं पर संक्षिप्त में प्रकाश डाला गया है। इसके अतिरिक्त पञ्च महायज्ञ होम सन्ध्यावन्दन का भी निरूपण किया गया है। उस समय समाज पूर्ण रूप से सुव्यवस्थित सुसंगठित व सुसंस्कृत था समाज का महान आर्दश 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' द्वारा अपनी संस्कृति को विश्वभर में प्रसारित कर अमृतत्व के पद को प्राप्त करता है।

द्वितीय अध्याय में गृह्यनुष्ठानों का परिचय के अर्न्तगत मानव जीवन को उच्च एवं सुन्दर बनाने के लिए हमारे ऋषियों ने जिन रीतियों का सृजन किया वे ही वस्तुतः आगे चलकर संस्कार नाम से प्रसिद्ध हो गये संस्कार का सम्बन्ध हमारी समस्त सभ्यता और संस्कृति की जननी से है क्योंकि संस्कार ही वह प्रक्रिया है जिसके करने से पदार्थ या कोई व्यक्ति किसी कार्य को करने में सक्षम हो जाता है। संस्कार की आवश्यकता लोगों में संस्कार के अभाव में विकृत मनोवृत्तियों को दूर करने के लिये थी संस्कारों के प्रयोजन सरल विश्वास तथा अकृत्रिम मन की सहज सादगी से उदिष्ट है इसका उद्‌भव सामाजिक विकास और उन्नति की नियामक चेतन शक्तियों के ही कारण होती है। अभीष्ट प्रभावों का आकर्षण संस्कारों का भौतिक प्रयोजन अभिव्यक्ति का माध्यम नैतिक प्रयोजन है। संस्कार व्यक्ति के व्यक्तित्व के निर्माण और विकास में सहायक होते है। संस्कार शब्द को विभिन्न अर्थो में प्रयुक्त किया गया है जैसे मीमांसा दर्शन के अनुसार 'कर्मबीजं संस्कारा:' अर्थात् संस्कार ही कर्म के बीज है। संस्कारों की संख्या पर ध्यान देने से ज्ञात होता है कि उनके उद्देश्य प्रथक थे उपनयन जैसे संस्कारो का सम्बन्ध आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक उद्देश्य से था उनसे गुणसम्पन्न व्यक्ति से सम्पर्क स्थपित होता था इनका मनोवैज्ञानिक महत्त्व भी था संस्कार करने वाला व्यक्ति एक नये जीवन को आरम्भ करता है जिसके लिये वह नियमों को पालन के लिये प्रतिश्रुत होता है गर्भधान पुसंवन तथा सीमन्तोन्नयन आदि संस्कारों का महत्त्व रहस्यात्मक एवं प्रतीकात्मक था संस्कारों की संख्या ११ से लेकर ४० तक गिनायी गयी है परन्तु उनमें से मात्र १६ संस्कारो को ही मान्यता प्राप्त है।

गर्भाधान संस्कार से ही संस्कारो का प्रारम्भ होता है क्योंकि इसके द्वारा पुरूष स्त्री में अपना बीज स्थापित करता है। संस्कार तत्व में कहा गया है कि जो व्यक्ति गर्भधान की विधि के अनुसार संभोग करता है तो वह पत्नी में वेदाध्ययन के योग्य भ्रूण स्थापित करता है इसके लिये उपयुक्त समय का ध्यान रखना पड़ता था पूर्णिमा अमावास्या आदि पुण्य तिथियों तथा अशास्त्रीय वार कुयोग पर्वदिन अशौच आदि दिनों को छोड़कर धर्म बुद्धि से युक्त होकर स्त्री कर्म करने की शास्त्र आज्ञा देते है इसके विरूद्ध चलने का निषेध किया गया है। पुसंवन संस्कार का सीधा सम्बन्ध स्त्री से है इस संस्कार के पीछे पुत्र प्राप्ति का उद्देश्य निहित था इस संस्कार के करने से अश्वत्थ (पिप्पल वृक्ष) की तरह विशाल और सुदृढ़ होता है। इसके द्वारा वह गर्भ को पुरूष या नर बनाता है। सीमन्तोन्नयन संस्कार द्वारा माता पिता से उत्पन्न है दोष दूर करता है। इसमें गर्भिणी स्त्री के संस्कार केशों को ऊपर उठाया जाना ही सीमन्तोन्नयन संस्कार है यह एक क्षेत्र संस्कार है यह छठे या आठवें मास तक हो सकता है। सोष्यन्ती कर्म पुसंवन के पश्चात प्रजननकाल में क्षिप्रप्रसवानार्थ सोष्यन्ती होम का विधान करने वाले संस्कार को क्षिप्रप्रसवन की संज्ञा से अभिहित किया गया है। इसमें शिशु को गर्भ से बाहर आने की प्रार्थना की गयी है। जातकर्म संस्कार उत्पन्न हुये बालक का संस्कार है। मेधाजनन संस्कार शिशु के दाहिने कान में मन्त्रोच्चारण पूर्वक किया जाता है। यह जातकर्म का प्रमुख अङ्ग है। आयुष्य कर्म में बच्चे की नाभि पर मन्त्रोच्चारण करना या लम्बी आयु के लिये नाभि या कान में कुछ कहना है। कर्णवेध संस्कार से जन्म के बारहवें दिन किया जाता है इसके करने से शिशु निरोग रहता था जो गुरु कान को सत्य के साथ छेदता है बिना पीड़ा दिये जो अमृत डालता है वह अपने माता पिता के समान है ऐसी भावना इस संस्कार में निहित था।

'य आतृवच्य वितथेन कर्णविद:ख कृव्वमृत स्प्रयचदनातं मन्येत पितरंमातरं च तस्कै न ब्रुहतेत्कतमत्वनाहै'

निष्क्रमण में पिता पुत्र को सूर्य को और दिखाता और मन्त्रोच्चारण करता है नाम अखिल व्यवहार का हेतु है। वह शुभावह कर्मो में भाग्य का हेतु है। नाम से मनुष्य यशस्वी होता है इस संस्कार

का फल आयु तथा तेज की वृद्धि एवं लौकिक व्यवहार की सिद्धि बताया गया है जिस समय मनुष्य के भावों का विकास उसी समय वह अपने जीवन में दैनिक व्यवहार की वस्तुओं के नामकरण के लिये प्रयत्न शील रहा। नाम से ही मनुष्य कीर्ति प्राप्त करता है। नाम रचना बालक के सन्दर्भ में बालिका के सन्दर्भ में नामकरण मुहुर्त विधि आदि पर पूर्ण विवेचना की गयी है।

अन्न प्राशन संस्कार का उद्देश्य यह था कि शिशु उचित समय पर अपनी माता के स्तन से पृथक होकर शारीरिक विकास के लिये ठोस आहार पर आश्रित होता है अन्नप्राशन संस्कार में विविध प्रकार के भोजन रस आदि का प्रयोग किया जाता था।

चूड़ाकरण संस्कार व्यक्ति को दीर्घ आयु सौन्दर्य तथा कल्याण की प्राप्ति था। उपनयन संस्कार शैक्षिक जीवन प्रारम्भ करने का प्रथम संस्कार था गृह्यसूत्रों के अनुसार उपनयन शाश्वत तथा प्रत्येक द्विज के लिये अनिवार्य था। उपनयन संस्कार का वास्तविक स्वरूप मात्र इतना ही लक्षित होता है कि शिष्य के आचार्य के निकट आने तथा ब्रह्मचर्य जीवन में प्रवेश कराने के अतिरिक्त कुछ नहीं था। इस संस्कार का प्रयोजन शिक्षा था और छात्र को आचार्य के समीप ले जाने का कर्मकाण्ड गौण था इस संस्कार के अनर्तगत आयु उपनयन का मूहूर्त आयोजनायें कोपीन मेखला धारण किया जाता था। दण्ड बटुक को उसकी सुरक्षा के लिये प्रदान किया जाता था इसे प्रजापति ने धर्म के अवतार एव अपने पुत्र के रूप में जन्म दिया दण्ड की लम्बाई प्रत्येक वर्ण के वटुक के लिये अलग-अलग निर्धारित थी। इसके पश्चात आचार्य वटुक के हृदय का स्पर्श करता था फिर उसको स्वीकार करता था विद्यार्थी को सावित्री मंत्र का उपदेश उसकी योग्यता के अनुसार एक पक्ष मास या वर्ष भर दी जाती थी। प्रत्येक वर्ण के लिये सावित्री मंत्र का उपदेश अलग-अलग छन्दों में बताया गया है। उपनयन संस्कार एक लम्बी तप: साधना का संस्कार था जिसमें वह ब्रह्मचारी की जाज्वल्यमान तपोमूर्ति को सागर के तट पर खड़ा हुआ वर्णित किया गया है। स्नान किये हुये भूरे एवं लाल रंग के स्नातक को अतीव प्रभावशाली कहा गया है। स्नातक तीन प्रकार के बताये गये है जो अपनी योग्यता के अनुसार होते थे। समावर्तन संस्कार एक

प्रकार से विवाह को अनुमति प्रपत्र था क्योंकि इसके अभाव में कोई व्यक्ति विवाह नहीं कर सकता था।

विवाह संस्कार मानव जीवन का एक आवश्यक एवं अपरिहार्य संस्कार है इस विवाह रूपी सागर में पति पत्नी दोनों एक दूसरें का आश्रय लेकर पार करते हैं। विवाह समस्त गृह्यानुश्ठानों का उद्‌गम अथवा केन्द्र है पहले से ही यह मानकर चलते है कि साधारण परिस्थितियों में समाज का प्रत्येक व्यक्ति विवाह करके गृहस्थ जीवन व्यतीत करने की अपेक्षा करता है। विवाह एक यज्ञ माना जाता था जो व्यक्ति विवाह कर गृहस्थ्य जीवन में प्रवेश नहीं करता था उसे यज्ञहीन कहा जाता था। विवाह संस्कार सत्य और कर्तव्य पर प्रतिष्ठित था विवाह दम्पती के आत्मा, मन, प्राण तथा शरीर को आध्यामिक सम्बन्ध द्वारा सुदृढ़ करने का एक चिरस्थायी प्रयत्न था विवाह का उद्देश्य स्त्री धारा को पुरूषधारा में मिलाकर उसे मुक्ति की अधिकारिणी बनाना तथा दोनों की अनर्गल अनियन्त्रित पशु प्रवृत्तियों को नियन्त्रित कर दोनों की शारीरिक मानसिक बौद्धिक व लौकिक पारलौकिक तथा आध्यात्मिक उन्नति करना और दोनों के मधुर समन्वय से दोनों की पूर्णता सिद्ध करना एवं सांसारिक सुख शान्ति प्रदान करना है। विवाह के द्वारा उत्तम धार्मिक सन्तान की उत्पत्ति द्वारा पितृ ऋण होना तथा प्रजातन्तु की रक्षा करना है। यह केवल पुरूषजाति के लिए है। पुरूष जाति के ऊपर देवऋण ऋषि ऋण तथा पितृऋण – ये तीन ऋण है। वेद वेदागों के स्वाध्याय से ऋषि ऋण, यज्ञों के अनुष्ठान से देव ऋण और धर्मानुकूल पुत्रोत्पादन द्वारा पितृ ऋण से उऋण होकर मोक्ष में मन लगाना चाहिए। विवाह का एक उद्देश्य स्त्री एवं पुरुष के मधुर पवित्र समन्वय तथा सामञ्जस्य द्वारा परिवारिक सामाजिक तथा राष्ट्रीय जीवन की सुव्यवस्था एवं सुख स्वास्थ्य शान्ति की रक्षा करना है। विवाहरूपी पवित्र संस्कार द्वारा स्त्री अपनी स्वभाविक प्रकृति, प्रवृत्ति और अधिकार के अनुकूल नियोजित कर देवऋण, ऋषिऋण तथा पितृऋण से मुक्त होकर अंत में निःश्रेयस का अधिकारी बन जाता है। विवाह संस्कार के समय कन्या जिन प्रतिज्ञाओं के साथ वर को आत्मसर्मपण करती है और वह इसे स्वीकार करता है उनसे भी इन्ही तथ्यों की पुष्टि होती है।

विवाह संस्कार में मानव सभी प्रकार यज्ञ करते हुये जीवन के आखिरी पड़ाव मृत्यु को प्राप्त करता है। मृत्यु जीवन का एक ऐसा शाश्वत सत्य है जिसे कोई सुख नहीं मोड़ सकता। प्रत्येक व्यक्ति को इसके अस्तित्व को स्वीकार करना पड़ता है। मृत शरीर को अग्नि प्रदान करके वैदिक मन्त्रों द्वारा दाह किया में सम्पन्न किया जाता है। वर्ण और आश्रम के अनुसार दशमात्र विधान षोडश श्राद्ध तथा सपिण्डीकरण आदि क्रियाए और्ध्वदैहिक मानी जाती है, इनका प्रयोग अन्त्येष्टि संस्कार के अन्तर्गत किया जाता है।

तृतीय अध्याय गृह्यानुष्ठान में जिस समाज का प्रतिबिम्ब है उसने सर्वांगीण सामाजिक जीवन के विकास द्वारा एक मानव संस्कृति का विकास किया था। सामाजिक जीवन उदार सिद्धान्तों पर आधारित था। उससे जीवन के प्रत्येक पहलू का स्पर्श किया गया था। जीवन के भौतिक तथा आध्यात्मिक पहलू का स्पर्श किया गया था। जीवन का ऐसा क्रम बनाया गया था जिससे शरीर मन बुद्धि तथा आत्मा का सामंजस्य पूर्ण विकास किया जा सके। आर्य अपने देवताओं से सर्वदा यही प्रार्थना किया करते थे कि हमें बल प्रदान करो धन प्रदान करो। तथा संसार के सुख दुःख के बन्धनों से मुक्त कर शाश्वत शान्ति प्रदान करो। ईश्वर ने मानव मात्र को शरीर दिया है। गर्भ स्थिति से लेकर चितारोहण या गर्तप्रवेश तथा इस पाँच तत्व के पुतले के विकास के शारीरिक विकास मानसिक व आत्मिक विकास के मार्ग में बाधारूप न बनकर उनका सहायक ही बने शरीर के विकास के लिये शरीर शास्त्र को समझना आवश्यक माना गया था। आत्मा को समझकर उसे जीवन मरण के बन्धन से मुक्त करना ही मानव जीवन का एक मात्र लक्ष्य है। धर्म अर्थ काम, मोक्ष आदि प्राप्ति के लिये मनुष्य को जीवित रहना चाहिये मानव का शारीरिक मानसिक तथा आध्यात्मिक शक्तियो के विकास द्वारा सर्वांगीण सामाजिक जीवन का विकास किया गया था।

आर्यो ने सांस्कृतिक विकास में व्यक्ति व समाज के पारस्परिक संबध व उत्तर दायित्व को समझकर दोनो के मध्य सुन्दर सांमजस्य स्थापित किया। आश्रम व्यवस्था के विकास के द्वारा मानव जीवन को चार विभागों में विभाजित किया था इन आश्रमों में वैयाक्ति विकास

की पूर्ण व्यवस्था रहती थी इन आश्रमों द्वारा समाज ऐसे व्यक्तियों को जन्म देता था जो स्वार्थ अहंकार ईर्ष्या द्वेष आदि मानव षड्रिपुओं कों नियन्त्रण में रखकर लोककल्याण की भावना से प्रेरित होकर जीवन की पहेलियो को समझते हुये शाश्वत सुख की प्राप्ति और स्थापना में अपना समस्त समय लगा देते थे। समाज के विभिन्न समुदायों के कर्तव्यों व उत्तरदायित्वों को निश्चित करता था जिन्हे धर्म के नाम से जाना जाता था।

वर्गचतुष्टय को व्यवहारिक स्वरूप प्रदान करने के लिये आर्यो ने जीवन का सामाजिक ढांचा इतना मजबूत बनाया कि उसके कतिपय अंश आज भी द्रष्टव्य होते हैं। इन संस्थाओं में वर्णाश्रम व्यवस्था राजपद तथा समाज को कार्य विभाग के सिद्धान्त के आधार पर चार विभागों में विभाजित किया गया था इन चारों वर्णों ने मिलकर समाज की सम्पूर्ण आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे उसकी धार्मिक अध्यात्मिक व बौद्धिक आवश्यकताओं की पूर्ति का उत्तरदायित्व ब्राह्मणों पर था वे उत्तम विचारों व आचार द्वारा समाज का नेतृत्व कर उसे सन्मार्ग में प्रवृत्त करते थे। समाज का रक्षा का भार क्षत्रियों पर था जो सैनिक शक्ति के विकास में राजतन्त्र को मजबूत बनाकर बाह्य व आन्तरिक आपत्तियों से समाज की रक्षा करते थे। चतुर्थ वर्ण शुद्र समाज की सेना से संबधित था।

सामाजिक जीवन में आश्रम व्यवस्था का महत्व भी अधिक था इस व्यवस्था के अनुसार मनुष्य के जीवन को चार विभागों में विभक्त थे। आश्रमों द्वारा अपने जीवन को पूर्णतया अनुशासन युक्त बनाकर विभिन्न कर्तव्यों व उत्तरदायित्वों का निर्वाह करने की शक्ति प्राप्त करते थे। वे इन आश्रमों द्वारा पितृऋण ऋषिऋण व देवऋण को भी चुकाते थे। ब्रह्मचर्याश्रम में विद्याभ्यास व तपद्वारा शारीरिक मानसिक विकास करना पड़ता था। तत्पश्चात गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर सन्तानोत्पत्ति द्वारा समाज के प्रति अपना कर्तव्य पूर्ण करना पड़ता था। प्रत्येक गृहस्थाी को समाज को कल्याण के लिये जीवित रहना पड़ता था। आश्रम व्यवस्था के कारण आर्यो में अनुशासन की भावना की जागृत होती थी स्वार्थ

अहंकार आदि उनसे दूर रहते थे तथा वे अपने को समाजोधारक समझ उसी में अपना जीवन व्यतीत करते थे इस आश्रम व्यवस्था से एक लाभ और था उसके कारण प्रवृत्ति निवृत्ति मार्गो के मध्य सामञ्जस्य स्थापित किया गया था।

समाज पूर्ण रूप से सुव्यवस्थित सुसंगठित व संस्कृत था उसका जीवन सांमजस्य पूर्ण था तथा उसका प्रत्येक व्यक्ति वर्ग चतुष्ट्य की प्राप्ति में अपने कर्तव्यों की इतिश्री समझता था इस समाज का महान आर्दश "कृण्वन्तो विश्वमार्यन" द्वारा अपनी संस्कृति को विश्वभर को प्रसारित कर अमृतत्व के पद प्राप्त करता था।

चतुर्थ अध्याय गृह्यानुष्ठान और आर्थिक जीवन के अर्न्तगत आर्य कृषि कर्म में पूर्ण निष्णात थे। कृषि कृम वैदिक ऋषियों के मन्त्र का भी विषय बना यह कृषि कर्म की प्रधानता का द्योतक था। उस समय ऋषि उपदेश देता है कि कृषि ही करो और इससे प्राप्त वित्त को पर्याप्त समझकर उससे प्रसन्न रहो। वेदों से ही सर्वप्रथम कृषि का प्रादुर्भव हुआ क्योंकि अथर्ववेद में ऐसा उल्लेख प्राप्त होता है कि प्रथु ने पृथ्वी विस्तार करके कृषि कर्म द्वारा फसल पैदा की और अश्विन देवताओं ने मनु को बीज बोने की कला सिखलायी कृषि के लिये सर्वप्रथम भूमि के भेद कृषि के भेद, क्षेत्रपति कृषि के भेद, क्षेत्रपति के साधन हल, सीता, फाल, शुनासीर, इषायुग वस्त्र के शत्रु धूप और हिम, चूहा आदि से सावधान होकर सिंचाई की जाती थी, अन्न के प्रकार फसले शवीधुक, करम्भ, अयूप यवासिर, श्यामाँक आदि से परिचित थे। पशुधन से व्यक्ति की सम्पत्ति का मूल्यांकन उस समय साधन था पशु विनिमय से वस्तु का क्रय विक्रय भी सम्भव था इसीलिये पशु के स्वास्थ्य की कामनायें की जाती थी। पशुओं के प्रकार, गाय ऋषभ, अश्व, भेड़ अवि और रासभ उष्ट्र कुत्ता अज हाथी इत्यादि पाले जाते थे। इन पशुओं को पालने का पृथक उद्देश्य थे। उस समय औषधियों और वनस्पतियों का भी पूर्ण-ज्ञान आर्यो का था। वृक्षों में अश्वत्थ शमी उदुम्बर पर्ण खादिर बिल्व वेणु वृक्ष लगाये जाते थे। विविध शिल्पको

निर्माण करने वाले बढ़ई, रथकार, लोहार, बुनकर, चर्मकार, हुआ करते थे जो अपने अनुसार व्यवसाय करते थे कतिपय उद्योग भी उस समय होते थे। धातुओं में रजत, अयस, तांबा, कांसा आदि प्राप्त थी। इन सभी विवरणों के आधार पर ज्ञात होता है कि उस समय आर्थिक जीवन पूर्ण रूप से समृद्ध था।

पंचम अध्याय गृह्यानुष्ठान और धार्मिक जीवन के अन्तर्गत मानव को अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि करा दे वही धर्म है। अभ्युदय मानव सभ्यता की प्रगति का द्योतक है जिसमें काम और यश की प्रधानता है धर्म का आधार नीति शास्त्र है। व्यक्तित्व के जितने सम्पर्क है धर्म भी उतने ही प्रकार का होता है। व्यक्ति का परिवार समाज के साथ जो संबन्धों का निर्वाह है वही धर्म के नाम से प्रख्यात है। मानव जीवन का महत्व धर्म के ही कारण है। आहार निगृभय और मैथुन आसुर प्रवृत्तियाँ है जो मानव इस पशुत्व से ऊपर धर्म साधन के द्वारा ही उठ पाता है। धर्म की पहचान मनु के शब्दों में सर्वप्रथम आत्मप्रियता से होती है जो वस्तु आत्मा को प्रिय है वही उसे धारण भी करती है। स्वभावतः आत्मा सदगुण और सतकर्म की ही ओर आकृष्ट होती है। वस्तुतः कर्तव्य पालन ही धर्म है जो मानव को प्रवृति से हटाकर निवृत्ति की ओर ले जाता है। धर्म प्रवृत्ति और निवृत्तिमूलक दोनों है। उससे अभ्युदय का सम्पादन होता है और जो प्रवृत्तिमूलक है वह निःश्रेयस की ओर ले जाता है मनु के अनुसार धर्म का लक्षण इस प्रकार है –

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रिय निगृहः
द्यीविद्या सत्यक्रोधो दशकम् धर्म लक्षणम्।।

गृह्यानुष्ठानों के अनुसार देवी देवता आदि की परिकल्पना और धारणा आस्थापरक मनोवृत्ति पर केन्द्रित थी। संस्कृति रीति रिवाज रहन सहन खान पान नियम वैचारिक संहिताये शिक्षा तथा मान्यता आदि सभी कुछ वेदों पर ही आश्रित है। देवता सृष्टि परमात्मा की ही विभूति है। इतने अधिक देवताओं और उनके कार्यों को देखते हुये यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि ये समस्त देवता परस्पर केवल अविरोध भाव से ही नहीं अपितु उन्नयक भाव से भी चराचर जगत के जो

शाश्वत नियम हैं उनके अनुसार 'सत्य और ऋत का पालन करते हुये अपने कर्तव्यों का विधिपूर्वक निर्वाहन करते हैं और प्रेरणा प्रदान करते हैं कि संम्पूर्ण मानव जाति शाश्वत नियमों का विधिवत् पालन करते हुये समग्र द्वन्द्व तथा द्वेष को मिटाकर सत्कर्म करते हुए पवित्रतापूर्ण जीवन यापन करें इन देवताओं की समग्र प्रवृत्तियाँ जगत के कल्याणार्थ है वे अज्ञान और अन्धकार से दूर प्रकाश रूप है। सतत् कर्मशील है। अतः मानव मात्र का कल्याण देवताओं के साथ सायुज्य स्थापित करने में ही है। यथार्थ में वैदिक देवतावाद से प्राकृतिक शक्तियों के साथ मनुष्य जीवन की समीपता तथा एकरूपता की आवश्यकता का परिज्ञान होता है अन्त में यही कहा जा सकता है कि वेदों में अभिव्यक्त विभिन्न देवताओं का जो स्वरूप है वह आदिशक्ति और सत्ता के विभिन्न नाम रूप हैं। उस समय आर्यों का धार्मिक जीवन में जादू होना, आभिचारिक कुल ज्योतिष नक्षत्रों का ज्ञान ऋषि विनियोग छन्दों का पूर्ण ज्ञान था वे भली भाँति विचार करके कृत्य का अनुष्ठान करते थे। इस प्रकार कहा जा सकता कि उस समय धार्मिक जीवन पूर्ण संगठित था।

षष्ठ अध्याय गृह्यनुष्ठानों में राजनैतिक परिवेश के द्वारा यद्यपि राजनैतिक जीवन को स्पष्ट करने की कोशिश की गयी है। उसमें इतने विस्तार से नहीं दिया गया परन्तु जो थोड़ी सी सामग्री अप्रत्यक्ष रूप से प्राप्त होती है उसके अनुसार राष्ट्रीय शक्ति का परिचालन करने वालों के लिये कृषि शिल्प वाणिज्य आदि अर्थकारी वृत्ति में लगाना है। राष्ट्र के विभिन्न विभागों में विभिन्न प्रकार के कार्यों में लगे हुये तरह-तरह की शक्ति, सामर्थ्य, रुचि और प्रकृति नर नारियों के चित्तों में सुशिक्षा के यह धारणा सुदृढ़ हो जाती है जीवन की यथार्थ गौरव और सार्थकता सभी क्षेत्रों में उन्नत आदर्श का अनुवर्तन करने चरित्र के महत्व को सम्पादित करने तथा आत्मा का समुचित विकास साधन करने में है। उस समय राजा का कर्तव्य प्रजा का पालन करना होता था जिसके लिये वह युद्ध भी करता था। न्याय व्यवस्था बड़ी सुदृढ़ थी न्याय समितियाँ हुआ करती था युद्ध में जाते समय वे अनेक प्रकार के अस्त्र शस्त्रों का प्रयोग करते थे। राजा के पास सेना होती थी राजा रथ पर, हाथी पर आरूढ़ होकर युद्ध में जाता था। राष्ट्र क्षेत्र में सर्वत्र आदर्श चरित्र वाले त्याग व शील ब्राह्मण की ही नेतृत्व के पद

पर प्रतिष्ठित थे। राष्ट्र परिचालक क्षत्रिय अर्थोत्वादक वैश्य और श्रमजीवी शुद्रगण उसी आदर्श नीति का अनुवर्तन करते थे। राष्ट्र के प्रति श्रद्धा प्रेम और त्याग के साथ अपने-अपने निर्दिष्ट कर्म को सुचारू रूप से सम्पादन करके ही प्रत्येक नर नारी अपने जीवन को परम कल्याण और शान्ति के मार्ग में अग्रसर करता था।

सप्तम अध्याय संस्कृति के विकास में संस्कारों का योगदान संस्कृति किसी देश या जाति की आत्मा है। इससे उसके उन संस्कारों का बोध होता है जिनके सहारे वह अपने सामूहिक या सामाजिक जीवन के आदर्शों का निर्माण करता है। अपने दीर्घ अनुभव तप:पूतान और चिन्तन द्वारा आत्मदर्शी ऋषि इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि आत्मानुभव आत्मसाक्षात्कार आत्मदर्शन ही मान जीवन का परम पुरुषार्थ है। संस्कार या संस्करण के भी संस्कृति से मिलते जुलते अर्थ होते हैं। मलापनयन और अतिशयाधान। किसी दर्पण पर कोई चूर्ण घिसकर उसका मल साफ करना मलापनयन संस्कार है तैल रंग द्वारा हस्ती के मस्तक या काष्ठ की किसी वस्तु की चमकीला तथा सुन्दर बनाना अतिशयाधान संस्कार है। स्वाश्रय की प्रागद्भूत अवस्था के समान अवस्थान्तरोत्पातक अतीन्द्रिय धर्म ही संस्कार है।

"स्वाश्रयरय प्रागदभूतावस्था समानावस्पान्तरोत्पादको अतीन्द्रियों धर्मः संस्कारः" संस्कारों से आत्मा या अन्तःकरण शुद्ध होता है इसीलिये उत्तम और निष्कृष्ट संस्कारों से आत्मा या निष्कृष्टता का भी व्यवहार होता है। "षोडशः तथा अष्टाचात्वारिशत" संस्कारों द्वारा आत्मा अथवा अन्तःकरण को संस्कृत करना चाहिये यह भी शस्त्र का आदेश है-

"यस्यैते अष्टाचत्वारिशत् संस्कारा भवन्ति स ब्रह्मणः सायुज्यं सलोकतां प्राप्नोति।"

जिस प्रकार खान से निकले हुए हीरक तथा मणि आदि में संस्कार द्वारा चमक बढ़ायी जाती है वैसे ही अविद्या तत्कायात्मिक प्रपन्चमतन स्वभावशुद्ध अन्तरात्मा की शोभा संस्कारों द्वारा व्यक्त की जाती है संस्कार के द्वारा ही बालक सच्चा मानव बन सकता है क्योंकि इसके विरूद्ध आचरण होने पर मानव का धर्म निभाना असम्भव है आचारहीन व्यक्ति न तो पवित्र होते हैं और न पवित्र

आचरण करते हैं। बाल्यावस्था में जो संस्कार प्राप्त होता है वह अमिट होता है बालकों में अच्छे संस्कार गुरुकुल आश्रमों में प्राप्त होते थे। अच्छे आचरण कराने से मानव का विकास और उन्नति सम्भव होती है।

अष्टम् अध्याय गृह्यानुष्ठान और वैदिक यज्ञ संस्था–गृह्यसूत्रों के यज्ञ नित्यकर्म अर्थात् आवश्यक कर्तव्य माने जाते हैं इसलिये उन्हें पाक प्रधान यज्ञ कहा जाता है पाक यज्ञों में कुछ तो ज्यों के त्यों हिन्दू समाज में आज भी प्रचलित हैं और कुछ रूपान्तिरित होकर।

गृह्यसूत्रकारों ने सात प्रकार के गृह्य या पाक यज्ञ माने थे जैसे पितृ यज्ञ या पितृ श्राद्ध यह सभी हिन्दुओं में मूलरूप में प्रचलित हैं श्रावण अर्थात् पूर्णिमा और अमावस्या को किये जाने वाला यज्ञ। अष्टका यज्ञ यह यज्ञ काफी रूपान्तरित हो चुका है परन्तु आज भी यह किया जाता है आश्वयुजी यज्ञ–अश्विन मास में किये जाने वाला यज्ञ चौदह श्रौत यज्ञों और सात पाक यज्ञों के सिवा धर्मसूत्रों और गृह्यसूत्रों में इन पाँच महायज्ञों का वर्णन है देवयज्ञ, भूतयज्ञ, पितृयज्ञ, ब्रह्मयज्ञ और मनुष्य यज्ञ। हवन को देवयज्ञ बलिरूप में अन्न आदि दान करने को भूतयज्ञ पिण्डदान और तर्पण को पितृयज्ञ वेदों के अध्ययन अध्यापन अथवा मन्त्रपाठ को ब्राह्मण तथा अतिथि को अन्न आदि देने से मनुष्य यज्ञ कहा जाता है। आर्य यज्ञ करते समय ऋषि छन्द देवता और विनियोग का ध्यान रखते थे क्योंकि इसके अभाव में यज्ञ निष्फल जाता है और मनुष्य अश्वगर्त नामक नरक में जाता है। अर्थात् मरने पर शुष्क वृक्ष होते हैं। जो मनुष्य ऋष्यादि को जपनकर वेदाध्ययनादि करते हैं। वे फल शाक् होते हैं। याज्ञवल्क्य व्यास आदि ने यज्ञों के सन्दर्भ में ऋष्यादि की आवश्यकता बतलायी है–

आर्ष छन्दश्च दैवत्यं विनियोगस्तथैव च।
वैदितव्यः प्रयत्नेन ब्राह्मणेन विशेषतः
अविदित्वा तुमः कुर्याद्याजनाध्यापने जपम
होममन्तर्जलादीनि तस्य चाल्पफलम्भवेत॥

यज्ञ को भुवन की उत्पत्ति का स्थान बताया गया है। यज्ञ में देवता हविद्रव्य मन्त्र (ऋचाएँ) ऋत्विज होता है। यज्ञ में ब्रह्मा और दक्षिणा आदि का प्राधान्य माना जाता था। यज्ञाग्नि में दी हुई आहुति

वायुमण्डल के साथ मिलकर समस्त अन्तरिक्ष मण्डल में व्याप्त हो जाती है उससे पर्जन्य उत्पन्न होता है पर्जन्य से अन्न और अन्न से प्रजा की वृद्धि होती है। आर्य लोग यज्ञ प्रेमी थे। छोटे-छोटे से यज्ञों से लेकर महीनों तक चलने वाले विशाल यज्ञों को अत्यन्त धैर्य के साथ सम्पन्न करते थे यथासमय उनका फल भी प्राप्त करते थे आज भी यज्ञ का महत्व दृष्टिगोचर होता है।

नवम अध्याय में गृह्यानुष्ठानों की वैज्ञानिकता द्रष्टव्य है। संस्कार में दो प्रकार की वस्तुयें देखने में आती है। एक प्राकृत और दूसरी संस्कृत प्रकृति ने जिस रूप में जिस वस्तु को पैंदा की हुयी वस्तु को अपने उपयोग में लाने के लिये जब हम सुधार कर लेते हैं तो वह सुधार ही संस्कार हैं। यह दोषमार्जन अतिशयाधान और हीनांग पूर्ति तीन प्रकार से होती है। गृह्यानुष्ठानों में प्रयुक्त औषधि के महत्व को दृष्टि में रखकर इन संस्कारों का वैज्ञानिक महत्व द्रष्टव्य होता है कि प्रत्येक संस्कार के पीछे कोई न कोई वैज्ञानिक धरणा विद्यमान है।

संकेत-सूची

पा.गृ.सू.	:	पारस्कर गृह्यसूत्र
मनु.स्मृ.	:	मनुस्मृति
ऋ.	:	ऋग्वेद
अ.वेद	:	अथर्ववेद
तै.स.	:	तैत्तिरीय संहिता
वी.मिः	:	वीरमित्रोदय
शा.	:	शास्त्र
आ.गृ.सू.	:	आश्वलायन गृह्यसूत्र
गो.गृ.सू.	:	गोभिल गृह्यसूत्र
वौ.पि.सू.	:	बौधायन पिगल सूत्र
य.अ.मे.	:	यजुर्वेद अध्याय मन्त्र
श.ब्रा.	:	शतपथ ब्राह्मण
या.स्मृति	:	याज्ञवल्क्य स्मृति
इति.	:	इतिहास
वा.स.	:	वाजसनेयि संहिता
श.श्रा.	:	शरीर शास्त्र
जै.गृ.सू.	:	जेमिनी गृह्यसूत्र
तृ.हि.गृ.सू.	:	तुलना हिरण्य गर्भ गृह्यसूत्र
बौ.गृ.सू.	:	बौधायन गृह्यसूत्र
भार.गृ.सू.	:	भारद्वाज गृह्यसूत्र
आश्व.गृ.सू.	:	आश्वलायन गृह्यसूत्र
मा.गृ.सू.	:	मानव गृह्यसूत्र
श.गृ.सू.	:	शांखायन गृह्यसूत्र
बै.गृ.सू.	:	बैजवाप गृह्यसूत्र
का.गृ.सू.	:	कात्यायान गृह्यसूत्र
वा.गृ.सू.	:	वारह गृह्यसूत्र
ख.गृ.सू.	:	खादिर गृह्यसूत्र

अग्नि गृ.सू.	:	अग्नि गर्भ गृह्यसूत्र
उ.भा.	:	उव्त भाष्य
मुण्डको.	:	मुण्डकोपनिषद
पाणि.शि.	:	पाणिनीय शिक्षा
ऋ.प्राति.	:	ऋक् प्रतिशाख्य
का.स.	:	काठक संहिता
तै.ब्रा.	:	तैत्तिरीय ब्राह्मण
ऋ.सं.	:	ऋग्वेद संहिता
ऋ.भा.भू.	:	ऋग्वेद भाष्य भूमिका
तैत्तिरी.प्रपाठ.अनु.	:	तैत्तिरीय प्रपाठक अनुच्छेद
चरक शा.	:	चरक शास्त्र
सु.चि.	:	सुश्रुत चिकित्सा

विषय-सूची

प्रथम अध्याय

शुक्ल यजुर्वेदीय गृह्यसूत्र परम्परा की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

सूत्र साहित्य में कल्पसूत्र प्राचीनतम है। मुण्ड्कोपनिषद्[१] में दो विद्याओं परा और अपरा का उल्लेख है। वहाँ अपरा विद्या के अन्तर्गत षंडगयुक्त् चारों वेदों की गणना की गयी है। षड्गों में वहाँ कल्प को द्वितीय स्थान प्राप्त है। पााणिनीय शिक्षा[२] में वेदपुरुष की कल्पना की गयी है वहाँ कल्प को वेदपुरुष का हाथ बतलाया गया है। नारदपुराण[३] में कहा गया है कि कल्प के विज्ञान मात्र से मनुष्य कर्म में कुशल हो जाता है। वहाँ पाँच प्रकार के कल्प कहे गये हैं। (१) नक्षत्रकल्प (२) वेदकल्प (३) संहिताकल्प (४) अंगिरसकल्प (५) शान्तिकल्प।

कल्प का व्युत्पत्ति मूलक अभिप्राय है। यज्ञ याग के विभिन्न विधानों का समर्थन और निरूपण।[४] वृत्तिकार विष्णुमित्र के मत में कल्प वे शास्त्र ग्रन्थ हैं जिनमें वेदविहित कर्मों का सुव्यवस्थित रूप से वर्णन किया गया है।[५]

---

१. द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म पद् ब्रह्मविदो वदन्ति चैवापरा च।
तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेद: सामवेदोऽथर्ववेद: शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परायया तदक्षरमधिगम्यते।। मुण्डको. १.१.४-५

२. छन्द: पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुनिरुक्तं श्रोत्रमुच्यते।।
शिक्षा घ्राण तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात्सांगमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते।। पाणि.शि. ४१-४२

३. नारदपुराण, पूर्वभाग, द्वितीयपाद ५१वां अध्याय।

४. कल्पये सर्मथ्यते यागप्रयोगोऽत्र (कल्प) सायण ऋग्भाष्य भूमिका।

५. कल्पो वेदविहितानां कर्मणामनुपूर्व्येण कल्पनाशास्त्रम्।।
ऋ. प्रति. वर्गद्वियवृत्तिका

"कल्प" शब्द 'क्लृप' धातु से निष्पन्न हुआ है जिसका अर्थ है कि विधि कल्पसूत्र प्रायः मन्त्रों के साहचर्य में किये जाने वाले किसी स्वरूप को विधि से स्पष्ट करते हैं। कल्पसूत्रों में विविध स्वरूप के विषय समाविष्ट है ये हैं– गृह्य अथवा स्मार्त, धर्म प्रायश्चित शुल्व और प्रवर।[१]

कल्प के अन्तर्गत सूत्रों का विशाल संग्रह समाहित है ये सूत्र यज्ञ के नियमों के विषय में है। इनके विषय में मैक्सूलर ने ठीक ही कहा है– "कल्पसूत्रों का वैदिक साहित्य के एक नये युग के द्योतक है और भारत के साहित्यिक एवं धार्मिक जीवन में एक नये प्रयोजन के सूचक है अपितु उन्होंने अनेक ब्राह्मणों के लोप का योग दिया जिसका अब नाम ही केवल ज्ञात है।[२] वेद की सहायता या अध्ययन के बिना ब्राह्मण या वेद के याज्ञिक विधान का ज्ञान प्राप्त करना दुष्कर ही नहीं असम्भव है।"

कुमारिल ने कल्पसूत्र के महत्व के विषय में कहा है–

वेदाहवेऽपि कुर्वन्ति कल्पैः कर्मणि यज्ञिकाः
न तु कल्पैविना केचिन्मन्त्र ब्राह्मणमात्रकात्।

जिन यज्ञों विवाहों और उपनयनों चूड़ाकरणादिक कर्मों का विशिष्ट प्रतिपादन वैदिक ग्रन्थों में किया गया है उन्हीं का क्रमबद्ध वर्णन करने वाले सूत्रग्रन्थों का सामान्य अभिधान कल्प है। ब्राह्मण और आरण्यक के साक्षात् सम्बन्ध होने के कारण भी तो ये प्राचीन हैं।

सूत्र साहित्य भारतीय वाङ्मय का एक अनूठा वर्ग है। ये एक ऐसी शृंखला है जो वैदिक साहित्य को परवर्ती संस्कृत से जोड़ती है। सूत्रों के दो विस्तृत वर्ग किये जाते हैं– श्रौतसूत्र और स्र्मांतसूत्र।

श्रौतसूत्र वे हैं जिनके स्रोत श्रुति में मिलते हैं और स्र्मांतसूत्र अन्तर्गत गृह्य और धर्मसूत्र आते हैं।

---

१. वैदिक वाङ्मय का वृहद इति. द्वितीय खण्ड वेदांग – डॉ. ओमप्रकाश पाण्डे–पृ.–३४

२. आपतम्बगृह्यसूत्र – म.म. चिन्नस्वामीरमण – पृ.–५ मैक्समूलर का कथन उद्धृत है परन्तु पुस्तक का नाम अज्ञात है पृ.–१६६

गृह्यसूत्रों का उद्भव एवं विकास

गृह्यसूत्रों में मुख्य रूप से आर्यों के दैनिक धार्मिक जीवन से सम्बन्ध उन कृत्यों का वर्णन किया गया है जो गृह्याग्नि के माध्यम से होते हैं। तथापि गृह्यसूत्रों के सामाजिक तथा गृह्य जीवन पर महत्वपूर्ण प्रकाश डालने के कारण उनका गौरव और भी बढ़ गया है। उनका गृह्यजीवन भी उनके-धार्मिक विचारों और क्रियाकलापों से इतना ओत-प्रोत था कि दोनों को एक दूसरे से पृथक् करना असम्भव है। उनके जीवन की प्रत्येक घटना और क्रिया में धार्मिक विचाराधारा अनस्यूत थी। उनके समस्त जीवन की आधार भित्ति धार्मिक विश्वासों और श्रद्धा पर निर्भर थी।

कतिपय गृह्यकर्म जैसे विवाह के समय पति पत्नी द्वारा अग्नि की परिक्रमा अग्नि में हविष्यमान प्रदान करने की प्रथा लाजा होम पति द्वारा पत्नी के शिखा विमोचन कर्म, सप्तपदी, दीक्षागृहण इत्यादि अत्यन्त प्राचीन काल से आर्यों के जीवन में सदा के लिए समुद्र में बूंद के समान इस प्रकार विलीन हो चुके हैं कि इन वाह्य किन्तु समाज में बद्धमूल विचारों का उन्मूलन न किया जा सका।

विवाह संस्कार का वर्णन करते हुए पारस्कर गृह्यसूत्र में कहा गया है कि विवाह और श्मशान विषयक कृत्यों में ग्राम में प्रचलित रीति-रिवाजों को करना चाहिए।[१] इसी प्रकार आश्वलायन गृह्यसूत्र में कहा गया है कि विवाह 'आदि जीवन के प्रमुख संस्कारों के विषय में नाना प्रकार के धर्म प्रचलित्त हैं, उन्हीं के अनुसार आचरण करना चाहिए। इससे प्रतीत होता है कि गृह्यसूत्रों में प्रतिपादित विषय तत्कालीन जीवन के प्रत्येक पक्ष का दर्शन कराने में नितान्त उपयोगी सिद्ध होते हैं।

गृह्यसूत्रों में प्रतिपादित कृत्य प्रायः समन्त्रक होते हैं उनमें से कुछ मन्त्र तो ततद् गृह्यसूत्र से सम्बन्धित संहिता के लिए जाते हैं,

---

१. ग्राम वचनञ्चकुर्युः। विवाह श्मशानयोगामि प्रविशतादित वचनात् तस्मात्तयोः ग्रामः प्रमाणामित्ति श्रुतेः। पा.गृ.सू. १/८/११ पृ. १०५।

कुछ मन्त्र अन्य संहिताओं से भी ग्रहण किये गये हैं, किन्तु बहुत बड़ी संख्या ऐसे मन्त्रों की भी है जो या तो अन्य वैदिक ग्रन्थों से संग्रहीत है अथवा ततद् कार्य विशेष के लिए रचे गये हैं और मन्त्रपाठों के रूप में संग्रहीत होते हैं। गृह्यसूत्रों में प्रयुक्त अनेक परिभाषिक शब्द तथा गृह्यकर्म ब्राह्मणों में पहले ही प्रयुक्त हो चुके हैं यथा– आधारौ, आज्यभागौ, परिस्तरण, उपस्तरण, पर्यक्षुण, पर्यग्निकरण, मेधाजनन, नामकरण प्रभृति गृह्यकर्म हैं।

श्रौतकर्म तो केवल अहिताग्नि के लिए विहित है किन्तु गृह्यकर्म अहिताग्नि और अनाहिताग्नि दोनों के लिए अनुष्ठेय है। श्रौत आग्रायण में तो पुरोडाश और चरु की आहुति दी जाती है, किन्तु गृह्य आग्रायण में केवल स्थालीपाक का विधान है। श्रौत दर्शपूर्णमास में पुरोडास का प्रयोग किया जाता है और कई ऋत्विजों की सहायता से दो दिनों में समाप्त होता है। जबकि गृह्यकर्म पति पत्नी द्वारा ही स्थालीपाक की आहुति देकर सम्पन्न किया जा सकता है। अन्त्येष्टि क्रिया अहिताग्नि और अनहिताग्नि दोनों के लिए विहित है। इस विषय में गृह्यसूत्रों ने ब्राह्मणों का इतनी दूर तक अनुसरण किया है कि आश्व. गृ.सू. ने अहिताग्नि की अन्त्येष्टि की प्रक्रिया ही नहीं अपितु वाक्य भी शब्दशः राजपथ ब्राह्मण से ग्रहण कर लिये गये हैं। अनेक गृह्यविषयों के वर्णन में ब्राह्मणों को आधार माना गया है। पञ्चमहायज्ञों के विषय में आश्वलायन गृह्यसूत्र ने शतपथ ब्राह्मण का बहुत अधिक अनुसरण किया है पारस्कर गृह्यसूत्र का उपनयन संस्कार पर शतपथ ब्राह्मण का प्रभाव लक्षित होता है। इसी प्रकार पुंसवन, जातकर्म तथा इन्द्रयज्ञ के वर्णन में भी पारस्कर गृह्यसूत्र शतपथ ब्राह्मण का ऋणी है।

प्रो. ओल्डेवर्ग के अनुसार गृह्यसूत्रों में गृहस्थ के दैनिक जीवन की घटनाओं, धार्मिक क्रियाओं और संस्कारों का वर्णन है किन्तु वे मुख्यतः याज्ञिक क्रियाओं तक ही रह जाते हैं जबकि धर्मसूत्र इसके आगे भी महत्वपूर्ण कदम उठाते हैं वे व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन की प्रथाओं रीति–रिवाजों एवं संस्कारों के वर्णन का लक्ष्य लेकर चलते हैं। इस कारण स्वाभाविक रूप में धर्मसूत्र अन्य विषयों

को भी ग्रहण करते हैं। परन्तु गृह्यसूत्रों में प्रत्येक गृह्यकर्मों, संस्कारों के अनुष्ठान सम्बन्धी नियमों की सूक्ष्म विवेचना की गयी है।[१]

"गृह्य" शब्द की व्याख्या अनेक प्रकार से की गयी है। आश्वलायन गृह्यसूत्र की व्याख्या के अनुसार गृह का अर्थ घर और पत्नी है। जैसे– "संगृहो गृहमागत:" में गृह का प्रयोग पत्नी और घर दोनों ही अर्थों में हुआ है।[२] गृह्यकर्म उस अग्नि में किये जाते हैं जो अग्नि विवाह के समय प्रज्जवलित की जाती है। इस अग्नि या अग्नि की वेदी को गृह्य कहते हैं। किन्तु जैसा कि मैक्समूलर का कथन है 'गृह' का अर्थ पत्नी सन्देहास्पद है, 'गृह' का मौलिक अर्थ 'घर' अथवा अग्नि की वेदी ही माना गया है। विशाल यज्ञों में अग्नि की गई वेदियाँ बनायी जाती थीं लेकिन गृह्यकर्मों में अग्नि की एक ही वेदी होती है।

गोभिलगृहसूत्र में इन कर्मों को गृह्यकमार्णि कहा गया है व्याख्याकार ने गृह्य का अर्थ स्मृति के आधार पर किये जाने वाले कर्म अथवा पत्नी के साथ किये जाने वाले कर्म अर्थ ग्रहण किया है।[३] गृह्यसूत्रों के अनुसार जो कर्म किये जाते हैं उनका सामान्य नाम पाकयज्ञ है। 'पाक' का अर्थ पकाना नहीं है अपितु छोटा या पूर्ण अर्थ ग्रहण किया गया है।[४] ये कर्म मनुष्य को योग्यता प्रदान करते हैं। गृह्यसूत्रों में जिन कर्मों का वर्णन है वे आचार लक्षण हैं।

गृह्यसूत्रों का सम्बन्ध विभिन्न वेदों से है अधिकांश वेदों से है अधिकांश गृह्यसूत्रों का सम्बन्ध यजुर्वेद से है।

---

१. वैदिक वाङ्मय का वृहद्इतिहास – डॉ. ओमप्रकाश पाण्डेय

२. आपस्तम्बं गृह्यसूत्र – पृ.–४

३. अथातो गृह्कर्माणि दीर्घत्व छान्दसम् – गृह्यास्मृति: तस्यां यानि कर्मणा अथवा गृह्यपत्नीतया सहितस्य यानि कर्माणि। गोभिल गृ.सू.पृ.–६

४. पाकशब्दोऽल्पवचन: योऽस्मात् पाकतर: – हरदत्त का कथन।

गृह्यसूत्रों का विषय विस्तार

गृह्यसूत्रों का सर्वाधिक महत्व सामाजिक अध्ययन की दृष्टि से है। प्राचीन हिन्दू जीवन की जो रूपरेखा में मिलती है उसके आधार पर व्यक्तिगत जीवन की सभी स्थितियों पर प्रकाश दृष्टिगोचर होता है। गृह्यसूत्रों में हिन्दू जीवन की जिन घटनाओं का विवेचन है। वे सभी मानों एक वृत्त के समान हैं। इस जीवन के दो विशेष रूप से महत्वपूर्ण भाग है। एक ओर वेद का अध्ययन करने वाली ब्रह्मचारी का काल। इस काल के आरम्भ में उपनयन संस्कार है और अन्त में समावर्तन संस्कार है। दूसरी ओर विवाहित जीवन का काल है जिसका गृह्यकर्म के लिए विशेष महत्व है और गार्हपत्य अग्नि की क्रियायें विवाह के साथ आरम्भ होती है।

गृह्यसूत्रों में एक ओर तो हिन्दू जीवन में गृहस्थ के व्यक्तिगत जीवन के संस्कारों का विवेचन मुख्य रूप से हुआ है किन्तु इनके साथ प्रातः एवं सांयकाल की दैनिक आहुतियों का प्रतिमाास किये जाने वाले बलिकर्मों का प्रतिदिन की बलियों का भी वर्णन किया गया है। इनके साथ ही वार्षिक कर्मों को भी गृह्यसूत्रों में स्थान मिला। इस प्रकार के कर्म है। सर्पबलि पृथ्वी पर शयन करने का, आरम्भ नये अन्नों के प्रयोग के समय किये जाने वाले कर्म अष्टका कर्म तथा पितृकर्म को सार्वभौम रूप से संस्कारों को करना होता है जिसके अन्तर्गत अग्नि का आधान का वर्णन गृह्यसूत्रों के आरम्भ में ही किया गया है।

वार्षिक कर्मों के अतिरिक्त कतिपय ऐसी क्रियाओं का विवेचन भी गृह्यसूत्रों में हुआ जिनका जीवन के साधनों से तात्पर्य है जैसे घर बनाने के लिए भूमि का चुनाव, घर बनाने की तिथि, उपकरण अर्थात् स्वाध्याय के आरम्भ की क्रिया उत्सर्ग अर्थात् स्वाध्याय के आरम्भ की क्रिया अर्थात् सत्र स्वाध्याय के सत्र समापन की क्रियाओं को गृह्यसूत्रों में स्थान मिला, ये सभी क्रियायें गृहस्थ के दैनिक जीवन से सम्बद्ध है।

इन कर्मों के अतिरिक्त अन्त्येष्टि और पितृकर्म की क्रियाएँ तीसरे प्रकार के विषय के रूप में गृह्यसूत्रों में विवेचित हुई। किन्तु इन सभी

प्रकार की क्रियाओं के अतिरिक्त घरेलू अभिचारिक क्रियाओं के विवेचन को भी गृह्यसूत्रों में स्थान मिला है। जैसे पुत्र या पत्नी को रोग होने पर किये जाने वाले अभिचार पत्नी को पुरुषगामिनी होने से बचाने के लिए अभिचार, भागने वाले नौकर को स्थायी रूप से रखने के लिए अभिचार वन क्रियाओं के अतिरिक्त कुछ प्रायश्चित कर्मों का भी विवेचन गृह्यसूत्रों में हुआ जैसे– ब्रह्मचर्य भंग होने पर अवकीर्णी का प्रायश्चित जिसके लिए ईशान बलि दी जाती है।

गृह्यसूत्रों के विषय विस्तार को इन वर्गों में रखा जा सकता है:–

१. जीवन के सम्बद्ध संस्कार

२. दैनिक जीवन के होमकर्ता तथा अन्न की बलि

३. मासिक पर्वों पर किये जाने वाले कर्म

४. प्रायश्चित के कर्म

५. वार्षिक कर्म

६. जीवन से सम्बद्ध कर्म जैसे गृहनिर्माण

७. श्रौतकर्म जैसे श्राद्ध आदि

८. अभिचारिक कर्म

९. अभियन्त्रण के निर्देश

गृह्यसूत्रों का वर्ण्य विषय एवं स्वरूप

गृह्यसूत्रों में मुख्यतः उन याज्ञिक कर्मों का वर्णन है। जिनका सम्बन्ध मुख्यतः गृहस्थ से है। इनमें अनेक सामाजिक प्रथाओं रीति-रिवाजों, श्राद्ध कर्म, पञ्चमहायज्ञ तथा अभिचारिक क्रियाओं का भी वर्णन है। गृह्यसूत्र में वर्णित विषय इस प्रकार हैं– विवाह, सीमान्तोन्नयन, पुंसवन, जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, चौलकर्म, उपनयन, समावर्तन संस्कार प्रतिवर्ष किये जाने वाले कर्म जैसे श्रृवणाकर्म, लाङ्गलयोजन, नवान्नप्राशन कर्म भवन निर्माण के समय के

कर्म, पृथ्वी पर सोने के लिए विधान श्राद्धकर्म तथा विभिन्न अभिचारिक क्रियाओं का वर्णन।[१] गृह्यसूत्रों का प्रमु ख विवेच्य पाकयज्ञ है लौकिक जीवन से सम्बद्ध कर्मों को पाकयज्ञ कहा गया है।[२] लोक का अर्थ शिष्ट है। पाकयज्ञ में विवाह आदि कर्मों का निर्देश किया गया है। पाक का अर्थ 'अल्प' भी है। यदि 'पाक' का अर्थ पकायी गयी वस्तु की हवि से लिया जाये तो आज्य होम को पाकयज्ञ में स्थान नहीं मिलेगा। अतः पाकयज्ञ का अर्थ 'अल्प' होना चाहिए।[३]

ऋग्वेदीय गृह्यसूत्र

१. आश्वलायन गृह्यसूत्र

इसमें चार अध्याय अध्याय है जिनका विभाजन कई खण्डों में किया गया है। इसके रचयिता आश्वलायन शौनक के शिष्य थे। इसमें गृहस्थ जीवन के साथ श्रृवणाकर्म, आश्वयुजी, गृहप्रवेश, पञ्चमहायज्ञ, तर्पण, शूलगव आदि कर्मों का वर्णन किया गया है। इस पर नारायणकृत 'विवरण' टीका उपलब्ध है।

२. शांखायन गृह्यसूत्र

शांखायन गृह्यसूत्र के रचयिता सुयज्ञ है। इसके छः अध्यायों में संस्कारों के विवेचन के अतिरिक्त गृहनिर्माण, गृहप्रवेश, क्षेत्रकर्षण, श्रावणहोम, आग्रहयणीयेष्टि प्रत्यवरोहण आदि का वर्णन है। इसका अंग्रेजी अनुवाद ओल्डेनवर्ग ने किया है।

३. कौषीतकि गृह्यसूत्र

इसके रचयिता शाम्भव्य के आधार पर इस गृह्यसूत्र को शाम भव्य गृह्यसूत्र भी कहा गया है। इसके पाँच अध्यायों में अनेक सूत्र हैं। ग्रन्थ का आरम्भ विवाह संस्कार के वर्णन से होता है तथा जात शिशु के आरम्भिक संस्कारों के किञ्चित परिचय के अनन्तर उपनयन का

---

१. आपस्तम्ब गृह्यसूत्र – पृ.-२०

२. वैदिक वाङ्मय का वृहद् इतिहास – आचार्य बल्देवउपाध्याय

३. वही

विवरण पर्याप्त रूपेण विस्तृत है। वैश्वदेव एवं कृषिकर्म के बाद श्राद्ध के वर्णन पश्चात् यह समाप्त हो जाता है।

शुक्ल यजुर्वेद गृह्यसूत्र

पारस्कर गृह्यसूत्र

यह 'कातीय गृह्य' के नाम से भी प्रसिद्ध है। जयराम ने अपने आश्रम में आदि और अन्त दोनों स्थानों पर इसे "कातीय गृह्य" के नाम से अभिहित किया है।[१] हिल्लेब्रान्ट के अनुसार यह "वाजसनेय" गृह्यसूत्र के नाम से भी विख्यात है। इसमें शुक्ल यजुर्वेद की माध्यन्दिन शाखा से ही अधिकांश मन्त्र तथा कुछ वचन भी उद्धृत किये गये हैं।[२] परम्परा इसे पारस्कर प्रणीत मानती है। पारस्कर गृह्यसूत्र सभी गृह्यसूत्रों में शीर्ष स्थानीय माना जाता है इसका विपुल प्रचार सम्पूर्ण उत्तरभारत में ही नहीं अपितु बंगाल कश्मीर दक्षिण भारत के भी कुछ आंचलों में इसी के आधार पर गृह्यानुष्ठान किये जाते हैं।

पणिनीय सूत्र के पारस्कर शब्द यद्यपि देशवाचक है किन्तु वह ऋषिवाचक भी माना जाता है।[३] यह गृह्यसूत्र तीन काण्डों में विभक्त है। प्रत्येक काण्ड क्रमशः १९, १७ व १५ कण्डिकाओं में विभक्त है। इस प्रकार कण्डिकाओं की संख्या ५१ है। प्रत्येक कण्डिका में सूत्रों की संख्या भिन्न-भिन्न है। गृहक्रियाओं के उल्लेख के साथ ही मन्त्रों के प्रतीक अथवा पूर्व उद्धरण भी दिये गये हैं। पारस्कर स्वशाखीय मन्त्रों के प्रतीक मात्र देते हैं किन्तु पराशाखाओं के सम्पूर्ण मन्त्र उद्धृत करते हैं। पारस्कर की सूत्रशैली संक्षिप्तता तथा विशदता दोनों ही प्रकार ही है।

इस गृह्यसूत्र का फलक बहुत व्यापक है जिसमें वर्णित विषयों में जीवन से सम्बद्ध संस्कारों दैनन्दिन होम तथा अन्नबलि, मासिक

---

१. तत्पपादद्वयकस्पृशा कृतमिदं कातीयगृह्यस्य सद्। भाष्यं सज्जनवल्लभं सुयिदुषां प्रेष्ठं शिवप्रीतये।। पा.गृ.सू. भूमिका – पृ.-७

२. वही

३. "पारस्करप्रभृतीनि संज्ञायाम्" पाणिनेय अष्टाध्यायी ६/१/१५६

पर्वों पर किये जाने वाले कर्म, वार्षिक कर्म गृहनिर्माण प्रभृति भौतिक सौख्य सौविध्य से सम्बद्ध कर्म अनेक श्रौतयाग, अभिचारिक कर्म प्रायश्चित कर्म तथा अभियन्त्रण निर्देश सम्मिलित है। पारस्कर ने स्वयं अपनी विवेच्य वस्तु सम्पदा को गृह्यस्थाली[1] पाको कर्म कहा है।

काण्डानुसार विषयवस्तु का विवरण इस प्रकार से है। प्रथम काण्ड में होम के साधारण धर्म, अवस्थ्याग्नि की आधान विधि, अर्घ्यविधि, विवाह विधि, औपासन होम, वधू के प्रथम बार प्रति गृह गमन पर क्रियमाण चतुर्थी कर्म पक्षादि कर्म, पर्व निर्णय, आवृत्ति योग्य कर्म, गर्भधारण के हेतु कर्ममेधाजनन और आयुष्यकरण रक्षा विधि, नामकरण, निष्क्रमण सूर्याविक्षण प्रवास से लौटने पर कर्म और अन्नप्राशन का वर्णन है। द्वितीय काण्ड में चूड़ाकरण केशान्त, उपनयन, समिदाधान, भिक्षाचरण, दण्ड और अजिन धारण, ब्रह्मचारी के व्रत समावर्तन का काल, उपनयन के लिए अन्तिम सीमा, पतित सावित्री जनों के प्रायश्चित, स्नान (समावर्तन) विधि, स्नातक के व्रत, पञ्चमहायज्ञ और उपाकर्म की विधि, अनध्याय उत्सर्गोत्तर जप, उत्सर्ग विधि, लाङ्गलयोजन, श्रवणाकर्म, पृषातक और सीतायज्ञ की विधियाँ दी गयी हैं।

तृतीय काण्ड में नवान्नप्राशन, आगृह्यणीकर्म, अष्टका, शालाकर्म, मणिकावाधान, शिरोवेदना की चिकित्सा, उतूलपरिमेह दास का मनोनिग्रह्य शूलगव, वृषोत्सर्ग दाहविधि, शाखा पशुविधि, अवकीर्णीप्रायश्चित तथा सभा का प्रवेश आदि का निरूपण है। इसी काण्ड में हाथी और रथ आदि पर सवारी करने के कुछ अभिमन्त्रणों का विधान है। इस प्रकार पारस्कर ने प्रायः ६६ विषयों का वर्णन इस गृह्यसूत्र में किया है।

बैजवाप गृह्यसूत्र

यह शुक्ल यजुर्वेद का दूसरा, किन्तु अनुपलब्ध गृह्यसूत्र माना जाता है। इसके रचयिता बैजवाप है। चरणव्यूह शुक्ल यजुर्वेद की १५

---

१. अथातो गृह्यस्थालोपाकानां कर्म। पा.गृ.सू. – डॉ. ओमप्रकाश पाण्डेय १/१ पृ.-३

शाखाओं में वैजवाप को अन्यतम मानता है। इस गृह्यसूत्र का उद्धरण अनेक प्राचीन तथा मध्यकालिक धार्मिक निबन्धों में उपलब्ध होता है यथा– एवं च वैजवापेनाचार्येण सूचितम– न सावित्रीमाह इति कः।[१]

कृष्ण यजुर्वेदीय गृह्यसूत्र

बौधायन गृह्यसूत्र

यह गृह्यसूत्र बौधायन कल्पसूत्र का एक विशिष्ट अंश है। मैसूर गर्वनमेण्ट ओरियन्टल लाइब्रेरी सीरीज़ में सन् १९२० ई. में प्रकाशित यह गृह्यसूत्र गृह्यपरिभाषा, गृह्यशेष तथा पितृमेध सूत्रों के समन्वित है। इसमें चार प्रश्न हैं। दूसरी पाण्डुलिपि में दस प्रश्न उपलब्ध हैं। इसमें अनेक परिवर्धन और परिवर्तन के भी संकेत मिलते हैं।

भरद्वाज बृह्यसूत्र

यह भरद्वाज कल्पसूत्र का अंश है। इसमें तीन अध्याय है जो प्रश्न के नाम से जाने जाते हैं। इसका प्रकाशन लाइडेन के डॉ. सोलोमन्स ने किया है। इसके विवाह प्रकरण में प्रचुर मात्रा में आधुनिकता का समावेश है।

मानव गृह्यसूत्र

कृष्ण यजुर्वेद की मैत्रायणी शाखा का यह गृह्यसूत्र अष्टका भाष्य सहित गायकवाड़ ओरियेन्टल सीरीज में प्रकाशित है। इसमें दो पुरुष या प्रकरण हैं प्रत्येक हैं पुरुष में अनेक कण्डिकायें हैं। इसमें चक्रपूजन, वधू स्वप्न, वस्त्र अलंकारदान प्रभृति कुछ ऐसे विषय निरूपित हैं जो अन्य गृह्यसूत्रों में नहीं मिलते। चार विनायकों की पूजा का विधान भी इसकी विशेषता है।

आपस्तम्ब गृह्यसूत्र

यह गृह्यसूत्र आठ पटलों तथा तेइस खण्डों में विभक्त है। खण्डों के अन्तर्गत सूत्रों की स्थिति है। यह आपस्तम्ब कल्पसूत्र का अंश है।

---

१. पारस्कर गृह्यसूत्र – डॉ. जगदीश चन्द्र मिश्रा – पृ.–९

यह मन्त्रपाठ के गृह्यों का निर्देश करता है। इसका वर्ण्य विषय अन्य गृह्यसूत्रों के समान ही है।[1]

हिरण्यकेशि गृह्यसूत्र

हिरण्यकेशि कल्पसूत्र का १९ तथा २० प्रश्नरूप यह गृह्यसूत्र सत्याषाढ़ गृह्यसूत्र के नाम से भी प्रसिद्ध है। गृह्यानुष्ठानों के मन्त्र इसमें विशद रूप में दिये गये हैं। इसका अंग्रेजी अनुवाद ओल्डेनवर्ग ने **"सैकेन्ड बुक्स आफ इस्ट"** में किया है। हिरण्यकेशि स्मार्तसूत्र के नाम से इसका एक संस्करण आनन्द आश्रम पूना से भी प्रकाशित है।

वैखानस गृह्यसूत्र

तैतिरीय शाखा से सम्बद्ध यह गृह्यसूत्र अवान्तरकालीन माना जाता है। अनुष्ठानों में प्रयोजनीय मन्त्रों के केवल प्रतीक मात्र का इसमें उल्लेख हुआ है। डॉ. कैलेण्ड ने इसका अंग्रेजी अनुवाद भी किया है।

अग्निवैश्य गृह्यसूत्र

इस गृह्यसूत्र के रचयिता अग्निवेश नामक वैदिक आचार्य है। अन्य गृह्यसूत्रों की अपेक्षा इसका वर्ण्य विषय तथा रचनाकौशल नितान्त भिन्न है। इसमें वर्णित नारायण बलि, यति संस्कार, सन्यासविधि, वानप्रस्थ विधि के ऊपर अवान्तर कालीन धार्मिक संस्कारों का प्रभाव स्पष्ट रूप में परिलक्षित हाता है। यह त्रिवेन्द्रम से प्रकाशित है।

काठक गृह्यसूत्र

कृष्ण यजुर्वेद की कठ शाखा से सम्बद्ध इस गृह्यसूत्र को लौगाक्षिगृह्यसूत्र भी कहते हैं। इसके पाँच अध्यायों में ७३ कण्डिकायें हैं। इस पर ब्राह्मण बल एवं देवपाल की व्याख्या भी उपलब्ध है। डॉ. कैलेण्ड ने इसका संस्करण लाहौर से प्रकाशित कराया था।

---

१. वैदिक साहित्य और संस्कृति का स्वरूप– डॉ. ओमप्रकाश पाण्डेय पृ. २५१-२६१

वाराह गृह्यसूत्र

मैत्रायणी शाखा से सम्बद्ध गृह्यसूत्र मैत्रायणी संहिता के मन्त्रों का उल्लेख करता है। इसके अधिकांश सूत्र मानव गृह्य तथा काठक गृह्य के समान ही हैं।

सामवेदीय गृह्यसूत्र

गोभिल गृह्यसूत्र

सामवेद से सम्बद्ध गृह्यसूत्रों में गोभिल गृह्यसूत्र प्रमुख है। इसके चार प्रपाठक ३९ खण्डों में विभक्त है। अनुष्ठानों की सामान्य विधियों तथा संस्कारों के वर्णन के अतिरिक्त इसमें यशस्काम कर्म, पुरुषाधिपत्यकर्म, पिण्डपितृयज्ञ जैसे कुछ ऐसे कर्मों का भी विवेचन है जो अन्य गृह्यसूत्रों में उपलब्ध नहीं है।

खादिर गृह्यसूत्र

सामवेद की राणायनीय शाख से सम्बद्ध आचार्य खादिर द्वारा रचित खादिर गृह्यसूत्र कतिपय विद्वानों के मतानुसार मूलतः गोभिल गृह्यसूत्र का संक्षिप्त रूप है। इस पर रुद्रस्कन्द की व्याख्या है। यह मैसूर से प्रकाशित है।

द्राह्यायण गृह्यसूत्र

खादिर गृह्यसूत्र से इसका पूर्णतया साम्य है। आनन्दाश्रम (पूना) तथा मुजफ्फरपुर से इसके संस्करण छपे हैं।

जैमिनीय गृह्यसूत्र

इस गृह्यसूत्र में दो खण्ड है। प्रथम खण्ड में २४ कण्डिकायें है जिसमें संस्कारों का निरूपण किया गया है और दूसरे खण्ड में श्राद्ध अष्टकायें, अन्त्येष्टि और शान्तिकृत्य है। यह गृह्यसूत्र भी गोभिल गृह्यसूत्र से अनेक रूपों से सम्बद्ध है। इस पर श्री निवासधारी की 'सुबोधिनी' नाम्नी टीका उपलब्ध है।

अथर्ववेदीय गृह्यसूत्र

कौशिक गृह्यसूत्र

इसके स्वरूप में अन्य गृह्यसूत्रों की अपेक्षा कुछ भिन्नता तथा विचित्रता है। इसके चौदह अध्याय १४१ कण्डिकाओं में विभक्त है। यह ग्रन्थ प्राचीन भारतीय यातु विद्या (जादू विद्या), अभिचारिक क्रियाओं तथा वैद्यकशास्त्र जैसे विषयों की जानकारी के लिए अनुपम सामग्री प्रस्तुत करता है। इस पर हारिल और केशव की व्याख्यायें उपलब्ध है। हिन्दी अनुवाद सहित इसका संस्करण १९४२ में मुजफ्फरपुर से प्रकाशित हुआ है।

गृह्यसूत्रों की विशेषतायें

गृह्यसूत्रों में निरूपित विषय वस्तु के संक्षिप्त विवेचन के पश्चात् उनकी प्रमुख सामान्य विशेषतायें इस प्रकार हैं–

१. गृह्यसूत्र आर्यों के प्राचीन सामाजिक तथा गृह्यजीवन पर ये महत्वपूर्ण प्रकाश डालते हैं।

२. प्रो. विण्टरनित्स के अनुसार गृह्यसूत्रों में ऐसी अनेक क्रियायें निरूपित है जो अन्य आरोपीय समुदायों में प्रचलित थे। उदाहरण के लिये विवाह के समय अग्नि की परिक्रमा, लाजहोम, पाणिग्रहण, सप्तनदी इत्यादि ऐसे कृत्य प्राय: सभी में मिल जाते हैं।

३. गृह्यकर्मों में जनपदों और ग्रामों में प्रचलित लोकधर्म पर विशेष बल दिया गया है। आपस्तम्ब तथा पारस्कर ने भी अनेक लौकिक कृत्यों का समावेश किया है जिनकी जानकारी ग्राम की वृद्ध स्त्रियों से प्राप्त करनी चाहिए।

४. गृह्यसूत्रों में विनियुक्त मन्त्रों में प्राचीनतम मन्त्र भी है और नवीन भी है।

५. श्रौतसूत्रों की भी भांति गृह्यसूत्रों की सामग्री भी ब्राह्मण ग्रन्थों में मिल जाती है। उदाहरण के लिये शतपथ ब्राह्मण में उपनयन गर्भाधान, सोष्यन्ती कर्म, आयुष्य कर्म, मेधाजनन, प्रभृति गृह्यकर्मों का उल्लेख है।

६. गृह्यकर्म अहिताग्नि और अनाहिताग्नि दोनों के लिये अनुष्ठेय है।

७. श्रौतयागों के अनुष्ठान के लिये जहाँ अनेक ऋत्विकों की आवश्यकता होती है वहीं गृह्यकर्मों का सम्पादन यजमान स्वयं ही कर सकता है।

गृह्यसूत्रों का महत्व

गृहस्थ जीवन से सम्बद्ध प्रायः जितने भी कर्म है उन सभी का समावेश गृह्यसूत्रों में हैं। ये सूत्र स्वरूप में अल्पकाय होते हुये भी गुणों में विपुल और महनीय है। कुछ भागों में छोड़कर भारत के प्रायः समस्त उत्तरी खण्ड एवं दक्षिण भारत में भी इसी के आधार पर गृह्यानुष्ठान सम्पन्न होते है। इनके मूल में कोई न कोई स्मृति या परम्परा निहित है अतः इन्हें स्मार्त भी कहा जाता है। गृहताग्नि की स्थापना के बाद ही विभिन्न संस्कारों का निष्पादन कैसे हो, इसकी आकर्षक विधि का विवेचन गृह्यसूत्रों में मिलता है। इन गृह्यसूत्रों में जहाँ एक ओर इन्द्र, वरुण, रुद्र अग्नि प्रजापति जैसे विराट अधिष्ठान वाले देवों का महत्व प्राप्त है। वहीं दूसरी ओर उदलाकश्यप सीता और अनुमति जैसी ग्राम्य देव-देवियाँ भी ससम्मान संस्कृत है। एक ओर जटिल सुगम उबाने वाले शास्त्रीय विधान है वही दूसरी ओर **"ग्रामवचनं च कुर्युः"** कहकर पारम्परिक ग्राम वृद्धाओं के वचनों का भी समाहत किया गया है।

गृह्यसूत्रकारों ने अपने युग की चेतना को अपने गृह्यसूत्रों में संस्कार बना दिया है। एक ओर ये भारत के प्राचीन युग के ग्रामीण जीवन के ज्वलंत दीपस्तम्भ है तो दूसरी ओर शास्त्रनिष्ठ भारतीय ब्राह्मण धर्म तथा वर्णाश्रम धर्म के सच्चे प्रतीक है। इनकी महत्ता केवल भारतीय जन जीवन की पृष्ठभूमि पर ही नहीं मापी जा सकती है अपितु आरोपीय परिवार के अन्य क्षेत्रों में भी ये गृह्यकर्म क्रमावेश रूप में प्रचलित प्रचारित हो सकते हैं। दोनों के विभिन्न विकास की दिशा के ज्ञान के लिए भी गृह्यसूत्र ही सहायक सामग्री प्रस्तुत करते हैं। इस सम्बन्ध में पाश्चात्य विचारक विन्टरनित्स का कथन है–

"The relationship of the indo-European peoples is not imited to language but that there peoples, related in language have also preserved common features from pre-historic times in their manners and customs."[१]

मैक्समूलर के अनुसार गृह्यसूत्रों का अध्ययन इसलिए भी आकर्षक है क्योंकि इनमें गहन मानवीय अन्तःकरण में निहित उस प्रवृत्ति का प्रकाशन हुआ है, जो अपने जीवन की प्रमुख घटनाओं को उच्चतम शक्ति से सम्बद्ध कर देती है और हमारे आनन्द और विषाद की अनुभूतियों को गम्भीर महत्व देकर उन्हें धार्मिक महत्व प्रदान करती है।

वैदिक यज्ञों का उदात्तीकरण विधान ही गृह्यसूत्रों का प्रतिपाद्य विषय है। इनमें द्विज के संस्कारों और अन्याय कर्मों का विधान है। विण्टरनित्स का कथन है– **" गृह्यसूत्र नृतत्व विशारदों के बड़े काम की वस्तु है।"** प्राचीन युग के सामाजिक आदर्श और परिस्थिति का अध्ययन करने की दृष्टि से सूत्र साहित्य की महत्ता गरिमापूर्ण है। उदात्त मानवीय दृष्टिकोण का यह उद्घोषक है, चरित्र निर्माण का प्रतीक है। आध्यात्मिक उन्नति का संबल है।

सामान्य जगत का विराट् जगत के साथ सम्मिश्रण का सूत्र है, जन जीवन चेतना का यह एक रहस्य है, आत्मोद्धार के लिए यह एक प्रशस्त मार्ग है, सम्पूर्ण जीवन को कर्म विधान की दृष्टि से प्रोद्भासित करने का एक साधन है तथा सम्पूर्ण आर्यवर्त को एक संस्कार में बांधने का अटूट सूत्र है। इस सूत्र का आयाम अधिक विस्तृत, अधिक सशक्त और पूर्ण संवेदनशील है।

इनके अतिरिक्त गृह्यसूत्रों में तत्कालीन ग्रामीण समाज में होने वाले हिन्दू संस्कारों पञ्चमहायज्ञों, कृषि तथा पशु सम्बन्धी विभिन्न अनुष्ठानों जैसे लाङ्गल योजन, नवान्नप्राशन, फसलों का वपनकाल, शूलगव, आश्वयुजी कर्म, इन्द्र यज्ञ, सीता यज्ञ आदि का विस्तृत वर्णन

---

१. Winternils - History of Indian literature, Part Ist page 274.

किया गया है। गृह्यसूत्रकालीन समाज के प्रत्येक पहलू से अवगत कराने के कारण भी गृह्यसूत्र ग्रन्थ महत्व तथा सम्मान के पात्र हैं।[१]

संस्कार क्या है?

संस्कार शब्द की सिद्धि 'सम्' उपसर्ग पूर्वक कृञ् धातु में 'घञ्' प्रत्यय लगकर हुयी है। संस्कार हिन्दू धर्म के अत्यन्त महत्वपूर्ण अंग हैं। इनका प्रार्दुभाव आज से नहीं परन्तु प्राचीन काल से ही द्रष्टव्य है सामाजिक आवश्यकताओं के अनुसार इनमें परिवर्तन होते रहते हैं। अपने परिवर्तित रूप से आज भी हिन्दू समाज में प्रचलित है। इसमें बहुत से अभिनयात्मक उद्गार और धर्म वैज्ञानिक मुद्रायें एवं इङ्गितयाँ पाई जाती हैं। संस्कार प्राचीन भारतीय समाज के आदर्शों तथा महत्वाकांक्षाओं को भी प्रकट करते हैं। मनुष्य तथा अदृश्य अध्यात्मिक शक्तियों के मध्य माध्यम के रूप में संस्कारों के कई तत्वों का विकास हुआ था ऐसा विश्वास था कि शक्तियाँ मानव जीवन में हस्तक्षेप करती हुई प्रभावित करती है। अतः विविध अवसरों पर उनके अनुकूल प्रभावों का नियन्त्रण देना आवश्यक समझा जाता था। संस्कारों का उद्देश्य व्यक्तित्व के विकास द्वारा मानव का कल्याण और समाज तथा विश्व से उसका सामंजस्य स्थापित करना था।

संस्कार का अर्थ केवल यज्ञ ही नहीं लिया जा सकता है। संस्कार तो मानव जीवन को पवित्रता प्रदान करते हैं। संस्कारों के साथ मूल्यगर्भित विश्वास और विचार लगे होते हैं जिनके आधार पर मनुष्य जीना चाहता है। इन्हीं विश्वासों और विचारों में समाज की नींव है और यहीं से उसका पोषण मिलता है। सामाजिक विनय शक्ति और स्वतंत्रता का स्रोत इन्हीं में है।[२]

पारस्कर ने संस्कारों का अन्तर्भाव पाकयज्ञों में किया है जो हुत, अहुत, प्रहुत, और प्राशित के नाम में जिनकी अभिव्यक्ति होती है।[३]

---

१. हिन्दू संस्कार – डॉ. राजबली पाण्डेय

२. हिन्दू संस्कार – डॉ. राजबली पाण्डेय पृ. १३–१४

३. पारस्कर गृह्यसूत्र – पृ. २०

भारतीय जीवन के जितने भी प्रमुख कर्तव्य हैं वे भी सब धर्म पर आधारित हैं। हिन्दू जीवन के दर्शन के अनुसार शास्त्रविहित कर्म ही धर्म है। आर्य लोगों की संस्कृति ही वैदिक संस्कृति है। वैदिक संस्कृति अपनी विजय पताका फहराती हुयी विश्व के मानवों पर अपनी प्रभुता जमाती हुयी अपनी जीवन्त सत्ता के लिये आर्यों ने स्वीकार किया है। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार से आग में तपाये गये सोने की समान विपत्तियों की ज्वाला के बीच हमारी संस्कृति खरी तथा चमकती हुई निकली।

'संस्कृति' शब्द का अर्थ है मन को हृदय को तथा उनकी वृत्तियों के संस्कार के द्वारा सुधारना तथा उदात्त बनाना। आर्यों ने अपने जीवन को उन संस्कारों के द्वारा सुधारा और यज्ञ के माध्यम से उनका घर में अनुष्ठान करता था और देवताओं को इच्छित वस्तु अर्पित कर उन्हें देवताओं का इच्छित वस्तु अर्पित कर उन्हें प्रसन्न करता था जिससे सम्पूर्ण पाप नष्ट हो जाये या वे विघातक अंश नष्ट हो जाये जिनके द्वारा उसके या परिवार को कोई हानि पहुँचती है। संस्कृति के जितने अंग हैं उन सब अंगों का एक ही प्रधान लक्ष्य होता है। शिक्षा तथा संस्कारों के द्वारा मन को शिक्षित संस्कृत तथा उच्च बनाना।[१]

संस्कारों के माध्यम से हमारे पूर्वजों ने मानव जीवन के समस्त अंगों को विकसित करने का सतत् प्रयास किया है मूलतः संस्कार का कोई न कोई प्रयोजन अवश्य होता था उनके संस्कार करने के दो उद्देश्य सामने आते हैं प्रथम तो उनका सरल विश्वास तथा अकृतिम मन की सहज सादगी से उद्दिष्ट है, द्वितीय वर्ग कर्मकाण्डी व सांस्कृतिक है। इसका सामाजिक विकास और उन्नति चेतन शक्तियों के कारण होता है।

आर्यों ने अपने संस्कारों के अन्तर्गत अनेक साधनों का अवलम्बन किया उनमें प्रथम स्थान आराधना का था अशुभ शक्तियों

---

१. हिन्दू संस्कृति– अंक २४

की स्तुति की जाती थी बलि व भोजन प्रदान किया जाता था।[१] उनका विश्वास था कि वे बलि से तृप्त होकर लौट जायेंगे।

संस्कारों का भौतिक उद्देश्य धन धान्य पशु संतान दीर्घ जीवन सम्पत्ति समृद्धि शक्ति और बुद्धि प्राप्ति के लिए किया जाता था। संस्कारों को करने का एक प्रयोजन सम्मुख आता है कि अनुष्ठानों को लोकप्रिय एवं मनोरंजनपूर्ण बनाना था। ऐसी मान्यता है कि द्विजों को गर्भाधान आदि इह लोक और परलोक दोनों को पवित्र करते हैं।[२] संस्कारों से युक्त व्यक्ति फल फूल और नैतिक (ऋत्) सद्गुणों के कप में परिपक्व हो जाने की अपेक्षा से किये जाते थे।

संस्कारो में जीवन के हर एक सोपान के लिए व्यवहार के नियत (धर्म) निर्धारित हो चुके थे। अङ्गिरा ऋषि ने चित्रकर्म से संस्कारों की तुलना करते हुए कहते हैं कि "जिस प्रकार चित्रकर्म में सफलता प्राप्त करने के लिए विविध रंग अपेक्षित होते हैं उसी प्रकार ब्राह्मण्य या चरित्र निर्माण भी विभिन्न संस्कारों के द्वारा होता है।[३]

संस्कार जीवन के प्रत्येक भाग को व्याप्त कर देते हैं। यह इस प्रकार किये जाते हैं कि आरम्भ से ही व्यक्ति इंनके प्रभाव में आ जाता है।[४]

गृह्यसूत्रकालीन जीवन दर्शन

जीवन एक रहस्य है इस रहस्य के समग्र परिज्ञान के लिए मनुष्य सतत् प्रयत्नशील है। अपनी त्रुटियों का निराकरण करते और

---

१. बलिः श्वेत-पा.गृ.सू. वेदाचार्य पं. अनन्त रामठोगराशास्त्रिणा २/१० पृ. ३३ बलि और भोजन का विधान सर्वत्र है।

२. वैदिकैः कर्मभिः पुष्यैनिषेकादि द्विजमनाम्
कर्म्यः शरीर संस्कारः पावन प्रेव्य चेह च मनुस्मृति। २/२६

३. चित्रकर्म यथाऽनेकैरङ्गैकन्मील्यते शनैः
तक्षण्यमपि तद्वत् स्यात् संस्कारै विधिपूर्वकम्
वी.मि.सं. भाग १ पृष्ठ १३९ पर अङ्गिरा ऋषि का वचन।।

४. हिन्दू संस्कार – राजबली पाण्डेय – पृ. १६

अनुभवों से लाभ उठाते हुए सम्पूर्णता की ओर अग्रसर होना मानवीय इतिहास के अन्तरतम में निहित मूल प्रवृत्ति है। गृह्यसूत्रों के समस्त अनुष्ठान भी सामान्यत: इसी तथ्य के द्योतक है। डॉ. राजबली पाण्डेय के शब्दों में कहा जा सकता है कि युगों के निरीक्षण और अनुभवों के माध्यम से भारतीयों ने यह अनुभव कर लिया था। जीवन भर संसार की अन्य कलाओं के समान ही एक कला है उसके लिए संस्कार तथा परिस्करण अपेक्षित थे। उत्पन्न तथा अपने आपके सीमित मनुष्य केवल पञ्चतत्वों का एक पिण्ड असभ्य तथा पाशविक और अपने वन्य सहयोगियों (पशुओं) से नाममात्र के लिए भिन्न था उसके जीवन के लिए सावधानी रक्षा तथा विकास की उतनी ही आवश्यकता थी जितनी कि उद्यान में एक पौधे के लिए पशु संघ में एक पशु के लिए। प्राचीन काल के ऋषियों ने अपने ज्ञान तथा बुद्धि के द्वारा वन्य पशुता को संस्कृत मानवता में परिणत् करने का प्रयास किया।

आशावादी दृष्टिकोण

गृह्यसूत्रकालीन दृष्टिकोण यद्यपि आशावादी था यह शाश्वत सत्य है कि गृह्यसूत्रों में तद्विष्णु उत्साह समन्वित और आशापूर्ण दृष्टि का प्रतिपादन हुआ है। यद्यपि विभिन्न कर्मों में विनियुक्त मन्त्रों का चयन प्राय: अर्थ पर बहुत अधिक विचार करके नहीं किया गया है? फिर भी अधिकांशत: उन्हीं मन्त्रों का विनियोग हुआ है जिनमें सम्पन्नता श्रेष्ठ सन्तति तथा दीर्घायु के लिए प्रार्थना की गयी है। इन मन्त्रों में प्राय: शत्रु पराजय और राष्ट्र में ऐश्वर्य की कामना के साथ पुत्र पौत्री भृत्यों शिष्यों वस्त्रों कास्य, स्वर्ण, मनोरमा, पत्नी, सुस्वादु और पोषक भोजन सुरक्षा, दीर्घायु यशस्विता, सफलता गौरव, शक्ति, पावन, आभा के लिए आकांक्षाएँ निहित हैं। गृह्यसूत्र के प्रत्येक कृत्य में चाहे वह मेधाजनन हो या नामकरण, अन्नपाशन हो या समावर्तन हो या विवाह सभी में ये कामनाएँ सन्निहित है। काम्य कर्मों में ही ये भावनायें विशेष रूप से अभिव्यक्त हुई हैं।[१]

---

१. पारस्कर गृह्यसूत्र – पृ. ३३

इस सन्दर्भ में बी.एन. आप्टे का कथन है :[१]

If anybody has a suspicion that there was a distate for the pleasures of life (of course) or sa tendency to retirement from the toimoil of life or absence of ambition inshort. "वैराग्य" he should to a description in the Grihya Sutra of the kamya ceremonies or rites preserbed with various ends i view e.g. to bring about increase of cattle averting of accidental death and misfortune glory, happiness a hundred cart load of gold, a large family, a long lief, acquisition of villages, non exhaustion of the means of livelihood, prosperty in trade rulership etc.

आश्रम व्यवस्था

गृह्यसूत्रकालीन समाज में आर्यों ने जीवन को चार प्रमुख आश्रमों में विभक्त किया था।[२] ब्रह्मचर्य जीवन का प्रथम और महत्वपूर्ण आश्रम था यह सम्पूर्ण जीवन की आधारशिला थी। बालकों को विद्या ग्रहण के लिए उपनयन के द्वारा अन्य आचार्यों के पास भेजे जाने का स्पष्ट उल्लेख हुआ है।[३] इस समय बालक ब्रह्मचारी कहलाता था विवाह करके गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने से पूर्व तक ब्रह्मचर्याश्रम में रहता था वह गुरुकुल निवास भी समाज का एक अंग था। विद्यार्थी में भी उच्च गुणों का समावेश करना गुरु का प्रमुख कर्तव्य था।

ब्रह्मचारी के ही देवता समान रूप से शुभेच्छु होते हैं। ब्रह्मचारी का अनुसरण सभी देवता करते हैं। सम्पूर्ण प्रकृति की वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त कर सदुपयोग करता है वही आचार्य को भी पूर्ण करता है। यश फैलाता है। ब्रह्मचारी 'ब्रह्म' अर्थात् ज्ञान को उत्पन्न करता हुआ व्यापक जल लोक सर्वोच्च विराट् प्रजापति उत्पन्न करता है। अमृतत्व

---

१. Social and Religious lief in the Grihya Sutra by V M Apte. page-273

२. पारस्कर गृह्यसूत्र–

३. कुमारं आनयन्ति आचार्यपुरुषाः आचार्य समीपम्। पा.गृ.सू. २/२/५. पृ. २३६

के उत्पत्ति स्थान पर गर्भरूप होकर तथा इन्द्र अथवा सर्वधिष्ठाता होकर असुरों दुष्टों को नष्ट करता है।[१] साररूप में ब्रह्मचर्य परिणति होती है। सत्य समाज का मुख्याधार है। ब्रह्मचर्य में शुद्धि का वर्णन मिलता है।[२]

ब्रह्मचर्य के पश्चात् गृहस्थ आश्रम था जो जीवन का सबसे महत्वपूर्ण आश्रम था। वैदिक समाज आर्यों को परामर्श देता था कि बिना किसी विरोध किये गृहस्थाश्रम में रहो और पूर्ण आयु प्राप्त करो। पुत्र पौत्रौ के साथ खेलते हुये आनन्द मनाते हुए अपने घर में रहो और घर को आदर्श रूप बनाओ।[३] सुखी, सम्पन्न, तृप्त और प्रसन्नचित्त आर्य गृहस्थ ऐसे लोगों को आह्वान करता है जो वीर्य धन सम्पत्ति मेधा, शुद्ध भाव और शुभ मन वाले हैं। वह कहता है आप इन घरों में निडर होकर प्रेमपूर्वक पधारिये। इन घरों में रहो और घरों में रहने वालों के लिये ये घर आरोग्यवर्धक बलशाली दुग्ध वाले लक्ष्मीवान् हैं।[४]

आर्यों के अन्दर यह भावना निहित थी कि वे अपने घर में आये अतिथि के लिये उनमें अतीव श्रद्धा होती थी और उसे देवों के समान पूज्य मानकर वे सर्वप्रथम भोजन आसन आदि से सम्मानित करते थे। उसकी धारणा थी कि जो द्वार पर आये हुए अतिथि से पहले भोजन कर लेता है वह मानो घर की कीर्ति और यश को खा लेता है।[५] गृहस्थ अपनी अतिथि सेवा से इस पृथ्वी लोक को प्राप्त करके अन्त में स्वर्ग को प्राप्त होता है।

गृहस्थ अपने पूर्वजों के प्रति अटूट श्रृद्धा रखता था। पितरों के विषय में देवों के साहचर्य की कल्पना करता था और देवों के साथ

---

१. अथर्ववेद – ११,५,७

२. वाजसनेयि संहिता – १८/१९/३०

३. ऋ.वे. – १०/८५/४२

४. अथर्ववेद – ७.६०.१७

५. अथर्ववेद – ६/६/३५

पितरों का भी यज्ञ में सोमपान के लिए आह्वान करता था। पितर लोग देवों के आह्वान के समय मेरी रक्षा करें।

व्यवहारिकता

गृह्यसूत्रों का विश्लेषण करने से ज्ञात होता है कि जीवन के निस्सीम आनन्द का उपयोग करने के लिए इस युग में जहाँ उल्लास एवं उच्छवसित उत्साह दिखाई देता है। वहीं यथार्थपरक, व्यवहारिकता और गहरी सामान्य चेतना तथा संवेदना की एक लहर भी विद्यमान है। यात्रा आदि में दुर्घटनाओं को वे असम्भव नहीं मानते थे और इनसे यथासाध्य सतर्कता रखते थे। वे साथियों शिष्यों और सेवकों को विश्वस्त बनाये रखने और किसी का क्रोध शान्ति के लिए विहित कृत्यों से यह तथ्य सामने आता है कि मित्रों के विश्वासघात और सेवकों की कृतघ्नता भी उनके लिए अप्रत्याशित और अनापेक्षित नहीं थी और उनका सामना वे किसी अनुष्ठान के माध्यम से करते थे। विधि विधानों से प्राप्त विकल्प यह प्रतीत कराते हैं कि वे सम्भाव्य कठिनाइयों से परिचित थे। इस सन्दर्भ में बहुत आदर्शवादी न होकर यथार्थवादी दृष्टि रखते थे।

गृह्यसूत्रकालीन जीवन में मनुष्य जीवन के प्रत्येक क्षेत्र के प्रति गहारी रुचि और प्रशंसा का भाव दिखाई देता किन्तु इनके आधार पर यह नहीं मान लेना चाहिए कि वे किसी भी दृष्टि से भोगवादी थे। सादा जीवन उच्च विचार उनके जीवन का वास्तविक सिद्धान्त था।

आत्म संयम, सत्य, आस्था और उदारता

व्रत और संस्कारनुष्ठान केवल विद्यार्थी के जीवन को नहीं प्रत्युत एक संस्कृत व्यक्ति के रूप में मान्य स्नातक के जीवन को भी अनुशासित करती थी। जीवन के प्रत्येक निःश्वास आत्म संयम परिपूर्ण था। उस युग में प्रत्येक कार्य को धार्मिक अनुष्ठान का रूप देकर जीवन का आध्यात्मीकरण कर दिया गया था। सत्य और आस्था उत्सर्ग और उदारता तथा आध्यात्मिक और शारीरिक शक्ति को उस युग में बहुत मूल्यवान स्थान प्राप्त था। जातकर्म संस्कार के अन्तर्गत 'अश्मा भवं परशुंभव' प्रस्तर की तरह कठोर और कुठार की तरह

तीख्य हो जाओ– जैसे वचनों से सिद्ध होता है कि स्थिरता और तीक्ष्णता उस युग के गुण थे।[१]

सामाजिक सुधार

गृह्यसूत्रकाल में समाज सुसंस्कृत था इसका कारण यह है कि आर्य अत्यन्त सभ्य एवं सुसंस्कृत लोग थे इसलिए उन्होंने अपने समाज को एक निश्चित व्यवस्था में बांध रखा था। इस व्यवस्था का नाम वर्ण व्यवस्था था जिसे उन्होंने चार भागों में विभक्त कर रखा था। इसका पुरुष सूक्त में उल्लेख मिलता है।[२] वहाँ पर क्षत्रिय के स्थान पर राजन्य शब्द का प्रयोग किया गया है। जब तक आर्य सप्तसिंधु प्रदेश में रहे तब तक उनमें चार्तुवर्ण व्यवस्था नहीं थी। सभी आर्य विश कहलाते थे जिसका अर्थ होता था लोग या जनता।

पूर्व वैदिक काल में जाति प्रथा नाम की कोई चीज नहीं होती थी जहाँ कहीं भी आर्य गए और अपना विस्तार किया। उनकी समाज व्यवस्था इसी पर आश्रित थी।[३] प्राचीन भारतीय समाज में भी दो वर्ग बन गए आर्य और दास। गौरवर्ण आर्य लोग आर्य वर्ण तथा दास काले वर्ण के लोग कहलाने लगे। जब दास लोगों का आर्यों का सम्बन्ध हो गया तब वे उनके यहाँ कार्य करने लगे और तब दास शब्द नौकर का वाचक बन गया। इस अर्थ में दास शब्द प्रचलित होने के कारण उन्होंने अपने को दास कहना बंद कर दिया और इनके स्थान पर शुद्र शब्द का प्रयोग किया।

समाज का प्रत्येक व्यक्ति पुत्र की उत्पत्ति के लिए देवताओं से प्रार्थना करता था। सूत्रकाल में वर्णाश्रम व्यवस्था प्रचलित थी। इस काल में ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य तीनों की स्थिति वंशानुगत ही मानी गयी है। ऋषि सन्तान ही पुरोहित का काम करते थे तथा क्षत्रिय ही

---

१. पारस्कर गृह्यसूत्र – डॉ. ओमप्रकाश पाण्डेय – पृ. ४६

२. ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाह राजन्यः कृतः उरु तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्या शुद्रो अजायत। ऋ.

३. पारस्कर गृह्यसूत्र – डॉ. जगदीश चन्द्र मिश्रा पृ. ३६

राजकाज का निर्वाह करते थे। नाम वंशानुगत हो गया था। वैश्य कृषि कर्म कर वाणिज्य का सम्पादन किया करते थे।[१]

पारिवारिक जीवन

आर्यों का पारिवारिक जीवन बड़ा सुखमय था। उनका परिवार संयुक्त था। एक परिवार में कई सदस्य होते थे। परिवार पितृ प्रधान था। पिता ही घर का मालिक होता था इसलिए गृहपति कहलाता था। ऋग्वेद के विवाह सूक्त के एक मन्त्र से यह ज्ञात होता है कि परिवार में तीन पीढ़ी तक लोग इकट्ठा रहते थे। एक पिता के कई सन्ताने होती थी। दस पुत्र की कामना की जाती थी। पुत्र तथा पुत्री वधू तथा स्त्री सभी लोग उसी की छत्र-छाया में अपना सुखद जीवन बिताते थे। उस काल में उपनयन संस्कार के अनन्तर गुरु के समीप जाकर वेदाध्ययन की भी परम्परा थी। ऋषि सन्तान ही पुरोहित का कार्य करते थे। क्षत्रिय राजकाज का निर्वाह करते थे। वैश्य कृषि कर्म वाणिज्य का सम्पादन किया करते थे।

गृह्यसूत्रकालीन आर्यों का समाज प्रधानतया ग्राम्य था जो एक निश्चित स्थान पर अपनी बस्तियाँ पशुपालन तथा कृषि कर्म में सतत निरत रहता था। आर्यों का जीवन अधिकतर ग्राम्य था। परन्तु नागरिक जीवन की सत्ता के प्रभावों की भी कमी नहीं है। वैदिक इण्डेक्स में गाँव का वन से सदैव विभेद किया गया है तथा इसके पशुओं और पौधों को वन में रहने वाले पशु क्या पौधों से सदैव भिन्न कहा गया है। ग्राम में केवल मनुष्य ही नहीं अपितु गाय, भैंस तथा अन्य पालतू पशु और रखवाली के लिए कुत्ते भी रखते थे।

ग्रामों में अनाज का संग्रह करके रखा जाता था जो आज भी दृष्टव्य होता है। कृषि बल समाज होने के कारण आर्यो की जीविका का प्रधान साधन कृषि कर्म तथा पशुपालन था।

पुत्र के लिए वीर शब्द का विशेष रूप से प्रयोग होता था जो आर्यों के युद्धमय जीवन की ओर संकेत करता है। पुत्र को पराक्रम

---

१. पारस्कर गृह्यसूत्र – डॉ. जगदीश चन्द्र मिश्रा पृ. ३६

लौकिक कर्मों में कुशल (कर्मण्य) गृहकार्य में कुशल (सादन्य) यज्ञ याज्ञादि कर्मों का अनुष्ठान करने वाला विदभ्य सभा में बैठने योग्य अर्थात् शास्त्र कुशल (सभेय) तथा पिता के यश को बढ़ाने वाला (पितृक्तपण) कहा गया है।[१] यजुर्वेद में विजेतारथ पर सदा आरूढ़ रहने वाला सभेय पुत्र पैदा होने की कामना की गयी है।[२] आर्यों ने अपनी पत्नी से उत्पन्न पुत्र को ही पुत्र मानने की प्रथा थी क्योंकि वही सन्तति परम्परा को आगे बढ़ाता था। पुत्र को अपनी आत्मा माना जाता था। यह धारणा थी कि व्यक्ति की आत्मा ही पुत्र रूप में उत्पन्न होती है।[३] पिता वृद्धावस्था में पुत्रों के सहारे रहता था किन्तु पुत्र पूर्वावस्था में पिता के सहारे रहता है।[४] पुत्र को हृदय कहा गया है क्योंकि पुत्र सबसे प्रिय होता है। पुत्र पुमनामक नरक से रक्षा करता है यही पुत्र का पुत्रत्व है। संसार के सभी रक्षकों में पिता सर्वश्रेष्ठ होता है।[५] पिता अपने पुत्र को हाथों में रखता है क्योंकि पुत्र पिता की गोद में सबसे प्रिय वस्तु के रूप में होता था। गृह्यसूत्रों में ऐसे भी परिवारों का संकेत मिलता है जिसमें पिता की पुत्र सन्तान न हो केवल लड़कियाँ हो तो ऐसी स्थिति में बड़ी लड़की का विवाह इस शर्त पर किया जाता था कि उससे उत्पन्न प्रथम पुत्र लड़की के पिता के परिवार का उत्तराधिकारी होगा। ऐसी लड़कियों को पुत्रिका कहा जाता था। इस बात का संकेत मिलता है ऐसी लड़कियाँ पिता के घर में ही रहती थी।[६]

---

१. सोमो धेनुं अर्वन्तमाशु सोमो वीरं कर्मण्यं ददाति। ऋ.वे. १.९१.२०

२. जिष्ण रथेष्ठाः सभेयो युवाऽस्य यजमानस्य वीरो जायताम्। वा.स. २२.२२ ७.५.१८.७

३. ते तव हृदयमन्तःकरणं – पा.गृ.सू. १/१६/१७ गदाधरभाष्य पृ. १८६ पर उद्धृत

४. पूर्ववयसे पुत्राः पितरमुपजीवन्ति ...... उत्तरवयसे पुत्रान्पितोपजीवितं श.ब्रा. १२.२.३४

५. ऋ.वे. ४.१७.१० पितृतमः पितृणाम्

६. अ.वे. – १.१७.१ निरुक्ते ३/५

पुत्र का विवाह होने पर जो बहू आती थी वह भी परिवार का अंग होती थी उसे स्नुषा कहा जाता था यह शब्द पति के माता-पिता दोनों का पुत्रवधू के साथ सम्बन्ध का वाचक था। वृषाकपायि को सुन्दर पुत्र वाली तथा सुन्दर पुत्रवधू के रूप में संबोधित किया गया है। पति का पिता श्वसुर तथा माता 'स्वश्रु' कहलाती थी। पत्नी की माता के लिए पति के सम्बन्ध का वाचक भी यह 'श्वश्रु' शब्द था। सायण ने पति गृह को 'प्रास्तम' तथा उसके समीप श्वसुर के भोजन गृह को अन्तिगृह माना है। वधू अपने पति के साथ कमरे में रहती थी भोजन कराने के लिये श्वसुर के कमरे में जाती थी।[१]

गृह्यसूत्रकालीन परिवार के पिता पुत्र माता स्नुषा भाई बहन पुत्र पुत्री तथा नृप्त में सब इकट्ठा एक घर में रहा करते थे। माता-पिता जब तक जीवित रहते थे तब तक उन्होंने पुत्री में सम्पत्ति का विभाजन नहीं होता था।

एक आदर्श परिवार के सभी सदस्यों में परस्पर सौहार्द तथा सामंजस्य था। अथर्ववेद का सौमनस्य सूक्त से प्रसिद्ध है। जिसमें एक आदर्श परिवार का वर्णन है जिससे ज्ञात होता है कि उस समय एक आदर्श परिवार था।

खान पान अथवा भोजन

गृह्यसूत्रकालीन भारतीयों का भोजन सीधा सादा स्वास्थ्यवर्धक तथा सात्विक होता था। पारस्कर गृह्यसूत्र के अनुशीलन से पता चलता है कि भारतीयों का सबसे प्राचीन भोजन जौ की रोटी और भात था। आजकल तर्पण आदि धार्मिक कृत्यों में तिल के साथ जौ तथा धान के साथ एकमात्र प्रयोग से यही सिद्ध होता है कि आर्यों के आदिम भोज्य पदार्थ होने के कारण ही इनमें हमारी पुण्य भावना अक्षुण्ण बनी हुई है। सूत्रयुग में विभिन्न प्रकार के अनाज, मांस, दूध तथा दूध से

---

१. स्वभर्तृं भोगगृहान्तिके यत् श्वसुरस्य भोजनगृहं तदन्तिगृहं।
तस्मागृहात् सोवशी अस्तं पतिगृहं ननक्षे व्याप्नोति।
ऋ.वे. १०.९५.४ पर सायण भाष्य

बनी हुई चीजें जैसे घी, और दही प्रिय एवं प्रधान भोज़न था। अब भोजन में सामान्यतः चावल, जौ, गेहूँ, बाजरा, तिल एवं दालें सम्मिलित थे। भोज्य पदार्थों को स्वादिष्ट बनाने के लिए नमक एवं शकर का भी प्रयोग किया जाता था। (शहद) का प्रयोग बहुत लोकप्रिय था।[१]

अनाजों से विविध प्रकार के व्यञ्जन तैयार किये जाते थे। मक्का, गेहूँ आदि पहले पीसा जाता था फिर उनसे अपूवा (रोटियाँ) बनायी जाती थी।[२] बड़ी रोटियों को पुरोडाश कहा जाता था मुख्यतः अनुष्ठान के अवसर पर बनायी जाती थी। का.गृ.सू. में तेल से बने हुए वेल अपूवा का उल्लेख मिलता है जो फाल्गुनी नामक गृह्यानुष्ठान में देवताओं को अर्पित किया जाता था।[३] धान को कूटकर उनसे चावल निकाला जाता था और उसे पीतल अथवा मिट्टी के बर्तन में पकाया जाता था। "स्थालीपाक"[४] एक विशिष्ट व्यञ्जन था जो चावल अथवा जौ, जो दूध अथवा पानी के साथ पकाकर तैयार किया जाता है। जिसे समय-समय पर यज्ञों और विभिन्न अनुष्ठानों में विशिष्ट देवताओं को अर्पित किया जाता था[५] ऐसा गृह्यसूत्रों के अनुशीलन से पता चलता है। "यवागू" चावल से तैयार किये गये दलिया को कहते थे, यद्यपि "यवागू" शब्द जौ से तैयार किये गए भोज्य पदार्थों के लिए ही प्रयुक्त होता था। चावल और तिल को एक साथ पकाकर एक व्यञ्जन तैयार किया जाता था जिसे क्षीर कहा जाता था। "लाजा"[६] शब्द भूने हुए अन्न के लिए प्रयुक्त होता था विशेषतः भुने हुए चावल के लिए। परन्तु भूने हुए जौ को जब पीस दिया जाता था तो उसे सत्तू[७] कहा जाता था। बौ.गृ.सू. के अनुसार चूडाकरण संस्कार के अवसर पर

---

१. पारस्कर गृह्यसूत्र – डॉ. ओमप्रकाश पाण्डेय १/३/२०

२. अपूपाश्च – २/१५/१ पा.गृ.सू.

३. का.गृ.सू.

४. स्थालीपाकस्य – २/१७/१० पा.गृ.सू.

५. धानावन्तमित्यृचा । २/१४/२६ ।। पृ. ३५३

६. लाजानाम । ३/६ वही पृ. ३१

७. सक्तू नाम – वही २/१४/११-पृ. ३४६

"अपूय" धान भुना हुआ अन्न ओदन तथा "सक्तु" का भोजन ब्राह्मणों को अर्पित किया जाता था। "घी और जमे हुए दूध का मिश्रण 'प्रषातक' के नाम से जाना जाता था इसे आश्वयुजी कर्म के अनुष्ठान में इन्द्र को अर्पित किया जाता था। जौ तथा चावल से बने हुये ये भोज्य पदार्थ घी के साथ खाये जाते थे।[१] अन्नप्राशन संस्कार के अवसर पर शिशु को चावल तथा घी से प्राशन कराने का वर्णन है।[२] गो.गृ.सू. में[३] सीमान्तोन्नयन संस्कार के अवसर पर पत्नी द्वारा आज्य मिश्रित क्षीर खाने का वर्णन किया गया है। पका हुआ चावल दही के साथ भी खाया जाता था विवाह के पश्चात् घर पहुँचने पर पति पत्नी साथ-साथ दही और चावल खाते थे।

दालों का विशेष उल्लेख नहीं प्राप्त होता है। परन्तु उससे सम्बन्धित अनाज का वर्णन मिलता है। मूंग (मुद्ग) उड़द (माष) तथा मसूर की खिचड़ी आर्यों को हितकर और रुचिकर प्रतीत होती थी। पारस्कर गृह्यसूत्र के अध्ययन से ज्ञात होता है जो कि उस युग में 'पर' अथवा किसी विशिष्ट अतिथि के घर अपने पर उसका सत्कार करने के लिए घी, दही और मधु के मिश्रण से बना मधुपर्क उपहृत किया जाता था। घृत के नाना अवस्थाओं के बोधक शब्द गृह्यसूत्र में ग्रन्थों में मिलते हैं।[४]

दही से मथकर निकाला गया 'घी' 'आज्य' तथा जमा हुआ घी 'घृत' कहलाता था। भोजन में आवश्यक होने के अतिरिक्त 'घृत' यागनुष्ठानों में आहुति के लिए भी उपादेय था। गृह्यसूत्रों में संस्कारों के अन्तर्गत विभिन्न कामनाओं की पूर्ति के लिए भी उपादेय था। गृह्यसूत्रों में संस्कारों के अन्तर्गत विभिन्न कामनाओं की पूर्ति के लिए भिन्न-भिन्न देवताओं के उद्देश्य से घी की आहुति आग में समर्पित करने का विधान किया गया है।

---

१. पारस्कर गृह्यसूत्र – पृ. ३५१

२. पा.गृ.सू. – १/१९/५-६

३. गो.गृ.सू.

४. नवनीत् घृतपिण्ड – पा.गृ.सू. २/१/८
मुद्ग, वही पृ. १६२

सामिष भोजन

संहिताओं के युग में तो पूर्णतया शाकाहारी थे लेकिन गृह्यसूत्रों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि सूत्रकाल में शनैः-शनैः मांसाहार का प्रयोग भी कुछ लोग करने लगे थे गृह्यसूत्र ने आर्यों की निवास भूमि की जलवायु अत्यन्त शीत प्रधान थी। अतः मांस का भक्षण कुछ आवश्यक भी था। पारस्कर गृह्यसूत्र में अन्नप्राशन के अवसर पर माता-पिता अपने बच्चे को मांस के कई प्रकार के पक्षियों का मांस खिलाते थे।[१]

पेय

गृह्यसूत्रकाल में प्रत्येक घर में गायें पाली जाती थी। अग्निहोत्र के लिए प्रत्येक ऋषि के दरवाजे पर गाय रहती थी। अतः उस काल में दुग्ध निःसन्देह आर्यों का सर्वाधिक पेय था। दही को मथकर छाछ या मट्ठा बनाया जाता था बौ.गृ.सू. के अनुसार कुछ प्रमुख अवसरों पर जल मिश्रित मट्ठा भी पिया जाता था।[२] मानव गृह्यसूत्र में सोम[३] तथा सुरा नामक पेय पदार्थों का उल्लेख मिलता है आर्यों का प्रधान पेय सोमरस भी थे, जिसे वे अपने इष्ट देवता को अर्पित करके स्वयं पीते थे। यागों तथा अनुष्ठानों के अवसर पर सोमरस का सेवन भिन्न-भिन्न देवताओं को समर्पण एक महत्वपूर्ण कृत्य था। सोम पर्वत पर उगता थ वहाँ से लाकर पत्थरों पर कूट कर इसका रस निकाला जाता था। कभी-कभी काम में खोखल तथा मूसल की भी सहायता ली जाती थी। मधुरता के लिए इसमें दूध मिलाते थे जिसे 'गवाशिर' कहते थे। सोमरस पीने से मानसिक उल्लास तथा शारीरिक स्फूर्ति की उत्पत्ति होती थी। इसके अतिरिक्त सुरा मादकता उत्पन्न करने के

---

१. कपिञ्जलमांसेन, भारद्वाज्यामांसं, कपिञ्जलमांसं। पा.गृ.सू. १/१९/७-११ पृ. ८७

२. दधि – मधुपर्क, १/३/५

३. सोमे च – पा.गृ.सू. १/३/२० पृ. ५९

कारण उतनी ही गर्हणीय थी। सुरा बहुत तेज मादक गंध सी प्रतीत होती थी। इसलिए सुरा पान की पर्याप्त निन्दा की गयी है।

गृहपात्र

गृह्यसूत्रों के अनुशीलन से पता चलता है कि उस समय ग्रामों में मृत्तिका तथा धातु निर्मित 'कलश'[१] निर्मित 'द्रोण' और चर्म निर्मित "हति संज्ञक" पात्रों का प्रयोग घी, तेल, शहद, विभिन्न अनाजों तथा नाना प्रकार की घरेलू वस्तुओं को रखने के लिए किया जाता था। सोने, चाँदी तथा कांसे से निर्मित प्याले (गृह) का भी धनाढ्य आर्यजनों में प्रयोग किया जाता था।[२] यज्ञ के अवसर पर हविष्य पकाने के लिए "स्थाली" काम में लायी जाती थी। काष्ठ रचित 'उलूखली' तथा 'मूसल' से अन्न के साथ ही सोमलता भी कूटी जाती थी। शूर्प तथा तितउ (चलनी) से अनाज की भूसी को अलग किया जाता था। तैयार अन्न को "उर्दर" नामक पात्र से नापकर स्थिति (बखारी) में रखा जाता था। पारस्कर गृह्यसूत्र के अनुसार इन वस्तुओं के अतिरिक्त स्त्रुव,–जूहू, प्रणीता पात्र आदि यज्ञोपयोगी वस्तुएँ भी प्रत्येक घर में याज्ञिक अनुष्ठान के निमित्त रखी जाती थी।[३]

याज्ञिक अनुष्ठान में प्रयुक्त होने वाली पवित्र जल रखने का पात्र प्रणीता कहा जाता है।[४] प्रोक्षणी[५] से यज्ञ में प्रयुक्त जल को छिड़का जाता था। स्त्रुवा यज्ञ में आहुति देने के लिए काष्ठ निर्मित चम्मच स्त्रुवा कहलाता है।[६]

---

१. कलशं निष्क्रमणप्रभुत्युदकुभर्ठस्कंधे – १/८/४ वही पृ. ४४

२. स्थाली पाकानां – पा.गृ.सू. १/१/१ – पृ. १

३. इण्डिया आफ वैदिक कल्पसूत्र – डॉ. रामगोपाल – पृ. १६६-१६७

४. प्रणीतोदलेनभ्यु । पात्गृ.सू. १/१/३

५. प्रोक्षणी संस्कारोऽयम्पर्युद्धाणार्थः । वही १/१/४ – गदा – पृ. ८

६. स्त्रुवं प्रताय । वही – १/१/३

अजिन[१]

अजिन पशु के चर्म (त्वचा) से बने वस्त्र को कहते हैं। सर्वप्रथम अजिन वस्त्र बकरों के चर्म से बनता था। बाद में मृगचर्म का प्रचलन हो गया था। गृह्यसूत्रों के अनुशीलन से पता चलता है कि अजिन तथा कुश से बने वस्त्र देवपूजा यज्ञानुष्ठान के अवसर पर तथा अभिषेक सम्बन्धी दीक्षा के विशिष्ट असाधारण और पवित्र अवसरों पर धारण किये जाते थे। पा.गृ.सू. में शिक्षा सम्बन्धी संस्कार के अवसर पर विभिन्न वर्णों के शिष्यों के लिए विभिन्न पशुओं की त्वचा का विधान है। कुमार मृगचर्म को धारण करता हुआ कहता है मित्रस्य चर्क्षुस्य.....मैं उस मृगचर्म को धारण करता हूँ जो सूर्य की आँख है शक्ति और शौर्य व यश प्रदान करने वाले हैं। अत्यन्त पुराने होकर भी कान्तिमान है। ये वृद्धावस्था के नाशक हैं ये मृगचर्म मुझे अन्न से सम्बद्ध बनायें।[२] इस प्रकार अजिन से बने वस्त्र पवित्रता के द्योतक होने के कारण सूत्रकाल में विशिष्ट अवसरों पर धारण किये जाते थे। ऋषि लोग भी इस परिधान का प्रयोग करते थे।

ऊनी तथा रेशमी वस्त्र

गृह्यसूत्रों के अध्ययन से पता चलता है कि समय भेड़ पालन का प्रचलन था। सप्तसैन्धव के शीतप्रधान भाग में निवास करने वाले ऊन से बने वस्त्र को धारण करते थे।

रेशमी वस्त्रों का व्यवहार यागानुष्ठान के अवसर पर तथा विवाह आदि महत्वपूर्ण संस्कारों के अवसर पर विशेष रूप से किया जाता था, केसरिया रंग से रंगा हुआ रेशमी परिधान (कौसुम्भ परिधान) नितान्त पवित्र माना जाता था। इसके अतिरिक्त लाल पीले तथा काले रंग के परिधानों का भी उल्लेख मिलता है। इससे यह तथ्य सामने आता है कि इस समय रंगों का प्रयोग किसी न किसी प्रयोजन के निमित्त किया जाता था। अतः विभिन्न वर्णों के व्यक्ति विभिन्न रंगों के

---

१. अजस्य वस्तस्येदमाजम् अजिनं कृतिः। पा.गृ.सू.–डॉ. जगदीश चन्द्र मिश्रा २/५/१६ पृ. २६२

२. मित्रस्य चक्षुर्द्धरुणं बलीवस्तेजो यज्ञस्वि स्थविर समिद्धं अनाहनस्य वसनं जरिष्णुः परीदं वाज्यजिनं दधेऽस्म्। पा.गृ.सू. २/३/११ पृ. १०४

वस्त्र धारण करते थे। जैसे ब्राह्मण काषाप रंग के (क्वाभ) क्षत्रिय मजीठिया रंग के वैश्य पीत (पीले) वर्ण के परिधानों को धारण करते थे। गोभिल के अनुसार जिस विद्यार्थी ने "महानाम्नी" व्रत को धारण किया है वह काले रंग के वस्त्र धारण करता था।[१]

स्नातकों को रंगे हुए वस्त्र धारण करने का निषेध है। धार्मिक अनुष्ठान करते समय पुरोहित को लाल (रक्त) रंग के वस्त्र धारण करना अनिवार्य था।

सूती वस्त्र

गृह्यसूत्र में कपास की खेती बड़ी मात्रा में की जाती थी अतः सूत बने वस्त्र उस समय बहुत अधिक प्रचलन में थे। उस काल ने बुनकरी कला उच्च स्तर तक पहुँची हुई थी। अतः पुरुषों की धोतियों के अतिरिक्त वेशकीमती स्त्रियों के परिधान भी तैयार किये जाते थे। धार्मिक कृत्यों तथा गृह्यानुष्ठानों एवं विभिन्न संस्कारों के अवसरों पर बिल्कुल नवीन वस्त्र धारण करने का विधान किया जाता है। परन्तु प्रतिदिन के व्यवहार में धुले श्वेत वस्त्र धारण किये जाते थे। पा.गृ.सू. में कन्या के वस्त्र को तन्तुदेवियों ने काटा जिसे पति कन्या को पहनाने के लिए कहता है।[२]

आभूषण

आर्य आभूषण धारण करने के प्रेमी थे।[३] आभूषण स्वर्ण मोती तथा मणियों से निर्मित होते थे। स्त्रियाँ स्वर्ण निर्मित निष्क तथा कर्णाभरण बड़ी रुचि से पहनती थी पा.गृ.सू. से ज्ञात होता है कि **उस समय** विवाह के अवसर पर वधू को कीमती स्वर्णाभूषणों तथा वस्त्रों

---

१. गोभल गृ.सू.

२. जरां गच्छ परिधत्स्ववासो, अवकृष्टीनामभिशस्तिपावा।
शतं व जीव शरदः सुवर्च्चा रयिं च पुत्राननु, सेव्ययस्वायुष्मतीदं परिध्त्स्व वासः।। पा.गृ.सू. पृ. ३१

३. पर्युप्तशिरास्तमलङ्कृत यथा सम्भवंरत्न सुवर्णेरत्न सुवर्णेनिर्मितैः कुण्डलाद्यालङ् कारैः आनयन्ति – पा.गृ.सू. २/२/५ हरिहर भाष्य पृ. २३६ पर उद्धृत। पा.गृ.सू. १/४ पृ. ११४ पर सुवर्ण शब्द का उल्लेख है।

से सुसज्जित किया जाता था। वर भी आभूषणों को धारण करता था। अन्य विशिष्ट संस्कारों के अवसरों पर भी आभूषण धारण करने की परम्परा थी। घोड़ो हाथियों तथा रथों को आभूषणों से सुसज्जित किया जाता था। सौन्दर्य के अन्य साधनों में दर्पण अञ्जन (काजल) एवं सुगन्धित उबटन सम्मिलित है। विवाह के अवसर पर दूल्हा एक दर्पण अञ्जन वस्त्र, साही के काटे और फूल दूल्हन को भेंट करता था। मांगलिक अवसर जैसे विवाह एवं समावर्तन के संस्कार के समय आँखों में अञ्जन लगाया जाता था।[१]

इनके अतिरिक्त गृह्यसूत्रों के उल्लेख से स्पष्ट है कि उस समय पुरुष माथे पर पगड़ी[२] व पैरों को सर्दी गर्मी से बचाने के लिए 'पदत्राण'[३] धारण करते थे। छाता[४] और छड़ी[५] उनके नित्य सहचर है। छाता धूप व वर्षा से बचाने के लिए छड़ी अनिष्टकारी जानवरों से रक्षा के निमित्त हुआ करती थी।

शिक्षा पद्धति (शैक्षिक जीवन)

शिक्षा पद्धति का प्रमुख उद्देश्य मानव की प्राकृतिक शक्तियों की सुविकसित कर उसे जीवन की समस्याओं को सुलझाने में समर्थ बनाना था। गृह्यसूत्रों ने बालक के जीवन में प्रवेश करने से सम्बन्धित संस्कारों का विवरण प्राप्त होता है।

पा.गृ.सू. के अनुसार "उपनयन संस्कार" शिक्षा सम्बन्धी सर्वप्रथम संस्कार है। इस समय बालिकाओं का उपनयन संस्कार नहीं

---

१. अञ्जजनं-कज्जलं लौकिकदीपणं त्रैककुदं सौवीरमिति प्रसिद्धं वा, अनुलेपन सुरभि चन्दनादि स्त्रजः पुष्पमालाः। "आग्नेय" इत्यादिभिस्त्रिभिर्मन्त्रै "अञ्जस्व" अनुलिम्पस्व स्त्रजोऽपिनह्यस्व इत्यन्तै प्रतिमन्त्र प्रतिमन्त्रं प्रतिवलिहरण मेकैकं यथा क्रमं ददातिति ज्ञेयम। पा.गृ.सू. २/१६ पृ. ३३

२. उष्वीषेण शिरोवेश्टनवस्त्रेण सिरो वेष्टयते। पा.गृ.सू. २/६/२५ पृ. २९५

३. उपानहौ पादत्राणे प्रतिमुञ्चते परिधते। वही २/६/३० पृ. २९६

४. गुरुणा दत्तं छत्रमातपत्रं प्रतिगृह्णाति। वही २/६/२१

५. विश्वाभ्य इति मन्त्रेण वैणवं वंशमय यष्टिमादत्ते। वही २/६/३१

किया जाता था उन्हें घर पर ही नृत्य, संगीत, कला तथा गृहकार्यों की शिक्षा दी जाती थी। उपनयन संस्कार के माध्यम से विशाल साहित्य भण्डार के ज्ञान के निमित्त गुरु की सन्निधि में पहुँचा छात्र आश्रम में भिक्षा एवं समिदाहरण तथा अग्नि का परिचरण करते हुए श्रम और स्वावलम्बी जीवन की प्रेरणा पूर्वक छः अंगों सहित वेदों का अध्ययन करता था।[१] और ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करता था। गुरु उसी शिष्य को अपना ज्ञान प्रदान करता है जो पवित्र अप्रमादी, ब्रह्मचारी और ज्ञान का संरक्षक होता था ब्रह्मचर्य जीवन में छात्र को उपदेश दिये जाते थे–

सत्य बोलो, [२]धर्माचरण करो, स्वाध्याय में प्रमाद मत करो, गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर वंश परम्परा को आगे बढ़ाओ सत्य धर्म कुशल क्षेम समृद्धि देव पितृ कार्यों में प्रमाद मत करो। पिता आचार्य और अतिथि को देवता के समान समझो। गुरुजनों के भी निर्दोष आचरणों का ही अध्ययन करो अन्यों का नहीं। जो कल्याणकारी ब्राह्मण है उनके निकट बैठकर उनमें विश्वास करो। मधुमास में नदी स्थान घाट पर सोना, औरतों के बीच आना जाता, झूठ बोलना और दूसरों का धन ग्रहण करना इन्हें निश्चित रूप से छोड़ दें।

वेदाध्ययन करते हुए इस प्रकार का आचरण करने वाले ब्रह्मचारी धरती पर रहकर भी स्वर्ग में रहता था। ऐसे स्नातक अपने ब्रह्मचर्य व्रत को पूरा करके संसार में अपना कीर्तिमान स्थापित करते हैं।

---

१. षट् शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं ज्योतिषं छान्दासि अंगानि यस्य वेदस्य स षड्ग तं षड्गम्। पा.गृ.सू. २/६/६ पृ. २८७

२. वा यद्धा सत्यवदनमेव सत्यवाक्योचारणमेव कुयति पा.गृ.सू. २/८/८ पृ. ३०६

स्नातक तीन प्रकार के होते हैं[१] :-

१. विद्या स्नातक[२]

"जो वेद का अध्ययन तो करता है परन्तु व्रत का पूरी तरह निर्वाह नहीं कर पाता वह स्नातक विद्या कहलाता है।

२. व्रत स्नातक[३]

जो स्नातक व्रत पालन करने पर भी वेद का अन्त नहीं कर पाता वह व्रत स्नातक कहलाता था।

३. विद्याव्रत स्नातक[४]

जो ब्रह्मचारी निष्ठापूर्वक वेद का अध्ययन करते हुए व्रत का निर्वाह करता है और उसमें सफल सिद्ध होता है वह विद्याव्रत स्नातक कहलाता है।

ब्रह्मचर्य जीवन के समाप्त होने पर संस्कार किया जाता था।[५] जिसका अर्थ वेदाध्ययन के अनन्तर गुरुकुल से घर की ओर प्रत्यावर्तन किस समय किया जाये यह एक विचारणीय समस्या थी।

---

१. त्रयः स्नातका भवन्ति। विद्यास्नातको, व्रतस्नातको, विद्याव्रतस्नातक इति। वही – २/५/३२ पृ. २६६

२. समाप्य वेदं पाठतोऽर्थतश्च वेदं वेदस्य मन्त्रब्राह्मणात्मिका-मेकां शारवाम्। असमाप्य व्रतं द्वादशवार्षिकं समाप्य वेदम्समाप्य सम्पूर्णमनधीत्य यः समावर्तते स व्रतस्नातक इत्युच्यते। वही २/५/३४ पृ. २६७

३. व्रतं ब्रह्मचर्य द्वादशवार्षिक समाप्य वेदम्समाप्य सम्पूर्णमनधीत्य यः समावर्तते स व्रतस्नातक इत्युच्यते। वही २/५/३४ पृ. २६७

४. उभयं वेदं ब्रह्मचर्य च समाप्य अन्तं नीत्वा यः स्नाति स विद्याव्रतस्नातको भवति। वही २/५/३५

५. वेद समाप्य स्नायत् – स्नानशब्देन समावर्तन संसकार उच्यते। पा.गृ.सू. २/६/१ पृ. २८५

ब्रह्मचर्य की दीर्घतम अवधि ४८ वर्ष थी[१] जिसमें प्रत्येक वेद के अध्ययन के लिए १२ वर्ष का समय निम्नत था परन्तु अधिकांश में शिक्षा २४ वर्ष की आयु में समाप्त हो जाती थी।

समावर्तन के साथ ही विद्यार्थी का तपस्यापूर्ण जीवन समाप्त हो जाता था तथा जीवन के अनेक सुख और विलास जो ब्रह्मचर्य जीवन में उसके लिए वर्जित थे। गुरु द्वारा उसे प्रदान किये जाते थे। गृह्यसूत्रों में एक ब्राह्मण वचन से विदित होता है कि उस काल में उन विद्वानों का बड़ा ही उच्च सम्मान था जो अपनी शिक्षा समाप्त कर चुकते हो।

स्नातक को महाद्भुत अथवा शक्तिशाली व्यक्ति समझा जाता था।

नारी की महिमा

गृह्यसूत्रकालीन समाज में नारी का गृहस्थी में बड़ा महत्व था उसकी स्थिति अत्यन्त सम्मानजनक थी। पिता पुत्र की भाँति पुत्रियों को सम्मान प्रीतिपूर्वक पाला करता था उसकी. रक्षा करता था। कन्याओं को उचित स्वतन्त्रता प्राप्त थी से एक विशेष प्रकार के मेले में 'समन'[२] से अलंकृत होकर जाती थी।

---

१. ब्रह्मचर्यव्रतमष्टा चत्वारिशकमष्टा चत्वारिशद्वर्ष निवर्त्य समाप्य अवसानं प्रापप्य गुरुणाऽनुज्ञातः स्नायादिति सम्बन्धः।
वही २/६/२ गदाधर भाष्य पृ. २८५

२. **समन–** ऋग्वेद में कुछ संदिग्ध वाला अर्थ है। रॉथ ने इसका या तो युद्ध या उत्सव अनुवाद किया है। पेशल का विचार है यह एक सामान्य प्रकार का उत्सव था जिसमें स्त्रियाँ अपने मनोरंजन के लिए कविगण प्रसिद्धि प्राप्त करने के लिये धर्नुधर धर्नुविद्या का पुरस्कार प्राप्त करने के लिए और अश्व दौड़ के लिए जाते थे। यह उत्सव प्रातः काल तक चलता था अर्थात् उस समय तक चलता था जब तक रात भर चलने वाली अग्नि से प्रज्जवलित अग्निकाण्ड की उत्सव में भाग लेने वालों को इधर-उधर भगा नहीं देता था। युवतियाँ यहाँ पति ढूँढने का प्रयास करती थी जबकि नर्तकियाँ अवसर पाकर अर्थोपार्जन करती थी। वैदिक इण्डेक्स – डॉ. रामगोपाल भाग-२ पृ. ४७४

कन्या दुहिता[१] के रूप में पत्नी के रूप में तथा वीरसू (वीर पुत्र को जन्मदात्री) के रूप में सर्वोपरि अधिष्ठात्री थी। समाज के निर्माण में आधार स्वरूप पति पत्नी के हृदयों का एक समान होना अत्यन्त आवश्यक है।

पा.गृ.सू. में विवाह संस्कार में पति-पत्नी से यह कहते हुए स्पर्श करता है कि शास्त्र विहित नियमों के पालन के लिए मैं तुम्हारे हृदय को धारण करता हूँ।[२] ऋ. में दम्पत्ति प्रार्थना करते हैं कि सम्पूर्ण देवता हमारे हृदयों को मिला दें। अर्थात् जल वायु धाता और सरस्वती हम दोनों को संयुक्त करें।[३] "जायेवास्तम्"[४] अर्थात् जाया[५] ही घर है तथा 'गृहिणीगृहमुच्यते' की कामना सूत्रयुग में प्रौढ़ता को प्राप्त कर चुकी थी। स्त्री पुरुष की सहधर्मिणी थी, उसी के साथ धार्मिक कृत्यों का अनुष्ठान सम्पन्न होता था। प्रकृति प्रदत्त अपने सौन्दर्य तथा माधुर्य को अपने अर्जित गुणों से सहस्त्रा गुणित कर सूत्रकालीन नारी पुरुष की समग्र शान्ति क्लान्ति का अपनयन कर उसे आनन्द के अपरा सिन्धु में अप्रत्याशित कराने के लिए प्रयत्नशील रहती थी। गृह्यसूत्रों में निरूपित विवाह के प्रतीकात्मक कृत्यों अश्मारोहण, हृदयालंभन सप्तपदी समञ्जन, ध्रुवदर्शन प्रभृति के माध्यम से उसमें जिन गुणों का आधान कराने की चेष्टा सूत्रकालीन ऋषियों ने की है। स्त्री का प्रेम अपने

---

१. दुहिता वसूनां – पा.गृ.सू. १/४ डॉ. ओमप्रकाश पाण्डेय – पृ. २६

२. मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनुचितं तेऽस्तु मम वाचमेक व्रताजुषत्व प्रजापतिस्त्वा नियुक्तुमहतम्। पा.गृ.सू. १/८/८ पृ. ५२

३. ऋग्वेद १०.८५.४७

४. वही.

५. **जाया–** तां जाया जायात्वेन – पा.गृ.सू. १/६/३ पृ. ९६
जाया की महिमा ऋक् संहिता में परिलक्षित होती है उस घर को सर्वोत्तम माना गया है। जिसमें दिव्य गुणों से मण्डित 'जाया' निवास करती है। ऐ. ब्रा. में अभूतिरेषाभूतिः अर्थात् जाया ही शोभा, ऐश्वर्य है इसको व्युत्पत्ति करते हुए कहा गया है। तदेव जायाया जायात्वं यदस्या जायते पुनः। अर्थात् जाया इसलिए कहा जाता है कि उसमें स्वयं पुरुषं पुत्र रूप में जन्म ग्रहण करता है। जायते आस्याम् अर्थात् जाया गर्भ के आधार को कहते हैं।
वै.स. में नारी पृ. ३६

पति के लिए आदर्श था। वह समरसता की प्रतिमूर्ति मानी जाती थी।[१] समस्त गृह्यकर्म एवं अनुष्ठानों की वह स्वामिनी थी। वह गृहलक्ष्मी थी जिसकी सम्मति महत्वपूर्ण अवसरों पर सदैव ली जाती थी। कन्याओं को सुयोग्य वधू के रूप में परिणति करने के लिए उदार शिक्षा का प्रबन्ध था, उन्हें ललित कलाओं, काव्य कला, संगीत नृत्य तथा अभिनय की शोभा शिक्षा दी जाती थी।

गृह्यसूत्रकालीन नारियों में नैतिकता पूर्णरूपेण विद्यमान थी। शोभनीय आचरण तथा सदाचार के लिए वे प्रसिद्ध थी। बाल विवाह का उल्लेख नहीं है। युवावस्था प्राप्त करने पर ही कन्या का विवाह होता था पत्नी रहित व्यक्ति यज्ञ का अधिकारी नहीं होता था।[२]

पारस्कर गृह्यसूत्र में विवाह आदि संस्कारों के अन्तर्गत शास्त्रीय विधि विधान करने के पश्चात् "ग्राम वचनं च कुर्युः"[३] इस प्रकार कह कर ग्राम को वृद्धओं को समाहत किया गया है। तात्पर्य यह है कि किसी भी संस्कार को विधि विधान पूर्वक करने के बाद ग्राम की वृद्ध स्त्रियाँ जो कहे वह लोकाचार किया जाना चाहिए। क्योंकि स्मृतियों में कहा गया है कि विवाह और अन्त्येष्टि संस्कारों में शास्त्रीय आचार के अतिरिक्त कुल की वृद्धाओं की वाणी को प्रमाण मानकर चलना चाहिए।[४] धर्मशास्त्रों में भी नारी समाज में एक विशिष्ट गौरवपूर्ण स्थान पर प्रतिष्ठित है। आर्य पुरुषों ने सदा से ही उसे अपनी अर्द्धांगिनी माना है। पुरुष समाज में नारी मर्यादा में रहकर लोक परलोक को उज्जवल बनने वाले सतीत्व धर्म का दृढ़तापूर्वक पावन करती हुई नारी धर्म का आदर्श एवं परम कल्याण का सम्पादन करती है।[५]

---

१. पा.गृ.सू. १/८ पृ. १०३

२. पा.गृ.सू. पृ. ९५ सर्वसंग्रहताक्यानि कारिका में कहा गया है– प्राप्ते तु द्वादशेवर्षे यः कन्यां न प्रयच्छति।

३. ग्रामशब्देन स्वकुलवृद्धा स्त्रियोऽभिधीयन्ते। गदाभाष्य अत्र विवाहे ग्रामशब्दवाच्यानां स्वफुल– वृद्धानां स्त्रीणां श्मशाने च वाकयं कुर्युः अङ्कुरार्पण हरिदाक्षवचन्दनादि धर्मप्रतिपादकम् पा.गृ.सू. १/८/११ हरिहर भाष्य पृ. १०५

४. ग्रामं वृद्धानां स्त्रीणमाचारं प्रविशतादिति – स्मृतिवचनात्। वही

५. वेदकालीन समाज – डॉ. शिवदत्त ज्ञानी – पृ. ९७

गृह्यसूत्र काल में मनोविनोद के साधन

गृह्यसूत्रों में यद्यपि मनोरंजन के साधनों का प्रत्यक्ष रूप में कोई उल्लेख नहीं है परन्तु उस समय मनोविनोद के साधन अवश्य रहे होंगे। उस समय लोगों को अपने जीवन संग्राम में आज की भाँति अधिक व्यस्त नहीं रहना पड़ता था। ऐसी परिस्थिति में समय-समय पर आनन्द के लिए मनोविनोद के रूप में संगीत वाद्य कला मृगया उद्यान यात्रा, द्यूतक्रीड़ा, वसन्तोत्सव, पारिवारिक उत्सव, गाथागान आदि का प्रचलन था।[१]

पारस्कर गृह्यसूत्र के अनुसार विवाह मुण्डन उपनयन आदि पारिवारिक उत्सवों के अवसर पर नृत्य संगीत[२] आदि का आयोजन किया जाता था। वीणा[३] करताल ढोल मृदंग शंख आदि वाद्यों को बजाया जाता था। उस समय गाथा गान के द्वारा नीति, आचार व्यवहार, धर्म तथा विविध प्रकार के अन्य के विषयों की शिक्षा देने का प्रचलन था।

कतिपय लोग आमोद-प्रमोद के लिए मांस भक्षण के उद्देश्य से जंगली पशु पक्षियों का शिकार करते थे। ग्रामों में उपवन लगाये जाते थे। उपवन के निकट वन भी होते थे। लोग आनन्द के लिए उद्यान यात्रा भी करते थे। वसन्त के प्रारम्भ होने के दिन सुबसन्त नाम का उत्सव मनाया जाता था, लोग प्रसन्नता व्यक्त करते थे। सम्पूर्ण गाँव संगीत और वाद्य मंत्रों की मधुर आवाज से गूँज उठता था। गृह्यसूत्रकाल में बच्चों के मनोविनाद के लिए लकड़ी तथा मिट्टी की बनी हुयी गुड़िया कन्दुक तथा भाँति-भाँति के खिलौने उपस्थित थे। बच्चे प्रायः स्वयं अपनी बाल क्रीड़ाओं से सम्पूर्ण परिवार का मनोरंजन करते थे।[४]

---

१. गाथागानं वा। पा.गृ.सू. १/१५/८ गदाधर भाष्य पृ. १७५

२. पा.गृ.सू. २/७/३ गीतं गायति

३. वीणां गृहीत्वा। वही पृ. १७४

४. वैदिक वाङ्मय का वृहद इतिहास द्वितीय खण्ड – डॉ. ओमप्रकाश पाण्डेय पृ. ५४१

आवास व्यवस्था

गृह्यसूत्रकालीन समाज ग्राम प्रधान का वहाँ आवास व्यवस्था के अन्तर्गत गृहनिर्माण तथा गृहप्रवेश के सम्बन्ध में पा.गृ.सू., वा.गृ.सू., गो.गृ.सू. तथा कौशि. गृ.सू. एकमत है।[१] इन गृह्यसूत्रों के अनुसार घरों के बनाने के लिए लकड़ी, मिट्टी बांस आदि सामग्रियों का प्रयोग किया जाता था। घर बनाने के लिए लकड़ी के खम्भे गाड़े जाते थे।[२] जिस पर आड़ी सीधी धरने (प्रतिमित) और परिमित रखी जाती थी इसके ऊपर बांस के बड़े-बड़े लट्ठे रखे जाते थे और इन बांसों के ऊपर छाजन के लिए "पलद" तथा "तृण" (घास फूस रखे जाते थे और उन्हें रस्सियों से बाँध दिया जाता था लकड़ी के मकानों में खम्भों की बहुलता थी।

गृह्यसूत्रों के अनुसार भवन के पूर्व में पीपल का पेड़ नहीं रहना चाहिए इससे अग्नि का भय रहता है। दक्षिण में पाकड़ का पेड़ से गृहपति की आयु क्षीण होती है। पश्चिम में बरगद का पेड़ हो तो गृहपति को आँखे बैठ जाती है अतः गृह निर्माण करते समय लोग इन सब बातों का ध्यान रखते थे। घर की शोभा बढ़ाने के लिए अनार, पीपल, छुहारा, नींबू, सूपारी, केला नारियल, कटहल तथा चमेली और गुलाब के पौधों से घरों के बाहर का विधान है।

आर्थिक स्थिति

गृह्यसूत्रकालीन आर्यों की आर्थिक दशा अत्यन्त समुन्नत थी। इन्हें किसी वस्तु का अभाव नहीं था। जीवन के लिए उपयोगी हर वस्तु का उत्पादन वे स्वयं करते थे। भोज्य पदार्थ कृषि कार्य से तथा दूध, घी आदि पदार्थ पशुपालन से उत्पन्न करते थे।[३] ग्रामों में भेड़ तथा बकरियाँ पाली जाती थी। जिनके ऊन से निर्मित वस्त्र शीत निवारण के लिये धारण किये जाते थे। कपास की पैदावार खूब होती थी।

---

१. पा.गृ.सू. तृतीय काण्ड – शालाकर्म – पृ. ३९७

२. पा.गृ.सू. ३/४/३ पृ. २०३ – डॉ. ओमप्रकाश पाण्डेय

३. वही ३/४/३ टिप्पणी पृ. ३९६

अतः सूत के अच्छे और उत्तम कोटि के कपड़े बुने जाते थे, बढ़ई रथ[१] तथा गृहस्थी की उपयोगी काठ की वस्तुएँ तैयार करने में लगे रहते हैं। लोहार (कमरि)[२] हल तथा फाल बनाने की तैयारी में व्यस्त रहता था।[३] गृह्यसूत्र काल में व्यवसाय जातियों से सम्बन्ध थे। धर्मसूत्र के अनुसार शिक्षा और पुरोहित का कार्य ब्राह्मण के लिये, रक्षा और शासन का कार्य क्षत्रिय के लिये, कृषि और वाणिज्य वैश्यों के लिये तथा शूद्रों के लिए मत्स्य पालन शिकार करना हस्तकलायें, सफाई, सेवायें करने की आज्ञा थी। जो उच्च जाति के लोग थे उन्हें सायंकाल में शूद्रों का व्यवसाय अपनाने की आज्ञा थी। परन्तु शूद्रों को उनका कार्य करने की आज्ञा नहीं थी। जातियों का प्रतिबन्ध अन्य व्यवसायों में नहीं था। उस युग में आर्थिक दृष्टि से पृथिवी के प्रति पूर्ण जागरूकता विद्यमान थी। गृह्यसूत्रकालीन लोग इस तथ्य से परिचित थे कि वसुधा ही नहीं विश्वम्भरा (सबका भरण पोषण) करने वाली है। अतः पृथिवी से मातृवत् पालन करने की प्रार्थना की गयी है।

कृषि

आर्य उस अवस्था को पार कर चुके थे जिसमें मनुष्य अपनी भूख मिटाने के लिए मात्र फल फूल पर निर्भर रहा करता था, अथवा पशुओं का शिकार किया करते थे। वे लोग एक सुव्यवस्थित समाज में सुसंगठित हो गये थे। गृह्यसूत्रों के अनुशीलन से पता चलता है कि उनकी जीविका का प्रधान कृषि तथा पशुपालन था।

सभी प्रकार के धनों में अन्न धन महत्वपूर्ण माना जाता है क्योंकि यही जीविका का साधन है। अन्न के बिना कोई नहीं रह सकता क्योंकि अन्न मानव की क्षुधा शान्त करने का एकमात्र साधन है। इसलिए "अन्न बहुकुवीर्ति"[४] यह आर्यों के जीवन का सूत्रवाक्य था। आर्य जन केवल "कृषिकर्म" से परिचित ही नहीं थे बल्कि एक निपुण कृषक थे उन्हें यह अच्छी तरह ज्ञात था कि किस ऋतु में

---

१. खट्वा, रथ इति। पा.गृ.सू. ३/१४/१ पृ. ४५५

२. पा.गृ.सू. १/१३ पृ. ३३९

३. वैदिक वाङ्मय का वृहद् इतिहास – आचार्य बल्देव उपाध्याय पृ. ३४८

४. अथर्ववेद

किस अन्न को प्रचुर मात्रा में उत्पन्न किया जा सकता है।[१] भूमि को अधिक उपजाऊ बनाने के लिए किन साधनों का प्रयोग किया जाना चाहिए उन्हें अच्छी तरह ज्ञात था आर्य कृषि करने के लिये खेत बनाते थे। खेत दो प्रकार के होते थे उपजाऊ तथा परती। खेत को हलों से जोतकर बीज बोने योग्य बनाया जाता था ऋ.वे. में कृषि कर्म में सहायक तथा कृषि से सम्बन्धित उपकरणों का भूरिशः उल्लेख मिलता है।[२] हल के लिए 'सीर'[३] तथा लांड्गल[४] शब्द का प्रयोग मिलता है। जिसके नुकीले भाग को 'फाल'[५] कहते थे। जो बड़ा ही नुकीला होता था हल की मूठ बड़ी चिकनी होती थी हल में एक मोटा लम्बा बांस बाँधा जाता था जिसके ऊपर जुआ (युग) रखा जाता है जिसमें रस्सियों से बैलों का गला बाँधा जाता था। भूमि के जोतने के लिए हल का प्रयोग होता था उसे बैल खींचते थे। दो चार छः आठ बारह चौबीस बैलों को भी हल में जोते जाने का उल्लेख मिलता है।[६] गृह्यसूत्रकाल में अधिकांशतः वैश्य लोग ही कृषि किया करते थे। खेत उपजाऊ होते थे। इनके उपजाऊ न होने पर खाद के लिए गाय का गोबर (करीष)[७] काम में लाया जाता था। रस्सी के लिए वस्त्र[८] शब्द का प्रयोग किया जाता था चाहे वह बैलों के लिये प्रयुक्त हो या कूप से जल निकालने के लिये प्रयोग होती थी। बैलों को हाँकने के लिए चाबुक (आष्टा)[९] था। फाल से खेत में जो रेखा

---

१. पा.गृ.सू. व्रीहयश्च यवाश्च व्रीहियवास्तन्मध्ये। पृ. ३६४
२. वैदिक वाङ्मय का वृहद् इति– प्रथम खण्ड वेद डॉ. ओमप्रकाश पाण्डे पृ. ५७१
३. ऋग्वेद, ४.७.५६.८, १०.१०१, ३.४, सीरा। पा.गृ.सू. २/१३/३, पृ. ३४० डॉ. जगदीश मिश्रा
४. ऋग्वेद – ४.५७.४, पा.गृ.सू. २/१३/१ जगदीश मिश्रा लांगल योजन पृ. ३३९
५. फालं वा । वही
६. पा.गृ.सू. हरिहर भाष्य– पृ. १४०
७. गोमय पिण्डकादौ – पा.गृ.सू. १/१५/९ गदाधरभाष्य पृ. १७७
८. ऋ.वे. ४/५७/४
९. ऋ.वे. ४/५७/४ १०/१०२/८

बनती थी उसका नाम सीता[१] था। हल की मूठ के लिए 'त्सक'[२] कहते थे। हल जोतने वाले के लिये 'कीनाश'[३] शब्द का प्रयोग किया गया है। कृषि कर्म वैदिक ऋषियों के एक मन्त्र का विषय बना यह कृषिकर्म की प्रधानता का द्योतक है।[४] एक मन्त्र में ऋषि उपदेश देता है कि कृषि करौ और उससे प्राप्त वित्त को ही पर्याप्त समझते हुए उसमें प्रसन्न हो।

कृषि भूमि के लिए क्षेत्र[५] शब्द का प्रयोग मिलता है इससे पता चलता है कि सबके खेत अलग-अलग होते थे। खेत परिवार के मुखिया या पिता के अधिकार में होता था। पिता के रहते खेतों का विभाजन भाइयों में नहीं होता था कृषि को कोई हानि न होने पाये इसके लिए लोग हमेशा सचेत रहते थे पक्षी कीड़े आदि फसल को नष्ट कर देते थे। ऋग्वेद में पक्षियों से फसल की रक्षा करने वाली कृषकों के शब्द का उल्लेख मिलता है। अतिवृष्टि तथा अनावृष्टि दोनों से फसल की रक्षा के लिए देवताओं से प्रार्थना की जाती थी।

फसलें पकने पर उसे दात्र (हंसिया) से काटते थे उसी के प्रकार का एक स्पृणी (अंकुश) होता था जिससे फसल काटने के अतिरिक्त वृक्ष से पका फल भी तोड़ा जाता था। फसल को काटकर उसे पुल्लियों से बाँधते थे जिसे पर्व कहते थे।[६] धान्य को भूसे से अलग करने वाले को धान्यकृत कहा जाता था अनाज को उर्दर नामक पात्र से नापकर कोठलों में रखते थे। जिस भण्डार में अनाज रखते थे उसको 'स्थिति' कहते थे। गृह्यसूत्रकालीन कृषि कर्म के लिए दृष्टि पर ही आश्रित रहते थे। इसी कारण गृह्यसूत्रों में वृष्टि का देवता प्राधान्य माना गया है। पा.गृ.सू. में इन्द्र से प्रार्थना की गयी है हे देव वृष्टि को

---

१. सीता – पा.गृ.सू. २/१८ वेदाचार्य पं. अनन्तराम डोगरा शास्त्रिणा पृ. ३४

२. अ.वे. ३.१७.३

३. कीनाशा – पा.गृ.सू. २/१/३४ डॉ. जगदीश मिश्र पृ. ३४०

४. कृषिमित्कृषस्य वितेरमस्त बहु मन्यमानः। ऋ.वे. १०.३४.१३

५. क्षेत्रस्य – पा.गृ.सू. २/१८ पृ. ३४ वेदाचार्य पं. अनन्तराम डोगरा शास्त्रिणा ऋग्वेद – १०.३३.६

६. ऋ.वे. १०.१०३.३

रोकने वाले सूत्र नामक असुर को जिसने अपनी प्रबल शक्ति से मेघों के गर्भ में होने वाले जल को रोक रखा था उसे अपने वज्र से मारकर जल की वृष्टि करें जिससे नदियाँ प्रगतिशील हो जाये तथा खेत हरे भरे हो जायें और अन्न की समृद्धि हो।[१]

गृह्यसूत्रों में जल दो प्रकार का बतलाया गया है प्रथम खन्त्रित्रिमा (खोदने से उत्पन्न होने वाला) तथा स्वयंजो (अपने आप होने वाला) कुओं जिसमें पानी पत्थर के बने चक्के (अश्मचक्र) से निकाला जाता था जिसमें रस्सियों के सहारे जल भरने वाले कोश बँधे रहते थे कूपों का जल बड़ी-बड़ी नालियों से बहते हुए खेतों में पहुँचकर उपजाऊ बनाता था।[२]

पशुपालन

गृह्यसूत्रकालीन समाज में कृषि के साथ-साथ आजीविका का दूसरा साधन पशुपालन था। कृषि प्रधान समाज में पशु का महत्व वैसे ही बढ़ जाता है। पुरुष सूक्त में तीन प्रकार के पशुओं का उल्लेख मिलता है।[३] बैलों से[४] खेती का काम तथा बोझ ढोने वाली गाड़ी खींचने का काम लिया जाता था। गाय का दुग्ध[५] लोगों का प्रधान पेय था वह सोमरस में मिलाने के काम आता था तथाा क्षीरोदन अर्थात् खीर बनाने में नितान्त उपयोगी था। दूध से दही और घी भी तैयार किया जाता था। पारस्कर गृह्यसूत्र के अनुसार यज्ञों में ऋत्विजों के लिए तथा विवाह आदि विभिन्न संस्कारों में ब्राह्मण के लिये दक्षिणा के रूप में गाय देने का ही विधान था। गृह्यसूत्रों में अनेक स्थानों पर लिङ्गोक्त आदि देवताओं से प्रार्थना की गयी है वे लोग परम उपकारक गायों का सतत् कल्याण साधन करें उनकी संख्या में वृद्धि हो तथा पयस्विनी गौ सम्पूर्ण जीवन हमारी अभिलषित वस्तुएँ प्रदान कर हमारे मनोरथों की सिद्धि करें। गृह्यसूत्रकाल में गायें दिन में तीन बार दुही

---

१. पा.गृ.सू. २/१६ पृ. २७५
२. पा.गृ.सू. परिशिष्ट पृ. २९४
३. ऋ.वे. – १०.९०.८
४. पा.गृ.सू. वृषभौहल – २/१३/६ हरिहर भाष्य पृ. १५५
५. पा.गृ.सू. पायसं दधि, मधु घृतंमेकं १/३/२ गदा. पृ. ५२

जाती थी। प्रातःकाल (प्रातदोहे) दोपहर से कुछ पहले संभव तथा सायंकाल (सायंदोहे) पशुओं को चराने के लिये चरागाहों में ले जाया जाता था।[१] गायों को बाँधने के लिये ग्रामों में 'गोत्र' एवं गोष्ठ (शाला) रहते थे। परन्तु अन्य पशु बाहर मैदान में ही रहा करते थे। गायों के चरने जाने के समय बछड़े शाला में ही रहा करते थे।[२] सायंकाल वे अपनी माताओं के साथ रहते थे। उस समय गायें विभिन्न रंगों (वर्णों) की होती थी।[३] गायों की विपत्तियों से रक्षा के लिये पारस्कर गृह्यसूत्र में पूषन् देवता की आराधना की गयी है।[४] जिन्हें "अनष्टपशु (पशुरक्षक) विशेषण से विभूषित किया गया है।" गायें इतनी अधिक होती थी कि उनकी पहचान के लिए उनके कानों के ऊपर नाना प्रकार के चिह्न बनाये जाते थे। गाय बैल के अतिरिक्त कतिपय लोग हाथी,[५] घोड़े,[६] ऊँट[७] तथा भेड़ें[८] भी पाला करते थे।

अन्य उद्यम (हस्तकलायें)

ग्राम के सदस्यों के अन्तर्गत अनेक प्रकार के निम्न कार्य करने वालों शूद्र के अतिरिक्त कृषक और ब्राह्मण तथा क्षत्रिय भी आ जाते हैं जो राजकीय अथवा प्रचलन के आधार पर बिना भूमि की कृषि किये ही ग्राम पर अपना अधिकार रखते थे। इनके अतिरिक्त रथ बनाने वाले रथकार बढ़ई, धातुकार्य करने वाले कमार्र तथा अन्य लोग भी होते थे। कृषि तथा पशु पालन के अतिरिक्त अन्य भी अनेक प्रकार के उद्यम करते थे जिनमें हाथ के कौशल और कारीगरी की विशेष आवश्यकता पड़ती थी अपनी स्वाभाविक रुचि तथा प्रवृत्ति के अनुसार लोग अपने लिए अपना व्यवसाय चुन लिया करते थे।

---

१. वेदकालीन समाज – डॉ. शिवदत्त ज्ञानी – पृ. २१२

२. पा.गृ.सू. २/२/२२ पृ. २२७ गोष्ठे

३. वही रोहितो, लोहिव एव वा यः स्यात। हरिहर भाष्य

४. पूषा गा अन्वेतु नः पूषा रक्षत्र्वतः। वही ३/९/५

५. हस्त्या वही – ३/१५ पृ. ४५५

६. अश्व – वही – २/१० पृ. ४५७

७. उष्ट्र वही – ३/१५ पृ. ४५७

८. शानक्षोमाकानि। वही १२/५/१६ पृ. २६२

बढ़ई

बढ़ई समाज के लिए अनिवार्य कारीगर था। वह लकड़ी से घरेलू उपयोग की सभी वस्तुएँ व हल रथ गाड़ी (अनस)[१] बनाने के लिए लकड़ी की सभी चीज़ों पर नक्काशी का भी काम करता था। कुलिश तथा परशु[२] उसके मुख्य औजार थे।

लोहार

लोहार नित्य उद्योग के लिए धातु के बर्तन बनाता था। गृह्यसूत्रों में मुण्डन संस्कार के वर्णन में जिस उस्तरे (छुरा) का वर्णन मिलता है। वह ताँबे का बना होता था जिसे लोहार बनाते थे।[३] सोमरस पीने के लिए धातु के प्याले भी पीटकर बनाये जाते थे। इसके अतिरिक्त विभिन्न अस्त्र-शस्त्र जैसे धनुष बाण, तलवार, भाला, कुल्हाड़ी, कवच आदि का निर्माण करना लोहार का ही काम था। लोहार की उपयोगिता गृह्यसूत्रकालीन समाज में बहुत अधिक थी।[४]

बुनकर

गृह्यसूत्र में कपास की खेती बाड़ी प्रचुर मात्रा में होती थी। अतः सूत से बने हुए वस्त्र बहुधा प्रचलन में थे। पहले रुई को कातकर सूत तैयार किया जाता था, बनुकर का नाम 'बाय' था। सूत 'ममूख' खुटियों की सहायता से ताना जाता था। बुनने में सहायता करने वाली ढरकी का नाम 'वसर' था। करघे के लिए 'बेनन' शब्द का प्रयोग होता था। बुनने का काम विशेषकर स्त्रियों के जिम्में रहता था जिन्हें वायत्री कहते थे।[५] सूती धोती (वासस) रेशमी कपड़े (ताप्र्य और क्षोम) तथा ऊनी वस्त्र केवल परिधान आदि ही बुनकर के प्रमुख

---

१. पा.गृ.सू. १/४, २/३, पृ. ३२ पं. अनन्तराम डोगरा शास्त्रिणा
२. वही – १/१६/१८ परशु १८६
३. वही – २/१/२० पृ. २२५
४. वही – १२/२१ पृ. २५६
५. पा.गृ.सू. १/४/१३, पृ. ७५ या देवा: देव्य: इदं वास: अदृप्तन् कतिंतवत्य: या अवयन् वीतवत्य:। वेम् तन्तु सन्ताने। ओतवत्य इत्यर्थ:।

उत्पाद थे। कुश से बने वस्त्र केवल धार्मिक अनुष्ठानों के अवसर पर ही बुने हुए नवीन वस्त्र धारण करने का विधान किया गया है।[१]

चर्मकार

पारस्कर गृह्यसूत्र के अनुसार ब्राह्मण छात्र बारहसिंह के चर्म का बना वस्त्र धारण करते थे।[२] क्षत्रिय हिरन के चर्म से बना,[३] हुआ वैश्य बकरी अथवा गाय के चर्म से बना वस्त्र धारण करते थे।[४] इन वस्त्रों के निर्माण चर्मकार ही करते थे।

यातायात के साधन

उस युग में यातायात का प्रधान साधन रथ था। संचरण क्रीड़ा तथा युद्ध के लिए उसे ही नियुक्त किया जाता था। गृह्यसूत्रकाल में लोगों को रथ के निर्माण विधि का उत्तम ज्ञान था। दोनों पहियों को जोड़ने वाला डण्डा "अम्बु" नामक लकड़ी का बनता था। रथ तथा जुए को जोड़ने वाला डण्डा भी लकड़ी का बनता था जिसे इषादण्ड कहा जाता था। यदि वह यात्राकाल में टूट जाता था तो बड़ा ही अशुभ माना जाता था। घोड़े रथ के अतिरिक्त हाथी ऊँट गधे आदि पशु तथा पहियों पर चलने वाली गाड़ी जिसे घोड़ा या बैल खींचते थे। स्थल यातायात का मुख्य साधन था उन पर सवार होकर लोग अपने गन्तव्य तक पहुँचा करते थे। नाव पर चढ़कर नदियाँ पार की जाती थी।[५]

---

१. वही – २/५/२१ पृ. २६३

२. पा.गृ.सू. २/५/१७ पृ. २६२ एणी हारिणी चर्म उत्तरीयं ब्राह्मणस्य

३. पा.गृ.सू. क्षत्रियस्य ब्रह्मचारिणो रुरुर्नामारण्यसत्वविशेषदीयं चर्म उत्तरीयं भवति। २/५/१८ पृ. २६२

४. अजं गव्यं वा वैश्यस्य – गव्यमजिनं वैश्यस्य उत्तरीय भवति। वही २/५/१९ पृ. २६३

५. वही ३/१४, ३/१५ पृ. ४५८

उस काल में यात्रा बहुत से खतरों और कठिनाइयों से भरी हुयी थी। इन खतरों से लोगों की सुरक्षा के लिये गृह्यसूत्रों में कतिपय धार्मिक अनुष्ठानों द्वारा आरोहण कर्म का विधान किया गया है।

राजनीति व्यवस्था और शासन प्रणाली

गृह्यसूत्र धर्मप्रधान था इसलिये युग की न्याय और शासन व्यवस्था धर्म पर आधारित थी। समाज और राजा दोनों धर्म के द्वारा ग्रसित होते थे। श्रुतियों और स्मृतियों में राजा को ही धर्म का अंग माना गया है।[१]

उस काल में राष्ट्र कई प्रशासनिक इकाइयों में बँटा हुआ था। ये प्रशासनिक इकाइयाँ थीं। ग्राम, जन, विश एवं राष्ट्र विभिन्न गृहों के समुदाय को जो सुरक्षा की दृष्टि से एक दूसरे के पास बनाये गये थे उन्हें ग्राम कहा जाता था। ग्राम प्रशासन की सबसे छोटी इकाई थी उसका प्रमुख ग्रामणी कहलाता था ग्रामणी शब्द इस बात की ओर संकेत करता हे कि प्रजातान्त्रिक प्रणाली के अन्तर्गत वह ग्रम का नेता होता था और राज्य सरकार की सभाओं में उस ग्राम का प्रतिनिधित्व करता था उसका कर्तव्य ग्रामीणों का दैनिक देखभाल करना था उसे राजा की ओर से सुरक्षा प्रदान करनी पड़ती थी। वह एक समृद्ध व्यक्ति होता था। गाँवों में ग्राम सभा होती थी जो ग्रामणी का चुनाव करती थी तथा उसके कार्यों में उसकी सहायता करती थी। ग्राम के प्रधान के रूप में 'ग्रामणी' गाँव का नायक भी होता था। जिसका ऋग्वेद तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में भी उल्लेख है। "त्सिमर" ने ग्रामणी को एक सैनिक कर्तव्य करने वाला व्यक्ति मात्र माना है। संभवतः नागरिक और सैनिक दोनों प्रकार के कार्यों की दृष्टि से ग्रामणी गाँव का प्रधान होता था। राजकीय व्यक्तित्व से ग्रामणी का सम्बन्ध इस बात का संकेत प्रतीत होता है कि वह लोकमत के आंधार पर चुने गये अधिकारी की अपेक्षा राजा द्वारा नियुक्त होता था किन्तु यह पद कभी वंशानुगत और कभी निर्वाचित दोनों ही प्रकार का हो सकता है, इस सम्बन्ध में कोई निश्चित प्रमाण उपलब्ध नहीं है। सम्भवतः गाँव

---

१. संस्कृत वाङ्मय का वृहद् इतिहास – डॉ. ओमप्रकाश पाण्डये–पृ. ५४८

का ग्रामणी विशेष रूप से सम्मानित और प्रभावशाली व्यक्ति होता था जो भूमि विवादों का निपटारा करता था। गाँव की प्रगति करना, अपराधियों को दण्डित करना तथा ग्रामीण जनों की समस्याओं को सुलझाना और उनकी सहायता करना भी ग्रामणी के कार्यक्षेत्र में आता था।[१]

गृह्यसूत्रकाल में राज्यकार्य निष्पादन में राजा की सहायता करने के लिये विशों की दो संस्था थी। सभा और समिति। इन दोनों को राजा के ऊपर पूर्ण नियन्त्रण होता था। इनको प्रजापति की जुड़वा पुत्रियाँ कहा गया है।[२]

सभा

सभा के मूलतः दो अर्थ है। (१) लोगों का समूह और वह गृह जहाँ लोग इकट्ठे होते हैं। वैदिक आर्यों की सभा से तात्पर्य सभा भवन है। जब सभा कोई सार्वजनिक कार्य नहीं सम्पन्न कर रही होती थी तब सम्भवतः सभा भवन का स्पष्टतः द्यूतकक्ष के रूप में प्रयोग किया जाता था। एक द्यूतकार को इसीलिए निश्चित रूप से स्थाणु कहा गया है। जो वहाँ सदैव स्थित रहता था सभा के विषय में डॉ. काशीप्रसाद जायसवाल का अभिमत है "सभा सम्भवतः चुने हुए लोगों की संस्था होती थी जो मुख्यतया न्यायालय का कार्य करती थी" और इस सम्बन्ध में जो राजा को सलाह देती थी। सभा न्याय और नीति का निर्धारण करती थी। पारस्कर गृह्यसूत्र में सभा को नदि तथा "त्विषि" नामों से अभिहित किया गया है लुडविग के अनुसार "सभा" समस्त प्रजाजनों को नहीं वरन् ब्राह्मणों और महावनों (सम्पन्न दाताओं) की होती थी। इस दृष्टिकोण से ब्राह्मणों के लिये व्यवहृत सभेय रयि सभावान इत्यादि उपाधियों के द्वारा पुष्टि भी होती है। परन्तु ब्लूगफील्ड ने सभा को कौटुम्बिक आशय में प्रयुक्त माना है। त्सिनर सभा को इतना ही मानते हैं कि यह ग्रामणी की अध्यक्षता में एकत्र ग्राम परिषद् के आयोजन सथल का द्योतक है। स्त्रियाँ सभा में नहीं जाती थी क्योंकि राजनैतिक कार्यों से इन्हें प्रायः पृथक ही रखा जाता

---

१. वैदिक संस्कृति का इतिहास – डॉ. वाचस्पति गैरोला पृ. ३२०

२. वैदिक संहिता में आचारसंहिता – पृ. १५८

था, धर्म निरूपण सभा का कर्तव्य होता था धर्मपालिका न्यायपालिका परिषद ही सभा थी। सभा के लोगों को सभासद कहा जाता था और इसके अध्यक्ष को सभापति सभा का सदस्य बनना गौरव की बात समझी जाती थी।[१]

ग्राम के न्यायाधीश (ग्रामवादिन) के न्यायालय को सभा कहा गया है। सभागार का सभा सदस्य होता था। पा.गृ.सू. में ब्रह्मचर्यवती देवगण से प्रार्थना करते हैं कि सभापति के ललाट पर अंकित क्रोध की रेखायें मिटा दे।[२]

समिति[३]

गृह्यसूत्रकाल में समिति का विशेष महत्व अवगत होता है। यह प्रजापति की पुत्री है। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद से विदित होता है कि वैदिक राष्ट्र में राजा की स्थिति जन्मतः नहीं थी उसका चुनाव होता था। अथर्ववेद में प्रजा (विश) के विरुद्ध तथा अनभिमत होकर राजा नहीं कर सकता था। समिति एक सामान्य सभा थी जिसमें सभी वर्गों के प्रतिनिधि होते थे। समिति की बैठकों की अध्यक्षता राजा स्वयं करता था। इस समिति को संसद नाम से भी जाना जाता था और इसके सदस्यों को भी सांसद कहा जाता था।

उस समय के इतिहास में राजा के साथ पुरोहित का महत्वपूर्ण स्थान था। राजा और पुरोहित जो क्रमशः छत्र और ब्रह्मबल का प्रतिनिधित्व करते थे। वैदिक प्रशासनरूपी रथ के दो पहिये थे। पुरोहित ब्राह्मण होता था किन्तु वह केवल धार्मिक कार्यों के सम्पादन में ही राजा के साथ युद्धभूमि में जाता था और वहाँ अपने राजा की विजय के लिये देवताओं से प्रार्थना करता था। ब्राह्मण पुरोहित की महिमा का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि वही राजा अपने राज्य में सुप्रतिष्ठित होता है जिसके शासन में ब्राह्मण पुरोहित का

---

१. वैदिक साहित्य और संस्कृति – डॉ. वाचस्पति गैरोला पृ. ४४७-४५१

२. सभापतिः क्रुद्ध इति तं क्रुद्धमभिलक्षीकृत्य क्रोधापनयनाय।
पा.गृ.सू. ३/१३/५ हरिहर भाष्य पृ. ४५३

३. पा.गृ.सू. ३/१३/३ सभा समित्या पृ. ४५२

सम्मान होता था। राजा को सभी धार्मिक कृत्यों के सम्पादन के लिए एक अच्छे कुल के विद्वान वक्ता सुन्दर उचित आयु के गुणी उच्च चरित्र वाले तथा अच्छी आदत वाले ब्राह्मण को अपना पुरोहित नियुक्त करना चाहिए।

गृह्यसूत्रकाल में समिति का राजा मनमानी नहीं कर सकता था यदि वह करता था उसे पदच्युत कर दिया जाता था। उस काल में प्रजा की बहुत बड़ी शक्ति थी। यदि विश् को दी गयी प्रतिज्ञा के विपरीत राजा आचरण करता था तो उसे पदच्युत कर दिया जाता था। कभी-कभी राजा के उत्तराधिकारी को भी राजपद पर अभिषिक्त किया जाता था किन्तु विशः ही उनकी स्वीकृति देती थी।

विश की एक समिति होती थी जो राष्ट्रीय जीवन सम्बन्धी सार्वजनिक कार्यों को देखती थी और उसी के हाथ में राजा की बागडोर हुआ करती थी। समिति का सदस्य अध्यक्ष या सभापति (ईशान) होता था। समिति की बैठकों में राजा का उपस्थित होना आवश्यक होता था। सत्यता राष्ट्र के प्रति उत्तरदायित्व और कर्तव्य भावना के लिये समिति का और समिति के सदस्यों को सहमत होना आवश्यक बताया गया है।

राज्याधिकार सूचक मणि या पलाशपर्ण ग्रहण करते हुए राजा उपस्थित लोगों के समक्ष कहता था हे पर्ण, हे धीवान् रथकार औा मनीषी कमरि (कारीगर) तथा मेरे पास उपस्थित सब लोग मेरी सहायता करें। उस समय रथकार मृत कमरि (कारीगर) तथा मेरे आस पास उपस्थित सब लोग मेरी सहायता करें। उस समय रथकार मृत कमरि राज्याधिकारी और ग्रामणी (गाँव का नेता) आदि अनेक क्षेत्रों के लोग समिति के सदस्य होते थे।[१] इस प्रकार समिति में समाज के विभिन्न वर्गों के प्रतिनिधि होते थे। समिति को एक ऐसा समुदाय बताया गया है जिसको सामाजिक व्यवहारों तथा सार्वजनिक विषयो पर करने का सम्पूर्ण अधिकार था।

---

१. वेदकालीन समाण – डॉ. शिवदत्त ज्ञानी – पृ. २०८

राजनीति की दृष्टि से इस लोक संस्था का अपना विशिष्ट महत्व था क्योंकि उसी के द्वारा राजा के निर्वाचन के अतिरिक्त राज्य व्यवस्था का भी संचालन होता था। यही कारण है कि ऋग्वेद में उसके द्वारा निर्धारित नीति तथा मंत्रणा के लिये शुभ कामना प्रकट की गयी है।

समिति का विश्लेषण करने पर एक तथ्य स्पष्ट रूप से सामने आता है कि उसकी बैठकों में उपस्थित प्रत्येक वक्ता इस बात के लिए यत्नशील रहता था कि उसका भाषण ओजस्वी सर्वप्रिय और अकाट्य सिद्ध हो राजनैतिक व्यवस्था के राजनीतिक शिक्षण संस्कृति और ज्ञान विज्ञान विषयों पर विवाद होता था।

गृह्यसूत्र ग्रन्थों की रचना करने वाले सूत्रकार धार्मिक व दार्शनिक वृत्ति से ओत प्रोत थे तथा उन्होंने धार्मिक उद्देश्य से प्रेरित होकर ही उक्त साहित्य का सृजन किया। प्रकृति की शक्तियों की पूजा गृह्यसूत्रकालीन आर्यो के धार्मिक जीवन का एक अंग थी। आकाश और पृथ्वी की आराधना उनके धार्मिक जीवन में समाविष्ट थी। इन्द्र तथा अग्नि प्राकृतिक शक्त के भी प्रतीक थे। इन्द्र को वर्षा से संबंधित किया गया है। उस युग में कृषि वर्षा पर ही निर्भर थी। अत: इन्द्र यज्ञ का अनुष्ठान करके इन्द्र से समय पर वर्षा करने के लिये प्रार्थना की जाती थी। वरुण और मित्र रात तथा दिन के देवता माने गये हैं। इसी प्रकार पूषा सूर्य से सम्बन्धित है तथा मवेशियों (पशुओं) और आर्यों के देवता है। उष: प्रात:काल अश्विनी सन्ध्याओं तथा पर्जन्य आकाश से सम्बन्धित हैं। इनके अतिरिक्त अनुमति सीता, इन्द्रायणी आदि की भी उपासना की जाती थी। यज्ञों का कर्मकाण्ड तत्कालीन ग्रामीण जीवन का एक महत्वपूर्ण अवसरों जैसे जन्म, चूड़ाकर्म, विवाह आदि में विशेष यज्ञ का अनुष्ठान किया जाना आवश्यक था। अग्नि के माध्यम से अपने इष्ट देव को प्रसन्न करने के लिये जो वस्तुयें प्रिय हैं उन्हें अर्पित किया जाता था उस समय यह धारणा व्याप्त थी कि अग्नि द्वारा सब वस्तुयें देवताओं तक पहुँचायी जा सकती है। इसी भावना ने यज्ञों के कर्मकाण्ड को जन्म दिया।

गृह्यसूत्रकालीन आर्य एक धर्म प्रधान जाति के थे उनका देवताओं की सत्ता प्रभाव तथा व्यापकता में दृढ़ विश्वास था उनकी

कल्पना में सम्पूर्ण जगत में देवताओं का निवास था। उस युग के आर्य अग्नि के उपासक वीर पुरुष थे जो अग्नि में विभिन्न देवताओं के उद्देश्य से सोमरस की आहुति दिया करते थे, यज्ञ संस्था उनके धर्म का विशिष्ट अंग था।

गृह्यसूत्रों के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि आर्यों ने गृहस्थों की दिनचर्या को निश्चित भागों में विभक्त कर दिया था। इस दिनचर्या के अनुसार क्रियमाण कर्म धार्मिक कृत्यों को आह्निक कर्म को संज्ञा से अभिहित किया गया है।

पा.गृ.सू. तथा गोभिलगृ.सू. और कर्मप्रदीप प्रभृति में तो स्नानकल्प तथा स्नानसूत्र[१] नामक पृथक् प्रकरणों का निर्माण ही किया गया है जिनमें नित्य नैमित्यिक तथा काम्य स्नानों के भेदों का निवारण प्रस्तुत किया गया है। नित्य स्नान वैदिक मन्त्रों के साथ विशेष प्रकार के जलाशयों में विशेष विधि से किया जाता है।[२] नैमित्यिक स्नान विशिष्ट अवसरों पर था। उनमें शरीर को स्वच्छ रखने के लिए क्रमशः शरीर को स्वच्छ करने के लिये आंवला आदि लगाकर तथा पर्वों के अवसर पर विशेष प्रकारसे नहाने का विधान है। स्नान के अनन्तर नदी जलाशय में खड़े होकर ही देवताओं, ऋषियों तथा पितरों को जलांजलि देकर तर्पण किया जाता है।

विभिन्न गृह्यसूत्रों में तर्पण[३] की विभिन्न विधियाँ प्रतिपादित हैं। आश्व. गृ.सू. के अनुसार देव, तर्पण में प्रजापति ब्रह्मा वेद देव ऋषि सभी छन्द ओंकार वषट्कार सांख्य, समुद्र नदियाँ पर्वत प्रभृति ३१ देवता 'वायतु' या तृप्यन्ताम् उच्चारणपूर्वक तृप्त किये जाते हैं।

गृह्यसूत्रकालीन ग्रामीण जीवन में संध्या वन्दन का विशिष्ट महत्व था याज्ञवल्क्य के अनुसार– संध्यावन्दन दिन में दो बार की जाती थी। प्रथम प्रातः सूर्योदय के पूर्व से ही प्रातः संध्या प्रारम्भ हो जानी चाहिए और सायंकाल जब तक सूर्य का बिम्ब न दीख पड़े तब तक चलती

---

१. पा.गृ.सू. परिशिष्ट – पृ. ४४७ डॉ. जगदीश मिश्रा

२. पा.गृ.सू. परिशिष्ट – वापीकूपतड़ाग विधि – पृ. ४५०

३. वही

रहनी चाहिए और यही सर्वश्रेष्ठ संख्या करने का समय बतलाया गया है। अधिकांश ग्रन्थकारों के अनुसार गायत्री जप तथा अन्य मूलमन्त्र संध्या में प्रमुख है तथा मार्जन आदि गौण किन्तु मनु की व्याख्या में मेघातिथि ने जप को गौण मंत्र एवं शासन को प्रमुख स्थान दिया है। प्रातः कालीन संध्या खड़ी होकर तथा सायंकालीन संध्या बैठकर करनी चाहिए।[१]

संध्यावन्दन के पश्चात् आचमन किया जाता है। आचमन बैठकर उत्तर या पूर्व दिशा में करना चाहिए इसके लिये पवित्र स्थान होना चाहिए। जल को अधरों से तीन बार स्पर्श करना चाहिए। गीले दाहिने हाथ से आँख, कान, नाक, उर एवं शिर छूना चाहिए। आचमन की क्रिया सामान्यतः सभी धार्मिक क्रियाओं में देखी जाती है। भोजन करने के पूर्व एवं पश्चात् भी आचमन किया जाता है।

आर्य प्राणायाम्[२] भी करते थे प्राणायाम् के समय गायत्री का शिरः (ओम के साथ तीनों व्याहृतियाँ) एवं गायत्री मंत्र मन ही मन दुहराये जाते हैं। प्राणायाम के तीन अंग हैं–

पूरक (बाहरी वायु भीतर लेना) कुम्भकर (लिये हुए श्वास को रोके रखना) एवं रोचक (फेफड़ों से वायु बाहर निकालना) मार्जिन में ताम्र उदुम्बर काष्ठ या मिट्टी के बर्तन में रखे हुए जल को कुश से छिड़कना ही मार्जन कहलाता है। मार्जन करते समय "ऊँ" व्याहृतियाँ गायत्री एवं आपोहित्ष्व नामक तीन मंत्र दुहराये जाते हैं। पाप को भगाने के लिये अर्घमर्षण नामक अनुष्ठान किया जाता था। इसमें गौ के कान की भाँति दाहिने हाथ का स्म बनाकर उसमें जल लेकर नाम के पास रखकर उस पर श्वास लेकर इस भावना से कि 'पाप भाग जाये' किया जाता था।

---

१. वही २/२ पृ. १०५

२. प्राणायाम का तात्पर्य है प्राण का व्यायाम। प्राणायाम से पाप जल जाते हैं। प्राणोयामो भवेदेवं पातकेन्धनपावकः भवोदधिमहासेतुः प्रोप्यते योगिभिः प्रोप्यते योगिभिः सघ-योगचूड़ामणि कल्याण – अङ्क २४ पृ. ४४५

सम्मान के साथ सूर्य को जलार्पण दोनों में जुड़े हाथों से जल लेकर गायत्री मंत्र कहते हुए सूर्य की ओर उन्मुख होकर तीन बार जल का गिराना ही अर्घ्य[१] कहलाता है। याज्ञवल्क्य आदि ने गायत्री एवं अन्य वैदिक मंत्रों के जप को संख्या पूजन का एक भाग माना है। जप तीन प्रकार का माना है। (१) वाचिक (स्पष्ट उच्चरित) (२) उपांशु (अस्पष्ट) एवं (३) मानस (मन में कहना) जिसमें मानस जप सर्वोत्तम माना जाता है। आर्यों की ऐसी मान्यता थी कि इससे पाप कट जाता है।[२]

आर्य धार्मिक अनुष्ठान के प्रति सक्रिय थे। ये इस बात से स्पष्ट होता है कि विष्णु धर्मसूत्र में वासुदेव या विष्णु की देवपूजा का सबसे आरम्भिक स्वरूप पाया जाता है। अच्छी तरह स्नान करके हाथ पैर धोकर तथा आचमन करके यज्ञस्थल पर मूर्ति के समक्ष अनादि एवं अनन्त वासुदेव की पूजा करनी चाहिए पुष्प धूप दीप मधुपर्क वैदिक मन्त्रों के साथ प्रदान करना चाहिए। पा.गृ.सू. में देवताओं को मधुपर्क देने का विधान किया गया है।[३]

आश्व.गृ.सू. के अनुसार अनन्तर गृहस्थ या उसकी पत्नी को गृह्यागिन की पूजा करनी चाहिए। यह गृह्यागिन वैवाहिक अग्नि होती थी, जिसे वह अपने साथ घर ले जाता था।[४] पा.गृ.सू. में होम के निमित्त ही गृह्यस्थली पाक कर्म का विधान किया जाता है।[५] किसी भी अनुष्ठान को करने से पूर्व यज्ञ वेदी का निर्माण किया जाता था जिसमें होम के माध्यम से देवताओं की आहुति पहुँचाता था।

आर्यों पर पञ्च ऋण होते हैं उनको उतारने के लिए यज्ञ किये जाते थे। उन्हीं में से पाँच दैनिक यज्ञों को ही पंचमहायज्ञ कहा जाता

---

१. पा.गृ.सू. १/३/१ षडध्यां भवन्त्यः। पृ. १८

२. हिन्दू संस्कृति – अंक २४

३. वही

४. अश्व.गृ.सू.

५. पा.गृ.सू. गृह्यस्थालीपकानां कर्म १/१

था।[१] ये यज्ञ इस प्रकार हैं– (१) देव यज्ञ (होमात्मक)[२] (२) भूत यज्ञ[३] (बलिस्थ) (३)पितृ यज्ञ (बलिदान)[४] (४) मनुष्य यज्ञ (अतिथि सत्कार) (५) ब्रह्म यज्ञ[५] पा.गृ.सू. के अनुसार पाकयज्ञ[६] चार प्रकार के होते हैं– हुत, अहुत, प्रहुत, प्राशिव इत्यादि।[७]

आर्य इन पाँच यज्ञों के अतिरिक्त मानव यज्ञ अथवा नृयज्ञ भी करता था। गृहस्वामी को भोजन का कुछ अंश अग्रभाग पृथक् कर इसे ब्राह्मण को देना चाहिए तत्पश्चात् अतिथि एवं भिक्षुकों को भोजन देना चाहिए। फिर परिवर के अन्य सदस्यों के साथ स्वयं भोजन करना चाहिए। अतिथि सत्कार के पीछे एक मात्र प्रेरक शक्ति सार्वभौम दया भावना थी। किन्तु इस कर्तव्य की भावना की महत्ता के लिये स्मृतियों में अनेक प्रेरक भी जोड़ दिये हैं अतिथि ब्राह्मण को भोजन कराना ही मनुष्य यज्ञ है। गृह्यसूत्रों में स्पष्ट कहा गया है कि गृहस्थ को कुछ अन्न दूसरों के लिये निकाले बिना कभी नहीं खाना चाहिए नहीं अकेले खाना चाहिए न दूसरों से पूर्व। अतिथि सेवा का यह आदर्श विशेषता हिन्दुओं से ही सन्निहित थी 'अतिथि देवों भव'।

गृह्यसूत्रों में कतिपय याग भी किये जाते थे जो श्रौतसूत्रों में भी किये जाते थे। जो श्रौतसूत्रों में भी प्राप्त होते हैं जैसे दशपूर्णमास[८] याग में विवाह के अनन्तर प्रत्येक पानी के लिये प्रत्येक अमावस्या तथा पूर्णिमा के दिन स्थालीयज्ञ का विधान किया गया है।

---

१. पञ्चमहायज्ञाः – पञ्चसंख्याका महायज्ञाः

२. तत्र पंचसु ब्रह्मणे होमात्मकः पूर्वो देवयज्ञः

३. बलिक पो भूतयज्ञः

४. ततः पितृभ्यः स्वधा नम इति बलिदानं पितृयज्ञः

५. अतिथि पूजादिको मनुष्ययज्ञः

६. पंचमो ब्रह्मयज्ञः

७. चत्वारः पाकयज्ञाः हुताहुतप्रहुतः प्राशित। वही १/२ पृ. १९, यन्मधुनो मधव्यं परमं कपमन्नाद्यम्। तेनाहं मधुनी मधव्येन परमेण रूपोणानाद्ये न परमो मधव्योऽन्नादोऽसानि। वही पृ. २६

८. पा.गृ.सू. २/१२ पृ. ६६

पारस्कर गृह्यसूत्र के अनुसार ब्रह्मा प्रजापति विश्वेदेव, द्यावा पृथ्वी के निमित्त भी स्थालीपाक का होम करना चाहिए।[१]

गोभिल गृ.सू. के अनुसार यज्ञ आरम्भ करने से पूर्व पति पत्नी को पूर्णिमा के दिन उपवास करना चाहिए उपवास के दिन प्रात:काल में अग्निहोत्र के पश्चात् खादिर अथवा पलाश की समिधायें कुछ का बर्हि आज्य धान्य या जो यज्ञार्थ अन्य उपकरणों तथा सामग्री का संग्रह करके उपवास के नियमों का पालन करके अगले दिन प्रार्तहोम के अनन्तर स्थाली पाक तैयार करके उस पर आज्य से उपस्तीर्णा निर्धारित होम चार बार स्रुव से आज्य लेकर अग्न में "अग्नये स्वाहा" और "सोमाय स्वाहा" से करने का विधान है। फिर स्विष्टकृत होम करना चाहिए। स्विष्टकृत के पश्चात् "यज्ञावस्तु" कर्म विहित है जिसमें बर्हि में या मुट्ठी भर कुश लेकर आज्य का हवि में अग्र, मध्य मूल क्रम में डुबो कर तीन बार जल सींचकर अग्नि में छोड़ देने का विधान है। अधिक दक्षिणा यथेच्छ दी जा सकती है। आश्वालयन गृ.सू. तथा पा. गृ.सू. के अनुसार तो यज्ञ शेष ही दक्षिणा होती है।

सभी गृह्यसूत्रों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि प्रत्येक संस्कार के आरम्भ में तथा अन्त में ब्राह्मण भोजन का विधान किया गया है। पारस्कर गृ.सू. में कतिपय ऐसे कर्म है जिसमें ब्राह्मण भोजन का विधान नहीं है। प्राय: प्रत्येक कण्डिका के अन्त में "तत: ब्राह्मण भोजनम्" कहा गया है।[२] इससे ऐसा प्रतीत होता है कि सूत्रकाल में ब्राह्मणों का बहुत ही सम्मान था। प्रत्येक अवसर पर उन्हें भोजन दक्षिणा आदि प्रदान करके उनका शुभाशीर्वाद ग्रहण किया जाता था।

गृह्यसूत्रों में हिन्दू जीवन का प्रत्येक क्षण मन्त्रवत् दिखायी पड़ता है व्यक्ति का संस्कार मन्त्रों से ही है। सामान्यत: शारीरिक भोग समझे जाने वाले कर्म में भी मन्त्रों का जप इस पवित्रता की दृष्टि से ही विहित है। प्रत्येक संस्कार के अवसर पर मन्त्रपाठ का निर्देश किया गया है। गृहस्थ जीवन की क्रियायें ही नहीं क्रियाओं की भूति भी

---

१. ब्रह्मणे प्रजापतये, विश्वेभ्यो देवेभ्यो द्यातापृथिवीभ्यामति हुत्वा जुहोति। वही

२. पा.गृ.सू. सम्पूर्ण अनुष्ठान।

मन्त्रों द्वारा सुसंस्कृत की जाती थी घर बनाने के लिये भूमि का मन्त्रों से संस्कार, स्तम्भ को रखते समय मन्त्र पाठ, घर में उद्धान (प्रवेश) करने के लिये मन्त्रों का पाठ करने का विधान किया गया है। इस प्रकार गृह्यसूत्रों में सम्पूर्ण हिन्दू जीवन एक महान यज्ञ के रूप में और उनकी प्रत्येक मन्त्रों द्वारा ही संस्कृत एवं पवित्र मानी गयी है।

अत: स्पष्ट रूप से कहा जाता है कि गृह्यसूत्रकालीन ग्रामीणों का जीवन उसके धार्मिक विश्वासों और श्रद्धा पर आधारित था। वे इन्द्र पार्जन्य अग्नि सूर्य अनुमति उदला कश्यप सीता प्रभृति देवी देवताओं को अपने कल्याण तथा समृद्धि के निमित्त आराधना किया करते थे। पंचमहायज्ञ तथा तर्पण किये बिना प्रत्येक गृहस्थ का जीवन अपूर्ण माना जाता था।

सभी लोग इन धार्मिक यज्ञों एवं कृत्यों को श्रद्धा पूर्वक करते हुए धर्म परायणता का जीवन व्यतीत करते थे।

शुक्ल यजुर्वेदीय गृह्यनुष्ठान – एक परिचय

मानव जीवन को उच्च एवं सुन्दर बनाने के लिए हमारे ऋषियों ने जिन रीतियों का सृजन किया वे ही वस्तुत: आगे चलकर संस्कार नाम से प्रसिद्ध हो गये। संस्कार वस्तुत: 'घर' अर्थात 'गृह्य' में सम्पन्न किये जाते हैं इसीलिये गृह्यानुष्ठान कहे जाते हैं।

संस्कार शब्द की निष्पत्ति संस्कृत भाषा के 'सम्' उपसर्ग पूर्वक 'कृञ्' धातु में 'घञ्' प्रत्यय के योग से होती है।[१] संस्कार का सम्बन्ध हमारी समस्त सभ्यता और संस्कृति की जननी है। संस्कार वह प्रक्रिया है जिसके करने से पदार्थ या कोई व्यक्ति किसी कार्य विशेष को करने में सक्षम हो जाता है।[२] दूसरे शब्दों में गुणों का आधान हेतु बनायी गयी योजना को कार्यन्वित करने के लिये ही संस्कारों का निर्माण किया गया है।[३] संस्कार प्रकाश[४] में संस्कार शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा है संस्कार शब्द स्वयं अपना लक्षण कहता है। शरीर और आत्मा में कमी या त्रुटि को पूर्ण करके दोषो का परिमार्जन करते हुये अतिशय गुणों को आधान करने वाले शास्त्र विहित विधि (कर्मकाण्ड) के समुद्भूत अतिशय विशेष को ही संस्कार कहा जाता है। मेदिनीकोश[५] के अनुसार संस्कार शब्द का अर्थ मानस कर्म लिया गया है जो उचित एवं सटीक जान पड़ता है क्योंकि मानव जीवन

---

१. सम्पूर्वककृधातो: प्रयोगो दृश्यते किन्तु अतिशयविशेषऽर्थे संस्कार शब्दुस्तु जैन्मिनि सूत्रे ३/१/३

२. संस्कारीनाम सं भवति यस्मिन् जाते पदार्थो भवति योग्य: कस्यचिदर्थस्य। इति मीमांसादर्शन २/१/३ सूत्रभास्ये शबरस्वाभ्याह।

३. कर्मकाण्ड भास्कर – पं. आचार्य श्रीराम शर्मा पृ. १२६

४. संस्कार प्रकाश – डॉ. भवानी शंकर त्रिवेदी – पृ. १५

५. मेदिनीकोश।

कर्मभूमि कहा गया है। मानव का कर्म करना ही संस्कार रूप में परिणत हो जाता है।

भारतीय तत्ववेत्ताओं के अनुसार संस्कार वे सूक्ष्म उपचार हैं जिनका प्रभाव शरीर तथा मन पर ही नहीं सूक्ष्म अन्तःकरण पर भी पड़ता है और उसके प्रभाव से मनुष्य को गुणकर्म स्वभाव की दृष्टि से समुन्नत स्तर की ओर उठने में सहायता मिलती है।

गृह्यसूत्रकालीन आर्यो का विश्वास था कि वे भी चारों ओर से ऐसे अति मानुष प्रभावों से घिरे हुये है, जो बुरा और भला करने की शक्ति रखते थे। उनकी धारणा थी कि उक्त प्रभाव जीवन के किसी भी महत्वपूर्ण अवसर पर व्यक्ति के जीवन में हस्ताक्षेप कर सकते है, अतः वे अमंगल प्रभावों के निराकरण तथा हितकर प्रभावों की प्राप्ति के लिये प्रयत्न किया करते थे, जिससे बिना किसी वाह्य विघ्न के अपना विकास और अभिवृद्धि कर सके और देवों तथा दिव्य शक्तियों के सामयिक निर्देश और सहायता को प्राप्त कर सके।[१]

मनुष्य में ईश्वरप्रदत्त या निसर्ग सिद्ध कतिपय संस्कार रहते है जिसके द्वारा उसके जीवन का विकास प्रारम्भ होता है। यह संस्कार समस्त सामाजिक विकास की जड़ है आर्यो का सामाजिक और गृह्यजीवन भी उनके धार्मिक विचारों और क्रियाकलापों से इतना ओत-प्रोत था कि दोनों को पृथक करना असम्भव है, उनके जीवन की प्रत्येक घटना और क्रिया में धार्मिक विश्वासों और श्रद्धा पर आधृत थी।[२]

संस्कार गृह्यकृत्य थे और उनके अनुष्ठान के समय घरेलू जीवन के लिये आवश्यक सभी वस्तुओं की भावना देवों से की जाती थी।

---

१. हिन्दू संस्कार – सामाजिक तथा धार्मिक अध्ययन – डॉ. राजबल पाण्डेय – पृ. २५

२. वेदकालीन समान – डॉ. शिवदत्त ज्ञानी पृ. ४१

जैसे धन, धान्य, पशु सन्तान, दीर्घ सम्पत्ति समृद्धि शक्ति और बुद्धि की प्राप्ति।[१]

शंखायन गृह्यसूत्र[२] के अनुसार गृह्यसूत्र युग के लोगों का विश्वास था कि प्रार्थना और आराधना के माध्यम से उनकी इच्छाओं और आकांक्षाओं को देवता जान लेते है और पशु संन्तान अन्न स्वास्थ्य सुन्दर शरीर और तीक्ष्ण बुद्धि के रूप में उनकी पूर्ति करते हैं।

संस्कार की आवश्यकता

आज लोगों में संस्कार के अभाव में विकृत मनोवृत्तियों का विकास हो गया है, संस्कार और आहार-व्यवहार के अनुरूप मनोवृत्तियाँ परिवर्तित होती रहती है। धरती की मिट्टी को जैसे-जैसे संस्कारों खाद्य आदि से परिवर्धित करते है, वैसे-वैसे ही यह फलप्रद देखी जाती है। ठीक उसी प्रकार की स्थिति हमारे जीवन की है। जीवन वाह्य प्रदूषणों से बचने के लिये विविध संस्कारों से संस्कृत होकर वेदों के सूक्ष्म पदार्थो को ग्रहण करने योग्य बनाये जाते हैं। मीमांसकों ने कहा है। बीते हुए काल में उपयुक्त भूत-भविष्यत् में उपयोग में आने वाला जो द्रव्य वही संस्कार के योग्य है।[३]

संस्कारों का प्रयोजन

मूलतः संस्कारों का प्रयोजन को दो वर्गो में विभाजित किया जा सकता है प्रथम वर्ग सरल विश्वास तथा आकृतिम मन की सहज सादगी से उदिृष्ट है।

द्वितीय वर्ग कर्मकाण्डीय व सांस्कृतिक है। इसका उद्भव सामाजिक विकास और उन्नति की नियामक चेतन शक्तियों के कारण

---

१. हिन्दू संस्कार – सामाजिक तथा धार्मिक अध्ययन – डॉ. राजबली पाण्डेय पृ. २५

२. शा.गृ.सू.

३. द्रव्यगुण संस्कारेषु – वादीरः भारतीय संस्कृति – आचार्य लोकमबिदाहालः पृ. ५७

होता है जबकि प्राकृतिक आधारों के ऊपर ही विकास का प्रयत्न करता है। दोनों ही वर्ग के संस्कार अत्यन्त प्राचीन समय से ही समानान्तर रूप से व्यवहृत होते है उन्होंने एके दूसरे को प्रभावित किया है।[१]

गृह्यसूत्रकालीन आर्यो ने आवाञ्छित प्रभावों के निराकरण के लिये अपने संस्कारों के अन्तर्गत अनेक साधनों का अवलम्बन किया उनमें प्रथम स्थान अराधना का था[२] अशुभ-शक्तियों की स्तुति की जाती थी। बलि तथा भोजन प्रदान किया जाता था उनका विश्वास होता था कि वे बलि से तृप्त होकर लौट जायेंगे। गृहस्थ अपनी पत्नी एवं बच्चों के लिये चिन्तित रहता था और भूत पिशाचों की निवृत्ति अपना कर्तव्य समझता था। स्त्री की गर्भिणी रहने के समय शिशु[३] जन्म, शैशव आदि के समय इस प्रकार की प्रार्थनायें की जाती थी।[४] द्वितीय उपाय था उनको बहकाने का। यदा-कदा अराधना को या तो आवश्यक समझा जाता था या सप्रयोजन दूर रखा जाता था। उदाहरण के लिये मुण्डन के अवसर पर काटे हुए केशों को गाय के गोबर के पिण्ड के साथ मिलाकर गोष्ठ में गाड़ दिया जाता था अथवा नदी में फेंक दिया जाता था।[५] बहकावे के लिये मृत्यु के आसन्न होने पर मृत्यु के पहले मरणासन्न व्यक्ति की प्रतिकृति का दाह कर दिया जाता था इसके मूल में उद्देश्य निहित था, कि मृत्यु जब मरणासन्न व्यक्ति के शरीर पर आक्रमण करे तो तथाकथित मृत व्यक्ति के कारण भ्रम में गड़ जाये। तीसरा चरण अशुभ शक्तियों को स्पष्टतः दूर चले जाने

---

१. कर्मकांड भास्कर – पं. श्रीराम शर्मा आचार्य

२. पाला.गृ.सू. के प्रत्येक अनुष्ठान में आराधना का विधान है।

३. आलिखन्नयिमिषः किवदन्त उपश्रुतिह्यर्क्षः। कुम्भी शत्रुपात्रपाणिर्न्तमणि हेन्त्रीमुखः सर्पपाकणश्चयवनों नश्यतादितः। पा.गृ.सू. १/१७/६ पृ. ८२

४. अनुगुप्तेमेतं सकेशं केशैः मा गोमयपिंड निधाय गोष्ठे पल्लव उदकांते वा। वही. २/१/११ पृ. ९३

५. शरीरमदग्ध्वा निखनन्ति – ऊनद्विवर्षस्य प्रेतस्य शरीरं कृणपमदध्वा अग्निदाहमकृत्वा निखनन्ति गर्वे पक्षिपन्ति। वही. ३/१०/४ पृ. २३०

को कहा जाता है। जातकर्म संस्कार के समय शिशु का पिता कहता है शण्डमर्क, उपवीर, शौण्डकेय उलूखल मालिम्लुव द्रोवास और च्यवन तुम सब यहाँ से अदृश्य हो जाओ।[१]

चतुर्थी कर्म के अवसर पर पति नवविवाहिता पत्नी के घातक तत्वों के निवारण के उद्देश्य से अग्नि, वायु, सूर्य चन्द्र तथा गन्धर्व का आह्वान करता था।[२] इस प्रयोजन की सिद्धि के लिये अन्य उपाय भी काम मे लाये जाते थे। जल का उपयोग साधारणतः प्रत्येक संस्कार में किया जाता था। जल दैहिक अशीच को धोता और भूत पिशाचों व राक्षसों से रक्षा करता। श.ब्रा. में जल राक्षस का नाशक कहा गया है। मनुष्य किसी भी अमंगल की सम्भावना का सामना करने के लिये अपने को अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित कर लेता था। जैसे विद्यार्थी दण्ड धारण करता था।[३] समावर्तन संस्कार के समय वह दण्ड को त्याग कर वंश धारण कराता था।[४] गृह्यसूत्रों में यह स्पष्ट रूप से लक्षित होता है कि पशुओं और मानव शत्रुओं से रक्षा के लिये ही नहीं राक्षसों और पिशाचों से रक्षा के लिये भी यह उपयोगी है।[५] स्वार्थपरता के वशीभूत होकर वह इन अमंगल शक्तियों को अपने ऊपर से हटाकर अन्य व्यक्तियों की ओर संक्रमित करने का प्रयास करता था। उदाहरण के लिये वधू द्वारा धारण किये हुये वैवाहिक वस्त्र ब्राह्मण को दान कर दिये जाते थे। वैवाहिक वस्त्रों को गोशाला में रख या वृक्ष पर टांग दिया जाता था।[६]

---

१. शण्डामर्क्का उपवीरः शैण्डिकेय उलूखलः मलिम्लुचो द्रोणासश्चयवनो नश्यतादितः। वही. १/१७/२३ पृ. ७७

२. पा.गृ.सू. १.११.१-५ डॉ. ओम प्रकाश पडि पृ. ६१

३. पा.गृ.सू. २.५.२४-२५ पलोर्शो ब्राह्मण दंड वैल्वों राजन्यस्य औडम्बरो वैशयस्य – हरिहर भाष्य पृ. ११४, आप.गृ.सू. १.१९.१०

४. वैष्णवं दण्डमद्यते – पा.गृ.सू. २/५/२०

५. विश्वार्म्यो मा नाष्टाभ्यस्यरिपाहि सर्वत्र इति – वही. २/६/३०

६. अ.वे. १४२.४.८.५० कौ.सू. ७६.१.७९, २४

अभीष्ट प्रभावों का आकर्षण

गृह्यसूत्रकालीन आर्यो का विश्वास था कि जीवन का प्रत्येक समय किसी न किसी देवता द्वारा अधिष्ठित है। अतः प्रत्येक अवसर पर संस्कार्य व्यक्ति को वर व आशीर्वाद देने के लिये उस देवता का उद्बोधन किया जाता था विष्णु को गर्भाधान के प्रधान देवता माने जाते थे विवाह के समय प्रजापति और उपनयन के समय वृहस्पति इत्यादि।[१] किन्तु वे केवल देवताओं पर ही आश्रित नहीं थे। लोग स्वयं विविध उपायों से अपनी सहायता करते थे। शुभ वस्तुओं के स्पर्श से वे मंगल परिणाम की आशा करते थे। सीमान्तोन्नयन संस्कार के समय उदुम्बर वृक्ष की शाखा का पत्नी के गले में स्पर्श से स्त्री में सन्तति प्रजनन की क्षमता आ जाती थी।[२] उपनयन तथा विवाह संस्कार प्रकरण में कहा गया है कि शिलारोहण से दृढ़ता आती है।

अतः ब्रह्मचारी और वधू के लिये उसका विधान किया गया है। श्वास जीवन का प्रतीक समझा जाता था। अतः पिता नवजात शिशु पर उसके श्वास प्रश्वास को दृढ करने के लिये तीन बार फूँकता था। जातकर्म के अवसर पर सन्तति[३] प्रजनन के लिए पत्नी की नाक के दायें छेद से दूर व्यापी जड़वाले विशाल बटवृक्ष का रस निचोड़ा जाता था। समञ्जन से स्नेह और प्रेम उत्पन्न होने की धारणा थी। विवाह संस्कार के अवसर पर अब वर समस्त देवों तथा जल आदि से दम्पत्ती के हृदय में ऐक्य और प्रेम का प्रादुर्भाव करने की प्रार्थना करता था[४] गर्भिणी को विजन्य नकुल सकुल और कपाल और भगाल कहता था।[५] यदा-कदा अभीष्ट परन्तु सन्तान को प्राप्ति के लिये नाटकीय ढंग से भी कुछ बातें पूछी जाती थी।[६] सीमान्तोन्नयन संस्कार

---

१. पा.गृ.सू. १/११ पृ. १४४

२. उदुन्वरापिंचकस्य वेवीबन्ध – पा.गृ.सू. १/१५/पृ. ६२

३. पारस्करगृह्यसूत्र १/१५/पृ. ६३

४. वही. २/७/१०-१२ पृ. १३४

५. कि.पश्यसिप्रजांपशून, सौभाग्यं मह्यं दीर्घायुष्यंपत्युः।
सामवेद, मन्त्र ब्रा. १.५-१-५

६. मा.गृ.सू. २/१५/पृ. ७३

के अवसर पर पत्नी को चावल के ढेर की ओर देखने के लिये कहा जाता था, जबकिपति उससे पूछता था कि सन्तान पशु सोभाग्य और मेरे लिये दीर्घायु इनमें से तुम क्या देख रही हो।[१]

संस्कारों का भौतिक प्रयोजन

मानव जीवन में संस्कारों का अनुष्ठान भौतिक उद्देश्य की पूर्ति के लिये भी किया जाता था। अतः उनका एक प्रयोजन था धन, धान्य पशु सन्तान दीर्घ जीवन, सम्पत्ति, समृद्धि शक्ति और बुद्धि की प्राप्ति भी था वस्तुतः संस्कार गृह्यकृत्य थे और स्वभावतः उनके अनुष्ठान के समय घरेलू जीवन के लिये आवश्यक सभी वस्तुओं की भावना देवों से की जाती थी। आर्यो का विश्वास था कि आराधना और प्रार्थना के माध्यम से उनकी इच्छाओं और आकांक्षाओं को देवता जान लेते है और पशु सन्तान अन्न स्वास्थ्य तथा सुन्दर शरीर और तीक्ष्ण बुद्धि के रूप में उनकी पूर्ति करते है। भौतिक उद्देश्यों की नींव अत्यन्त दृढ़ है और आज भी उन्होंने जनसाधारण के मन पर अधिकार कर रखा है।

अभिव्यक्ति का माध्यम

गृह्यसूत्रकालीन गृहस्थ न तो बराबर केवल भयभीत ही रहता था और न वह देवताओं का व्यवसायिक प्रार्थी ही था। वह जीवन की विभिन्न घटनाओं के कारण हर्ष आनन्द और यहाँ तक कि दुख व्यक्त करने के लिये गृह्यसंस्कारों का अनुष्ठान करता था। सन्तान की प्राप्ति लुभाने-वाली वस्तु थी, अतः उसके जन्म के समय पिता को असीम आनन्द स्वाभाविक था। शिशु के प्रगतिशील जीवन का प्रत्येक चरण परिवार को संतोष और हर्ष से पूर्णतः भर देता था। मृत्यु दुखः का अवसर था, जो चारो ओर करुणा ही करुणा का दृश्य उपस्थित कर देता था।

नैतिक प्रयोजन

संस्कारों द्वारा व्यक्ति से फल-फूल कर नैतिक सद्गुणों के रूप में परिपक्व हो जाने की अपेक्षा की जाती थी। गौतम का कथन है

---

१. हिन्दू संस्कार – डॉ. राजबली पाण्डेय – पृ. ४५

कि जिस व्यक्ति ने चालीस संस्कार के[1] अनुष्ठानों को किया। किन्तु उसमें उक्त आठ आत्म गुण नहीं है वह ब्रह्म का सानिध्य नहीं पा सकता इसके विपरीत जो व्यक्ति आत्मा के आठ गुणों[2] से सुशोभित है वह ब्रह्मलोक में ब्रह्म का सानिध्य प्राप्त कर लेता है।

संस्कारों में जीवन के हर एक सोपान के लिये व्यवहार के नियम (धर्म) निर्धारित हो चुके थे, जैसे गर्भिणी धर्म अनुपवीत धर्म, ब्रह्मचारि धर्म, ब्रह्मचारि धर्म स्नातकः धर्म आदि। संस्कारों का यह स्वरूप निश्चित ही संस्कारो से प्राप्त होने वाले वैयक्तिक हित की अपेक्षा उच्चतर नैतिक प्रगति को सूचित करता है।

व्यक्तित्व का निर्माण और विकास

आर्यो के प्राचीन धार्मिक कृत्यों और संस्कारों से जिस सांस्कृतिक प्रयोजन का उद्भव हुआ वह था व्यक्तित्व का निर्माण और विकास। अंगिरा ऋषि ने चित्रकर्म से संस्कारों की तुलना करते हुए कहा है कि जिस प्रकार चित्रकर्म में सफलता प्राप्त करने के लिये विविध रंग अपेक्षित होते हैं। उसी प्रकार ब्राह्मण्य या चरित्र निर्माण भी विभिन्न संस्कारों के द्वारा होता है।[3]

विद्वानों ने मनुष्य को सहजगत्या विकास के लिये छोड़ देने की अपेक्षा विवेकपूर्ण वैयक्तिक चरित्र को ढालने की आवश्यकता का अनुभव किया और इस प्रयोजन की सिद्धि के लिए उन्होंने पूर्व प्रचलित सामाजिक संस्कारों का उपयोग किया।

---

१. चालीस संस्कार – गर्भाधान, पुसंवन, सीमान्तोन्नयन, ज्ञातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन चौल, उपनयन, चार वेदव्रत, स्नान सहधर्मचारिणी संयोग १५-१९ पंच महायज्ञ २०-२६ ऊष्तक पार्वण श्राद्ध; श्रावणी आग्रहायणी मैत्री आश्वयुजी इति। सप्त पाक यज्ञ संस्कार, २७-२३ अम्नयाधेय, अग्निहोत्र दर्शमौर्णमास, चातुमार्स्य आगृत्यणेसित निरूढ़ पशुबन्ध सौत्रामणि।

२. आत्मा के आठ गुण – १-दया, २-क्षमा, ३-अनुसूर्या, ४-शौच, ५-राग, ६-उचित व्यवहार, ७-निरीहता, ८-निलेमिता।

३. चित्रकर्म यथाऽनेकैरङगगेरून्मील्यते शनैः।
ब्राह्मण्यमापि तङत् स्यात् संस्कारै विधिपूर्वकम्।।
वी.मि.सं. भाग। पृ. १३९ पर उद्धृत।

संस्कार जीवन के प्रत्येक भाग को व्याप्त कर लेते है। यह संस्कार इस प्रकार किये जाते हैं कि आरम्भ से ही व्यक्ति इनके प्रभाव में आ जाता है। आर्यो के लिये अनुशासित जीवन व्यतीत करना आवश्यक था तथा उसकी शक्तियाँ सुनियोजित व सोद्देश्य धारा में प्रवहमान रहती थी। प्रांग्जन्म (गर्भाधान) संस्कार में कहा गया है कि गर्भाधान उस समय करना चाहिए जब पति पत्नी दोनों शारीरिक दृष्टि से पूर्णतः स्वस्थ हों तथा परस्पर एक दूसरे की बात जानने और दोनों में सन्तान प्राप्ति की वेगवती इच्छा हो तो उसे दूषित शारीरिक व मानसिक प्रभावों से बचाया जाता और उसके व्यवहार को इस प्रकार अनुशासित किया जाता है जिसका गर्भस्थ शिशु पर सत्प्रकाश पड़े।[१]

इसी प्रकार जन्म होने पर आमुष्य तथा प्रज्ञाजनन कृत्यों का अनुष्ठान किया जाता था और नवशिशु को पत्थर के समान और कुल्हाड़े की तरह शत्रुनाशक तथा बुद्धिमान होने के लिये आशीर्वाद दिये जाते थे।[२]

चूड़ाकरण या मुण्डन संस्कार के पश्चात् जब शिशु बालक की अवस्था में पहुँच जाता है तो उसे बिना ग्रन्थों के अध्ययन तथा विद्यालय के कठोर नियंत्रण में ही उसके उत्तरदायित्वों से परिचत कराया जाता था। उपनयन तथा अन्य शिक्षा सम्बन्धी संस्कार ऐसी सांस्कृतिक भट्टी का काम करते थे जिसमें बालक की आकांक्षाओं अभिलाषाओं तथा इच्छाओं को पिघलाकर अभीष्ट सांचे में ढाल दिया जाता था और अनुशासित किन्तु प्रगतिशील और परिष्कृत जीवन व्यतीत करने के लिये उसे तैयार किया जाता था। गृहस्थ के लिये जिन विविध यज्ञ व व्रतों का विधान किया गया था उसका प्रयोजन स्वार्थपरता को दूर कर यह अनुभव करने की प्रेरणा देना था कि वह समस्त संस्कारों का एक अंग है। पूर्ववर्ती संस्कारों के मानसिक प्रभाव से व्यक्ति के लिये मृत्यु का सामना करना सरल हो जाता था और उससे जीवन के दूसरे पार्श्व की मात्रा करने में उसे सांत्वना और

---

१. हिन्दू संस्कार – राजबली पाण्डेय प्राग्जन्म संस्कार प्रथम परिच्छेद पृ. ८०

२. आप.गृ.सू., १४, पा.गृ.सू. १, १६, जै.गृ.सू. १, ८

सहायता मिलती थी निःसन्देह संस्कारों में अनेक ऐसी विधियाँ है जिनकी उपयोगिता मात्र विश्वास पर अवलम्बित हैं।

संस्कारों को अनिवार्य बनाने में आर्यो का उद्देश्य संस्कृत व चरित्र की दृष्टि से समाज का एकरूप विकास तथा उसे समान आदर्श से अनुप्राणित करना था।

संस्कार शब्द का विभिन्न अर्थो में प्रयोग

जन्म से मृत्युपर्यन्त चलने वाले पृथ्वी को स्वर्ग से जोड़ने वाले संस्कारों पर ही भारतीय जन जीवन की आधारशिला स्थित है और संस्कृति का घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण संस्कारों की उपादेयता स्वयं सिद्ध है 'संस्कार' हमारे दाम्पत्य जीवन के उत्तरदायित्व का प्रतीक है। संस्कार विहीन दाम्पत्य जीवन अपने सदाचार से च्युत होने के कारण परमपद प्राप्त करने का अधिकारी नहीं होता। भारतीय जनों में मान्यता है कि मानव जीवन काल में जो कर्म करता है उसकी अमिट छाप उसके चित्त पर अंकित रहती है और उसी के आधार पर वह जन्मान्तर में सुख सुविधाओं का उपभोग करता है।

मीमांसा दर्शन का सिद्धान्त है 'कर्मबीजं संस्कारा:'। अर्थात् संस्कार ही कर्म के बीज है। इन्हीं के कारण सृष्टि का सृजन होता है 'यज्ञ के अंग पुरोडाश की शुद्धि' (संस्कार) से ही लक्ष्य की पूर्ति होती है।[१]

न्याय शास्त्र के मर्मज्ञ नैयायिक भावों को अभिव्यक्ति करने वाले आत्मव्यञ्जक शक्ति को ही संस्कार कहकर पुकारते है। वैशाषिक़ दर्शन के चौबीस गुणों के प्रसंग में संस्कार को अन्तिम गुण माना गया है।[२] संस्कार मात्र से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को स्मरण कहा गया है।[३]

मनुस्मृति में धार्मिक विधि विधान को संस्कार कहा गया जिसके कारण मानव लोक एवं परलोक में पवित्र जीवन यापन करने में सक्षम

---

१. मीमांसा दर्शन

२. संस्काराश्चतुर्विशतिगुणा:। तर्कसंग्रह।

३. मनु.

होता है[१] वस्तुतः संस्कार शब्द शुद्धि संस्करण परिष्करणं आदि भावनाओं का प्रतीक है।[२]

संस्कारों की संख्या

गृह्यसूत्रों में ही नहीं शास्त्रों में भी संस्कारों की संख्या में पर्याप्त मतभेद दृष्टिगोचर होता है। संस्कारों की संख्या ग्यारह से लेकर चालीस तक गिनायी गयी है। जैसा कि विविध गृह्यसूत्रों में निदृष्ट अधोलिखित संस्कारों की सूची से स्पष्ट है।

आश्वलायन गृह्यसूत्र

आश्वलायन गृह्यसूत्र में मात्र ११ संस्कारों को ही मान्यता प्राप्त है –

१. विवाह	७. चूड़ाकरण
२. गर्भाधान	८. अन्नप्राशन
३. पुंसवन	९. उपनयन
४. सीमान्तोन्नयन	१०. समावर्तन
५. जातकर्म	११. अन्त्येष्टि
६. नामकरण	

पारस्कर गृह्यसूत्र

पारस्कर मुनि ने अपने ग्रन्थ पारस्कर गृह्यसूत्र में सोलह संस्कारों की मान्यता प्रदान की है:

१. विवाह	८. अन्नप्राशन
२. गर्भाधान	९. चूड़ाकरण
३. पुंसवन	१०. उपनयन
४. सीमान्तोन्नयन	११. केशान्त
५. जातकर्म	१२. समावर्तन
६. नामकरण	१३. अन्त्येष्टि
७. निष्क्रमण	

---

१. मनु.

२. कल्याण

वैशयन गृह्यसूत्र

१. विवाह
२. गर्भाधान
३. पुंसवन
४. सीमान्तोन्नयन
५. जातकर्म
६. नामकरण
७. उपनिष्क्रमण
८. अन्नप्राशन
९. कर्णवेध
१०. उपनयन
११. समावर्तन
१२. पितृमेघ

बाराह गृह्यसूत्र

१. जातकर्म
२. नामकरण
३. दन्तोदगमन
४. अन्नप्राशन
५. चूड़ाकरण
६. उपनयन
७. वेदप्रतानि
८. गोदान
९. समावर्तन
१०. विवाह
११. गर्भाधान
१२. पुंसवन
१३. सीमान्तोन्नयन

वैखानस गृह्यसूत्र

१. ऋतु संगमन
२. गर्भाधान
३. सीमन्त
४. विष्णुबलि
५. जातकर्म
६. उत्थान
७. नामकरण
८. अन्नप्राशन
९. प्रवसागमन
१०. पिण्डवर्धन
११. चौलकर्म
१२. उपनयन
१३. पारायण
१४. ब्रतबन्धविसर्ग
१५. उपाकर्म
१६. उत्सर्जन
१७. समावर्तन
१८. पाणिगृहण

गौतम गृह्यसूत्र

गौतम मुनि ने चालीस संस्कारों को मान्यता प्रदान की है।

१. गर्भाधान	९-१२. चार वेदव्रत
२. पुंसवन	१३. स्नान
३. सीमान्तोन्नयन	१४. सहधर्म चारिणी संयोग
४. जातकर्म	१५-१९. उपंच महायज्ञ
५. नामकरण	२०-२६. अष्टकपार्वण, श्राद्धश्रावणी, आगृह्यणी, चैत्री, आश्वयुर्जी इति ञप्त पाक यज्ञ संस्कार।
६. अन्नप्राशन	२७-३४. अग्न्याधेय, अग्निहोत्र, दर्श-पौठीमास, चातुमार्स्य, आगृह्लेयस्टि निरूढ़ पशुबन्ध सौत्रामणि।
७. चौल	३५-४०. अग्निष्टोम, अत्यग्निद्यटोम, उक्थ्यषोडशी, वाजपेय, अतिरात्रसप्तोयमि।
८. उपनयन	

संस्कारों की संख्या के सम्बन्ध में गृह्यसूत्रों की तरह स्मृतियों में भी भेद स्पष्ट है। भगवान मनु ने गर्भाधान से मृत्यु पर्यन्त केवल १३ ही संस्कार मानते है। याज्ञवल्क्य ने केशान्त को अमान्य करते हुये मनुस्मृति का ही समर्थन किया है। महर्षि अंगिरा ने अपनी स्मृति में २५ संस्कारों की संख्या के विषय में विभिन्नता होते हुये भी इस समय भारतीय समाज में व्याप्त स्मृति द्वारा प्रतिपादित सोलह संस्कारों का प्रचलन है। इन संस्कारों का लक्ष्य षोडश कलापुष्ट चन्द्रदेव की तरह मानव को बनाना प्रतीत होता है, क्योंकि इसके बिना जीव ब्रह्मतत्व की प्राप्ति नहीं कर सकता है। संस्कारों का लक्ष्य निर्धारित करते हुये भगवान मनु ने कहा है 'ब्राह्मीयं क्रियते तनुः' अर्थात् संस्कारों का लक्ष्य जीव शरीर को ब्रह्मात्वलाभ के योग्य बनाना है। ब्रह्मत्व प्राप्ति

तभी सम्भव है जब जीव निवृत्ति मार्ग को पराकाष्ठा में पहुँचकर 'त्योगेनेकेऽग्रततत्वमानशु:।' को चरितार्थ करने में सक्षम होता है।[१]

षोडश संस्कार

संस्कारों की संख्या के विषय में विभिन्निता होते हुये भी इस समय भारतीय समाज में व्याप्त स्मृति द्वारा सोलह संस्कारों का ही प्रचलन है। मीमांसा दर्शन ने भी इन्हीं सोलह संस्कारों को स्वीकार करते हुए दो भागों में विभक्त कर दिया है। जिनमें प्रारम्भिक आठ संस्कार प्रवृत्ति मार्ग की ओर अग्रसर करने वाले एवं शेष आठ निवृत्ति बोधक माने गये हैं।

साधारणत: सभी गृह्यसूत्र विवाह से प्रारम्भ कर समावर्तन पर्यन्त दैहिक संस्कारों का निरूपण करते है। किन्तु पराशर, बौधायन, आश्वालायन आदि कतिपय गृह्यसूत्र अन्तिम संस्कार अन्त्येष्टि संस्कार का भी वर्णन करते है। गृह्यसूत्र कालीन संस्कारों की गणना इस प्रकार की जा सकती है।

जन्म के पूर्व के तीन संस्कार

१. गर्भाधान
२. पुंसवन
३. सीमान्तोन्नयन

बाल्यावस्था के छ: संस्कार

१. जातकर्म
२. नामकरण
३. निष्क्रमण
४. अन्नप्राशन
५. चूड़ाकरण
६. कर्णवेध

विद्याध्ययन से सम्बद्ध तीन संस्कार

१. उपनयन
२. वेदारम्भ
३. समावर्तन

---

१. हिन्दू संस्कार राजबली पाण्डेय -- पृ. ६५

आश्रमों में प्रवेश हेतु निहित तीन संस्कार

१. विवाह ३. सन्यास

२. वानप्रस्थ

मृत्यु के पश्चात एक संस्कार

अन्त्येष्टि (उदक कर्म)[१]

संस्कारों का परिचय

१. गर्भाधान

मानव का सम्पूर्ण जीवन संस्कार का क्षेत्र है इसलिए प्रजनन भी उसके अन्तर्गत आता है। अधिकांश गृह्यसूत्र गर्भाधान के साथ ही संस्कारों को प्रारम्भ करते हैं।

जिस कर्म के द्वारा पुरुष स्त्री में अपना बीज स्थापित करता है, उसे गर्भाधान कहते है।[२]

शौनक भी कुछ भिन्न शब्दों में ऐसी प्रयुक्त भाषा के द्वारा इसी बात की पुष्टि करता हैं। जिस कर्म की पूर्ति में स्त्री (पति द्वारा न प्रवृत्त शुक्र धारण करती है उसे गर्भालम्बन या गर्भाधान कहते है)।[३] प्रजनन कार्य को सोद्देश्य और संस्कृत बनाने के लिये गर्भाधान संस्कार किया जाता था।

गृह्यसूत्रों में ही गर्भाधान विषयक विधानों का सर्वप्रथम व्यवस्थित रूप से विवेचन हुआ है।[४] उनके अनुसार विवाह के पश्चात् ऋतुस्नान से शुद्ध पत्नी के समीप पति को प्रतिमास जाना होता था

---

१. वैदिक संहिताओं में नारी – डॉ. मालती शर्मा पृ. २७

२. गर्भः साधर्प्यतेयेन कर्मणा तद् गर्भाधानमित्यनुगतार्थ कर्मनामधेयम्।
पू.मी.अध्याय। पाठ ४ अधि-२

३. निषक्तो मत्प्रयोगेण गर्भः साधर्यते स्त्रिया।

४. गर्भाधान संस्कारो हि गर्भस्थं शिशु वेदज्ञानहि सम्पादयित। भारतीय संस्कृति आचार्य लोकमणिदाहालः पृ. ५९

किन्तु गर्भाधान से पूर्व उसे विभिन्न प्रकार के पुत्रों ब्राह्मण श्रौत्रिय[१] अनुचान[२] ऋषि, कल्प भ्रूण ऋषि और देव जो उपयुक्त से श्रेष्ठ हो उसकी इच्छा के लिये व्रत का अनुष्ठान करना होता था।[३] व्रत की समाप्ति पर अग्नि में पक्वान्न की आहुति दी जाती थी।

तदुपरान्त सहवास हेतु पति पत्नी को प्रस्तुत किया जाता था जब पत्नी अत्यन्त सुसज्जित एवं सुन्दर ढंग से अलंकृत हो जाती थी, पति प्रकृतिसृजन सम्बन्धी उपमामय तथा गर्भधारण में पत्नी को देवी की सहायता के लिये स्तुतिमयी वेदवाणी का उच्चारण करता था।[४] पुनः पुरुष और स्त्री के सहवास के विषय में उपमा रूपकयुक्त मन्त्र का उच्चारण तथा अपनी प्रजनन शक्ति का वर्णन करता था और नर नारी के सहकार्य के रूपकों से युक्त वैदिक ऋचाओं का गान करते हुये अपने शरीर को मिलाता था।[५] आलिंगन के पश्चात् पूजा की स्तुति करते हुये और विकीर्ण बीज को इंगित करते हुये गर्भाधान होता था। पति पत्नी के हृदय का स्पर्श करता है और उसके दक्षिण स्कन्ध पर झुकते हुए कहता है – 'सुगुम्फित केशोवाली तुम तुम्हारा हृदय जो स्वर्ग में निवास करता है चन्द्रमा में निवास करता है, जिस मैं जानता हूँ क्या वह मुझे जान सकता है क्या हम शत शरद देखेंगे।'[६]

उपयुक्त समय

गर्भाधान के उपयुक्त समय पर सभी शास्त्र एकमत है। यह तभी हो जब पत्नी गर्भधारण के लिये शारीरिक रूप से समर्थ हों। पत्नी के

---

१. जिसने एक शाखा के अध्ययन किया हो वह श्रोत्रिय कहलाता है।

२. जिसने केवल वेदांगो का अनुशीलन किया हो वह अनुचान कहलाता है।

३. बौ.गृ.सू. १.७.१-१८

४. बौ.गृ.सू. १७.३४.४१

५. अथैनां परिष्वजति – 'अहमस्मि सात्वं धौरहं पृथ्वी त्वं रेतोऽहं तथा भूतत्वम्।' बौ.गृ.सू. १.७.४२

६. अथास्मै दक्षिणा एवं समधि हृदयमालभतेयन्ते सुसीमे हृदयं दिवि चन्द्रमसि श्रितम्। वेदाहं तन्मा वद् विधात् पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शत – श्रुणुयाम शरदः शतमिति।। पा.गृ.सू. १/११/९ पृ. १४८

ऋतुस्थान की चौथी रात्रि से सोलहवीं रात्रि तक का समय गर्भधारण के लिये उपयुक्त माना जाता था।[१]

गृह्यसूत्रों की सांस्कृतिक दृष्टि से चतुर्थ रात्रि को गर्भधारण के लिये शुद्ध माना गया है। गोभिल गृह्यसूत्र के अनुसार गर्भधारण तभी होना चाहिए जब अशुद्ध रक्त का प्रवाह रूक जाये। चौथी रात्रि के पूर्व स्त्री को अस्पृश्य माना जाता था और उसके समीप जाने वाला व्यक्ति दूषित और गर्भपात अर्थात् अकाल उत्पत्ति का दोषी माना जाता था। गर्भाधान के लिये केवल रात्रिकाल ही विहित था दिन में संभोग करने से उत्पन्न सन्तति अभाग्यशाली शक्तिहीन और अल्पायु होती है। रात्रियों में भी पिछली रात्रियाँ उपयुक्त मानी गयी है। बौ.गृ.सू. के मतानुसार 'पुरुष स्त्री के समीप चौथी से सोलहवीं रात्रि पर्यन्त जाये विशेषतः अन्त वाली रात्रियों में।[२] पिछली रात्रियों में धारण की हुयी सन्तति को अधिक भाग्यवान और गुणसम्पन्न समझा जाता था।[३] ऐसी मान्यता थी कि चतुर्थ रात्रि में धारण किया हुआ पुत्र अल्पायु और धनहीन होता है।[४] पञ्चम रात्रि में धारण की हुयी कन्या स्त्री सन्तति को जन्म देती है।[५] छठी रात्रि की सन्तति मध्यम श्रेणी की उदासीन होती है।[६] सप्तम रात्रि की कन्या बन्ध्या होती है।[७] आठवीं रात्रि की सन्तति सम्पत्ति का स्वामी होता है।[८] नवीं रात्रि की कन्या अधार्मिक होती है।[९] दशवीं रात्रि का पुत्र बुद्धिमान होता है।[१०] ग्यारवहीं रात्रि की

---

१. स्त्रीणां षोडशनिशा ऋतुः गर्भाधानयोग्यः कांलः पा.गृ.सू. १/११/७ गदाधर भाष्य पृ. १४६

२. बौ.गृ.सू. १.७.४७

३. हिन्दू संस्कार – डॉ. राजवली पाण्डेय – पृ. ३१०

४. रात्रौ चतुर्थी पुत्रः स्यादल्पायुर्धनवर्जितः।। पा.गृ.सू. १/११/७ पर गदाधर श्राष्य में व्यास का कथन पृ. १४६ पर

५. पञ्चम्याँ पुत्रिणी नारीं। वही

६. षष्ठयाँ पुत्रस्तु मध्यमः।। वही

७. सप्ताभ्यामप्रणायोषदष्टभ्यामीश्वरः पुमान्। वही

८. नवम्याँ सुभगा नारी। वही

९. दशम्याँ प्रवरः सुतः। वही।

१०. एकादश्यामधर्मा स्त्री। वही

कन्या अधार्मिक होती है।[१] द्वादशी रात्रि का पुत्र धामिक कृतज्ञ संयमी और दृढ़-प्रतिज्ञ होती है।[२] पञ्चदशी रात्रि में धारण की हुई स्त्री बहुत पुत्रों की माँ और पतिव्रता होती है।[३] षोडशी रात्रि का पुत्र विद्वान श्रेष्ठ सत्यवादी जितेन्द्रिय[४] और समस्त प्रणियों के लिये शरण देने वाला होता है।'[५]

पुरुष सन्तति के लिये सम और स्त्री सन्तान के लिये विषम रात्रि चुनी जाती थी।[६]

आज्याहुतियाँ

गृह्यसूत्रों के अनुसार सर्वप्रथम मन्त्रों का उच्चारण करते हुए अग्नि में आहुतियाँ अर्पित की जाती थी।[७] वर आहुतियाँ देते हुए

---

१. द्वारश्याँ पुरुषोत्तम। वही

२. त्रयोदश्याँ सुता पापा वर्णसंकरकारिणी। धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च आत्मवेदी द्रुदवतः। वही

३. प्रजायते चतुर्दश्याँ। वही

४. पञ्चदश्याँ पतिव्रा। वही

५. आश्रयः सर्वभूतानां षोडशयाँ जाते पुमान्।। वही।

६. पा.गृ.सू. ११/११

७. अग्ने प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चिन्तिरसि ब्राह्मणस्तवा नाथकाम उपधावानि । याऽस्यै पतिह्नी तनूस्तामस्यै नाशय।
वायो प्रायश्चित्त त्वं देवानों प्रायश्चिन्तिरसि, ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि, यास्यै प्रजाहनी तनूस्तामस्यै नाशय स्वाहा।
सूर्य्य प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि, यास्यै पशह्नी तनूस्तामस्यै नाशय स्वाहा।
चन्द्रप्रायश्चित्ते त्वं देवानों प्रायश्चित्तिरसि, ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधवामि याऽस्यै गृहणी तनूस्तामस्यै नाशय स्वाहा।
गन्धर्व प्रायश्चित्ते त्वां देवानां प्रायश्चित्तिरसि, ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्यै यशोहनी तनूस्तामस्यै नाशय स्वाहेति। पा.ग्र.सू. १/११/२
गो.गृ.सू. २/५/२ जै.गृ.सू. २२/६-१६, खा.गृ.सू. ९ १/४/१२
हि.गृ.सू. १/२४/१

कहता है जो इसका पतिनाशक सन्ततिनाशक, पशु नाशक, लक्ष्मीनाशक शरीर है इसके शरीर को मैं जार नाशक बनाता हूँ।[१]

शाखापहरण

'बौ.गृ.सू.[२] में यह विधान प्राप्त होता है कि स्थाली पाक और आज्यहुतियों के पश्चात् दम्पत्ती के मध्य त्रिरात तक स्थापित की गयी शाखा का अपहरण पति को इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए करना चाहिए' हे वनस्पते तुम पृथिवी की ऊर्जा से उत्पन्न हुयी हो, तुम सैंकड़ों शाखाओं वाली होकर बढ़ों हम तुम्हारे द्वारा इच्छा और ऊर्जा का वर्णन करते हुए धन की पुष्टि तथा इच्छा की पूर्ति से आनन्दित हो।[३] पति उस शाखा (उदुम्बर की लकड़ी) को पत्नी के पास ले जाते है वह इसे स्वीकार करती है। फिर वह उसे उस (पति) के पास ले जाती है, वह इसे स्वीकार करता है।

हृदयदेश समार्जन

पति समञ्जन्तु मन्त्र का उच्चारण करता हुआ अपने और पत्नी के हृदय देश का समार्जन करता है। आप गृ.सू. के अनुसार हृदय देश सम्मार्जन के तुरन्त बाद पति को निम्न मन्त्र का उच्चारण करना चाहिए। हे प्रजापति मेरे शरीर को स्वीकार कीजिए है त्वष्टारूप प्रजापति हे इन्द्र बल से मुक्त होकर मैं देवताओं और विश्वदेवों के

अग्नि गृ.सू. १/६/३/बौ.गृ.सू. १/६/१२-१४, खा.गृ.सू. ३/८/१० भार.गृ. १/१८ या.गृ.सू. १/१८/३ यै.गृ. ३/५/

१. पा.गृ.सू. १/११/पृ. १४८

२. बौ.गृ.सू. १/५/१८

३. पा.गृ.सू. में त्रिरात व्रत का वर्णन है। डॉ. जगदीश मिश्रा पृ. १३०
उर्ज.पृथ्विया अध्युत्विोऽसि वनस्पते शतवल्शो विरोह त्वया वयभिषमूर्ज वदन्तो रास्योषेण समिण मदेन। ३२७
गृह्यमन्त्रों का विनियोग – डॉ. कृष्णलाल पृ. ३२०

साथ दानकर्मो द्वारा प्रसन्न होते हुये मेरे शरीर को स्वीकार कीजिए मैं बहुत से पुत्रों की माता हो जाऊँ[१] हे पूषन उस अनन्त कल्याणी (स्त्री) को हमारी ओर प्रेरित कीजिये। मैं जिसमें मनुष्य (शुक्राणु रूप) बीज वपन करते हैं जो सन्तान की कामना करते हुयी हमारे उपस्थ का आश्रम लेती है और जिससे सन्तान की कामना करते हुये हम शेष जननेन्द्रिय का प्रहार करते है।[२]

समावेशन

समावेशन करते हुए पति को निम्न मंत्रों का उच्चारण करना चाहिए (उपस्थ पर आरोहण करो भुजा फैलाओ और प्रसन्न मन से पत्नी का आलिंगन करो।) समान योनि वाले तुम युगल रूप मुख्य रूप बहुत सन्तान उत्पन्न करते हुए परिपुष्ट हो जाओ। जब इन्द्र आर्द अरणी के द्वारा एक पुरुष को दूसरे पुरुष (नारी) के साथ-मथ दे तब युगल रूप समान योनि वाले ये दोनों अगर (देव स्वरूप) सन्तान से संयुक्त हो जायें। मैंने ओषधियों में गर्भ स्थापित किया है मैंने सभी प्राणियों के मध्यम गर्भ स्थापित किया पृथ्वी पर सन्तान उत्पन्न की मैंने ही स्त्रियों से पुत्रों को जन्म दिया। स्वर्णिम शोभा वाले पात्रों में उपयुक्त धन रखने वाले आप दोनों सन्तान की वृद्धि के लिये रोमश (वृषभ) और ऊध (योनि) का मैथुन के लिये संयोग कराइये। पूषादि सहित आप दोनों देवों के प्रति स्तुति अन्न और दानरूप परिचर्या करते

---

१. प्रजापते त्त्वं मे जुषस्व त्वष्टेदेवेभिः सहस्रा न इन्द्र विश्वैदेव् रातिभिः सरारणः यु सां बहुनां नातरः स्याम। ३३४

२. आ नः प्रजा जनयतु प्रजापति राजरसाय समनक्त्वर्यना अदुमंगलीः प्रतिलोकमा विशं शं नो भव द्विपदे शं चतुष्यपदे।
तां पूषन शिवतमामेस्यस्त यास्णां बीजं मनुष्या वपन्ति।
या न उरू उशती विश्रयाते यरयामुशन्तः प्रहराम शेषम्।। गृह्यमन्त्रों का विनियोग डॉ. कृष्ण लाल

हैं।[१] पा.गृ.सू. में इस प्रकार प्राप्त होता है जो तुम्हारा पतिनाशक सन्तति नाशक पशुनाशक गृह्यनाशक, योशानाशक निदित शरीर है उसे मैं जार नाशक बनाता हूँ। इस प्रकार की तुम मेरे साथ ही आयु व्यतीत करो।[२] भार्या यदि गर्भधारण न कर सके तो श्वेत पुष्पों वाली कष्टकारिका को पुष्प नक्षत्र के साथ चन्द्रयोग होने पर उपवास करके समूल उखाड़ ले फिर रजोदर्शन के चौथे दिन पत्नी जब स्थान कर शुद्ध हो जाये तो रात्रि में पानी के साथ पीसकर नासिका के दाहिने रूप में इयंमोषधी ------- मंत्र पढ़ते हुये डाल दें।[३]

अपवाद

शारीरिक मानसिक और चारित्रिक आधार पर कुछ अपवाद भी मान्य थे। उस स्त्री के समीप न पहुँचने में पाप का कोई डर नहीं है

---

१. आरोहोरूमूपर्वर्हस्व बाहुं परिष्वजस्व जायां सुमनस्यमान:
तस्यां पुष्यतं मिथुनौ संयोनी वहीं प्रजां जनयन्तौ सरेहसा।। वहीं ३४६
आर्वमाख्या मत्रामन्थत् प्रभवं प्ररूषेण: शुक्र: तदेवौ मिथुनौ सयोनी प्रजायामृतेनेह गच्छतम्।।
अहं प्रजा अजनयं पृथ्व्यिामहं जनिभ्यों अपरीषु पुत्रान् पुत्रिरायेमा कुमारिण विश्वमायुर्ष्वश्नुतम। उ.भा. हिरण्यपेशसा – ३४९
तीतिहोत्रा कृतहसू दशस्यन्त्वामृतायकम् शमूधो रोमश हथे दवेषु क्रणुतो दुवा:।
मामनुव्रता भव सहचर्या भयाभव या ते पतिहंनी तनूजरिहनी तनूजरिहनी खेतां करोमि। हि.गृ.सू. शिवां त्वं महतमेधि क्षुरपति जरिभ्ये:।।

२. या ते पतिहनी प्रजाहनी पशुहनी गृहहणी यशोहनी निन्दिता तनूर्जारहनी।
तत एनां करोमि सा जीर्य त्वां न्या सह।। पा.गृ.सू. – डॉ. ओमप्रकाश पाण्डेय १/११/४

३. सा यदि गर्भ न दधीत सिध्हता: श्वेतपुष्प्या उपोष्य मूलमत्थान्प्य चतुर्थेऽहमि स्नात्यां निशायामदपेषं दिष्ट्वा दक्षिणस्यां नासिकायानासिञ्चति –
इयंमोषधी त्रायमाण सहमाना सरस्वती
अस्या अहं बृहत्या: पुत्र पितुरिव नाम जग्रभमिति। पा.गृ.सू. – जगदीश मिश्र १/३१/१ पृ.

जो बहुत वृद्धा हो, बन्ध्या हो, दुश्चरित्रा हो, जिसे आर्तव[१] न होता हो जो अल्पायु की कन्या हो या अनेको पुत्रों की माँ हो।[२] विष्णुपुराण के अनुसार उस स्त्री के समीप नहीं जाना चाहिए जिसमें स्नान न किया हो जो पीड़ित हो जो आर्तवस्था में हो जो प्रशंसनीय न हो जो क्रुद्ध हो जो बुरा सोचती हो जो उदार न हो, जो किसी अन्य पुरुष का चिन्तन कर रही हो जिसे उत्कंठा न हो जो भूखी हो या अत्यधिक भोजन किये हो।[३] मा.गृ.सू. के अनुसार अस्नाता, आतुरा और रजस्वला, कुपिता, अकामा, परस्त्री, भूखी प्यासी अधिक खाई हुई और अप्रशस्त स्त्रियों के साथ मैथुन नहीं करना चाहिए।[४]

समयानुसार हिन्दुओं के सामाजिक और राजनीतिक विचार बदल गये जब आर्ये पूरे देश में फैल गये तथा उनका सर्वत्र उनका आधिपत्य स्थापित हो गया और उनकी संख्या बढ़ गयी तो परे परिवार के सामाजिक और राजनीतिक उद्देश्यों के लिये प्रत्येक गृहस्थ को दश पुत्रों की आवश्यकता न रह गयी। बहुत पुत्रों के तर्पण से स्वर्ग भोगने की कल्पना भी व्यक्ति के नैतिक तथा अध्यात्मिक जीवन पर आधारित मुक्ति की कल्पना से कम महत्वपूर्ण हो गयी।

इसलिये प्रतिमास पत्नी के अनिवार्यता शिथिल हो गयी है और अन्त में समाप्त हो गयी। यह बन्धन उन्हीं के लिये था जो सन्तानहीन

---

१. आर्तव–यह व्याहृत वर्ष के एक ऐसे भाग क द्योतक है जिसमें सर्वाधिक ऋतुये हो किन्तु इसको अधोवर्ष कहना उचित नहीं है। यह शब्द बहुवचन में आता है। वाजस्नेयि संहिता में मांसो ऋतुओं वर्ष अथवा केवल ऋतुओं के साथ आता है। वैदिक इण्डेक्स .भाग । राम कुमार वर्मा पृ. ७२
यहाँ पर स्त्री के साथ आर्तव का सम्बन्ध होने का तात्पर्य रजस्वला (ऋतुमयी) से है।

२. वृद्धां बन्ध्यामसदवृत्तां मृतापत्यामुपष्णिीम्
कन्यां च बहुपत्रां च वर्जयन मुच्यते भयात। पा.गृ.सू. १/११/७ में गदाधर भाष्य में मदनरत्न का कथन।

३. पा. गृ. सू. – डा. ओमप्रकाश पाण्डेय १/११ पृ. ६५

४. वही

थे एक पुत्र की उत्पत्ति के पश्चात् यह वैकल्पिक हो गया दश पुत्रों के लिये वैदिक प्रार्थना केवल स्तुति मात्र है।[१]

मनु का कथन है अकेले पहले पुत्र से ही व्यक्ति पुत्री (पुत्रवाला) हो जाता है और पितृऋण चुका देता है। जिसकी उत्पत्ति से व्यक्ति पूर्वजों के ऋण से मुक्त हो जाता है परम आनन्द पाता है वही अकेला धर्म से उत्पन्न पुत्र है। शेष सभी लिप्सा से उत्पन्न होते है।[२]

महत्व

गर्भाधान संस्कार का अध्ययन महत्वपूर्ण है। यहाँ हम न तो उस आदिम मनुष्य को देखते है। जो सन्तति के आश्चर्य प्रकट करता था और उसकी प्राप्ति के लिये सदा देवताओं की सहायता खोजता फिरता था और न गर्भधारण बिना सन्तति की इच्छा के ही कोई आकस्मिक घटना था। यहाँ उन व्यक्तियों का वर्णन प्राप्त होता है जो अपनी स्त्री के समीप सन्तति उत्पत्ति रूप एक निश्चित उद्देश्य को श्रेष्ठ से श्रेष्ठ सन्तान की उत्पत्ति के लिये एक पूर्वनियम रात्रि में निश्चित प्रकार से ऐसी धार्मिक पवित्रता को लेकर जाते थे जो भावी सन्तान का निर्माण करती थी।

पुंसवन

पुंसवन संस्कार का सीधा सम्बन्ध स्त्री समाज से है। इस प्रकार के सम्पादन से पुत्र की प्राप्ति अवश्य होती है। यह संस्कार करने से पुत्र अस्वस्थ (पिप्पल वृक्ष) की तरह विशाल औरसुहद होता है और शमी रूपी शान्त स्वभाव वाली स्त्री की तेजस्विता रूपी अग्नि को

---

१. ऋतुकालभिगामी स्याद्यावत्युत्रोऽभिजायते
दशास्यां पुत्राणाधेहि प्रशसर्थश्रुतिः स्मृता। कूर्मपुराण, सं. च आह्रिक प्रकरण। में उद्धृत

२. ज्येष्ठेन जातमात्रेण पुत्री भवति मानवः पितृणामनृणश्चैव स· तस्मात्सर्वमर्हति
यस्मिन्नृणं सन्नयतियेन चान्नत्यमश्नुते।
स एवं धर्मज्ञः पुत्रः कामजनित रान्वितृः मनु.स्मृ. १.१०६–१०७

प्राप्त करता था। इसी बात की पुष्टि अथर्व. संहिता में की गयी है।[१] गर्भधारण का निश्चय हो जाने के पश्चात् गर्भस्थ शिशु को पुंसवन नामक संस्कार के द्वारा अभिषिक्त किया जाता था। पुंसवन का अभिप्राय सामान्यत: उस संस्कार से था जिसके अनुष्ठान से पुमान् पुरुष का जन्म हो।[२] पुत्र को जन्म देने वाली माता की प्रशंसा की जाती थी तथा समाज में उसे सम्मानित स्थान प्राप्त था। यह परम्परा उस युग में प्रचलित थी। यदि सन्तति स्त्री हो तो भी आशा की जाती थी कि वह पुरुष सन्तान को आगे चलकर जन्म देगी।

गृह्यसूत्रों में पुंसवन संस्कार गर्भधारण के पश्चात् तीसरे अथवा चौथे मास में या उसके भी पश्चात् उस समय सम्पन्न किया जाता था जब चन्द्र किसी पुरुष नक्षत्र विशेषत: तिथ्य में संक्रमण कर जाता था[३] गर्भिणी स्त्री को उस दिन उपवास करना पड़ता था। स्थान के पश्चात् वह नवीन वस्त्र धारण करती थी तब रात्रि को वटवृक्ष की छाल को कूटकर और उसका रस निकाल कर स्त्री की नाक के दाहिने रन्ध्र में हिरण्यगर्भ ------शब्दों से आरम्भ होने वाली ऋचाओं के साथ छोड़ा जाता था।[४] कतिपय गृह्यसूत्रों के अनुसार उपर्युक्त मन्त्रों के साथ कुशकर तक तथा सोमलता भी कूटी जाती थी[५] यदि पिता यह चाहता है कि उसका पुत्र वीर्यवान तथा बलवान हो तो एक जल पात्र स्त्री के

---

१. शमीमश्वत्थ आरूढ़स्वत्र पुंसवन कृतम्
तद्वै पुत्रस्य वेदनं तत्सत्रीब्दाभरामसि। अथर्व ६/११/१

२. पुमान प्रसूयते येन कर्मणा तत् पुंसवनमीरितम् – शौनक, वीरमित्रोदय संस्कार प्रकाश भाग। पृ. १६६
पा.गृ.सू. १/१४ पृ. १६६

३. द्वितीये तृतीये वा मासे यस्मिन्नहमि पुहन्सा पुरुष नाम्ना पुष्यादिननक्षत्रेण उडुना शशी युक्तो भवेत्। वा.गृ.सू. १/१४/२ हरिहर भाष्ये पृ. १६७

४. हिरण्यगर्भ: समवर्तताग्रे भूतस्यं जात: पतिरेक आसीत्
स दाधार पृथिवी द्यातुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम। वहीं १/१४/१९

५. वही १/१४/४
कुशकष्टंक कुशमूलं सोमाशु सोमलता खण्डं च पिश्यमाणेषु न्यग्रोधावरोहाशुग्रेप प्रक्षिपन्त्येके आचार्या:। वही पृ. १६९

अंक में रखकर उसके उदर का स्पर्श करता हुआ सुपर्णोऽसि ------ आदि मन्त्रों का उच्चारण करता था।[१]

पुंसवन का उचित समय

मनु तथा याज्ञवल्क्य के अनुसार गर्भाशय में गर्भ के गतिशील होने के पूर्व यह संस्कार सम्पन्न किया जाना चाहिए[२] वृहस्पति के अनुसार गर्भ के स्पन्दनशील होने के पश्चात् ही इस कृत्य का उचित समय होता है।[३]

जातकर्म तथा शौनक का मत है कि गर्भधारण के स्पष्ट हो जाने पर उसके तीसरे मास में यह संस्कार में करना चाहिए।[४]

मूलतः इस संस्कार के अनुष्ठान का समय गर्भ के द्वितीय से अष्टम मास तक माना जाता था इसका कारण यह था कि विभिन्न स्त्रियों में गर्भधारण के चिह्न विभिन्न काल में व्यक्त होते हैं। कुलाचार या पारिवारिक प्रथायें भी इस त्रैविध्य के उत्तरदायी थी। वृहस्पति के अनुसार यदि स्त्री प्रथम बार गर्भ धारण करती है तो यह संस्कार तीसरे मास में करना चाहिए। किन्तु उस स्त्री के विषय में जो इसके पूर्व भी सन्तति का प्रजनन कर चुकी है यह कृत्य गर्भ के चौथे छठे आठवें मास में भी सम्पन्न किया जाता है।[५] शौनक के अनुसार यह कृत्य प्रत्येक गर्भधारण के पश्चात् करना चाहिए क्योंकि स्पर्श करने तथा औषधि सेवन से गर्भ शुद्ध व पवित्र हो जाना है। इसके अतिरिक्त इस संस्कार के अवसर पर उच्चारित तथा पठित मन्त्रों के प्रभाव से व्यक्ति में विगत जन्मों का स्मरण करने की क्षमता का सञ्चार होता है। याज्ञवल्क्य स्मृति पर विज्ञानेश्वर प्रणीत मिताक्षरा टीका में इस संस्कार के विषय में कहा गया है ये पुंसवन तथा सीमान्तोन्नयन

---

१. सुपर्णोहसीति प्रागविष्णुक्रमेभ्यः वहीं १/१४/५ पृ. १६९

२. गर्भाधानमृतौ पुसंवन स्पन्दनात्पुरा। याज्ञ. स्मृ. १.११

३. नवनं स्पन्दिते शिशो। वी.मि. संस्कार भाग। पृ. १६६

४. तृतीयेमासि कर्तव्य गृष्टेख्यत्र शोभनाम् गृष्टेश्चतुर्थे मासे तु षष्ठे मासेऽथवाऽष्टमें। वी.मि.स. प्रकाश भाग। पृ. १६८ पर उद्धृत।

५. वी.मि. संस्कार प्रकाश भाग। पृ. १६६ पर उद्धृत।

के कृत्य क्षेत्र संस्कार है अतः इनका सम्पादन एक ही बार करना चाहिए प्रत्येक गर्भधारण में नहीं।[१]

विधि तथा महत्व

गर्भिणी स्त्री को घ्राणेन्द्रिय के दाहिने रन्ध्र में वटवृक्ष का रस गर्भपात के विरोध तथा पुसन्तति के जन्म के निश्चय के उद्देश्य से छोड़ा जाता था।[२] सुश्रु त के अनुसार पुत्र की प्राप्ति के लिये सुलक्ष्मण वटशुंग सहदेवी तथा विश्यदेवी इनमें से अन्य रस औषधि को दूध के साथ पीसकर उसके इसकी तीन या चार बूंद गर्भिणी के दक्षिण नासापुट में छोड़ना चाहिए। इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि कहीं स्त्री उसे थूककर फैंक तो नहीं देती।[३]

नासारन्ध्रों में औषधि का छोड़ना हिन्दू समाज में प्रचलित एक सामान्य प्रथा है। अतः यह स्पष्ट है जिनमें इसका विधान किया गया निःसन्देह जनता में आयुर्वेदिक अनुभव पर आधारित था। स्त्री के अंक में जल से भरा पात्र रखना एक प्रतीकात्मक कृत्य था। जल से पूर्ण पात्र[४] भावी शिशु के जीवन में उत्साह के आर्विभवि का सूचक था गर्भाशय के स्पर्श के माध्यम से भावी माता द्वारा पूर्व सावधानी करने की आवश्यकता पर बल दिया जाता था जिससे गर्भस्थ शिशु स्वस्थ तथा सबल हो और गर्भपात की सम्भावना न रहें।

आश्व.गृ.सू. में पुंसवन की सर्वाधिक सरल प्रक्रिया प्रतिपादित है। पति सरसों के दाने और एक जौ पत्नी के दाहिने हाथ में रखकर दही के साथ तीन बार समन्त्रक भक्षण करने को देता है।[५] औषधियाँ सोम

---

१. एतं च पुसंवन सीमन्तोन्नयने क्षेत्र संस्कार कर्मत्वात् सकृदेव कार्यो न प्रतिगर्भम। याज्ञवल्क्य १/११/ पर मिताक्षरा टीका।

२. पा.गृ.सू. १/१३/१ पृ. १६४

३. लब्धगर्भायाश्चैतेष्वह सुलक्ष्मण वटशुग सहदेवी विश्वदेवानामष्यतमं क्षीरणाभिघुटय त्रीश्चतुरो वा विन्दून, दद्यादक्षिणे नासापुटे पु त्रकामायै न च न्निष्ठीवेत। सुश्रुत – शरीर स्थान अध्याय-२

४. भार्यायाः उपस्थे जलपूर्णशरावं कृत्वा मिधाय। पा.गृ.सू. १/१४/५ हरिहर भा. पृ. १६९

५. आश्व.गृ.सू. १.१३-२४, जै.गृ.सू. १.५, तु.हि.गृ.सू. २.२.२-४

कुश तथा न्यग्रोध की शाखा का अग्नि दग्ध भाग जुहू में लगे होम शेष में से कुछ भी हो सकती है। पत्नी के उदर अथवा नाभि स्थल का समन्त्रक स्पर्श करके पति पुत्रोत्पत्ति की कामना को व्यक्त करता है[१] गर्भधारण के चतुर्थ मास में पति द्वारा स्थाली पाक की छः आहुतियाँ देकर सम्पन्न किया जाता है।[२]

"सीमान्तोन्नयन"

गर्भिणी स्त्री के केशों (सीमन्त) को ऊपर उठाया जाना है। सीमान्तोन्नयन संस्कार है।[३]

प्रयोजन

इस संस्कार का प्रयोजन आंशिक रूप से विश्वासमूलक तथा व्यवहारिक था। जनसाधारण का विश्वास था कि गर्भिणी को अमंगलकारी: शक्तियाँ ग्रस्त कर सकती है अत: निराकरण के लिये विशेष संस्कार की आवश्यकता प्रतीत हुई। आश्व. स्मृ. में इस विश्वास का उल्लेख है कि रूधिराशन में तत्पर कतिपय दुष्ट राक्षसियाँ पत्नी के प्रथम गर्भ को खाने के लिये आती है।

अत: पति को चाहिए कि उनके निरसन के लिये वह श्री का आह्वान करके उसके द्वारा रक्षित स्त्री को उक्तकाल में राक्षसियाँ मुक्त कर देती है। ये अलक्ष्य क्रूर मांसभक्षी प्रथम गर्भकाल में स्त्री पर अधिकार जमा लेती है तथा उसे पीड़ा पहुँचाती है। अत: उनके भगाने के लिये सीमान्तोन्नयन संस्कार का विधान किया गया है।[४]

---

१. कल्पसूत्र का वैदिक वाङमय का बृहद इतिहास–कुन्दन ला शर्मा पृ. ३७१

२. पा.गृ.सू. १/१४/पृ. १६८

३. सीमान्त उन्नीयते यस्मिनकर्मणि तत् सीमन्तोन्नयनमिति कर्मन् चेयम्
वी.मि.स. भाग। पृ. १७२ पर उद्धृत।
पा.गृ.सू. १/१५/पृ. १७१

४. पत्नया: प्रथमज: गर्भमतुकामा सुदुर्भगा: आयान्ति काश्चिदाक्षरयो रूधिराशनतत्परा: तासां निरसना श्रियमावाहेयेत् पंति:।
सीमान्तंकरणी लक्ष्मी स्तामावहति मन्त्रत:। आश्वलायनचार्य वी.मि.सं. भाग। पृ. १७२

संस्कार का धार्मिक प्रयोजन माता के ऐश्वर्य तथा अनुत्पन्न शिशु के लिये दीर्घायुष्य की प्राप्ति था। इस संस्कार का अन्य प्रयोजन गर्भिणी स्त्री को यथासंभव हर्षित तथा उल्लसित रखना भी था।

प्राचीन इतिहास

इस संस्कार का एकमात्र प्राक् सूत्र उल्लेख मन्त्र ब्राह्मण में उपलब्ध होता है जिस प्रकार प्रजापति महान् ऐश्वर्य (सौभाग्य) के लिये अदिति की सीमा निर्धारित करता है उसी प्रकार में सन्तति के दीर्घापुष्य के लिये इसके केशों को विभक्त करता या संवारता हूँ।[१] पारस्कर के अनुसार यह एक क्षेत्र संस्कार है। अतः केवल एक ही बार करना चाहिये। हारीत तथा देवल का भी यह मत है।[२] सीमन्तोन्नयन द्वारा स्त्री के एक बार पवित्र होने पर उसके द्वारा प्रसूत प्रत्येक शिशु स्वतः अभिषिक्त हो जाता है। अन्य आचार्या के अनुसार यह एक गर्भ संस्कार है तथा प्रत्येक गर्भ में इसे सम्पन्न करना चाहिये।[३]

संस्कार का उचित समय

सीमन्तोन्नयन संस्कार गर्भ के तृतीय चतुर्थ षष्ठ सप्तम अथवा अष्टम् मास में किया जाता है।[४] स्मृतियों के अनुसार यह समय छठे अथवा आठवें मास तक हो सकता है।[५]

सत्यव्रत का कथन है कि यदि सीमन्तोन्नयन के पूर्व ही सन्तान का प्रसव हो जाये तो शिशु के जन्म के पश्चात् उसे माता के अंक

---

१. सीमानं नयामि ओम्येनर्दिते: सीमानं नयति प्रजापर्यातर्महते सौभागाय तेनाहमस्यै सीमानं नयामि पजामस्यै जरदष्टिै कृणोमि। सामवेद मन्त्र ब्राह्मण। १.५.२

२. आ.गृ.सू. १.१४, बौ.गृ.सू.१/१०/पा.गृ.सू. १.१५.१

३. हिन्दू संस्कार – डॉ. राजबली पाण्डेय- पृ.८१

४. मासे षष्ठेऽष्टमें वां। पा.गृ.सू. १/१५/३ पृ. १७२ आश्व.गृ.सू' १.४.१-२, हि. गृ.सू. २.१.१-२ भार.गृ.सू. १.२१.२१.६ आप.गृ.सू. ६.१४.१, बौ.गृ.सू. १. १०.१, जै.गृ.सू. १.७.२०, गो.गृ.सू., २.७.१-२, मा.गृ.सू. १.१५-१ शा.गृ.सू. १.२२.८, बौ.गृ.सू. ३.१२, मा.गृ.सू.

५. हिन्दू संस्कार, डॉ. राजबर्ली।

अथवा किसी पेटक में रखकर यह संस्कार सम्पन्न किया जा सकता था।[१]

विधि

जब चन्द्रमा के साथ पुष्प नक्षत्र का योग हो तब स्त्री स्नान करें। नये वस्त्र पहनकर उपवास करें।[२] फिर यह संस्कार प्रारम्भ होगा। तिल और मूँगा मिला चावल पका कर आज्यभागान्त कर्म समाप्त कर प्रजापति के लिये आहुति देकर स्विष्टकृतं अग्नि के लिये आहुति दे[३] और फिर संस्रव प्राशन कर बेदी के पार्श्ववर्ती अग्नि के पश्चिम तथा पति की दाहिनाी और कोमली आसन पर पत्नी के बैठ जाने पर गूलर के दो कच्चे फलों वाले एक डंठल तीन बालीदार कुशा, तीन जगह सफेद साही के कटि पीपल की एक कील और धागे के साथ कैंची, इन पाँच वस्तुओं को एक साथ मिलाकर एक बार में ही स्त्री के बालों को 'भूभुर्वः स्वः' का उच्चारण करते हुए ऊपर की मांग संभाल दें।[४] मांग निकलने के पश्चात् गूलर प्रभृति वाली वस्तुओं को जूड़े में

---

१. स्त्री यद्यकृत सीमान्त प्रसूयते कदाचन गृहीत पुत्रा विधिवत् पुनः संस्कार मर्हति तदानी पेटके गभीस्भाष्य संस्कारमाचरेत। सत्यव्रत मार्ग्य – वी.मि.स. भाग। पृ. ११७

२. पुहन्सा नक्षत्रेण चन्द्रमर्सो योगस्त दहरूपवास्याप्लाण्याहते वाससी परिधाष्येति लभ्यते। पा.गृ.सू. १/१५/२ पृ. १७१

३. सिलैमुट्गैमिश्रस्तिभुद्गमिश्रस्तं स्थालीपाकमोदनं चरू श्रपयित्वा आज्यभागान्ते प्रजापतये स्वाहेत्येकामहुति हुत्वा स्विष्टकृदादि प्राशनान्त विदध्यात्। पा.गृ.सू. १/१५/४ हरिहर भाष्य पृ. १७२

४. पश्चादग्नेमंद्रपीठ उपविष्टायामग्नेः पश्चिमतः भर्तुदक्षिणतः मृदुपीठे आसीनायाँ। गर्भिण्यां सत्यां युग्मेनोदुम्बरवृक्षोद्भवेन ह्याद्वियुग्म फलवता सटात्रुग्रप्संन अपक्वकलस्तम्बकनिबद्धेन सटालुमिति अपक्वफलानामाख्या ग्रप्सः सृवकसंगातः गुग्मानि एकस्तबक बद्धापि औदुम्बरफलानि तेन त्रिभिदर्भपवित्रैश्च त्र्येण्या शलल्या त्रिपुस्थानेषु श्वेता श्रेणी तया–त्र्येण्या शलल्या शल्यकारण्यपक्षकण्टकेन वीरवरशंलुना शेरषीकया आश्वत्थेन वा शंगकुना पूर्णचात्रेण च सूत्रेण पूर्ण चात्रं सूत्रकर्तन साधनंतर्कुरिति यावत्। पा.गृ.सू. १/१५/४ पृ. १७३ हरिहर भाष्य

तीन गाँठ देकर 'अयमूर्ज्जयितो[१] वृक्षअर्ज्जीवफलिनी भवेति' इस मंत्र को पढ़ते हुए बांध दे जिसका अर्थ है यह वृक्ष शक्तिशाली है इसकी शाखायें फलों से लदी है। इसी की तरह तुम भी फलवती बनो। गो. गृ.सू.[२] के अनुसार इसके पश्चात् पति पत्नी से चावल की राशि तिल तथा घी की ओर देखने तथा सन्तति पशु सौभाग्य और अपने पति के दीर्घायष्यु की कामना के लिये कहता था। कतिपय गृह्यसूत्रों के अनुसार भूत प्रेतों को आतंकित करने के उद्देश्य से पत्नी के ऊपर एक लाल चिह्न बनाने की प्रथा भी प्रचलित थी। गृह्यसूत्रों में विधान है कि इस अवसर पर पति देवी बन्धन के उपरान्त वीणा लेकर गान करने वाले दो पुरुषों को किसी राजा या वीर पुरुष के विषय में गाथा गाने को कहता था।[३] गाथा के अन्त में गर्भिणी स्त्री को जिस नदी के वह समीप हो उसका प्रथमात्त नाम ले लेना चाहिए।[४] फिर ब्राह्मणों को भोजन कराना चाहिए। इस संस्कार का मुख्य सम्बन्ध नारी से है या होने वाले शिशु से इस विषय में भी मतैक्य नहीं पाया जाता। हारीत ने इसे स्त्री संस्कार मान कर इसे केवल प्रथम गर्भ के समय ही कर्तव्य घोषित किया है। एक बार संस्कृत स्त्री का गर्भ सदा के लिये संस्कृत हो जाता हैं। हारीत विष्णु मेघातिथि देवणभट्ट एवं कर्काचार्य प्रभृति ने इसे शिशु संस्कार मानकर इसे प्रत्येक गर्भ के समय आवश्यक माना है।[५]

---

१. अयमूर्ज्जावतो वृक्ष ऊर्ज्जीव फलिनी भवेति। वहीं १/१५/६

२. किं पश्यसि प्रजां पशून सौभाग्यं मह्यं दीर्घायुष्टवा पत्युः सामवेद मन्त्र ब्राह्मण २-१-५ गो.गृ.सू. २/७.१०-१२ पा.गृ.सू. १,१५, वृ.गृ.सू. १६

३. वेष्यांबन्धनानन्तरं वीणांगाथिनौ राजानहं-संगायेतामिति पा.गृ.सू. १/१५/७ पृ. १७४

४. अविमुक्त चक्र आसीरक्तीरे तुम्यमसाविति या नदीमुपावसिता भवति तस्या नाम गृह्णति। वही. १/१५/८

५. पा.गृ.सू. १/१५/१ हेमाद्रि द्वारा उद्धृत गदाधर द्वारा निर्दिष्ट मनु २.१६, हिन्दू धर्मशास्त्र – पी.वी. काणे पृ. २२६

पति के कर्तव्य

पति का प्रथम व सबसे प्रधान कर्तव्य था अपनी गर्भिणी पत्नी की इच्छाओं की पूर्ति करना।[१] याज्ञवल्क्य के मतानुसार गर्भिणी स्त्री की इच्छाओं (दौहद) की पूर्ति न करने से गर्भ दोषयुक्त हो जाता है। उसमें वैरूप्य आ जाता है या वह गिर जाता है। आश्वलायन स्मृति के अनुसार गर्भ के छठे मारा के पश्चात् पति को केशों को कटवाना (वपन) मैथुन तीर्थयात्रा तथा श्राद्ध का वर्जन करना चाहिए।[२] कवि विधान और शवयात्रा में सम्मिलित लेने नख काटने युद्ध में भाग लेके नया घर बनवाने (वास्तुकरण) बहुत दूर जाने, परिवार में विवाह तथा समुद्र के जब में स्थान का निषेध करता है क्योंकि इनसे गर्भिणी स्त्री के पति की आयु का क्षय होता है।[३]

सोष्यन्ती कर्म

सोष्यन्ती क्षिप्रप्रसव, क्षिप्रसुवन, पुंसवन के पश्चात् प्रजनन काल में क्षिप्रप्रसावनार्थ सोष्यन्ती होम का विधान करने वाले संस्कार को क्षिप्रसवन की संज्ञान से अभिहित किया गया है तथा होम का विधान नहीं किया गया है। काठक गृह्यसूत्र में कहा गया है कि शिशु जन्म के समय क्षिप्रप्रसवानार्थ जल से गीले हाथ से उसके शरीर को सिर से हृदय प्रदेश तक स्पर्श करना चाहिए इससे शिशु गर्भ से बाहर आ जाता है।[४] भरद्वाज गृह्यसूत्र, आप. गृह्यसूत्र तथा हि.गृ.सू. में क्षिप्रसवन

---

१. दौहदस्यावप्रदानेन गर्भो दोषमवाप्नुयात् वैकष्यं निधनं वाऽपि तस्मात् कार्य द्विजं स्त्रियः। या.स्मृ. पृ. ३८९ पर

२. वपनं मैथुनं तीर्थ वर्जयेद गर्भिणीपतिः श्राद्धञ्च सप्तमान्मासांदूर्ध्व चान्यत्र वेदतति या.गृ.सू. १५ हरिहर भाष्य द्वारा उद्धृत।

३. क्षौरं शवानुगमनं नखकृत्वनं च युद्धं च यास्तुकरणं त्वति दूरयानम्।
उद्धाध्मग्बुधि जलं साशनोवयोगमायुसयो भवति गर्भिविकापतीनाम्।।
वी.मि. संस्कार भाग। पृ. १०४ पर उद्धृत।

४. काठक गृ.सू. ३३/१-३

का वर्णन इस प्रकार किया गया है। एक कोरे (नवीन) पात्र में नदी के बहाव की ओर से जल भरकर तुर्यन्ती ओषधि को पत्नी के नीचे तथा सोष्यन्ती ओषधि को उसके सिर पर रखकर पति दोनों हाथों से पत्नी का स्पर्श करके नदी के जल से उसका मार्जन करे।[१] हरदत्त ने सोष्यन्ती का अर्थ ओषधि विशेष किया है जबकि सुदर्शनाचार्य ने इसे जननी का द्योतक माना है। जरायु से निकलने में विलम्ब हो रहा हो तो पति को पत्नी के सिर पर दो बार मन्त्रोच्चारणपूर्वक जल छिड़कना चाहिए।[२]

पा.गृ.सू. के अनुसार गर्भस्थ शिशु को बाहर आने के लिये पिता अवैतु मन्त्र जपे।[३] गो.गृ.सू. में इस अवसर पर पति द्वारा अग्नि का दर्भा से परिस्तरण करके उसमें दो आज्यहुतियाँ देने का विधान किया गया है। वै.गृ.सू. में इस संस्कार का परिष्कृत वर्णन किया गया है. इसके अनुसार गर्भपात में विलम्ब होने पर विशल्या या सुर्वचला ओषधि को योनि पर निचोड़ना चाहिए तथा पिण्डी तक अथवा सर्प के केचुली में धूपित करना चाहिये तथा हिरण्यपुष्पी नामक ओषधि की जड़ को उसके हाथों तथा पावों पर रखना चाहिए। शिशु के बाहर आते समय माता के सिर की दाहिनी ओर एक जलपूर्ण घड़ा रखना चाहिये तथा तूर्यन्ती नामक ओषधि को उसके पैरों के नीचे रखकर उसके पेट को समन्त्रक थपथपाना चाहिये।[४]

---

१. भार.गृ.सू. १;२२;२३ आप.गृ.स. ६; ४;१५, हि.गृ.सू. २;२; ८: २३;१

२. एजतु दशमास्यों गर्भो जरायुणा सह। यथाय वायुरेजति यथा समुंद्र एजति एवायं दशमास्यों अस्रज्जरायुणा सह पा.गृ.सू. १/१६/६ पृ. ८१

३. अपैतुपृश्निशेवल शुने जराय्क्तवे। नैव मा. सेन पीवरीं न कसिमश्चनायतनम् व जरायुपद्यतामिति। वही १/१६/२ डॉ. जगदीश मिश्रा – पृ. १७९

४. कल्पसूत्र – वेदांग वाङ्मय का बृहद इतिहास–कुन्दनलाल शर्मा पृ. ३७५

जातकर्म

"जात" अर्थात् उत्पन्न हुये पुत्र का संस्कार जातकर्म संस्कार है। इसका मुख्य प्रयोजन बालक की मेधा शक्ति और आयु बल की वृद्धि करना है।[१]

आदिकालीन मनुष्य के लिये शिशु का जन्म एक अत्यन्त प्रभावकारी तथा मर्मस्पर्शी दृश्य था। इसकी विस्मय जनकता से अभिभूत होकर अपने इसका श्रेय अति मानवीय शक्ति को प्रदान किया। स्त्री और नवजात शिशु की प्रसवजन्य अशौचकालीन असहाय स्थिति के लिये सहज सावधानी और सुरक्षा अपेक्षित थी। जिसके फलस्वरूप जातकर्म से सम्बद्ध अनेक विधि विधान आवश्यक प्रतीत हुये। अति प्राचीनकाल में भी साधारण मानव हृदय सद्य: प्रसूता माता के दृश्य को देखकर स्वभावत: विचलित हो गया होगा। अपनी पत्नी के सहवास का सुख भोगने वाले पुरुष के लिये इस कठिन समय में प्राकृत तथा अतिप्राकृत संकटों से स्त्री तथा शिशु की रक्षा के लिये प्रयत्नशील होना स्वाभाविक ही था। इस प्रकार जातकर्म का प्राकृतिक आधार प्रसवजन्य शारीरिक आवश्यकताओं तथा परिस्थितियों में निहित था। पत्नी को प्रसवकालीन गम्भीर वेदना से यथाशीघ्र मुक्त करने के लिये पति अत्यन्त व्यग्र हो जाता था। अपने पुत्र की जननी की इस प्रसव वेदन को सरल तथा सहन कर देने के लिये देवताओं की सहायता और अभिचारिकों की शुभेच्छा के लिये प्रार्थना की जाती थी।[२]

संस्कार का समय

जातकर्म संस्कार नाभिबन्धन से पूर्व सम्पन्न किया जाता था परवर्ती लेखकों के अनुसार किसी कारण उक्त समय बीत जाने पर जन्म से उत्पन्न अशौच के पश्चात् संस्कार किया जाता था। जातकर्म के

---

१. शिशो: गर्भाम्बुपान जनित सकल दोष निर्वहणायर्मेधाभिवृद्धि द्वारा बीजगर्भसमुद्रभवैनो मिवहणार्थश्चायं संस्कार:। भारतीय संस्कृति: आचार्य लोकमणिदोहाल: वृ. ६०

२. पा.गृ.सू. १/१६ पृ. जगदीश मिश्र – पृ. १७९

अन्तर्गत होम आयुष्य प्राशन अश्माभिमर्शय मेधाजनन स्तन प्रदान मुख्य कर्म हैं।

मेधाजनन

यह जातकर्म का प्रथम कर्तव्य था इसी से जातकर्म अपने वास्तविक रूप में प्रारम्भ होता है। कतिपय गृह्यसूत्रों मेधाजनन कर्म के अन्तर्गत शिशु को मधु और घृत खिलाने के लिये निम्न मन्त्र का विनियोग किया जाता है।[1]

भूऽऋंचस्त्वयि जुहोमि, भुवर्यजुषि त्वयि जुहोमि
स्वः सामानि त्वयि जुहोमि, भूभुर्वः स्वरथवांङ्गिरसस्त्वयि जुहोमि॥

पा.गृ.सू. के अनुसार पिता सोने से आच्छादित अनामिका अंगुली से विषम मात्रा में मधु और घी "भूवस्त्वयि----- इत्यादि मन्त्र का उच्चारण करते हुए प्राशन कराता है।"[2]

"भू" आदि व्याहुति क्रम से तीनों वेदों को मैं तुझमें स्थापित कराता हूँ अर्थात् सम्पूर्ण विशेषणों से युक्त अथर्ववेद को तुझमें स्थापित करता हूँ।[3]

शा.गृ.सू.[4] के अनुसार मेधाजनन कर्म का अनुष्ठान शिशु के कान में तीन बार 'वाक्' शब्द के उच्चारण अथवा वाकदेवी मनसा सविदान इत्यादि मन्त्र के द्वारा उसके अभिमन्त्रण से किया जा सकता है जिसका अर्थ है इन्द्र के द्वारा उपादिष्ट मन से संयुक्त प्राण रूपी बछड़े के साथ बाणी की देवी महान स्तम्भू सर्वत्र प्रसृत होने वाली वाक्शक्ति का विस्तार करने वाली मधुर वाणी देवी शुभशासनार्थ तुम्हें स्वीकार करें।

---

१. भवत्वयि दधामि। स्वस्त्वयि दधामि। भूर्भुवः स्वः सवं त्वयि दधीमीति। पा. गृ.सू. १/१६/४, पृ. १८१

२. अनामिकाया सुवर्णन्तिर्हितया मधुघृते पाशयति घृतं वा. भुस्त्वयि दधामि। वही।

३. पा.गृ.सू. १/१६/४

४. शा.गृ.सू. १/२४/१०८

गो.गृ.सू. के अनुसार शिशु के कान में तू वेद है इस वाक्य का उच्चारण करते हुये शिशु का नाम रखा जाता था। यह गुह्य नाम था जिसे केवल माता-पिता जानते थे। इस नाम को प्रकट नहीं किया जाता था क्योंकि यह आशंका रहती थी कि उस नाम पर किसी अभिचार जादू टोना का प्रयोग कर शत्रु शिशु को क्षति पहुँचा सकते है।[१]

आयुष्य कर्म

जातकर्म का द्वितीय कृत्य था आयुष्य कर्म।[२] शिशु की नाभि अथवा दाहिने कान के निकट पिता गुनगुनाता हुआ कहता था अग्नि आयुष्मान है वह वनस्पतियों के द्वारा आयुष्मान है उसकी उस आयु से मैं तुम्हें आयुष्मान बनाता हूँ। साम आयुष्मान है वह औषधियों के द्वारा आयुष्मान है ब्रह्म ब्राह्मणों द्वारा आयुष्मान है समुद्र ऋषि व्रतों और दक्षिणाओं के द्वारा आयुष्मान है। समुद्र प्रवाहमयी नदियों के द्वारा आयुष्मान है।[३] आ.गृ.सू. के अनुसार पिता निम्न मंत्र के साथ स्पर्श करता है कि तुम शिला के समान दृढ़ बन शिशु के कन्धों का स्पर्श करता है और ऋग्वेद के दूसरे व तीसरे मण्डल के मंत्रों का पाठ करता है।

---

१. गो.गृ.सू.

२. अस्य शिशोरायुष्यनामकं कर्म आयुषे हितम् आयुष्य कर्म करोति। पा.गृ.सू. १/१६/६ गदाधर भास्य पृ. १८२

३. अग्निरायुष्मान्त्स वनस्पतिभिरायुष्मॉस्तेन त्वाऽऽयुषाऽऽयुष्मन्तं करोमि सोम आयुष्मान्त्स औषधिभिरायुष्मॉस्तेन त्वाऽऽयुषाऽऽयुष्मन्तं करोमि। ब्रह्मयुष्मन्तद् ब्राह्मणैरायुष्मवेन त्वाऽऽयुषाऽऽयुष्मन्तं करोमि। देवा आयुष्मन्तस्तेऽक्ततेनाऽऽयुष्मनस्तेन त्वाऽऽयुवाऽऽयुस्मन्तं करोमि ऋष्य आयुष्मन्तस्ते व्रतैरायुष्मन्तस्तेन त्वाऽऽयुषाऽऽयुश्मन्त करोमि। पितर आयुष्मन्तस्ते स्वधाभिरायुष्मन्तस्तेन त्वाऽऽयुषाऽऽयुष्मन्त करोमि। यज्ञ आयुष्मान्त्स दक्षिणाभिरायुष्मास्तेन त्वाऽऽयुषाऽऽयुष्मन्तं करोमि। समुद्र आयुष्मान्त्स स्तवन्तीभिरायुष्मास्तेन त्वाऽऽयुषाऽऽयुष्मन्तं करोमि ति त्रिस्त्रिः पा.गृ.सू. १/१६/६ पृ. १८२

इस प्रकार शिशु के समक्ष दीर्घायुष्य के सभी सम्भव उपाय किये जाते थे। और विचारों के संयोग से यह विश्वास प्राप्त किया जाता था कि उक्त उपायों के संयोग से यह विश्वास था कि उक्त उदाहरणों के कथन से शिशु भी दीर्घायुष्य को प्राप्त कर ले अतः "वात्सप्र"[१] सूक्त का उच्चारण करते हुए शिशु का स्पर्श करना चाहिए।

केवल अपनी एकाकी इच्छा से संतुष्ट न होकर पिता पाँच ब्राह्मणों को निमन्त्रित कर उन्हें पाँच दिशाओं में आसीन कर उन्हें

---

१. स यदि कामयेत सर्वमायुरियादिति वात्सप्रेणैयेमभिमृशते। पा.गृ.सू. १/६/८

(१) दिवस्परि प्रथमं जज्ञेऽअग्निरस्मद् द्वितीयं परिजात वेदाः
तृतीयमप्सुनृमाणाऽअजस्तमिन्धानडएनञ्जरते स्वाधिः।

(२) विद्या ते ऊग्ने त्रेधा त्रयाणि विद्या वे धाम विभृता पुरूत्रा
विद्या वे नाम परमं गुह्यद्विद्या तमुप्सं यतऽआजगन्थ।

(३) समुद्रे त्वा नृमणां अप्स्वान्तृर्नचला ईधे दिवोऽअग्नऽऊधन्
तृतीये त्वा रजसि तस्थिवासमपामुपस्थे महषाऽअवर्धन्।

(४) अक्रन्दग्निः स्तनयन्निव द्यौः क्षामा रेरिहद्वीरूधः समञ्जन्
सद्यो जज्ञानो वि हीमि द्वो ऽअख्यदारोदसी भानुनस भात्यनतः

(५) श्रीणामुदारो धरर्णो रयीणां मनीषाणां प्रार्पणः सोमगोपाः
वसुः सुनुः सहसोऽअप्सु राजा विभा व्यग्रऽउषसाभिधानः

(६) विश्वस्य केतुर्भुवनस्य गर्भऽआ रोंदसीऽअप्रणाज्जायमानः
वीडुं चिदद्रिमर्गभनत्परायञ्जना यदिग्निमयजन्त पञ्च।।

(७) उशिक पावकोऽअरतिः सुमेधामर्तेष्वग्निरमृतोमिधायि
इयर्ति धममरूषं अरिभ्रदच्छक्रेण शोचिषा द्यामिनक्षन्।।

(८) हशार्नो रूक्मऽउर्ण्या व्यद्यौदुर्मर्षमायुः श्रिये रूचानः
अग्निस्मृतोऽअभवद् वयोभिर्यदेनं धौरजनयत्सुरेताः।

(९) यस्ते अद्य कृणवद्भद्रप्रशोचेऽपूपं देव घृतवन्तमग्ने
प्रतंनयप्रतरं वस्योऽअच्छाभिः सुम्नं देव भक्तंयविष्ठ।।

(१०) आ तंभज सौश्रृवसेष्वग्नऽउक्थऽउक्थ आभज शस्यमाने।
प्रियः सूर्य प्रियोऽअग्ना भवात्युज्जातेन भिनददुज्जनित्वैः।।

(११) त्वामग्ने यजमानाऽअनु धून्विश्वा वसु दधिरे वार्याणि।
त्वया सह दक्षिणमिच्छमाना व्रजं ग्रोमन्तमुशिजो विवव्रुः। ११/१

शिशु पर श्वास प्रश्वास छोड़ने की प्रार्थना करता था।[१] ब्राह्मण निम्न प्रकार से शिशु के जीवन का संचार करने में सहायता पहुँचाते थे। एक ब्राह्मण दक्षिण में प्रश्वास करता था[२] दूसरा परिचय की ओर निःश्वास[३], एक ब्राह्मण उत्तर दिशा की ओर देखता हुआ[४] बलिश्वास[५] तथा एक ब्राह्मण ऊपर की ओर देखता हुआ उच्छश्वास[६] आदि कहता था। यदि पाँच ब्राह्मणों का सहयोग प्राप्त नहीं हो पाता तो पिता स्वयं शिशु के चारों ओर घूमकर उक्त शब्दों का उच्चारण करता था।[७] उस भूमि को शिशु का सुरक्षित प्रसव का कारण समझा जाता था जहाँ उसका जन्म होता है अतः उसका आदर किया जाता था। पिता उसे कृतज्ञतापूर्वक धन्यवाद प्रदान करता था 'हे पृथ्वी मैं तेरा हृदय जानता हूँ वह हृदय जो आकाश में जो चन्द्र में बटता है तो उसे मैं जानता हूँ वह मुझे जाने।' हम सौ शरद ऋतु देखें। सौ शरद ऋतु पर्यन्त सुने[८] इस प्रकार यह सम्पूर्ण कृत्य शिशु के श्वास को सबल करने तथा उसका जीवन दीर्घतर करने के उद्देश्य से सम्पन्न किया जाता था।

बल

आयुष्य कर्म के पश्चात् पिता शिशु के दृढ़ वीरतापूर्ण तथा शुद्ध जीवन के लिये प्रार्थना करता था वह शिशु से कहता था तृ पत्थर (अशमा) हो तो परशु हो, तू खरा स्वर्ण बन तू यथार्थ में पुत्र नाम से

---

१. प्रतिदिशं पञ्च ब्राह्मणानवस्थाप्य ब्रूयादिममनूप्राणितेति। वही १/१६/१०
२. पूर्वो ब्रुयात प्राणेति वहीं १/१६/११
३. व्यानेति दक्षिणः। वही १/१६/१२
४. अपानेत्यपर। वही १/१६/१३
५. उदानेत्युत्तरः । पा. गृ. सू. १/१६/१४
६. समानेति पञ्चम उपरिष्टादवेक्षमार्णो ब्रूयात। वही १/१६/१५
७. स्वयं वा कुर्यादनुपरिक्रममविद्यामनेषु । वही १/१६/१६ पृ. १८४
८. हे भूमे कुमार जन्मप्रदेश वे तव हृदयमन्तः करणं भूमिर्वेदयत्र विद्यते गुप्तम् घुलोके वर्तमाने चन्द्रमसिश्रितं देदाहं तन्मांतद् विद्यात् पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शत-श्रुणुयाम शरदः शतमिति। पा.गृ.सू. १/१६/१७ पृ. १८६

आत्मा है, तु सौ शरद ऋतु पर्यन्त जीवित रहो।[१] इसके पश्चात् कुल की आशाओं के केन्द्रभूत पुत्र को जन्म देने के लिए माता की स्तुति की जाती थी।

उसके सम्मान में पति मन्त्र का उच्चारण करता है कि तू इडा है तू मित्र वरुण की पुत्री है तुम वीर माता ने पुत्र को जन्म दिया जिससे हम लोगों को वीर पुत्र प्रदान किया वह वीरवती हो।[२]

तत्पश्चात् नाभि की गुण्डी (नाल) पृथक, की जाती है शिशु को स्नान तथा माता का स्तनपान कराया जाता था।[३] पिता एक जलपूर्ण पात्र भी माता के सिर के निकट रखता था तथा मन्त्र का उच्चारण करते हुये कहता है कि हेजल(आप) तुम देवताओं के साथ निरीक्षण करती हो। जिस प्रकार तुम देवों के साथ देखभाल करते हो उसी प्रकार इस सूतिका गृह में स्थित माता और उसके शिशु की देखभाल करो।[४] सूतिका गृह के द्वार के निकट उस अग्नि की विधिवत् स्थापना कर जो पत्नी के सूतिका गृह के प्रवेश के समय से निरन्तर प्रदीप्त रखी जाती थी।

पति उसमें प्रतिदिन सायंप्रातः भूत-प्रेतों का निवारण करने के लिये धान के छिलकों से मिश्रित सरसों के बीजों को आहुति देता रहता था जब तक वह प्रसव शय्या त्याग न दे अभिचारपूर्ण वचनों का विनियोग किया जाता था। शुण्ड और कर्म उपवीर और सौण्डिकेय

---

१. अश्मा भवेत्यादिना सजीव शरदः शतमित्यन्तेनमन्त्रेण
पा.गृ.सू. – डॉ. जगदीश मिश्र १/१६/१८ गदाधर भाष्य पृ. १८६

२. इडासि मंत्रावरूणी वीरे वीरमजीजनथाः। सा त्वं वीरवती भवयाऽस्मान्वीरवतो ऽकरतदिति। पा.गृ.सू. ९ १/१६/१९ पृ. १८७

३. अथास्यै दक्षिण स्तनं प्रयच्छतीन स्तनमिति। वही १/१६/२०
मन्त्र-इमं स्तनमूर्जस्वन्तं धयापां प्रपीनमग्ने सरिरस्य मध्ये।
उत्सं जुवस्व मधुमन्तमर्वन्त्समूद्रियं सदनामविशस्व। म.स. १७/८७
(२) येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि सरस्वती बनिह धातवेडकः। उर्वन्तरिक्षमन्वेभि। वही।

४. उदपात्र शिरस्तो निदधात्यापो देवेषु जाग्रथ, यथा देवेषु जाग्रथ एवमस्या सूतिकाया सपुत्रिकायां जाग्रथेति। पा.गृ.सू. १/१६/२२

उलूखल और मलिम्लुच और च्यवन यहाँ से दूर हो जाये। यदि शिशु पर रोगवाही भूत प्रेत आक्रमण करते थे तो पिता उसे एक जल अथवा उत्तरीय से ढककर अपने अंग में ले लेता और इस प्रकार गुनगुनाता था, शिशुओं पर आक्रमण करने वाले सुकूर्कर कुर्कुर उसे मुक्त कर दो,

आधुनिक युग में मातायें शिशु को उत्तरीय या आँचल से ढककर ही स्तनपान कराती है किसे पीछे यही प्रथा विद्यमान दिखायी देती है। पिता, सिसर से कहता है कि हे सिसर तुम्हारा प्रति आदर व्यक्त करता हूँ आदि। संस्कार में पिता अपनी अन्तिम कामना इस शब्दों के साथ प्रकट करता था। जब हम उससे बोलते है और जब हम आपका स्पर्श करते है तो वह न तो पीड़ित ही हो और कराहे न तो अनन्त अथवा कठोर ही हो न रूग्ण ही हो।[१]

संस्कार समाप्त होने पर ब्राह्मणो को दान दक्षिणा दी जाती थी और दान तथा शिक्षा का वितरण किया जाता था। ब्रह्म तथा आदित्य पुराण में कहा गया है पुत्र के जन्म होने पर द्विजाति के घर पर संस्कार को देखने के लिये देव और पितर आते है। अतः यह दिन शुभ तथा महत्वपूर्ण है। उस दिन स्वर्णभूमि गौर अश्व छत्र अज माला शय्या आसन आदि का दान करना चाहिए।[२]

व्यास के अनुसार पुत्रजन्म की रात्रि में दिये हुये दान से अक्षय पुण्य होता है।[३]

नामकरण

नाम अखिल व्यवहार का हेतु है वह शुभावह कर्मो में भाग्य का हेतु है। नाम से मनुष्य यशस्वी है अतः नामकरण संस्कार अत्यन्त प्रशस्त है। स्मृति संग्रह में इस संस्कार का फल आयु तथा तेज की वृद्ध एवं लौकिक व्यवहार की सिद्धि बताया गया है जिस समय से मनुष्य ने भाषा का विकास किया उसी समय से वह अपने जीवन में

---

१. पा.गृ.सू. १/१६/२४ पृ. १९०

२. वीरमित्र संस्कार प्रकाश-शोनक भाग-१ पृ. १००

३. पुत्रजनमानि यात्रायां शर्तया दत्तमषयम्-व्यास

दैनिक व्यवहार की वस्तुओं के नामकरण के लिये प्रयत्नशील रहा है। सामाजिक चेतना के विकास के साथ मनुष्यों का भी नामकरण किया जाने लगा क्योंकि व्यक्तियों के विशिष्ट तथा निश्चित नामों के बिना संस्कृत समाज के व्यवहार का संञ्चालन असम्भव था। आर्यो ने अतिप्राचीनकाल से ही व्यक्तिगत जानों का महत्व का अनुभव तथा नामकरण की प्रथा को धार्मिक संस्कार को पवित्र कर दिया। बृहस्पति कवित्वपूर्ण अतिशयोक्ति के साथ नामकरणी वाञ्छनीयता का उल्लेख इस प्रकार करते है। नाम से ही मनुष्य कीर्ति प्राप्त करता है। अतः नामकरण (कर्म) अत्यन्त प्रशस्त है।

शिशु के नाम का चुनाव सामान्यतः धार्मिक भावनाओं से संबन्धित रहता है। बहुधा उस देवता के नाम पर ही बालक का नामकरण कर दिया जाता है जो उसका रक्षक माना जाता है अथवा उसका नाम किसी सन्त महात्मा के नाम पर रख दिया जाता है जिसके लिये आशीष उसके लिये अभीष्ट होते हैं। लौकिक भाव भी नामों के निश्चय के लिये उत्तरदायी हैं वे व्यक्ति के किसी विशिष्ट गुण की ओर संकेत करते हैं। किसी गृह्य समाज में प्रवेश करने पर भी दीक्षित व्यक्ति का नवीन नामकरण किया जाता है। गृह्यनामों के गृह्य की प्रथा भी उपलब्ध होती है। इसमें व्यक्ति का व्यक्तित्व निहित रहता है। अतः यह शिशुओं से गुप्त रखा जाता है। इस प्रकार व्यक्ति के नामकरण की पृष्ठभूमि में अनेक प्रेरक तत्व निहित हैं[१] –

नाम रचना (बालक के सन्दर्भ में)

पा.गृ.सू. के अनुसार नाम दो अथवा चार अक्षरों का होना चाहिये।[२] वह व्यञ्जन से प्रारम्भ होना चाहिये। इसमें अर्धस्वर होना चाहिये तथा नाम का अन्त दीर्घ स्वर अथवा विसर्ग के साथ होना चाहिये तथा नाम में वृत्त प्रत्यय किया जा सकता था तद्धित का नहीं।[३]

---

१. हिन्दू संस्कार – राजबली पाण्डेय – पृ. ९७
२. द्वयक्षरं चतुरक्षर वा। पा.गृ.सू. १/१७/२ पृ. २००
३. घोष वदाद्यन्तरन्तस्थम् दीर्घाभिनिष्ठानं कृतं कुर्यान्न तद्धितम्। वही

वशिष्ठ उक्त संख्या को दो अथवा चार अक्षरों तक सीमित कर देते हैं तथा तकरान्त और रेफान्त नामों का वर्णन करते हैं।[१]

गृह्यसूत्र अक्षरों की विभिन्न संख्याओं के साथ विभिन्न प्रकार के गुणों का योग करता है। प्रतिष्ठा अथवा कीर्ति के लिये इच्छुक व्यक्ति को द्वयक्षर तथा ब्रह्मवर्चस काम व्यक्ति को चतुरक्षर नाम रखना चाहिये।[२]

बालिका का नाम

बालिका के नामकरण का आधार भिन्न ही था। बालिका का नाम अक्षरों की विषम संख्या वाला तथा अकारान्त होना चाहिये और उसमें तद्धित का प्रयोग करना चाहिए।[३] वैजवाप के अनुसार स्त्री का नाम त्र्यक्षर तथा ईकरान्त होना चाहिये।[४] मनु के अनुसार स्त्री नामों को उच्चारण में सुखकर और सरल सुनने में अक्रूर विस्पष्टार्थ तथा मनोहर मंगलसूचक दीर्घवर्णान्त और आशीर्वाद युक्त होना चाहिये।[५]

वृक्ष, नदी, पर्वत, पक्षी, सर्प तथा सेवक के नाम पर भीषण नाम नहीं रखना चाहिए। इस प्रकार के नाम वाली कन्याओं से विवाह का निषेध किया गया है।[६]

नामकरण मुहुत्र

गृह्यसूत्रों के सामान्य नियम के अनुसार नामकरण संस्कार शिशु के जन्म के पश्चात् दसवें अथवा बारहवें दिन सम्पन्न किया जाता था।[१]

---

१. पा.गृ.सू. गदाधरभाष्य सुधाकर मालवीय पृ. २०१

२. शर्म ब्राह्मणस्य, वर्म क्षत्रिस्य, गुप्तेति वैशयस्य वहीं १/१७/४

३. स्त्रिया नाम्नी विशेषमाह–अयुजानि विषमाणि त्र्यादीन्यक्षरणियस्मिन्नाम्नि तद् अकरान्तं तद्धितं तद्धितंप्रत्यान्तं च स्त्रियै नाम कुर्यादित्यर्थः । वही १/१७/३ पृ. २०१

४. त्र्यक्षरमौकारान्तस्त्रियाः। वी.मि. संस्कार भाग। पृ. २४३

५. स्त्रीणां च सुखमकूरं विवष्टार्थ मनोहरम् मांगल्यं दीर्घवर्णान्तमार्शीवादाभि धानवत्। मनु. स्मृ. २.३३

६. मनु स्मृति. ३९

असो एकमात्र अपवाद था गृह्यनाम जो कतिपय आचार्या के अनुसार जन्म के दसवें दिन से लेकर द्वितीय वर्ष तक सम्पन्न किया जा सकता था। एक आचार्य के अनुसार नामकरण दसवें बारहवें सौवें अथवा प्रथम वर्ष के समाप्त होने पर करना चाहिए।[२] इस व्यापक विकल्प का कारण परिवार की सुविधा तथा माता-पिता शिशु का स्वास्थ्य था किन्तु दसवें से बत्तीसवें दिन पर्यन्त के विकल्प का कारण विभिन्न वर्णो के लिये विहित सांसारिक अशौच की विभिन्न अवधियाँ थी। बृहस्पति के मतानुसार शिशु का नामकरण जन्म से दसवें बारहवें तेरहवें उन्नीसवें अथवा बत्तीसवें दिन सम्पन्न करना चाहिए।[३] संक्रान्ति, गृहण श्राद्ध के दिन सम्पन्न संस्कार मंगलमय नहीं माना जाता था।[४]

संस्कार से पूर्व आरम्भिक कृत्य सम्पन्न किये जाते थे। तब माता शिशु को शुद्ध वस्त्र से ढककर उसके सिर को आर्द्र कर पिता को हस्तान्तरित कर देती थी।[५] पिता शिशु के श्वास प्रश्वासों का स्पर्श करता था जिसका उद्देश्य सम्भवतः शिशु की चेतना का उद्बोधन तथा उसका ध्यान संस्कार की ओर आकृष्ट करना था।

विधि

नामकरण के अवसर पर अग्नि में तेरह आहुतियाँ अर्पित की जाती थी।[६] इन आहुतियों के पश्चात् पिता को बालक का विशेष गुणों से युक्त नाम रखना चाहिए पारस्कर के अनुसार जन्म के दस दिन बाद जब शिशु सूतिकागृह से बाहर आये तब तीन ब्राह्मणों को भोजन कराकर पिता को शिशु का नामकरण करना चाहिए।[७] ब्राह्मण के नाम

---

१. शा.गृ.सू. १.२४.२२, आश्व.गृ.सू. १.१५.४, पा.गृ.सू. १.१७ गो.गृ.सू. २.७.१५, खा.गृ.सू. २.२.३०, हि.गृ.सू. २.४.१०, आप.गृ.सू. १५.२

२. गोभिल गृह्यसूत्र एक परिशिष्ट

३. द्वादशाहे दशाहे वा जन्मतोऽपि त्र्योदेशों।
षोडशे कोनविशे वा द्वात्रिशें वर्णत क्रमात्।। वी.मि.सं. भाग १ पृ. २३४

४. वी.मि.सं. भाग १ पृ. २३४ पर एक अज्ञात लेखक का कथन

५. गो.गृ.सू. ३.७.१५

६. अग्निवेश्य गृह्यसूत्र २.२.५ में ऐसा विधान हो।

७. दशम्यामुत्थाप्य ब्राह्मणन्भोजयित्व। पिता नाम करोति।। पा. गृ. सू. १।१७।१

के अन्त में मंगल प्रतिपादक शर्मा, क्षत्रिय के नाम के अन्त में शौर्य व्यञ्जक वर्मा, और धनवत्ता बोधक गुप्त का प्रयोग वैश्यों के नाम के अन्त में करना चाहिए।[१] इस संस्कार के समय माता शिशु को शुद्ध वस्त्र से ढककर उसके सिर को गीला करके पिता की गोद में देती है। तत्पश्चात् प्रजापति नक्षत्र तथा उसके देवताओं अग्नि और सोम की आहुतियाँ देकर पिता बच्चे के कान में उसके नाम का उच्चारण करता है और उसी समय बच्चे के लिये मंगल कामनायें की जाती है। नाम ऐसा हो जो यश वैभव वैदुष्य और प्रतिभा का द्योतक हो उसका श्रवण सुखद तथा सुलभ होना चाहिए।[२]

निष्क्रमण

शिशु के उन्नतिशील जीवन में उसका प्रत्येक महत्वपूर्ण पग और परिवर्तन माता-पिता तथा परिवार के लिये हर्ष और आनन्द का अवसर देता है अतः वह अवसरोचित धार्मिक विधि विधानों के साथ मनाया जाता था। प्रसूति गृह्य में सीमित रहने की अवधि समाप्त हो जाने पर माता उसे छोटे कमरे से बाहर लाती है। यही क्रिया निष्क्रमणिका कहीं जाती है। पुनः इसके बाद माता पारिवारिक जीवन में भाग लेना आरम्भ कर देती इसके साथ ही शिशु का संसार भी कुछ अधिक विस्तृत हो जाता है। वस्तुतः यह शिशु के जीवन का महत्वपूर्ण चरण था और माता-पिता ने इस अवसर अपने हर्ष और आनन्द के भाव को अभिव्यक्ति प्रदान की। किन्तु जीवन घर से बाहर प्राकृत तथा अतिप्राकृत संकटों से सुरक्षित न था। अतः शिशु की रक्षा के लिये देवताओं का अर्चन और उनकी सहायता प्राप्त करने का यत्न किया जाता है।[३]

समय

संस्कार करने का समय जन्म के पश्चात् बारहवें दिन से चतुर्थमास तक भिन्न-भिन्न था।[४] भविष्यपुराण तथा बृहस्पति स्मृति संग्रह

---

१. शर्म ब्राह्मणस्य वर्म क्षत्रियस्य गुप्तेति वैश्यस्य। वही १।१७।४

२. पा.गृ.सू. प्रथमकाण्ड सप्तदशी कण्डिका पृ. २००-२०२

३. हिन्दू संस्कार – डॉ. राजबली पाण्डेय पृ. ११७

४. चतुर्थ मासि निष्क्रमणिका। पा.गृ.सू. १/१४५ पृ. ८३

इस संस्कार के लिये बारहवें दिन का विधान करते हैं। सम्भवतः यह तभी सम्भव था जब कि यह नामकरण के साथ सम्पन्न किया जाता और शिशु सूतिका गृह से बाहर लाया जाता था। गृह्यसूत्रों के अनुसार सामान्य नियम जन्म के पश्चात् तीसरे या चौथे मास में संस्कार करने का था[१] यम ने तृतीय और चतुर्थ मास में विकल्प का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है: – तृतीय मास में शिशु को सूर्यदर्शन कराना चाहिए तथा चतुर्थ मास में चन्द्रदर्शन कराना चाहिए।[२]

शिशु को रात्रि में घर से बाहर लाने के लिये दीर्घतरकाल अपेक्षित था। यह प्रथा आज भी विद्यमान है।

गृह्यसूत्रों के अनुसार माता-पिता इस संस्कार को सम्पन्न करते थे।

विधि

संस्कार के दिन माता आँगन के ऐसे वर्गाकार भाग को जहाँ से सूर्य दिखायी देता हो, गोबर और मिट्टी से लीपकर उस पर स्वास्तिक का चिह्न बनाकर धान्य कर्णों- को विकीर्ण करती थी। तब पिता 'तच्छुरित' इत्यादि मंत्र पढ़ते हुये अपने पुत्र को सूर्य का दर्शन कराता था।[३] सूर्य संसार की आँख है देवी गुणों से युक्त पुरुष के वे हितैषी है। प्रतिदिन पूर्व दिशा में इनका उदय होता है वे श्वेत वर्ण के है। इनकी कृपा से हम सौ साल तक देखें सौ साल तक सुने सौ साल तक बोले, सौ वर्ष की उम्र तक हम किसी के सामने दीन न बने। स्वस्थ और समृद्ध बनकर हम शतायु बने।[४] इस कामना के साथ भली भाँति अलंकृत कर बालक को कुल देवता के समक्ष लाया जाता

---

१. कुमारस्य जन्मचतुर्थ मासि निष्क्रमणिका गृहाद बहिर्निष्क्रमणं करोति पिता। वही १/१७/५ गदाधर भाष्य पृ. २०२

२. तृतीये कर्तव्यंमासि सूर्यस्य दर्शनम्। चतुर्थ मासि कर्तव्यं शिशोश्चन्द्रग्य दर्शनम्। वही।

३. इतच्क्षुदेर्वहितं दुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत। पश्येंम शरदः शतः जीवेम शरदः शत श्रणुयाम शरदः शतं पव्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतत्। पा.गृ.सू. में य.सं. ३६/२४ का मन्त्र पृ. २०५

४. वही १/१७/६ पृ. २०३

था। वाद्य संगीत के साथ देवता की पूजा की जाती थी ब्राह्मणों को भोजन कराया जाता था। शिशु देवता को प्रणाम करता था और ब्राह्मण उसे आशीर्वाद देते थे।[१]

सम्पूर्ण संस्कार का महत्व शिशु की दैहिक आवश्यकता और उसके मन पर सृष्टि की असीमित महत्ता के अंकन में मोहित है। संस्कार का व्यवहारिक अर्थ केवल नहीं है कि एक निश्चित समय के पश्चात् बालक को घर के बाहर उन्मुक्त वायु में लाना चाहिये और यह अभ्यास निरन्तर प्रचलित रहना चाहिए। प्रस्तुत संस्कार शिशु के उदीयमान मन पर यह अंकित करता है कि यह विश्वेश्वर की आपारेजित सृष्टि है और उसका आदर विधिपूर्वक करना चाहिए।

अन्नप्राशन

ठोस भोजन या अन्न खिलाना शिशु के जीवन में महत्वपूर्ण सोपान था अब तक अपने भोजन के लिये केवल माता के स्तन (दूध) पर ही आश्रित था। किन्तु छह या सात मास पश्चात् उसका शरीर विकसित हो जाता है और इसके लिये अधिक मात्रा में भिन्न प्रकार का भोजन अपेक्षित होता है जबकि दूसरी ओर माता के दूध की मात्रा घट जाती है।

अतः शिशु और माता दोनों की पुष्टि से यह आवश्यक समझा गया कि शिशु को माता के स्तन पर ही आश्रित न रखा जाये और माता के दुग्ध के अतिरिक्त शिशु के लिये किसी अन्य खाद्य पदार्थ की व्यवस्था की जाये।[२] शिशु को प्रथम बार ठोस अन्न खिलाने का संस्कार ही अन्नप्राशन कहलाता है।[३]

संस्कार का समय

गृह्यसूत्रों के अनुसार यह संस्कार जन्म के पश्चात् छठे मास में किया जाता था। किन्तु लौगक्षि संस्कार की गणितीय गणना के आधार

---

१. नामकर्ता प्रतिनाम विप्रानभिवादयेत्। ते चायुष्मान् भवत्वमुक इति वदेयुरिति। वही. गदाधर भाष्य-पृ. २०३

२. बालान्नभोजन – पा.गृ.सू. १/१९/१ गदाधर भाष्य।

३. संस्कार भास्कर – स्वामी विद्यानन्द सरस्वती पृ. ४००

पर पाचन शक्ति के विकसित हो जाने अथवा दाँतों के निकलने पर अन्नप्राशन संस्कार करना चाहिये।[१] दाँत शिशु में ठोस अन्न ग्रहण करने की क्षमता के विकसित होने के प्रत्यक्ष चिह्न थे। चार मास के पूर्व अन्न देना कठोरतापूर्वक निषिद्ध था। अन्नप्राशन संस्कार जन्म से छठे सौर मास में प्रथम स्थगित होने पर आठवे, नवे अथवा दसवें मास में अथवा एक वर्ष सम्पूर्ण होने पर भी किया जा सकता था।[२]

बालकों के लिये सम तथा बालिकाओं के लिये विषम मास विहित थे। लिंग पर आधारित मासगत भेदभाव इस भाव का सूचक है कि संस्कारों में भी विभिन्न लिंगों के लिये किसी न किसी प्रकार का अन्तर अवश्य होना चाहिए।

भोजन के विभिन्न प्रकार

भोजन के प्रकार भी धर्मशास्त्रों द्वारा नियत थे। साधारण नियम यह था कि शिशु को समस्त प्रकार का भोजन और विभिन्न खाद्यों का मिश्रण खाने के लिये देना चाहिये।[३] विभिन्न प्रकार के भोजन में मास का भी समावेश था जो विविध उद्देश्यों से दिये जाते थे! पिता शिशु की वाणी में प्रवाह हेतु भरद्वाज पक्षी का मांस और घी, कोमलता के लिये मत्स्य, दीर्घजीवन के लिये कृकष पक्षी का मांस अथवा मधु से मिला हुआ भात तेज के लिये अति पक्षी का और तित्तिर पक्षी का मांस और ओज तथा तीक्ष्ण बुद्धि के लिये घी भात, दृढ़ इन्द्रियों के लिये दही भात और सर्वगुण सम्पन्नता हेतु सभी पदार्थो से उसे भोजन करता था।[४] मार्कण्डेय पुराण में शिशु को मधु और घी के साथ खिलाने का विधान किया गया है।[५] भोजन किसी प्रकार का क्यों न

---

१. षष्ठे अन्नप्राशनं जातेषु दन्तेषु वा। वी.मि. संस्कार भाग। पृ. २६७

२. जन्मतो मासि षष्ठे स्यात् सोरेणान्नाशनं परम् तदभावेऽष्टमे मासिनवमे दशमेऽपि वा। पा.गृ.सू. १/१९/१ गदाधर भाष्य में नारद का कथन पृ. २१०

३. वाजो नो अद्य प्रसुवति दानं वाजो देवां ऋतुभिः कल्पयति वाजो हि या सर्ववीरं जजान विश्वा आशा वाजपतिर्जयेय स्वाहा।।

४. पा.गृ.सू. १.१९.४

५. महवाज्यकनकोपेतं पासयन्तुतम्। वी.मि. संस्कार भाग। पृ. २७५

हो यह बात सदा ध्यान में रखी जाती थी कि भोजन लघु अथवा शिशु के लिये स्वास्थ्य वर्धक हो। सुश्रुत कहता है कि षष्ठ मास में शिशु को लघु तथा हितकर भोजन खिलाना चाहिये।[१]

विधि विधान

हि.गृ.सू. के अनुसार इस संस्कार के लिये पिता को तीन प्रकार का भोजन पकाकर अग्नि में आहुति अर्पित करनी चाहिये और 'भूः' 'भुवः' और 'स्वः' शब्दों का उच्चारण करते हुये दही, मधु और घी का शिशु को प्राशन कराना चाहिये। पा.गृ.सू. के अनुसार सर्वप्रथम स्थालीपाक को पकाकर अग्नि सोम आज्यभाग की आहुतियाँ देने के पश्चात् देवी वाचन तथा वाजो नो अद्य मन्त्रों को पढ़कर घी की अलग-अलग आहुतियाँ दी जाती थी।[२] इसके अनन्तर 'प्रणादि मन्त्रों के साथ चरू की चार आहुतियाँ स्थालीपाक को देते थे।'[३] संस्रव प्राशन के पश्चात् सभी रसों और अन्नों को एक में मिलाकर शिशु को खिलाना चाहिये।[४] शिशु को खिलाते समय या तो पिता चुप रहे या हन्त शब्द का उच्चारण करें।[५] विविध प्रकार के भोजनों के भिन्न-भिन्न उद्देश्य है। संस्कार की पूर्णता ब्राह्मण भोजन से प्राप्त होती है।[६]

अन्नप्राशन संस्कार का महत्व यह था कि शिशु उचित समय पर अपनी माता के स्तन से पृथक कर दिये जाते थे। वे माता-पिता की स्वेच्छाचारिता पर नहीं छोड़ दिये गये थे जो प्रायः उनकी पाचन की क्षमता पर बिना ध्यान दिये अतिभोजन द्वारा उनके शारीरिक विकास में

---

१. षष्ठमासञ्चैतमनां प्राशयेल्लघु हितञ्च-शरीर स्थान पृ. ६४, पा.गृ.सू. १.१९.२

२. देवीवाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति सा नो मन्द्रेश मूर्ज दुघना धेनुर्वागस्मानुष सुष्टुहैतु स्वाहेति। पा.गृ.सू. १/१९/२
वाजो न अद्येति च द्वितीयाम्। वही १/१९/३

३. प्राणेनान्नमशीम स्वाहाऽपानेन गन्धानशीय स्वाहा, चक्षुषा रूपाण्यशीय स्वाहा, श्रोत्रेण यशीऽअशीय स्वाहेति। वही १/१९/४ पृ. २११

४. प्राशनान्ते सर्वात् रसान्त्सर्वमन्नमेकत उद्धव्यऽर्थेनं प्राशयेत्। वही १/१९/५

५. तूष्णी ध्न्तेति वा हनतकारं मनुष्या इति श्रुतेः। वही १/१९/६

६. अस्य कर्मणः समृद्धयर्थ, ब्राह्मणमेकं भोजयिष्ये इति संकल्प ब्राह्मणं भोजयेत्। वही १/१९/२० गदाधर भाष्य पृ. २१४

बाधा पहुँचती है। अन्नप्राशन संस्कार माता को यह चेतावनी देता कि एक निश्चित समय पर शिशु को दूध पिलाना बन्द कर देना चाहिए। परन्तु अनभिज्ञ माताये शिशु के प्रति स्नेह के कारण एक वर्ष या उससे भी अधिक समय तक यह अपना स्तन्य पिलाती ही रही है, किन्तु वह इस तथ्य की ओर ध्यान नहीं देती है कि इसमें वह शिशु का यथार्थ कल्याण न कर अपनी शक्ति का निरर्थक दाय करती थी।[१]

आधुनिक युग में यह संस्कार अधिकतर माता-पिता की स्वेच्छाचारिता पर निर्भर दिखायी पड़ता है, जिसके लिये कोई समान निश्चित नहीं मात्र औपचारिकता बन कर यह संस्कार रह गया है। जिसके कारण उसका शिशु का यथार्थ कल्याण नहीं हो पाता।

चूड़ाकरण

धर्मशास्त्रों के अनुसार इस संस्कार का प्रयोजन व्यक्ति के लिये दीर्घ आयु सौन्दर्य तथा कल्याण का प्राप्ति था।[२] चूड़ाकरण से दीर्घायु प्राप्त होती है। इसका समर्थन आयुर्वेद ने भी किया है तथा इसके सम्पन्न न करने पर आयु का ह्रास होता है, अतः प्रत्येक दशा में यह संस्कार करना ही चाहिए।[३] सुश्रुत के अनुसार केश नख तथा रोम अथवा केशों के अपमार्जन (छेदन) से हर्ष लाघव सौभाग्य और उत्साह की वृद्धि तथा पाप का उपशमन होता है। चूड़ाकरण संस्कारके मूल में स्वास्थ्य तथा सौन्दर्य की भावना मुख्य थी।[४]

आजकल यदा-कदा चूड़ाकरण संस्कार किसी देवता के मन्दिर में सम्पन्न किया जाता है किन्तु यह बात केवल चूड़ाकरण संस्कार के विषय में सत्य नहीं है केवल उन्हीं शिशुओं का संस्कार किसी देवायतन में किया जाता है। जिनका जन्म दीर्घ निराशा अथवा पूर्वसन्तान की मृत्यु के पश्चात् होता है।

---

१. हिन्दू संस्कार – डॉ. राजबली पाण्डेय

२. तेन ते आयुषे वयामि सुश्लोकाय स्वस्तये आ.गृ.सू. १.१७.१२

३. वरिष्ठ का कथन वी.मि. संस्कार भाग १ पृ. २९६

४. वापोशमनं केशनखरोमापर्जनम् हंर्ष ·लाघव सौभाग्य करमुत्साह वर्धनम्, चिकित्सा शास्त्र २४.६२

संस्कार का समय

गृह्यसूत्रों के मतानुसार चूड़ाकरण शिशु के जन्म के तीन वर्ष पश्चात्, एक वर्ष पश्चात् अथवा तीसरे वर्ष करना चाहिए।[१] ब्राह्मण, क्षत्रिय का पाचवें वर्ष में और वैश्य का सातवें वर्ष में चूड़ाकरण संस्कार करना चाहिये। पा.गृ.सू. के अनुसार यह संस्कार जन्म के एक वर्ष पूरा होने पर अथवा तीसरा वर्ष पूरा होने से पूर्व हो जाना चाहिए।[२]

विधि

चूड़ाकरण संस्कार के लिये एक शुभ दिन का निर्धारित कर चूड़ाकरण के अंगभूत तीन ब्राह्मणों को सर्वप्रथम भोजन करा दें।[३] इसके पश्चात् माता शिशु को स्नान कराकर नवीन वस्त्र पहनकर गोद में लेकर अग्नि में पश्चिम पूर्वाभिमुख होकर बैठ जाये।[४] ब्रह्म का वरण कर आधार से लेकर स्विष्टकृत तक १४ नित्य आहुतियाँ देकर, संस्रव प्रशासन के उपरान्त ठंडे जल में 'उष्णेन' इत्यादि मन्त्र पढ़कर गर्म जल मिला दें।[५] केशान्त संस्कार में मन्त्र के अन्त में केशश्मश्रू यह उच्चारण करे।[६] गर्म जल में मक्खन का गोला था, घी का गोला या दही मिला दे[७] उसमें से एक अंजलि जल लेकर कुमार के सिर का दाहिना भाग 'सविता प्रसूता-------' इत्यादि मंत्र पढ़ते हुए गीला

---

१. सांवत्सरिकस्य चूड़ाकरणम्, तृतीयेवाऽप्रतिहते। पा.गृ.सू. २/१/१-२ पृ. ९१ प्रथम मुण्डन या चूड़ाकरण संस्कार को चौल कहते हैं। हिन्दू धर्मकोश-पृ. २६९

२. सावत्सरिकस्य, तृतीये वाऽप्रतिहते। पा.गृ.सू. २/१/१-३ पृ. २१९

३. श्री ब्राह्मणान्भोजयित्वा। वही

४. माता कुमारमादायप्लाव्याहत्ते वाससी परिधात्यांक आधाय पश्चादग्नेरूपविशति। वहीं २/१/५

५. अन्वारब्ध आज्याहुतीर्हुत्वा प्राशनान्ते शीतास्वप्सूष्णा आसिञ्चति उष्णेन वाय उदकेनेह्यदिते केशान वपेति। वहीं २/१/६ पृ. २२०

६. केशश्मश्प्रिति च केशान्ते। वही २/१/७

७. नवनीत पिण्डं घृतपिण्डं दहनो वा प्रास्यति। वही २/१/८ पृ. २२१

करें[१], फिर तीन जगह से सफेद साही के तीन कांटो से केशों को दो भागों में बाँटकर 'ओषधेत्रायस्व स्वीधते------' मंत्र पढ़ते हुये उससे तीन नये कुश लगा दें।[२] सिर का मुण्डन तीन या चार भागों में किया जाता है। सर्वप्रथम मुण्डन के लिये 'येनावपत् सविता----' इत्यादि मंत्र पढ़कर केश के साथ कुशों को काटकर अग्नि से उत्तर में रखे गोबर के ढेर पर उसे फेंक दे।[३] सिर के अन्य भागों में भी यही कर्म एक बार समन्त्र और दो बार मन्त्र रहित किया जाता है।[४] पीछे के बालों को 'त्र्यायुषम्' इत्यादि मंत्र पढ़कर काटना चाहिये।[५] इसी समय सिर के ऊपरी भाग पर शिखा के रूप में कतिपय बाल छोड़ दिये जाते है।[६] अन्त में कटे हुये केशों को एकत्र करके गोमय पिण्ड में रखा जाता है।[७] अन्त में दक्षिणा में गाय दी जाती है।[८]

---

१. आदाय दक्षिणं गोदानमुन्दति – 'सविप्रा प्रसूता दैव्या आप उन्दन्तु ते तनूं दीर्घायुत्वाय वर्चस इति।' वही २/१/९

२. त्रिषु स्थानेषु श्वेता त्र्येणी शलली सेधाश्लाका तथं क्लिन्नान्केशान् विनीय पृथक्कृत्य विरलान् कुंत्वा त्रीणि कुशतरूणामि दर्भ तृणान्यन्तर्मध्ये दधाति। धारयति ओषधे त्रायस्येति स्वधिते मैंन हिंसीः। वही २/१/१० गदाधर भाष्य।

३. शिवो नामसि स्वाधितिस्ते पित। नमस्ते मा हिह्रसीः।
निर्वतयाम्यायुषेऽन्नाद्याप प्रजननाय रायस्यपोषाय सुप्रजास्त्वाय सुवीर्याण य.सं. ३/६३
येनावत सविता क्षुरेण सोमस्य राज्ञो वरूणस्य विद्वान् तने ब्राह्मणों वपतेदमस्यायुष्यञ्जरदरिटर्यथासदिति। वही १/१/११
सकेशानि प्रच्छिद्यानुडहे गोमय पिण्डे प्रास्यत्युत्तरतो ध्रियमाणे।
पा.गृ.सू. २/१/१२ – पृ. २२२

४. इतयोश्चोन्दनादि। वही २/१/१४

५. अथ पश्चात् त्र्यायुषमिति। वही २/१/१५

६. यथामंगल केशशेषकरणम्। वही २/१/२१

७. अनुगुप्तमेत सकेशं गोमयपिण्डूं निधाय गोष्ठे पल्वल उदकानते वाऽऽचाययि वरं ददाति। वही २/१/२२

८. गां केशान्ते। वही २/१/२३

प्रमुख तत्व

चूड़ाकरण सम्बन्धी विधि विधानों में निम्नलिखित प्रमुख तत्व स्पष्ट रूप से दृष्टिकोण होते है। प्रथम है सिर को आर्द करना इसके पीछे प्रयोजन था मुण्डन को सरल और सुविधाजनक बनाना, अक्षति तथा अनाक्षति के लिये प्रार्थना के साथ केशों का छेदन संस्कार का द्वितीय अंग था शिशु के कोमल सिर पर लोहे के छुरे को देखकर पिता के हृदय में भय का सञ्चार हो जाता था। वह उसकी स्तुति करता तथा बालक को क्षति न पहुँचने के लिये उससे प्रार्थना करता है। पिता 'यत्क्षुरेण मज्जयता' – मन्त्र पढ़ता है 'हे क्षुराधिपति देव नाई के हाँथ में पकड़े गये इस छुरे से तुम कुमार के केशों को संस्कृत और अलंकृत करते हुये काटो और हाँ देखों सिर को मंत मूड़ देना'।[१] संस्कार का तृतीय तत्व गोबर के पिण्ड के साथ कटे हुए केशों को छिपाना या फेंकना है।[२] केशों को शरीर का एक अंग माना जाता था और परिणाम स्वरूप शत्रुओं द्वारा उस पर जादू तथा अभिचार का प्रयोग सम्भव था। अत: वह उनकी पहुँच से दूर कर दिया जाता था। शिखा रखना चूड़ाकरण संस्कार का चतुर्थ तत्व है। यह एक जातीय प्रथा थी तथा विभिन्न कुशों में व्यापक रूप से प्रचलित थी। अनेक प्राचीन जन अपने सिर पर बालों का गुच्छा रखते थे।[३]

दीर्घायुष्य के साथ शिखा का सम्बन्ध

इस संस्कार के अवसर पर उच्चारित प्रार्थनाओं की सर्वाधिक विस्मय जनक विशेषता यह है उनका प्रयोजन शिशु का दीर्घायुष्य था। दीर्घायुष्य तथा शिक्षा का सम्बन्ध बताते हुये कहा है कि मस्तिष्क के भीतर ऊपर की ओर शिरा तथा सन्धि का सन्निपात है। वहीं रोमावर्त

---

१. यत्क्षुरेणेति सकृन्मन्त्रेण द्विस्तूर्ष्णा शिर: परिहरणम् – हे क्षुर: यत यस्मात्क्षुरेण वात्वा मुण्डित्वा आवपति गोमय पिण्डे केशान् छिपति। पा.गृ. सू. २/२/४ पृ. ९८

२. गोमपिण्डेऽ भिधाय। वही २/१/२२

३. शिखा का विषय विवादग्रस्त है। लौगाधि स्मृति के अनुसार बानसनेयियोप्रकृत गृह्यसूत्र के अनुयायियों को एक ही शिखा रखनी चाहिए – वाजसनेयिनामेकां मंगलार्थ। पा.गृ.सू. २/१/२१ पृ. २२५

में अधिपति है। इस अंग को किसी प्रकार का आधात लगने पर मृत्यु हो जाती है। अतः इस महत्वपूर्ण अंग की सुरक्षा आवश्यक मानी जाती थी तथा उसी अंग पर शिखा रखने से इस प्रयोजन की पूर्ति हो जाती थी।[१]

२. शिक्षा सम्बन्धी संस्कार

उपनयन

गृह्यसूत्रों में वर्णित शिक्ष सम्बन्ध संस्कारों से यह बात स्पष्ट है कि उस समय शिक्षा की सुनिश्चित पद्धति प्रचलित थी। गृह्यसूत्रों की मान्यता के अनुसार उपनयन शाश्वत तथा प्रत्येक द्विज के लिये अनिवार्य है।

उपनयन शब्द का अर्थ

पारस्कर के अनुसार 'उपनयन' का अभिप्राय ले जाना है वटु को आचार्य के समीप ले जाकर उसे छात्र जीवन में प्रविष्ट कराना ही यहाँ सम्भवतः आचार्य का प्रयोजन है। उपनयन संस्कार व्यक्ति को सामाजिक दायित्व सम्भालने एवं सांस्कृतिक तथा जीवन की विभिन्न जिम्मेदारियों को वहन करने की उपार्जन तथा अपने सर्व प्रकार के अधिकारों को प्राप्त करने की योग्यता के मार्ग पर पदार्पण कराने का प्रथम चरण है। इसके द्वारा दीक्षित व्यक्ति की गणना द्विजों में होनें लगती है और उसके सामाजिक गौरव की वृद्धि होती है। इसके बिना व्यक्ति को किसी भी प्रकार के सामाजिक संस्कार के योग्य नहीं माना जाता।[२]

उपनयन संस्कार का वास्तविक स्वरूप मात्र इतना ही लक्षित होता है कि शिष्य के आचार्य के निकट आने तथा ब्रह्मचर्य जीवन में प्रवेश कराने के अतिरिक्त यह और कुछ नहीं था। इसके लिये अनेक परीक्षाओं को पार तथा शर्तो को पूरा करना होता था। ब्रह्मविद्या

---

१. हिन्दू संस्कार – डॉ. राजबली पाण्डेय – पृ. १५०

२. पा.गृ.सू. २/२/५ पृ. २३६
कल्पसूत्र – डॉ. कुन्दन लाल शर्मा पृ. ३८१

(गुप्तविद्या) सन्देशशील अशिष्ट विद्यार्थी को नहीं देनी चाहिये। अनन्य भक्त तथा सर्वगुण छात्र ही इसका उत्तराधिकारी है।[१]

याज्ञवल्क्य के उपनयन शब्द पर अपरार्क लिखते हैं'उपनयन शब्द से अन्तेवासी (छात्र) और गायत्री के बीच का सम्पर्क अभिप्रेत है जिसकी स्थापना आचार्य करतर है'।[२]

छात्र को अपने निकट पाकर पंचदेवों (अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र, इन्द्र) से प्रार्थना करता था कि हे देववृन्द इस माणवक को मुझसे मिलाओं हम दोनों बिना किसी विघ्न बाधा के मिले। इस प्रकार का गुरु शिष्य मिलन ही शिक्षा का प्रधान उद्देश्य था।[३] वीरमित्रोदय में उद्धृत एक आचार्य मत के अनुसार उपनयन का अभिप्राय अत्यन्त व्यापक है। वह केवल शिक्षा के ही अर्थ में सीमित नहीं है। वह कृत्य जिसके द्वारा व्यक्ति गुरु वेद यम नियम व्रत और देवता के समीप्य के लिये दीक्षित किया जाये वह उपनयन है।[४]

आधुनिकतम् विकास के इस युग में प्रस्तुत अर्थ एवं अभिप्राय पूर्णतः मानो लुप्त हो चुका है। सम्प्रति उपनयन शब्द का प्रयोग एक विशेष संस्कार के अर्थ में किया जाता है जो द्विजन्मा के विवाह के पूर्व किसी भी समय किया जा सकता है। इस अर्थ में इसे जनेऊ

---

१. उपनयन संस्कार हमारी सभ्यता संस्कृति गुरूशिष्य परम्परा का प्रतीक है। इस संस्कार ने ब्रह्मचर्य सत्यज्ञान सदाचार सदाशिक्षा आदि के गूढ़ रहस्य निहित है। उपनयन (यज्ञोपवीत) निर्माण में नौतन्तु एवं तीन दण्ड (गुण रखने में भी रहस्य है) तन्तुओं में नौ देवताओं के अधिष्ठान की चर्चा की गयी है। ओकारः प्रथमें तन्ती द्वितीयेऽग्नि स्तथैव च। तृतीये नर्णदेवत्य चर्तु सोमदेवता पञ्चमें पितृदैवव्यं षष्ठे चैव प्रजापतिः सप्तमे मारूतश्चैव अष्टमें सूर्य एवं च। सर्वे देवास्तु नवमे इत्येतास्तन्तु देवताः।।
वी.एस.आपते – सोशलएण्ड रिलिजस लाइफ गृह्यसूत्राण पृ. २०२

२. याज्ञवल्यक्य स्मृति ११४ पर अपराकी की व्याख्या।

३. वैदिक संहिता में नारी – डॉ. मालती पृ. ४८६

४. गुरोर्व्रतानां वेदस्य ममस्य नियमस्य च। देवतानां समीपं का मेनासौ नीयते द्विजः। भारूचि वी.मि.सं. भाग १ पृ. ३३४

कहा जाता है। जिसका अभिप्राय उस संस्कार से है जिसमें बालक को यज्ञोपवीत पहनाया जाता है, आधुनिक समय में उपवीत सूत्र ही पहनाया जाता है जो कि वैदिक् काल में यज्ञ के समय धारण किये जाने वाले उत्तरीय का स्थानापन्न है। आधुनिक जीवन में उपनयन संस्कार का अर्थ द्वितीय जन्म अर्थात् नवजीवन का प्रतीक बन गया है।[१]

प्रयोजन

इस संस्कार का मूल प्रयोजन शिक्षा था और छात्र को आचार्य के समीप ले जाने का कर्मकाण्ड गौण। याज्ञवल्क्य के अनुसार उपनयन का सर्वोच्च प्रयोजन वेदों का अध्ययन करना है। महाव्याहृतियों से शिष्य का उपनयन कर उसे वेद आचार और शील (शौच) की शिक्षा देनी चाहिये। परन्तु आगे चलकर संस्कार के कर्मकाण्ड का अनुष्ठान और व्रतादेश संस्कार के प्रधान प्रयोजन हो गये और शिक्षा गौण। गृह्यसूत्रों के अनुसार जब उपनयन एक विद्या संस्कार था उस समय आचार्य द्वारा प्रदत्त व्रतादेश गौण था किन्तु जब इसे वैदिक संस्कार का रूप प्राप्त हुआ तो संस्कार का कर्मकाण्ड ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण बन गया।

आयु

गृह्यसूत्रों में प्रतिपादित तथा परवर्ती आचार्यो द्वारा अनुमोदित साधारण नियम यह था कि ब्राह्मण का उपनयन आठवे, क्षत्रिय का ग्यारहवें और वैश्य का बारहवें वर्ष करना चाहिये।[२] ब्राह्मण, क्षत्रियों और वैश्यों की सावित्री क्रमश: आठ, ग्यारह और बारह अक्षरों की होती है। अत: ब्राह्मणों ने उन्हीं के आधार तीन उच्चतर वर्णो के

---

१. हिन्दू संस्कार – राजबली पाण्डेय।

२. पा.गृ.सू. २१२, आ.गृ.सू. १.१९, शा.गृ.सू. २.१० बै.ग्र.सू. ३.२.५, आश्व.गृ. सू. २/११ गो.गृ.सू. १/ मनु स्मृ. २.३६ याज्ञवल्क्य स्मृति१.११

उपनयन की आयु क्रमशः आठ, ग्यारह, बारह निश्चित कर दी है।[१] इस का उपयुक्त आधार यह प्रतीत होता है कि उपनयन किया जाना असुविधाजनक नहीं था क्योंकि उन्हें शिक्षा प्राप्त के लिये घर नहीं त्यागना पड़ता था। क्षत्रियों और वैश्यों की स्थिति इससे भिन्न थी उन्हें शिक्षा के लिये अपने माता-पिता से अलग होना पड़ता था। अतः बहुत छोटी आयु में माता-पिता से पृथक होने पर बालकों को कष्ट होना स्वाभाविक था अतः संस्कार की उच्चतर आयु के निर्धारण में अन्य कारण का भी सक्रिय हाँथ रहा। उपनयन के साथ आरम्भ होने वाली ब्राह्मणों की शिक्षा मुख्यतः धार्मिक एवं पौरोहित्य की शिक्षा थी जिसके पाठ्यक्रम में केवल वेद व उससे सम्बन्ध अन्य विषयों का समावेश था। ब्राह्मण छोटी अवस्था में ही न विषयों का अध्ययन आरम्भ कर देता था क्योंकि उसका भविष्य दैनिक कृत्य पर निर्भर था किन्तु क्षात्रियाँ और वैश्यों के व्यवसाय इससे भिन्न थे निःसन्देह साहित्यिक शिक्षा के माध्यम से जातीय संस्कृति व सभ्यता की रक्षा करना भी उनका कर्तव्य था किन्तु उन्हें क्रमशः युद्ध कला वाणिज्य प्रशासन और बुद्धि में विशेष कौशल अर्जन करना पड़ता था। अतः क्षत्रिय और वैश्य अपनी साहित्यिक शिक्षा कुछ विलम्ब से प्रारम्भ करते थे। क्योंकि उन्हें ब्राह्मण विद्यार्थियों के लिये निर्दिष्ट पाठ्यक्रम का अध्ययन अपेक्षित था। कुछ विशिष्ट गुणों की प्राप्ति के लिये

---

१. ब्रह्मणादे वर्णसम्बन्धिनां छान्दसां पादाक्षर सख्यैं उपनयनस्य विधिः मनु.स्मृ. ३.२६
मेधातिथि पर भाष्य
मनुस्मृति में आयु के विषय में कहा गया है कि ब्रह्मवर्चस् की कामना से ब्राह्मण का पाँचवे वर्ष, बलकामी क्षत्रिय का छठे वर्ष और सांसारिक अभ्युदय के इच्छुक वेश्य का उपनयन आठवें वर्ष में होना उचित है। आपस्तम्ब ने यही बात दूसरे रूप में कही है। तदनुसार ब्रह्मसर्चसकामी का सातवें वर्ष दीर्घायुष्य कानी का आठवें वर्ष तेजोकामी का १०वें वर्ष अन्नाद्यकामी का ११वें वर्ष ओर इन्द्रिय तथा पशु समृद्धि की अभिलाषा करने वाले का उपनयन १२वें वर्ष में होना चाहिये। पा.गृ.सू. पृ. १०२ पर टिप्पणी

सातवें दीर्घायुष्य के लिये आठवे, ऐश्वर्य के लिये नवे, भोजन के लिये दसवें, पशुओं के लिये बारहवे, शिल्प कौशल के लिये तेरहवे, तेजस्विता के लिये चौदहवें, बन्धु बन्धुओं के लिये पन्द्रहवें और सभी गुणों के लिये सोलहवें वर्ष, में उपनयन करना चाहिये।[१] मनु ने कहा है ब्रह्मवर्चस की प्राप्ति के लिये इच्छुक ब्राह्मण का पाँचवें बल के लिये क्षत्रिय का छठे और ऐश्वर्य के इच्छुक वैश्य का उपनयन संस्कार आठवें वर्ष करना चाहिए।[२]

परन्तु उक्त विकल्प काल्पनिक प्रतीत होता हैं। दीर्घकाल में उपनयन सम्बन्धी धारणा ने हुये परिवर्तन पर ध्यान देने पर उनकी मुक्ति मुक्तता स्पष्ट हो जाती है। आरम्भ में उपनयन प्राथमिक शिक्षा का सूचक था।

अतः उपनयन के लिये छोटी आयु को प्राथमिकता दी जाती थी। इसके लिये शिक्षा का सूचक न रह गया और माध्यमिक शिक्षा आरम्भ करते समय निर्धारित कर दी गयी। यद्यपि सदैव विद्यार्जन के लिये उपयुक्त अवस्था का ध्यान रखा गया। अवस्था ऐसी होनी चाहिये कि विद्यार्थी का मस्तिष्क गृहणशील हो तथा अध्ययन के लिये पर्याप्त समय मिल सके। उपनयन संस्कार की अन्तिम सीमा ब्राह्मण के लिये सोलह, क्षत्रिय के लिये बाईस और वैश्य के लिये चौबीस वर्ष की आयु थी।[३]

अब उपनयन संस्कार को शारीरिक संस्कार का स्वरूप प्राप्त हो गया तो चाहे कितना विलम्ब से हो। संस्कार का अनुष्ठान करना अनिवार्य माना जाने लगा। इसके मूल में निहित प्रयोजन समाज के समस्त युवकों को शिक्षित व जातीय संस्कृति से परिचित और

---

१. बौ.गृ.सू. २.५.५

२. ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्य विद्रस्य पञ्चमें। राजो बलार्भिनः षष्ठे वैश्यस्याघ्यर्थिनीअष्टमे। म.स्मृ. २.३७

३. आषोऽशाद्वर्षाद् ब्राह्मणस्यानतीतः कालो भवति। पा.गृ.सू. २/५/३६ पृ. २६७
आद्वाविघ्न्शाद् राजन्यस्य। वही २/५/३७
आचतुर्विघ्न्शाद् वैश्यस्य। वही २/५/३८

परिष्कृत करना था। ब्राह्मण के लिये उपनयन की अवस्था अपेक्षाकृत अल्प थी क्योंकि वह आर्य धर्म और संस्कृति का संरक्षक तथा आर्य जाति का विद्यागुरु था। क्षत्रियों और वैश्यों का उपनयन इससे उच्चतर अवस्था में किया जा सकता है क्योंकि वे धार्मिक शिक्षा की प्राप्ति में उतने उत्साही नहीं थे। चौबीस वर्ष की अवस्था अन्तिम सीमा थी क्योंकि यह साधारणतः विवाह के लिये उपयुक्त मानी जाती थी। द्विजों का उपनयन विवाह से पूर्व किसी समय करना अनिवार्य था।

उपनयन मूहुर्त

संस्कार सम्पन्न करने के लिये कोई शुभ समय नियम कर लिया जाता था। साधारणतः उपनयन उस समय होता था जब सूर्य उत्तरायण में रहता था।[1] किन्तु वैश्य बालकों के लिये दक्षिणायन भी विहित था।[2] विभिन्न वर्णो के लिये विभिन्न ऋतुयें निश्चित थी। ब्राह्मण का उपनयन वसन्त में, क्षत्रिय का ग्रीष्म में, वैश्य का शरद ऋतू में तथा रथकार का उपनयन वर्षा ऋतु में होता था।[3] ये विभिन्न ऋतुयें विभिन्न वर्णो के स्वभाव तथा व्यवसाय का प्रतीक थी। ग्रीष्म की उष्णता क्षत्रिय की वीरता तथा उत्साह की प्रतिनिधि था। वर्षा का शान्तकाल रथकार की सुविधा का द्योतक था। बाद में आचार्यो ने विभिन्न मासों के साथ भिन्न--भिन्न गुणों का योग कर दिया जिस बालक का उपनयन माघ मास में किया जाता है वह समृद्ध होता है। जिसका उपनयन फाल्गुन मास में होता है वह बुद्धिमान होता है। चैत्र मे उपनीत होने पर वेदों में निष्णात तथा पारंगत होता है। वैशाख में उपनयन करने पर समस्त सुख भोगों से सम्पन्न, ज्येष्ठ में प्राज्ञ तथा श्रेष्ठ और आषाढ़ में शत्रुओं का महान विजयी तथा विख्यात महापण्डित होता है।[4]

---

१. पा.गृ.सू. २१२ आश्व.गृ.सू. १.१९

२. दक्षिणे नु विशां कुर्यात् – वृहस्पति – वी.मि.सं. भाग १ पृ. ३४५

३. बसन्ते ब्राह्मणमुपनयति ग्रीष्में राजन्यं शरदि वैश्यं वर्षासु रथकारमिति। बौ.गृ.सू. ११.५.६

४. माघे मासि महाधनो धनपतिः प्रज्ञायुतः फाल्गुने मेधावी भवति व्रतोपनयने चैत्रे च वेदान्तितः वैशाखे निखिलोपभोग सहितो ज्येष्ठे वरिष्ठो बुध-स्त्वाषोद सुमहाविपक्ष विजयी ख्यातो महापण्डित। राजमार्तण्ड वी.मि.सं. भाग१ पृ. २५४

संस्कार के लिये शुक्ल पक्ष की प्राथमिकता दी जाती थी। क्योंकि वह भी सामूहिम समारोह के लिये आनन्दमयी अवसर था तथा प्रकाश ज्ञान संस्कार के लिये शुक्लपक्ष की प्राथमिकता दी जाती थी, क्योंकि वह किसी भी सामूहिक समारोह के लिये आनन्दमयी अवसर था तथा प्रकाश ज्ञान और विद्या का प्रतीक माना जाता था। अध्याय, पर्व, अशुभ समय तथा प्राकृतिक असाधारण अथवा कोप के दिन वर्जित थे।[१]

आयोजनायें

संस्कार सम्पन्न होने के पूर्व उपनयन के लिये एक मण्डप का निर्माण किया जाता था।[२] सर्वाधिक शुभ देवता गणेश की आराधना तथं श्री लक्ष्मी धात्री मेधा, पुष्टि श्रद्धा और सरस्वती आदि अन्य देवियों का पूजन किया जाता था। उपनयन से पूर्व रात्रि की पूर्ण मौन रहकर व्यतीत करनी होती थी। यह एक रहस्यपूर्ण विधि थी जो बालक को द्वितीय जन्म के लिये प्रस्तुत करती थी।

कौपीन[३]

बालक को विशेष रूप से सामाजिक शिष्टाचार का पालन और अपनी शालीनता तथा आत्मसम्मान का निर्वाह करना था। तब बालक आचार्य के निकट जाता और ब्रह्मचारी होने की अपनी इच्छा व्यक्त करता था। मैं यहाँ ब्रह्मचर्य के लिए आया हूँ मैं ब्रह्मचारी बनूँगा।[४]

---

१. अनध्याय का तात्पर्य अध्ययन से है क्योंकि यह अध्ययन से पूर्व किया जाता है। अध्ययन मध्य में नहीं – संस्कृम हिन्दी कोश वामन शिवराम आप्ते पृ. २८।

२. पञ्चतु बहिः शालायां विवाहे चूड़ाकरणे उपनयने केशान्ते, सीमन्तोन्नयन इति। पा.गृ.सू १४.०

३. कप+खञ – (१) योनि उपस्थ (२) गुप्तांग (३) गुह्येन्द्रिय (४) लंगोटी।
कोपीन शतखण्डजर्जस्तरं कन्यापुनस्तादृशी भृर्तः ३/१०१/४
पाप अनुचित कर्म पृ. ३०७ पर हिन्दी शब्दकोश – वामन शिवराम आप्ते।

४. पा.गृ.सू. २.२.१०

उसकी प्रार्थना स्वीकार कर आचार्य उसे इस मन्त्र के साथ वस्त्र देता था जिस प्रकार बृहस्पति ने इन्द्र को अमृतत्व का वस्त्र दिया उसी प्रकार मैं दीर्घायुष्य दीर्घजीवन शक्ति तथा तेज और ऐश्वर्य को यह वस्त्र तुझे देता हूँ।[१] हिन्दुओं की शिष्टाचार विषयक धारणा के अनुसार धार्मिक कुलों में समवेत होने पर शरीर का ऊपरी भाग वस्त्र से आवृत्त रहना चाहिये अत: उपनयन के अवसर पर ब्रह्मचर्य वाला उत्तरीय दिया जाता था। क्योंकि इस समय से उसका वास्तविक धार्मिक जीवन आरम्भ होता था। मूलत: इस अवसर पर दिया जाने वाला उत्तरीय मृगचर्म होता था। गोपथ ब्राह्मण से विदित होता है कि मृगचर्म आध्यात्मिक तथा बौद्धिक सर्वोच्चता का प्रतीक था।[२] गृह्यसूत्रों में वर्णित है कि ब्राह्मण का वस्त्र निर्मित क्षत्रिय का क्षौभ तथा वैश्य काकुतप अथवा कुशानिर्मित होना चाहिए।[३]

मेखला

आचार्य शिष्य के कटि प्रदेश के चारों ओर तीन चक्कर देकर मेखला बाँधता है। मंत्र का उच्चारण करता है। दुरित (पाप या निन्दा) को दूर रखती हुई शोधक की भाँति मनुष्यों को शुद्ध करती हुयी श्वास तथा प्रश्वास की शक्ति से स्वयं को आवृत्त करती हुई शक्ति के साथ भगिनी मेखला मेरे निकट आयी है।[४]

---

१. पा.गृ.सू. २.२.१०

२. उत्तनद, वाकद, ऊपर पहना जाने वाला वस्त्र हिन्दू शब्दकोश पृ. १८६

३. ब्राह्ममणक्षत्रियविशां ब्रह्मचारिणां यथासंख्यं शाण क्षौम विकानि वस्त्राणि परिधेयानि भवन्ति। पा.गृ.सू. २/५/१६ हरिहर भाष्य पृ. २६२

४. मूज की बनी करधनी को मेखला कहते है। इसके ब्रह्मचार्य उपनयन के समय और तपस्वी सदा धारण करते है। यह ऋण अथवा नैतिकता की रक्षिका मानी गयी है।

श्रृद्धाया: दुहिता तपसोऽधि जाता स्वसा ऋणीणा भूतकृता भूप अथर्व ६/१३३.४

ऋस्य गोप्ती तपश्चरित्री हनतरिक्ष: सहमाता: अराती:। सा मा समन्तमभि पर्येहि भद्रे धतस्ति सुभगे मा ऋपाम्।

मेखला का निर्माण तीन सूत्रों से किया जाता था जो इसका प्रतीक था कि ब्रह्मचारी सर्वदा तीन वेदों से आवृत्त है।[१] मेखला ब्रह्मचारी को यह भी सूचित करती थी कि वह श्रद्धा की तप से उत्पन्न दुहिता ऋषियों की भगिनी तथा भूतकृता है। वह उसके ऋत (व्रत) के गोपन में समर्थ है तथा दुष्प्रभावों से वह इसकी रक्षा करेगी।[२] अलग-अलग वर्ण के लिये मेखला भिन्न-भिन्न होती है। ब्राह्मण की मेखला मूँज की[३], क्षत्रिय की धनुष की प्रत्यंचा की मेखला धारण करे।[४] वैश्यकुमार को धनुष की डोरी की मेखला धारण करनी चाहिए।[५]

बालक के कटिप्रदेशों पर मेखलाबन्धन के लिये आचार्य मन्त्र का उच्चारण करता है शोभन वस्त्र धारण किये हुए नित्य वरुण यह ब्रह्मचारी इस शरीर को प्राप्त हुआ है वह बढ़ता हुआ उन्नत होता है।

मेखला श्रद्धा की कन्या तप से उत्पन्न ऋषियों की बहिन तथा भूवो (जीवधारियों की) उत्पादिका है। वह ऋत् सुव्यवस्था, की श्रखा करने वाली तप का आचरण करने वाली राक्षसों का हनन करने वाली। शत्रुओं का दमन करने वाली है। वह मुझे धारण करने वाले की सम्यक रक्षा करे और कभी अप्रसन्न न हो। प्राकृतिक वातावरण में रहने वाले वटुक और तपस्वियो को स्फुर्ति देने और रोगों से बचाने में मेखला अद्भुत समर्थ होती है। इसीलिये इसे मन्त्र में ऋषियों की बहिन (स्वसा देवी सुभगा मखलेय्म) कहा गया है। हि. धर्मकोश पृ. ५२५

१. वेदत्रयोवाव्रतोऽहमिति मन्यते स द्विव:।। आश्व.बी.मि.स. भाग १ पृ. ४३२

२. श्रद्धाय दुहिता तपसोऽधिजाता स्वसा ऋषीणां भूतकृता बभूव। अ.वे. १३३.४

३. मुज्ज: शरस्तन्मयी मौञ्जी मेखला ब्राह्मणस्य ब्रह्मचारिणे भवति। पा.गृ.सू. २/५/२१ पृ. २६३

४. धनुर्ज्या धनुषश्चापस्य ज्यागुण: मेखला क्षत्रियस्य ब्रह्मचारिणो भवति। वही २/५/२३

५. मुर्करिति तृणविशेषरत्तन्मयी मौर्वी मेखला वैश्यस्य ब्रह्मचारिणो भवति। वही २/५/२३ पृ. २६४

उसे बुद्धिमान क्रान्तिदर्शी विद्वान अपनी शोभन बुद्धि के द्वारा एकाग्र मन से देवयोग्य कर्म करते हुये उन्नति मोक्ष प्राप्त करवाते हैं।[१]

अजिन

ब्रह्मचारी को अजिन दिया जाता था। "अजिन" शब्द का अर्थ "मृग अथवा बकरे" आदि पशुओं की चर्म से है। सर्वप्रथम अजिन का व्यवहार उत्तरीय के रूप में किया जाता था। किन्तु आगे चलकर इसका स्थान कपास ने धारण कर लिया। भिन्न-भिन्न वर्णों के लिए भिन्न-भिन्न अजिन विहित थे। ब्राह्मण का उत्तरीय कृष्णमृग चर्म का होना चाहिए। राजन्य का अजिन उस मृग चर्म का होना चाहिए जिसके शरीर पर छोटी छोटी बुंदकी हो।[२] और वैश्य का बकरे अथवा गो चर्म[३] का अथवा यदि उपरिविहित प्रकार के उत्तरीय उपलब्ध न हो सके तो सभी को गो चर्म धारण करना चाहिए।[४] क्योंकि वस्त्र के समस्त प्रकारों में उसका स्थान सर्वप्रथम है। गोपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि मृगचर्म वर्चस्व तथा आध्यात्मिक सर्वोच्चता का प्रतीक है। इसे धारण करते समय ब्रह्मचारी यह अनुभव करे कि उसे आध्यात्मिक तथा बौद्धिक दृष्टि से ऋषि का पद प्राप्त करना है।

यज्ञोपवीत

मेखला धारण करने के पश्चात् ब्रह्मचारी को उपवीत सूत्र दिया जाता था जो उपनयन संस्कार का महत्वपूर्ण कृत्य था। यह बालक को दिये जाने वाले उत्तरीय का पूर्वरूप था। जिससे उपवीत सूत्र का जन्म हुआ। धर्मशास्त्रियों के अनुसार ब्राह्मण को कपास का, क्षत्रिय को सन

---

१. एणी हरिणी तस्या इदमैणेयं चर्म उत्तरीयं ब्रह्मणस्य ब्रह्मचारिणो भवति। वही २/५/१७ पृ. २६२

२. रुरूमृगविशेषः चित्रमृग अजिनं रौखं राजन्यस्य क्षत्रियोयस्योत्तरीयं भवति। वही २/५/१८

३. अजस्य तस्तस्येदमाजम् अजिनं कृत्तिः वैश्यस्य उत्तरीयं भवति अथवाप गव्यं गोः इदं गव्यमजिनं वैश्यस्य उत्तरीयं भवति। वही २/५/१९ पृ. २६३

४. गव्यं हि अजिनानां प्रधानम् ऐणेयाद्यजिन प्रकृतीनामेष्यादीनां गोः प्राधान्यं मतः। यद्धा गणयस्य चर्मणः पुरुषसम्बन्धित्वेन प्रधानत्वात् तथा च श्रुतिः तेऽवच्छाय पुरुषं गण्येतां त्वचनमदुधुरिति। वही २/५/२० पृ. २६३

का तथा वैश्य को भेड़ के ऊन का उपवीत धारण करना चाहिये।[१] ब्राह्मण श्वेत रंग का, क्षत्रिय लाल रंग का तथा वैश्य पीला रंग का उपवीत धारण करता था। यह रंग भेद वर्णो के मन के रंग का द्योतक था। आधुनिक काल में वैश्य का पीला रंग ही व्यापक रूप से ग्रहण कर लिया गया है।

यज्ञोपवीत की प्रतीकात्मकता पर विचार करते हुये डॉ. पाण्डेय का कथन है उपवीत को ब्राह्मण कुमारी काटती है और ब्राह्मण द्वारा उसमें ग्रन्थि दी जाती है। उपवीत धारण करने वाले व्यक्ति के पूर्वजों की संख्या के अनुसार ग्रन्थियाँ दी जाती है इसकी लम्बाई मनुष्य की चार उंगलियों की चौड़ाई की ९६ गुनी होती है जो उसकी ऊँचाई के बराबर है। चार उंगुलियों चार अवस्थाओं की प्रतिनिधि है[२] जिनका अनुभव मनुष्य की आत्मा समय समय पर करती है। उपवीत के प्रत्येक सूत्र के तीन धागे सत्व, रजस, तमस गुणों का प्रतिनिध करते हैं। तीनों सूत्र एक ग्रन्थि द्वारा परस्पर बाँध दिये जाते हैं जो ब्रह्मग्रन्थि कहलाती है तथा जो ब्रह्म विष्णु और शिव का प्रतीक है। इस बात का विशेष ध्यान रखा जाता था कि सूत्र का दोहरा भाग ऊपर की ओर रहे इसका प्रयोजन मनुष्य में सत्य गुण की प्रधानता रहे।[३]

यज्ञोपवीत के विषय में स्मृर्थ्य सार में भी कहा गया है[४] ब्रह्मचारी को यज्ञोपवीत धारण करते समय आचार्य मन्त्र का उच्चारण

---

१. वासासि शाणक्षौमाविकानि ब्राह्मणक्षत्रियविशां। पा.गृ.सू. २/५/१६ डॉ. ओमप्रकाश पाण्डेय पृ. ११२
कार्यासमुपवीतं स्याद् विस्योहर्व वृतं त्रिवत् शाणसूत्रमयं राज्ञो वैशस्याविक सूत्रजम्। मनुस्मृति २४४

२. चार अवस्थाये – जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय

३. हिन्दू संस्कार – डॉ. राजबली पाण्डेय – पृ. १७०

४. कार्यासक्षौमगोवालशाणवल्कतृणादिकम्। यथा संभवतो धार्यमुपवीतं द्विजातिभिः।। शुचौ देशे शचिः सूत्रं सहताङगुलिमूलके। आवेष्ठय षण्णवत्या तत्रिगुणीकृत्य यत्नतः।। अब्लिङगकेस्त्रिभिः सम्यक् प्रशाल्योर्ध्ववृतं तु तत्। अप्रदक्षिणामामृतं सवविया त्रिगुणीकृतम् अधः प्रदक्षिणावृतं समं स्यान्नवः सूत्रकम्। त्रिरोवेष्टय दृढ़ बद्धवा हरिब्रह्मेश्वरान्नमेत्। स्मृंत्यर्थसार

करता है जिसमें बालक के आयुष्य बल तथा तेज के लिये प्रार्थना की गयी है।[१]

गृहस्थ को दो उपवीत धारण करने का विशेषाधिकार है। एक स्वयं के लिए तथा दूसरा पत्नी के लिये। ये इस प्रकार पहना जाता है कि बाये कंधे के ऊपर से दाहिने पार्श्व में लटकता रहे।[२]

दण्ड

आचार्य विद्यार्थी को एक दण्ड भी देता था।[३] जिसे वह इस वचन के साथ स्वीकार करता था मेरा दण्ड जो मुक्त वायुमण्डल में भूमि पर गिर गया मैं दीर्घायुष्य, वर्चस्व तथा शुचिता के लिये पुनः ग्रहण करता हूँ। कतिपय आचार्यो के अनुसार ब्रह्मचारी को दण्ड उस मन्त्र के साथ ग्रहण करना चाहिये जिसका उच्चारण दीर्घ सत्र के आरम्भ में दण्ड ग्रहण करते हुए किया जाता था।[४] ब्रह्मचारी को दण्ड प्रदान कर वेदों की रक्षा का कर्तव्य सौंप दिया जाता था। मनुस्मृति में दण्ड को देवता का रूप दिया गया है। जिसका रंग केवल काला एवं आँखे लाल है। जिसे प्रजापति ने धर्म के अवतार एवं अपने पुत्र के रूप में जन्म दिया। दण्ड का प्रयोजन केवल मानवीय शत्रुओं से ही नहीं भूत प्रेतों तथा दुष्ट शक्तियों से भी विद्यार्थी की रक्षा करना होता था[५] दण्ड के काष्ठ का विशेष महत्व होने के कारण समस्त वर्ण अलग-अलग प्रकार के दण्ड धारण करते थे। ब्राह्मण का दण्ड पलाश

---

१. यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजावतेर्यत् पुरस्तात आयुष्मग्रायं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीत बलमस्तु तेजः।। पा.गृ.सू. २/२/१३

२. हिन्दू संस्कार – डॉ. राजबली पाण्डेय, पृ. १७०

३. दण्डं प्रयच्छति। तं प्रतिगृहाणाति। पा.गृ.सू. २/२/१०-११ पृ. ९८

४. दीर्घसंत्रं ता एष उपैति यो ब्रह्मचर्यमुपैतीव्यारम्य ब्रह्मचर्यस्य दीर्घसूत्रपत्प्रति पादनात् अथ दंड प्रदानम्। पा.गृ.सू. हरिहर भाष्य – पृ. १००

५. पा.गृ.सू. २.२.२० पृ. ९९

दण्डः शस्ति प्रजाः सर्वा दण्डः एवाभिरक्षति दन्डः सप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्म विदुबुर्धाः। मनु.

का होता था, क्षत्रिय उदूम्बर (गूलर) तथा वैश्य का विल्व वेल का होता था।[१]

दण्ड की लम्बाई भी विद्यार्थी के वर्ण के अनुसार नियत थी। ब्राह्मण का दण्ड उसके केशों के और क्षत्रिय का दण्ड ललाट को स्पर्श कराता है तथा वेश्य का दण्ड उसकी नासिका जितना ऊँचा होता था।[२] मनु का मत है कि दण्ड ऋजु आव्रण सौम्य दर्शन, अनुद्वेग कर तथा अग्नि आदि से न जला हुआ होना चाहिये।[३] आजकल दण्ड विद्यार्थी को केवल नाम मात्र के लिये दिया जाता है। इसका कारण यह है कि आधुनिक काल में दण्ड की कोई व्यवहारिक उपयोगिता नहीं रही है क्योंकि उपनीत बालक से अपने घर के बाहर वन्य गुरुकुलों अथवा आश्रमों को जाने की अपेक्षा ही नहीं की जाती है।

प्रतीकात्मक कृत्य

प्राचीनकाल में विद्यार्थी जीवन की आवश्यकताओं से बालक को पूर्णत: सुसज्जित होने पर आचार्य द्वारा ब्रह्मचारी को अपने संरक्षण में लेने के पूर्व कतिपय प्रतीकात्मक कृत्य सम्पन्न किये जाते थे।

प्रथम कृत्य इस प्रकार था – आचार्य अपनी बंधी हुई अंजलि में जल लेकर विद्यार्थी की बंधी हुई अंजली में एक मंत्र के साथ छोड़ देता था यह शुचित्व (पवित्रता) का प्रतीक था।[४] इसके पश्चात् मंत्र

---

१. पलाशो ब्रह्मणस्य दण्ड:, वैल्वो राजन्यस्य औदुम्बरो वैश्यस्य।
पा.गृ.सू. २/५/२५-२६

२. केशसम्मितो ब्राह्मणस्य, ललाट सम्मित: क्षत्रियस्य, घ्रान सम्मितो वैश्यस्य। वही

३. ऋजुवस्ते तु सर्वे स्युरव्रणा: सौम्यदर्शना:। अनुढ़ेग करामृणां सत्वचोऽनाग्निदृत्प्रिता:। मनुस्मृति – पृ. २४७

४. शुचित्वसिद्धये तस्य सावित्री गृहणो गुरु:
अभिमन्त्र्य यथावारि सिञ्चयेव तदञ्जलि।। आश्वलायनाचार्य वी.मि.स. भाग १ पृ. ४२६
माणवकस्याञ्जलिं आचार्याञ्जलिरथाभिरद्भि: – आपोहिष्ठेत्यादिका भिस्तृिसृभिऋग्भि: पूरयति।
पा.गृ.सू. २/२/१४ पृ. २४२

के साथ आचार्य विद्यार्थी को सूर्य दर्शन कराता था।[१] विद्यार्थी का जीवन अनुशासनपूर्ण था जिसके सूक्ष्मतम विषय भी नियम में आबद्ध थे। सूर्य उस ईश्वरीय विद्यार्थी के जीवन का प्रतिनिधि है जो सम्पूर्ण विश्व का नियमन करता है विद्यार्थी सूर्य से अपने कर्तव्य तथा अनुशासन के अविचलित रूप से पालन की शिक्षा ग्रहण करता था।

हृदय स्पर्श

इसके पश्चात् आचार्य शिष्य के दाहिने कन्धे की ओर पहुँचकर में अपने व्रत में तेरा हृदय धारण करता हूँ तेरा चित्त मेर चित्त का अनुगामी है।[२] स्तुतियों में ईश्वर अथवा विद्या के अधिदेव्रता से आचार्य और शिष्य के हृदय को संयुक्त करने को जाती थी[३] इस प्रार्थना का प्रयोजन इस तथ्य पर बल दिया था कि आचार्य और शिष्य के बीच औपचारिक व कृतिम नहीं अपितु यथार्थ व पवित्र सम्बन्ध है। इस तथ्य की अनुभूति आवश्यक थी। विद्यार्थी तथा आचार्य के बीच पूर्ण एक्यभाव गम्भीर सहानुभूति, हार्दिक सम्बन्ध तथा आदान-प्रदान के बिना भिक्षा की प्रगति सम्भव ही न थी।

आचार्य द्वारा विद्यार्थी का स्वीकरण

आचार्य द्वारा विद्यार्थी की वास्तविक स्वीकृति का कृत्य आरम्भ होता था। आचार्य ब्रह्मचारी का दाहिना हाँथ पकड़कर नाम पूँछता था।[४] आचार्य पुनः प्रश्न करता था कि वह किसका शिष्य है[५] शिष्य उत्तर देता है[६] आपका आचार्य इसके उत्तर में संशोधन करते हुए कहता था

---

१. सूर्यमादित्यमुदीक्षयति अवलोकनं कारयति। वही २/२/१५

२. आचार्यो कुमारस्य दक्षिणासमधि दक्षिण स्कन्धोस्योपरि स्वीयं दक्षिणहस्तं नीत्वा हृदयं वक्षं मालभते स्पृशति। वही २/२/१६ पृ. २४३

३. मम व्रते ते हृदयं दधामिति मन चित्तमनुचित्तं ते अस्तु
मम वाचमेकमना णुषस्व वृहस्पतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यमिति। वही २/२/१६

४. दक्षिणं हस्तं गृहोत्वा धृत्वा को नामासीत्यात ब्रवीति। पा.गृ.सू. २/२/१६ पृ. २४३

५. कस्य ब्रह्मचार्यसीति। वही २/२/१९

६. भवतइति माणवकेनोच्यमाने। वही।

कि तू इन्द्र का ब्रह्मचारी है अग्नि तेरा आचार्य है मैं तेरा आचार्य हूँ[१] इस प्रकार आचार्य अध्यापन तथा रक्षा के लिये विद्यार्थी को अपने संरक्षण में ग्रहण करता था किन्तु यह विचार करके कि वह सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान नहीं है वह उसे देवताओं तथा सम्पूर्ण प्राणियों की रक्षा के लिये सौंप देता था जिनसें प्रत्येक स्थान पर उसकी सुरक्षा के लिये प्रार्थना की जाती थी मैं तुझे प्रजापति के संरक्षण में देता हूँ। तूझे मैं सविता के संरक्षण में देता हूँ। तुझे द्यावापृथिवी की शरण में देता हूँ। मैं रक्षा के लिये अखिल भूतो के संरक्षण में तुझे देता हूँ।[२]

सावित्री मंत्र का उपदेश बालक के द्वितीय जन्म का सूचक है– क्योंकि आचार्य बालक का पितृस्थानीय और सावित्री मातृस्थानीय मानी जाती थी। शतपथ ब्राह्मण[३] में कहा गया है कि आचार्य स्वयं बालक को गर्भ में धारण करता है शिष्य पर अपना दाहिना हाँथ रखने से आचार्य उसका गर्भी हो जाता है। तृतीय रात्रि में वह सावित्री सहित ब्राह्मण के रूप में जन्म ग्रहण करता है। विद्यार्थियों का प्रथम कर्तव्य अपनी बुद्धि को विकसित तथा प्रेरित करना था।

आवहनीय अग्नि

गायत्री मंत्र के उपदेश के पश्चात् यज्ञीय अग्नि को प्रथम बार प्रदीप्त करने तथा उसमें आहुति डालने का कृत्य किया जाता था। इस अवसर पर उच्चारित मन्त्र शैक्षणिक दृष्टि से नितान्त महत्त्वपूर्ण थे। विद्यार्थी अपने हाँथ से अग्नि के चारों ओर की भूमि को इस मंत्र के साथ स्वच्छ करता था – हे देदीप्यान अग्ने मुझे दीप्त प्रदान कर जिस प्रकार देवताओं के लिये यज्ञ की निधि का रक्षक है उसी प्रकार मुझे

---

१. इन्द्रस्थ ब्रह्मचार्यस्यग्निराचार्यस्तवाहमचार्य स्तव। वही २/२/१९–२०

२. प्रजापतये त्वा परिददामि, देवाय त्वा सवित्रे परिददाम्यदभ्यस्त्वौषधीभ्यः परिददानि धावापृथिवीभ्यां त्वा परिददामि विश्वेभ्यस्त्वा देवोभ्यः परिददामि, सर्वेभ्यस्त्वा भूतेभ्यः परिददाम्यरिष्टया इति। वही २/२/२१ पृ. २४४

३. आचार्यो गहर्भी भवति हस्तमाधाय दक्षिणन्हम्तीयस्या स जायते सवित्र्या मह‍ु. ब्राह्मण।
इति। श.ब्रा. ११/५/४.१२. पृ.११८०

भी मनुष्यों के लिये वेदों की निधि का रक्षक बनने की क्षमता प्रदान करे। इसके बाद इस प्रार्थना के साथ अग्नि में सामिदाधान करता था मैं उस प्रकार मैं उस जातवेदस अग्नि के लिये समिदा लाया हूँ जातवेद जिस प्रकार तू समिधा से समिद्ध है उसी प्रकार मैं अन्तर्दृष्टि से पूर्ण बनूँ अधीत अथवा पठित मुझे विस्मृत न हो। मैं तेज प्रकाश वर्चस्व से सम्पन्न बनूँ अन्न का भोग करूँ स्वाहा। यज्ञीय अग्नि जीवन तथा प्रकाश का द्योतक है जिनकी प्राप्ति के लिये विद्यार्थी प्रयत्नशील था।

भिक्षाचरण

इसके पश्चात्[1] विद्यार्थी भिक्षा माँगता था[2] यह कृत्य विद्यार्थी के जीवन पर्यन्त निर्वाह के प्रमुख साधन भिक्षा का विधिवत् आरम्भ था। उपनयन के दिन वह माता तथा अन्य सम्बन्धियों से भिक्षा माँगता था जो उसका प्रतिषेध न करें। ब्राह्मण ब्रह्मचारी अपनी प्रार्थना के आरम्भ[3] में क्षत्रिय मध्य[4] में वैश्य अन्त[5] में, गृहस्वामिनी के लिये "भवति" शब्द का प्रयोग कर भिक्षा माँगे। भिक्षा के इस कृत्य द्वार विद्यार्थी के मन पर यह तथ्य अंकित करने का प्रयत्न किया जाता था कि समाज की एक अवित्तीय स्थायी होने के कारण वह समाज से अपना पोषण लेना चाहिये जब तक वह उसका अर्जन करने वाला हो, सदस्य हो जाये। प्राचीन काल में इस प्रथा का ब्राह्मण तथा अन्य निर्धन विद्यार्थी विशेषत: अपनाते रहे होंगे किन्तु परवर्ती काल में कतिपय अपवादों को छोड़कर यह प्रथा प्रचलित नहीं रही।

---

१. अग्न्ये समिधमाहार्ष बृहते जातवेदसे यथा त्वमग्ने समिधा समिध्यसे एवमहमायुष मेधया, वर्चसा, प्रजया, पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन समिन्धे जीवपुत्रो ममाऽचार्यो मेधाव्यहमसान्य निराकरिष्णु र्यशस्वी तेजस्वी ब्रहतवर्चस्व्यन्नादो भूयास स्वाहेति। पा.गृ.सृ. २/४/३

२. भिक्षायर्यवरणं कर्तव्यमित्यर्थ:। पा.गृ.सू. २/५/१ पृ. २५८

३. भवत्पूर्वा ब्रह्मणो भिक्षेत्। वही २/५/२

४. भवन्मध्या राजन्य:। वही २/५/३

५. भवदन्त्यां वैश्य:। वही, २/५/४

नव युग का उदय

जिस समय उपनयन विद्यार्थी जीवन के आरम्भ में सम्पन्न करने वाला एक सजीव संस्कार था उस समय निश्चित ही इसके फलस्वरूप प्रभावकारी वातावरण उत्पन्न हो जाता रहा होगा। यह उपनीत बालक के जीवन में एक नवीन अध्याय के आरम्भ का सूचक था। बालक निरा शिशु नहीं रहता वह पूर्ण कठोर अनुशासन के जीवन में प्रवेश करता था। यह संस्कार इस तथ्य का प्रतीक था कि विद्यार्थी ज्ञान के असीमित पथ ाक पाथिक है। अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिये उनसे अपने निश्चय में पत्थर के समान दृढ़ता तथा शक्ति की अपेक्षा की जाती थी। आचार्य तथा उसके बीच पूर्ण से ऐकमत्य भी आवश्यक था। अपने लक्ष्य की प्राप्ति में समस्त देवों तथा भूतमात्र की सहायता का विश्वास दिलाया जाता था। संस्कार के उक्त प्रतीकों तथा भिक्षा के अनुरूप व्यवहार करनेपर उसका संसार के दायित्वों को वहन करने में समर्थ पूर्ण मनुष्य तथा एक सफल व्रिद्वान बनना निश्चित था।

उपनयन संस्कार सूत्रकाल से पूर्व अनिवार्य न होकर ऐच्छिक था तथा केवल कुछ सुसंस्कृत एवं पुरोहित परिवारों तक ही सीमित था जो अध्ययन के लिये उत्सुक होते थे शेष अनुपनीत ही करते थे।[१] धीरे-धीरे इसका महत्त्व इतना बढ़ गया है कि सर्वथा अयोग्य तथा अनपढ़ व्यक्तियों को भी उच्च वर्ग के इस चिह्न के द्वारा विवाह आदि की अनुमति दिलाने के उद्देश्य से इसकी अनिवार्यता पर बल दिया जाने लगा तथा अभक्ष्य से अपवित्र हुए व्यक्ति की पुनः शुद्धि के लिये उपनयन का आश्रय दिया जाने लगा।[२]

समावर्तन संस्कार

सूत्रकारों ने वेदाध्ययननन्तर ब्रह्मचारी के लिये एक व्रिशिष्ट स्नान क्रिया का विधान किया गया है। इसमें सर्वप्रथम अध्ययन के पश्चात्

---

१. हिन्दू संस्कार – डॉ. राजबली पाण्डेय – पृ. १८०

२. हिन्दू संस्कार – डॉ. राजबली पाण्डेय
वीरमित्रोदय संस्कार भाग-१ पृ. ५४५ पर यम और शाताम का संवाद।

गुरु को निमन्त्रित कर उनसे दक्षिणा माँगने की प्रार्थना की जाती[१] है। श.ब्रा. के अनुसार गुरु द्वारा आदेश मिल जाने पर स्नान किया जाता है उससे यह संस्कार वेदाध्ययन की समाप्ति पर किया जाता था। इसमें विशेष स्नान के विधान के कारण ब्रह्मचारी स्नातक कहलाता है इसका तात्पर्य है -- वेदाध्ययन के अनन्तर गुरुकुल से घर की ओर प्रत्यावर्तन[२] अपने ब्रह्मचर्य की अवधि में यह दिव्य सम्पर्क में निवास करता था तथा उसके चारों ओर दिव्य ज्योति व्याप्त होती थी। अतः साधारण जीवन के प्रति प्रत्यावर्तन के पूर्व उसके ब्रह्मचर्य कालीन दिव्य प्रभाव को दूर करना आवश्यक था अन्यथा वह दिव्य गुण को भ्रष्ट तथा ईश्वरीय रोष को अवसर प्रदान करता है।[३] जिस प्रकार यज्ञ के अन्त में यज्ञ करने वाला यज्ञीय स्नान अथवा अवभ्रथ करता था उसी प्रकार ब्रह्मचर्य रूपी दीर्घ सत्र के अन्त में ब्रह्मचारी का स्नान करना आवश्यक था। वह विद्या स्नातक जिसने विद्या में स्नान कर लिया है तथा व्रत स्नातक (जिसने अपने व्रतों में स्नान कर लिया) कहा जाता था।[४]

स्नातकों के प्रकार

मूलतः समावर्तन संस्कार केवल उन्हीं का किया जाता था जो अपने सम्पूर्ण अध्ययन की समाप्ति तथा अपने व्रतों को पालन कर चुकते थे। अर्थ को न समझते हुए तथा ब्रह्मचारी के लिये विहित आचार सम्बन्धी नियमों का पालन न करते हुये केवल मन्त्रों को कण्ठस्थ करने वाले तथा वेदपाठियों की समावर्तन का अधिकार नहीं था।[५]

---

१. न तावदनुपनीतः दीक्षयति ब्रह्मादीश्च इति। ब्रह्मो स्नातको वा निवृतिधिकारात् श.ब्रा. १२/१/१-१० पृ. २६७६

२. तत्र समावर्तनं नाम वेदाध्ययनान्तरं गुरुकुलात स्वगृहागमनम् वीमि.स. भाग-१ पृ. ५६४

३. एवं वर्तमानोऽमुत्राद्य वसत्यमुत्राद्य वसतीति हस्य स्नातकस्य कीर्तिभवति। पा.गृ.सू. २/५/३१ पृ. २६६

४. पा.गृ.सु. २/५

५. अन्यो वेदपाठी न तस्य स्नानाम्। मा.गृ.सू. १/२/३

गृह्यसूत्रों के मतानुसार स्नातकों के तीन प्रकार थे।[१] प्रथम प्रकार व्रत स्नातकों अथवा उनका जो अपना व्रत (ब्रह्मचर्य) तो पूर्ण कर चुकते थे[२] किन्तु विद्या पूर्ण नहीं कर पाते थे। द्वितीय प्रकार में विद्या स्नातकों की गणना थी जो सम्पूर्ण विद्या तो प्राप्त करते थे किन्तु जिनका ब्रह्मचर्य अपूर्ण रह जाता था।[३] तीसरे प्रकार में वे सर्वोत्कृष्ट विद्यार्थी आते थे जो अपना अध्ययन पूर्ण कर लेते तथा समस्त व्रतों का पालन करते थे।[४]

विवाह का अनुमति पत्र

जब उपनयन संस्कार के शिक्षा सम्बन्धी महत्त्व का अन्त हो गया तो संस्कार का मूल प्रयोजन भी समाप्त हो गया तथा न्यूनाधिक रूप में यह एक शारीरिक संस्कार अथवा विवाह के लिये एक प्रकार का अनुमति पत्र समझा जाने लगा। समावर्तन के पूर्व विवाह नहीं हो सकता था अत: विवाह से पूर्व इसका सम्पन्न आवश्यक था। आरम्भ में यह संस्कार उस समय किया जाता था जब युवक की शिक्षा समाप्त हो जाती थी इसके पश्चात् सामान्यत: विवाह होता था तत्काल नहीं। परन्तु परवर्ती काल में यह मत प्रचलित हो गया कि क्षणभर भी बिना आश्रम के नहीं रहना चाहिये। यदि स्नातक का विवाह न किया जाता तो कुछ दिन किसी विशिष्ट आश्रम के बिना व्यतीत करने के परिणाम स्वरूप वह पापी माना जाता। यह विवाह के एक दिन पूर्व सम्भवत: हरिद्राविधि के साथ सम्पन्न होता है।[५]

आयु

ब्रह्मचर्य की दीर्घतम अवधि ४८ वर्ष थी[६] जिसमें प्रत्येक वेद के अध्ययन के लिये १२ वर्ष का समय नियत था। अपेक्षाकृत अल्पतर

---

१. त्रय: स्नातका भवन्ति-विद्यास्नातको व्रतस्नातको विद्याव्रतस्नातक इति। पा.गृ. सू. २/५/२२ पृ.-२६६

२. समाप्य वेदसमाप्य व्रतं य: समावर्त्तते स विद्यास्नातक:। वही २/५/३३

३. समाण व्रतमसमाप्य वेदं य: समावर्तते स व्रतस्नातक:। वही २/५/३४

४. उभय समाण य: समावर्तते स विद्याव्रतस्नातक इति। वही २२५/३५

५. हिन्दू संस्कार – डॉ. राजबली पाण्डेय

६. ब्रह्मचर्य वाऽस्टाचत्वारि शकम्। वही २/६/२ पृ. २८५

अवधिं विद्यार्थी तथा उसके माता-पिता की परिस्थिति के अनुसार ३६-२४ या १८ वर्ष की मानी जाती थी।[१]

द्वितीय अवधि सर्वाधिक प्रचलित थी अतः अधिकांशतः शिक्षा २५ वर्ष की आयु में समाप्त हो जाती थी किन्त मध्ययुगीन लेखक बालक को शीघ्र ही विवाह करने की अनुमति देने के उद्देश्य से अन्तिम अवधि का समर्थन करने लगे। परन्तु आजकल समय का कोई बन्धन नहीं है। वेद बोधगम्य नहीं रहे शिक्षा का कोई नियत पाठ्यक्रम नहीं तथा साधारण साक्षरता भी विलास का विषय बन चुकी है। समावर्तन संस्कार महत्त्वहीन तथा उपनयन अथवा विवाह संस्कार मे समाविष्ट हो चुका है।

विधि-विधान

उस संस्कार के लिये कोई शुभ दिन चुन लिया जाता था। ब्रह्मचारी अपने को प्रातः काल एक कमरे में बंद रखना पड़ता था। भरद्वाज गृह्यसूत्र के अनुसार ऐसा इसलिये किया जाता था कि जिससे सूर्य स्नातक के उच्चतर तेज से अपमानित न हो क्योंकि वह स्नातक के ही तेज से प्रकाशित होता है। मध्यान्त में ब्रह्मचारी कमरे के बाहर आकर गुरु के चरणों में प्रणाम करता तथा कुछ समिधाओं द्वारा वैदिक अग्नि को अन्तिम आहुति प्रदान करता था[२] वहाँ जलपूर्ण आठ कलश रखे जाते थे।[३] यह संख्या आठ दिग्भागों की सूचक थी और इससे यह प्रतीत होता था कि समस्त दिशाओं से ब्रह्मचारी पर सम्मान तथा कीर्ति की वर्षा हो रही है। तब ब्रह्मचारी इन शब्दों के साथ एक पात्र से जल निकालता था जलों में रहने वाले तथा प्रच्छन्न आवृत्त प्रकाश की किरण मनोनाशक असहिष्णु कष्टदायी शरीर को ध्वंस करने वाले तथा अंगों को नष्ट करने वाले अग्नि का मैं त्याग करता

---

१. पा.गृ.सू. २/६

२. उपसङ्गृह्य गुरोः पादौपग्रहणं कृत्वा समिद्योऽभ्याधायाग्निपरिचरणं कृत्वा। पा.गृ.सू. २/६/९

३. स्वापितानामष्टानामुदकुम्भानां दक्षिणोत्तरायतानां पुरसतात्पूर्वस्यां दिशि आस्तीर्णेषु कुशेषु ब्रह्मचारी स्थित्वा उर्ध्वीभूय येऽास्वन्तुरग्नय इति। वही गदाधर भाष्य पृ. २८९

हूँ। वह दीप्तिमान अग्नि जिसे मैं गृहण करता हूँ ------ उसके द्वारा समृद्धि ऐश्वर्य पवित्रता तथा पवित्र तेज की प्राप्ति के लिये अभिषिक्त होता हूँ। अन्य उपयुक्त ऋचाओं के साथ वह अन्य कलशों से स्नान करता था ब्रह्मचारी का शरीर तपस्या और व्रत की अग्नि में तृप्त हो चुकता था।[१]

अतः गृहस्थ से सुखी जीवन के लिये उसे शीतलता की तथा जिसकी सूचना सहवर्ती ऋचाओं से मिलती थी।[२] इस गौरवमय स्नान के पश्चात् ब्रह्मचारी मेखला मृगचर्म तथा दण्ड आदि ब्रह्मचारी के समस्त वाह्य चिह्नों को जल में फेंक देता तथा एक नवीन कौपीन धारण करता था।[३] कुछ दधि और तेल का भोजन कर वह अपनी दाढ़ी केश तथा नखों को कटवाता और निम्नलिखित ऋचा के साथ उदुम्बर वृक्ष की टहनी से दन्तधावन करता था[४] अपने को भोजन के लिये प्रस्तुत कर यहाँ राजा सोम आया है।[५] ऐश्वर्य तथा भाग्य के द्वारा मेरे मुख को शुद्ध करेगा।[६] ब्रह्मचारी भोजन तथा वाणी में संयम के लिये अभ्यस्त था। अब वह संसार की अपेक्षाकृत अधिक पूर्ण तथा क्रियाशील जीवन के लिये उद्यत हो रहा था। सर्वप्रथम वह उसे

---

१. ये आप्स्वन्तरग्नयः प्रविष्टा गोहत उपगोहतो ममूखो मनोहास्खलो विरुजनस्तनूदूषुरिम्द्रियहा तान् विजहामियो से रोचनस्तमित गृह्यतामि इत्येकस्मादयो गृहीत्वा। पा.गृ.सू. २/६/१०

२. तेनाभिषिञ्चते-तेन मामभिषिञ्चामि श्रियै यशसै ब्रह्मणे ब्रह्मचर्यसायेति। वही २/६/११ पृ. २८९

येन श्रियमकृणुतां येनावमृशता सुराम् येनाक्ष्यावभ्यषिञ्चतां यद्वां तदश्विना यश इति। वही २/६/१२

आपोहिष्ठेति च प्रत्युचम्। वही २/६/१३

त्रिभिस्तृष्णीमितरै वही २/६/१४ पृ. २९.२८९

३. उदुत्तममिति मेखलामुन्मुच्य दण्डं निधाय वासोऽन्यत् परिधायादित्यमुपतिष्ठते। पा.गृ.सू. २/६/१५ पृ. २९०

४. दधि तिलान्वा प्राश्य जटालोभनखानि सह हत्यौदुम्बरेण दन्तान्धावेत। वही २/६/१७

५. सोमो राजाऽयमागमत्। वही

६. स मे मुखं प्रमार्क्ष्यते यशसा च भगेन चेति। वही

सुगन्धित जल से स्नान कराता था। उसके विभिन्न अंगों पर अवटन किया जाता था तथा इन्द्रियों की तृप्ति की इच्छा व्यक्त की जाती थी मेरे श्वास निः श्वासं को तृप्त कर मेरे नेत्रों को तृप्त कर मेरे कानों को तृप्त कर।[1]

ब्रह्मचारी अभी तक प्रक्षालित तथा अरजित वस्त्रों को धारण करता था और पुष्प तथा माला धारण करना उसके लिए निषिद्ध था। आभूषण अंजन कर्णपूर, उष्णीत, छत्र उपानत और तर्पण जिनका प्रयोग विद्यार्थी के लिये वर्जित था। अब उसे विधिवत् दिये जाते थे।[2] जीवन में सुरक्षा के लिये उसे बांस की छड़ी दी जाती थी। समान संरक्षकों से उपर्युक्त सभी वस्तुओं के जोड़ देने की आशा की जाती थी एक गुरु को दूसरा विद्यार्थी[3] को।

---

१. उत्साद्य पुनः स्नात्वाऽनुलेपनं नासिकाजोमुर्खस्य चोपमुह्णीते प्राणापानौ में तर्पय, चक्षुर्मे, तर्पय, क्षेत्रं में तर्पयति। पितरः शुन्धहवमिमि पाण्योखनेजनं दक्षिणामिविच्यानुलिप्य जपेत सुचक्षा अहमक्षीभ्यां भूयास सुर्वधामुखेन सुश्रुत्कर्णाभ्यां भूयासमिति। वही २/६/१९

(क) अलंकरणमसीति मन्त्रेण दक्षिणोत्तरयोः कर्णयोर्वेष्टको भूषणे प्रतिमन्त्रं प्रतिमुञ्चते परिधन्ते।

(ख) वृत्रस्ये त्यङक्तेऽक्षिणी। वही

(ग) रोचिष्णुरसीत्यनेन मन्त्रेण आत्मानं मुखप्रभृति शरीरमादर्शे दर्पणे प्रेक्षते पश्यति। वही।

(घ) छत्रं प्रतिगृह्याति-वृहस्पतेश्छ दिरसि पाप्मनो मामन्तर्धेहि
तेजसो यशसो माऽन्तर्धेहीति
प्रतिष्ठोस्थो विश्वतो मा पातमित्युपानहौ प्रतिमुञ्चते। वही पृ. २९७

२. नवीनं सदशं वासः वसनम् अरजकेन धौतं वास आच्छादयीत परिधार य। इति

३. विश्वाभ्यो मेत्यादिसर्वत इत्यन्तेन मन्त्रेण वैणवं वंशमयं दण्ड यष्टिमादत्ते गृह्याति वही २/६/३१

(१) आ.गृ.सू. ३.८

(२) बौ.गृ.सू. २.६

कतिपय लेखकों के अनुसार ब्रह्मण विद्यार्थी के लिये एक होम किया जाता तथा यह आज्ञा व्यक्त की जाती थी कि स्नातक को अध्यापन के लिये बहुसंख्यक विद्यार्थी प्राप्त होगें। तब गुरु विद्यार्थी को उच्च सम्मान का सूचक मधुपर्क प्रदान करता था जो राजा, आचार्य जमाता ऋत्विज तथा प्रियजनों के लिए विहित था।[१] अपनी नवीन वेषभूषा से अलंकृत होकर स्नातक विद्वानों के निकटतम समाज की ओर रथ अथवा हाथी पर आरूढ़ होकर जाता था।[२] वहाँ आचार्य उसका परिचय एक सुयोग्य विद्वान् के रूप में देता था। किन्तु कतिपय लेखकों के अनुसार संस्कार समाप्त होने पर स्नातक दिन भर सूर्य के प्रकाश से दूर तक तथा मौन रहता था। जब तक कि तारे न निकल आते यह कृत्य इस बात का प्रतीक था कि सम्भवतः वह अपने प्रकाश से सूर्य को लज्जित नहीं करना चाहता था। तब वह पूर्व तथा उत्तर की ओर जाता तथा दिशाओं नक्षत्रों तथा चन्द्र के प्रति सम्मान व्यक्त करता मित्रों से वार्तालाप करता तथा उस स्थान की ओर जाता था जहाँ उसे स्नातकोपयुक्त आदर प्राप्त होता।[३]

स्नातक को प्राप्त सम्मान

गृह्यसूत्रों में उद्धृत ब्राह्मण के एक वचन से विदित होता है कि स्नातक को एक महद्भूत अथवा शक्तिशाली व्यक्ति समझा जाता था।[४]

आजकल सम्पूर्ण संस्कार में एक विलक्षण संक्षेप की प्रकृति आ गयी है। समावर्तन शीघ्रता में या उपनयन अथवा विवाह के साथ सम्पन्न होता है अथवा केवल स्नान और व्यक्ति का अलंकरण ही उस विशद विधि के अवशेष रह गये हैं और वे भी उपयुक्त वैदिक मन्त्रों के बिना ही प्राप्त होते हैं।

---

१. षऽध्य्म भवन्ति आचार्या ऋत्विग्वैवाह्यौ राजाप्रियः स्नातक इति। वही १.३.१–२

२. आप.गृ.सू. १.११.५
आ.गृ.सू. ३.१.२६

३. गो.गृ.सू. ३.५.२१

४. हिन्दू संस्कार –डॉ. राजबली पाण्डेय – पृ. २०५

"विवाह"

विवाह मानव जीवन का एक आवश्यक एवं अपरिहार्य ऐसा संस्कार है जो समाज-निर्माण की एक आधार शिला है। विवाह के लिये ताण्डय ब्राह्मण में आया है कि स्वर्ग एवं पृथिवी में पहले एकता थी किन्तु वे पृथक्-पृथक् हो गये तब उन्होंने कहा आओ हम लोग विवाह क़र लें। हम लोगों में सहयोग उत्पन्न हो जाये।[१]

विवाह समस्त गृह्यसूत्रों का उद्गम अथवा केन्द्र है वे पहले से ही यह मानकर चलते है कि साधारण परिस्थितियों में समाज का प्रत्येक व्यक्ति विवाह करके गृहस्थ जीवन व्यतीत करने की अपेक्षा करता है। विवाह एक यज्ञ माना जाता था जो व्यक्ति विवाह कर गृहस्थ जीवन में प्रवेश नहीं करता था उसे अयज्ञीय अथवा यज्ञहीन कहा जाता था[२] जो आर्यो के लिये अत्यन्त निन्दासूचक शब्द था। जब ऋणत्रयों का विकास हुआ तो उस समय विवाह को अधिकाधिक महत्व और पवित्रता प्राप्त होने लगी क्योंकि सन्तानोत्पत्ति कर पितृऋण से मुक्त होना विवाह के बिना असम्भव था।[३]

विवाह संस्कार सत्य और कर्तव्य पर प्रतिष्ठित था। विवाह दम्पत्ति, दम्पत्ती के आत्मा, मन, प्राण एवं शरीर को अध्यात्मिक सम्बन्ध द्वारा सुदृढ़ करने का एक चिरस्थायी प्रयत्न था। वैवाहिक जीवन के बिना समाज की कल्पना भी नहीं की जा सकती है क्योंकि समाज व्यक्तियों के गुणनफल के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

---

१. धर्मशास्त्र का इतिहास पी.वी.काणे – पृ. २९४
इमौ वै लोको सहास्तां तौ वियन्ता वभूतां विवाहं विवक्षवेहयह नावस्त्विति। ता.ब्रा. ७/१०/१

२. अयज्ञियों वा एव योऽपत्नीकः – तै.ब्रा. २.२.२६

३. जायमानो हवै ब्राह्मणस्त्रि ऋणतनि जायते ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजाया पितृभ्यः। तै.स. ६.३.१०५

धर्मशास्त्रों के अनुसार आठ प्रकार के विवाहों का वर्णन किया गया है।[१] परन्तु गृह्यसूत्रों में ब्रह्म विवाह को ही उत्कृष्ट माना गया है वेदविद और आचारवान वर को अपने यहाँ स्वयं बुलाकर सत्कारपूर्वक वस्त्र और आभूषण अलंकृत कर उसे कन्याप्रदान करना ब्रह्म विवाह है। मनुस्मृति में कहा गया है कि ब्राह्मण के लिये जल लेकर संकल्प के साथ कन्या प्रदान करना प्रशस्त है।[२] अन्य वर्णों का कन्यादान परस्पर इच्छानुसार वचनमात्र से भी हो सकता है और जलपूर्वक भी हो जाता था। विवाह रूपी पवित्र संस्कार के द्वारा स्त्री अपनी स्वाभाविक प्रकृति प्रवृत्ति और अधिकार के अनुकूल पतितन्मयता द्वारा अपनी अध्यात्मिक उन्नति करती है और पुरुष अपनी उच्छृङ्खल पशु प्रवृत्तियों को धर्मानुकूल नियोजित कर देव ऋण ऋषि तथा पितृ ऋण से मुक्त होकर अन्त में निःश्रेयस का अधिकारी बन जाता है। विवाह के समय इन्हीं तथ्यों की पुष्टि कन्या के द्वारा की गयी प्रतिज्ञा में होती है।

पा.गृ.सू. में वर्णित विवाह संस्कार के विधि विधानों एवं प्रमुख कृत्यों का विवरण न्म्नि प्रकार है :

(१) विवाह की आयु

गृह्यसूत्रों के वैवाहिक कर्मकाण्ड से सूचित होता है कि विवाह की व्यवस्था वर तथा कन्या के युवावस्था को प्राप्त कर लेने पर ही होती थी। क्योंकि पा.गृ.सू. के एक मन्त्र के अनुसार पाँच वर्ष तक की कन्या सोम को पाँच वर्ष के गन्धर्व अर्थात् सूर्य को तत्पश्चात् पन्द्रह वर्ष की वय तक की कन्या अग्नि को प्राप्त होती है इसके बाद ही उस कन्या का कोई पुरुष पति हो सकता है।[३]

---

१. मनु का कथन – ब्राहतो दैवस्तथा चार्षः प्राजापत्यस्तथाऽऽसुरः गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचस्त्वष्टमो मतः। चत्वारो ब्राह्मणस्याद्या राज्ञां गान्धर्वराक्षसौ राक्षसश्चासुरो वैश्ये शुद्रे चान्त्यस्तु गर्हितः अन्त्यः पैशाच।
पा.गृ.सू. १/८ पृ. ११८ पर गदाधर भाष्य

२. ब्राह्मो विवाह आहूय दीयते शक्त्यलंकृताः। वही।

३. सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः। तृतीयोऽग्निष्टे पतिसतुरीयस्ते मनुष्यजाः। पा.गृ.सू. जगदीश मिश्र पृ. ३२

विवाह का समय

गृह्यसूत्रों के अनुसार विवाह उत्तरा से प्रारम्भ कर तीन-तीन नक्षत्रों में उत्तराफाल्गुन हस्त चित्रा उत्तराषाढ़ श्रवणा घनिष्ठा तथा उत्तरा भाद्रपदा रेवती अश्विनी नक्षत्र विवाह के लिये शुभ माने जाते थे।[1] कन्या के लिए सोलहवें वर्ष से लेकर चौबीसवें वर्ष तक तथा पुरुष की २५वें वर्ष से अड़तालीस वर्ष की आयु उत्तम मानी जाती है।[2]

अर्घ्य तथा मधुपर्क प्रदान करना

किसी विशिष्ट अतिथि के आगमन पर उसके सम्मान में जो मधु आदि का प्रदान होता है उसे मधुपर्क विधि कहते है। शाब्दिक अर्थ है वह कृत्य जिसमें मधु का किसी व्यक्ति के हाँथ पर गिराना या मोचन होना। मधुपर्क शब्द का प्रयोग निरुक्त में भी किया गया है। आश्व.गृ.सू., बौ.गृ.सू., मा.गृ.सू., का.गृ.सू. तथा पा.गृ.सू. में इसका वर्णन इस प्रकार किया गया है अतिथि के लिये आसन लाने का आदेश देकर श्वसुर वर से कहता है "महाशय कृपया आसन ग्रहण कीजिये हम लोग आपका अर्चन करेंगे।"[3] वह कुशासन वर के बैठने के लिये और दूसरा पैर रखने के लिये, पैर धोनें के लिये अर्घ्य जल आचमन के लिये जल तथा कांसे के ढक्कन से ढके हुये बर्तन में दही घृत तथा मधु मिश्रित मधुपर्क प्रस्तुत करता है।[4]

---

१. उदगयने उत्तरायणे आपूर्यमाणपक्षे शुक्लपक्षे पुष्यहि शोभने। उत्तरा अदिर्येषां, उत्तरफाल्गुनी, हस्तः चित्रा, उत्तराषाढ़ा, श्रवणं घनिष्ठा तथा उत्तराभाद्रपदारेवत्यश्विन्य स्वाति मृगशिरसि रोहिण्या वा एतेषां नक्षत्राणामन्यत्मे कुमार्याः पाणि गृह्णीयात्। पा.गृ.सू. १/४/५-७ हरिहर भाष्य पृ. ६९

२. हिन्दू संस्कार भास्कर – विद्यानन्द सरस्वती पृ. २२५

३. अर्घ्यायासनं पीठाति आसनमाहरेति प्रैषपूर्वकमनुपर द्वाराऽऽनाय्य साधु भवानित्यर्घयिता अर्घ्य प्रति वदति अर्घ्य प्रथध्येषणगेतत। पा.गृ.सू. १/३/४

४. आहरन्ति विष्टरं पाद्यं पादार्थमुदकमर्धमाचमनीयं मधुपर्क दधिमधुघृतमपिहितं का स्ये का स्येन। वही १/३/५

मधु – का सामान्यतया अर्थ भोजन के रूप में प्रयुक्त किसी भी मीठे पदार्थ और विशेषतः मधु का द्योतक है यह सोम अथवा दुग्ध अपेक्षाकृत

एक अन्य व्यक्ति अतिथि को आसन तथा दी जाने वाली अन्य वस्तुयें तीन बार निवेदन करता है "वर" वर्षोऽस्मि समानानामधुवामिव सूर्यः इमं तमभितिष्ठामि यो मा वश्चभिदासति।[१] इस मंत्र का पाठ करते हुये आसन पर बैठ जाता है तो श्वसुर पाद प्रक्षालनार्थ जल लेकर बिराजो दोहोऽसि विराजो दोहमीशीयमर्या पाद्यायै विराजो दोह इति।[२] इस मंत्र को पढ़ते हुये पहले अतिथि का बायाँ और फिर दायाँ पैर धोता है। वर अर्घ्य जल को "आपःस्थ युष्याभिः सर्वन्कामान वाप्नवानि।"[३] मन्त्र पढ़ते हुये स्वीकार करता है जल को बाहर गिराते हुये वह जल से कहता है "मैं तुम्हें समुद्र में भेजता हूँ तुम अपने उदगम् स्थान को लौट जाओ।" हमारे लोग अक्षत हो। मेरा सार च्युत न हो वह इस वचन के साथ आचमन करता है तुम ऐश्वर्य तथा गौरव के साथ मेरे निकट आओ मुझे तेज तथा आज से युक्त करो, मुझे समस्त प्राणियों का प्रिय पशुओं का स्वामी तथा प्राणी का अहित न करने वाला बनाओ।[४] तदनन्तर वह "मिश्रस्यत्वा"[१] इत्यादि मंत्र का उच्चारण करते

कम स्थलों पर उस शब्द का द्योतक है। वै. इण्डेक्स – रामकमार राय भाग–२ पृ. २१२

पर्क – पूजन का एक उपचार जिसमें दही घी जल मधु और चीनी मिलाकर देवताओं को चढ़ाया जाता था। आदर्श हिन्दी शब्दकोष पं. रामचन्द्र पाठक पृ. ६०

१. अर्घ्य आत्मानं स्तौति अर्घ्यत्वाय। कुलज्ञाना चारवपुर्वयोगुणैरहं समानानां सजातीयानां मध्ये वर्ष्मः श्रेष्ठः ज्येष्ठः अस्मि भवामि, उद्यतामुदयं प्रकाशं कुर्वता गृहनक्षत्रादीनां मध्ये सूर्य इव इमं विष्टंरं तं पुरुषमुद्दिश्य विष्टर वत् बद्धमभि लक्ष्मी कृत्य तिष्ठामि अधः कृत्वोपयुष विशामि। यः कश्चन मा मामभिदासीत अपक्षीणं कर्तुमिच्छति। दसु उपक्षये। पा.गृ.सू. १/३/८ पृ. ५३

२. हे उदक तं त्वा विराजो दोहमशीय अश्नुवै व्याप्नुयाम्। किञ्च मयि विषये या पाद्या पादयोः साध्वी सवर्या तस्मै तदर्थ विराजो दोहः मन्त्रसंस्कृत जलं भवेति शेषः। वही १/३/१२ पृ. ५५

३. हे आपः युयमापःस्थ आप्तिहेतवो भवथायुष्माभिः कृत्वा सर्वान्कामानभीष्टार्थान् आवाप्नवनि भलेयम। वही १/३/१३

४. समुप्तं वः प्रहिणोमि स्वां योनिमभिगच्छत अरिष्टा अस्माकं वीरामा परसिचिमत्पयः। वही १/३/१४

हुये मधुपर्क का अवलोकन करता है तत्पश्चात् देवस्य त्वेति प्रतिगृह्णति[२] कहते हुये मधुपर्क को बायें हाँथ में लेकर दायें हाँथ की अनामिका अंगुली से 'नमः श्येघेति' मन्त्र पढ़ते हुए तीन बार मिलता है।[३] फिर अनामिका अंगुली और अंगूठे की सहायता से मधुपर्क का अनुपयुक्त अंश तीन बार बाहर निकालकर वह मधुपर्क का प्राशन करता है इसके पश्चात् वह आचमन जल से करता हुआ मंत्र पढ़ता है– "तुम अमृत के अपिधान (ढक्कन) हो" 'दूसरी बार सत्य यज्ञ भाग्य मुझमे बसे' इसे पढ़ता है। गृह्यसूत्रों में आचमन के उपरान्त गाय देने की घोषणा है।[४] मधुपर्क को विवाह को एक अंग माना है।

वस्त्रोपहार

वर "जरा गच्छ परिधित्स्व वासो भवाकृष्टी नामाभि शस्तिपाना शतं च जीव शरदः सुवर्चारयिं च पुत्राननु सत्ययस्वायुष्मतीदं परिध्स्त्स्व वास।"[५] मंत्र का उच्चारण करते हुये कन्या को वस्त्र भेंट करता है। इसके बाद 'वर य अकृन्तन वयं या अतन्वत याश्चदेवी स्तन्तून भितो ततन्थ तास्त्था देवर्जरसे सव्ययस्वायुष्मतीदं परिधत्स्व वास इति।' इस मंत्र के साथ वर वधू को उत्तरीय (अर्थात्) ओढ़नी प्रदान करता है। यह उपहार विवाह मण्डल में देता था।[६] वर वधू को वस्त्र देते समय

---

१. मित्रस्य त्वेति प्रशित्रमन्त्रेण प्रतीक्षते पश्यतीत्यर्थः। वही १/३/१६

२. देवस्य त्वेति मन्त्रेण यजमानदत्तं मधुपर्क दक्षिणहस्तेन प्रतिगृह्याति। वही १/३/१७

३. सव्ये पाणो कृत्वा दक्षिणस्यानामिकया त्रिः प्रयौति नमः श्यावास्यायान्नशने यत आविद्धं तते निष्कृन्तामि इति। पा.गृ.सू. १/३/१८ पृ. ५८

४. आचान्तोदकाय शासमादाय गौरिति। वही १३/२६ पृ. ६१

५. वरो जरां गच्छेति मन्त्रेणैनां वधूः वासः परिधापपति। हे कन्ये त्वं जरां निर्दुष्ट वृद्धत्वं मया सह गच्छ प्राज्जुहि वासश्च मया सम्पादितं परिधेहि। आकृष्यन्ति कामादिभिरित्याकृष्टयो मनुष्याः तेषां मध्ये अभिशस्तिरभिशापः शतं च शरदो वर्षाणि जीव प्राणिहि। सुवर्चा तेजस्विनी रयिं न धनं पुत्राश्च अनु पश्चात् सव्ययस्व। हे आयुष्मति इदं वासः परिधत्स्वेत्यनुवादः।। पा.गृ.सू. १/४/१२

६. या देवीः देव्यः इदं वासः अकृन्तन् कर्तितवत्यः या अवयन् तीतवत्यः। यास्तन्तून सूत्राणि अतन्वत प्रोतवत्यः प्रिर्यक् तन्तुसन्ताने ओतवत्यइत्यर्थः ताः

कहता है हे आयुष्मति जिन देवियों ने इस उत्तरीय वस्त्र को काता है बुना है, फैलाया है, जिन देवियों ने करघे पर इसका चतुर्धा विस्तार किया है वे निर्दुष्ट वृद्धावस्था के लिये इसे पहनने की अनुमति दे रही है तुम इसे पहन लो।

समञ्जन

वर एवं वधू को उबटन सुगन्ध लगाने की क्रिया समञ्जन विधि कहलाती है। वधू का पिता भावी दम्पती का समञ्जन करता है।[१] इस समय वर को इस ऋचा का उच्चारण करना चाहिये। "विश्वेदेवा तथा जल (आपः) हमारे हृदयों को एक सूत्र में आबद्ध कर दे। मातरिश्वा धाता तथा देष्टा हमें संयुक्त कर दे।[२] संदधातु नौ" समञ्जन स्नेह या प्रेम और परिणाम स्वरूप भावी दम्पती के सम्बन्ध का प्रतीक है। इस क्रिया को समञ्जन कहा जाता है कतिपय आचार्य इसकी व्याख्या करते है एक दूसरे की ओर मुख करके समञ्जन किया जाता है।

कन्यादान

गृह्यसूत्रों के अनुसार वधू के पिता द्वारा कन्यादान किया जाता था।[३] स्मृतियों ने इस अधिकार को अन्य सम्बन्धियों तक व्यापक कर दिया। याज्ञवल्क्य के अनुसार पिता, पितामह, भाई, सजातीय व्यक्ति

तत्तत्सामार्थ्यदात्र्यो देव्यः स्वकार्य रूप वदिदं वासः त्वां त्वां जरसे दीर्घकाल निर्दुष्ट जीवनाय सव्ययस्व परिधापयन्तु। पुरुषा दिव्यत्ययश्छान्दसः अतो हेतोः आयुष्मष इदम् एतादृशं वासः परित्वत्स्व उत्तरीयत्वे वृणीष्व।
वही १/४/१३

१. कन्यापिता एनौ वधूवरौ एमञ्जयति। वही. १/४/१४ हरिहर भाष्य पृ. ६५

२. हे कन्यके। नौ आवयोः हृदयानि मनांसि तन्निष्ठव्यापारान् सकल्पतिकल्पात्मकान विश्वेदेवाः आपश्च समञ्जन्तु गुणाति शयाधानेन संस्कुर्वन्तु। तथा सम्यग्भूतो मातरिश्वा अनुकूलो वायुः तथा अनुकूलः प्रजापतिः देष्ट्री धर्मोपदेष्ट्री देवता आवयोर्हृदयानि सन्दधातु।
वही १/४/१४ पृ.-७६

३. चित्रा प्रत्तां संकल्प्य दत्तमादाय प्रतिग्रहविधिनाप्रतिगृह्य गृहीत्वा हस्ते।
पा.गृ.सू. १/४/१५ हरिहर भाष्य पृ. ७६

तथा माता से सभी कन्यादान के अधिकारी है। उस काल में किसी जन (व्यक्ति) का पितृ प्रमुख ही संरक्षक था।[१]

वधू का अभिभावक संकल्प का उच्चारण करता है। "समस्त पितरों के निरतशिय आनन्द तथा ब्रह्मलोक की प्राप्ति आदि कन्यादान करूँगा।" इसके पश्चात् वह कहता है मैं स्वर्णीभूषणों से अलंकृत वह कन्या तुझ विष्णु को ब्रह्मलोक जीतने की इच्छा से देता हूँ। निखिल विश्व का पालक समस्त प्राणी तथा देव इस तथ्य के साक्षी है कि मैं अपने पूर्वजों की मोक्ष प्राप्ति के लिये यह कन्यादान करता हूँ। पिता के द्वारा दानविधि से ग्रहण कर वर वधू से कहता है, हे कन्ये तुम्हारा मन जो पितृगृह से दूर, बहुत दूर पूर्वादि दिशाओं में वायु के समान चंचल हो जाता है उसे वे वायु देव केवल मुझमें केन्द्रित करे, जो सोने के पंखों वाले विकर्णपत्र गरुण की तरह है और विवाह मण्डप से बाहर निकल जाता है।[२]

वैवाहिक अग्नि की स्थापना

वैवाहिक अग्नि की स्थापना गोबर से लिपी हुई जगह में उपलेपनादि पाँच प्रकार के भू-संस्कारो के पश्चात् कांसे या ताँबे के बर्तन में आग लेकर बेदी के बीच में अग्नि की स्थापना करना चाहिये। कतिपय आचार्यो के अनुसार विवाह संस्कार में अरणिमन्थन से प्राप्त आग लेनी चाहिये गृह्यसूत्रों ने भी इसी तथ्य का समर्थन किया है। इसी को आवसथ्य या विवाहअग्नि कहा जाता था। धर्म शास्त्रों का निर्देश है कि किसी बहुत पशु वाले वैश्य के घर से अग्नि को लाकर विवाह स्थल की उपलिप्त पवित्र भूमि में परिसमूहन तथा पर्यक्षण पूर्वक उस अग्नि की स्थापना करना चाहिये।[३] और उसमें

---

१. पिता पितामहो भ्राता सकुल्यो जननी तथा। पा.गृ.सू. मे याावल्क्य का कथन पृ.-७७ पर उद्धृत।

२. यदैषि मनसा दूरं दिशोऽनु पवमानो वा हिरण्यपर्णो वैकर्णः स त्वा मन्मवसां करोत्वित्यसौ। वही १/४/१५

३. पशुभिः समृद्धस्य वैश्यस्य गृह्यदग्निं हुतोच्छिष्टमसंस्कृत वा आनीयाधानं कुयति्। वहीं १/२/३ अरणिप्रदानमेके। वही १/२/५

विवाह सम्बन्धी लाजाहोम तथा औपासन होम करना चाहिये।[१] विवाह के अनन्तर जब वर वधू अपने घर आने लगते है, तब उस स्थापित अग्नि को घर लाकर किसी पवित्र स्थान में प्रतिष्ठित कर उसमें प्रतिदिन अपने कुल परम्परानुसार सायं प्रातः करना चाहिये। सभी वैश्वदेवादि स्मार्तकर्म तथा पाकयज्ञ इसी यज्ञ में अनुष्ठित किये जाते हैं। वधू का मामा उसे पूर्व की ओर मुँह कराकर वैवाहिक अग्नि के निकट लाता है तथा वर और वधू के बीच एक पर्दा डाल दिया जाता है।[२]

वैवाहिक होम

विवाह में अनेक होम जैसे राष्ट्रभृत, जयाहोम, अभ्यातन होम[३] और लाजाहोम[४] का भी सम्पादन होता है। प्रथम तीन होमों में वर को ज्ञात या अज्ञात अनिष्टकारी शक्तियों पर विजय तथा उनसे रक्षा के लिये प्रार्थनाओं का समावेश है। अन्तिम होम उर्वरव तथा समृद्धि का प्रतीक है। वधू का भाई अपनी बंधी हुयी अंजलि में शमीपत्रों सहित कुछ पक्व अन्न डालता है।[५] वधू खड़ी होकर दृढ़ता पूर्वक बंधी हुई अंजलि में "अर्यमणम्" इत्यादि तीन मन्त्रों से तीन बार हवन करती

---

१. पा.गृ.सू. १/६

२. हिन्दू संस्कार – डॉ. राजबली पाण्डेय पृ. २५५

३. विवाहे वैवाहिके होमकर्मणि राष्ट्रभृतः राष्ट्रभृत्संज्ञकाः आहुतिः आवपेदिव्ध्याद्वारः।
जयाभ्यातानांश्च जयाश्च अभ्यातानश्च जयाभ्याताना: तान् जयाभ्यातानांश्च आवचेत। पा.गृ.सू. १/५/७ पृ. ८३

४. लाजाहोम की तीन विधियाँ हैं – अंगुली के आगे से, अञ्जलिमध्या से और अञ्जलि के वामपार्श्व से। यहाँ अञ्जलि के वाम पार्श्व से ही हवन होगा क्योंकि स्त्री का वामभाग ही देवभाग है।
अङ्गुल्यग्रे न होतव्यं तथैवाञ्जलि भेदतः
अञ्जले वामिपार्श्वेन लाजाहोमो विधीयते
वाम भागस्तु नारीणां देवभाग इति स्मृतः। पा.गृ.सू.

५. कन्याया वहवा भ्राता शमीपत्रै मिश्रतान् लाजानञ्जलिना कन्यायाः अञ्जलौ आवपति प्रक्षिपति। पा.गृ.सू. १/६१

है।[१] गो.गृ.सू. के अनुसार लाजाहोम करते समय वधू के हाथ में वर का हाँथ भी होना चाहिये। अग्नि देवता से प्रार्थना की जाती है कि वधू ने अत्यन्त तेजस्वी अग्नि की तरह श्रेष्ठ वर पाने की इच्छा से पहले जिस अर्यमा नामक देवता भगवान सूर्य की उपासना की थी, यज्ञ किया था वे भगवान सूर्य उसे पितृकुल से मुक्त करें न कि पतिकुल से। लाजाहोम करती हुयी विवाहिता कन्या कहती है मेरा पति दीर्घायु हो मेरे कुटुम्बी जन समृद्ध हो, वधू वर से कहती है कि मैं धान की इन लावाओं को अपनी ओर तुम्हारी समुन्नति के लिये समृद्धि के लिये इस होमाग्नि में डालती हूँ अग्नि देवता हममें परस्पर अनुराग का अनुमोदन करें।

पाणिग्रहण

पाणिग्रहण संस्कार विवाह का एक प्रमुख अंग होता है जो प्राचीन समय से आज तक उसी रूप में चली आ रही है। इस कृत्य में वर वधू के दाहिने हाँथ को अंगुष्ठ सहित पकड़कर कहता है, हे कन्ये सौभाग्य की कामना से मैं (वर) तुम्हारा (वधू) यह दाहिना हाँथ पकड़ता हूँ मेरे साथ तुम भी दीर्घायु बनो। भग, अर्यमा और सविता देवताओं ने मुझे सर्वोत्कृष्ट और सर्वाधिक सुन्दर समझकर तुम्हें गार्हस्थ जीवन का आनन्द लेने के लिये सौपां है[२] कन्ये मैं विष्णु हूँ तुम लक्ष्मी हो मैं त्रिदेव स्वरूप हूँ और तुम देवीरूपा हो मैं साय हूँ और तुम ऋचा हो मैं आकाश हूँ तुम धरती[३] आओ हम परिणय सूत्र में बँधे, एक साथ वीर्य धारण करे और हम दोनों एक दूसरे के प्रति अनुरक्त हो, हम दोनों दीप्तिमान की एवं एक दूसरे के प्रति सन्तुष्ट

---

१. पार.गृ.सू. १/६/२

२. दक्षिण हस्तंगृह्णाति साङ्गुष्ठम् – 'गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः।'
भागो अर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वा दुर्गार्हपत्याय देवाः। वही १/६/३

३. अमोहमस्मि सा त्वा सा त्वमस्यमोऽहम्। सामाहमस्मि ऋक् त्वं द्यौरतं पृथिवी त्वम्। वही

रहे हम सौ साल तक एक दूसरे को देखते हुये सुनते हुये जीवित रहे[१] पाणिग्रहण कन्या का दायित्व तथा भार संभालने का प्रतीत है। यह दायित्व अत्यन्त पवित्र है क्योंकि दी हुयी कन्या केवल उसके पिता द्वारा ही नहीं उपयुक्त अधिष्ठातृ देवताओं द्वारा भी दी हुई समझी जाती है जो प्रत्येक गम्भीर अनुबन्ध के साक्षी है। अन्तिम प्रार्थना सफल उन्नतिशीलता तथा आनन्दपूर्ण वैवाहिक जीवन का प्रतीक है।

अश्मारोहण

गृह्यसूत्रों के अनुसार वर अपने प्रति भक्ति तथा पातिव्रत्य में पत्नी को सुदृढ़ करने के लिये अग्नि के उत्तर में रखे हुये पत्थर पर "आरोहेममश्मानमश्मेव त्वं स्थिरा भव अभितिष्ठ पृतन्यतोऽववाधस्व पृतनायत" इस मन्त्र को पढ़ते हुये वधू का दाहिना पैर रखता है – हे वधू इस पत्थर पर पैर रखकर तुम चढ़ो, हमारे घर में चट्टान की तरह तुम सदैव सुदृढ़ बनी रहो। हम पर जो भी आक्रमण करे उसके सारे प्रयासों को तुम विफल बनाती रहो।[२]

गाथागान

गाथागान संस्कार अलग न होकर अश्मारोहण का ही एक अंग वर वधू को अश्मारोहण कराते समय उसको चट्टान की तरह दृढ़ चित्त बनी रहने वाली कहता है इसके बाद वह गाथागान कहता है – हे देवि सरस्वती तुम अन्नमयी हो कल्याणमयी जीवों की जननी कहा गया है। प्रकृति रूप में तुम्हीं आदि माता हो यह सम्पूर्ण जगत तुम्हीं

---

१. तावेहि विवाहावहै सह रेतो दधावहै, प्रजां प्रजनयावहै, पुत्रान् विद्यान्वहै बहुन्। ते सन्तु जरदष्टय: सम्प्रियौ रोचिष्णु सुमनस्यमानौ। परयेम शरद: शतं जीवेम शरद: शत श्रुणुयाम शरद: शतमिति। वही।

२. हे कन्ये इमं पुरोवर्तिनमश्मानं प्रस्तरमारोह आक्रम अधितिष्ठेति यावत् आरोहणेन संस्कृता त्वमश्मेव पाषाणवत् स्थिरा दृढ़ा भव। पृतनां सङ्ग्राममिच्छन्ति पृतन्यन्ति व एव पृतन्यत: तान् पृतेन्यत: कलहकारिण इत्यर्थ: ततश्च पृतनाभि: सेनाभिर्मतन्त इति पृतनायत: तान्पृतनायत: अवअवाचीनान्कृत्वा बाधस्व भग्नोद्यमान्कुरु। वही १/७/१ पृ. ९५

में लीन हो जाता है मैं वही गाथा गा रहा हूँ जिसमें तुम्हारे नारी रूप में विविध यशस्वी कर्मो का वर्णन है।[१]

अग्नि प्रदक्षिणा

गाथागान के पश्चात् अग्नि की प्रदक्षिणा करते है और वह "तुभ्यमग्ने पर्यवहन्सूर्या वहतुना सहः। पुनः पतिभ्यो जायांऽदाग्ने प्रजया सह।" मन्त्र का उच्चारण करता है – हे अग्निदेव! तुम्हारे निमित्त ही सोम प्रभृति देवताओं ने जन्म से लेकर अब तक पाणिग्रहण किया अब सूर्य की सम्बन्धिनी इस भार्या का भार ग्रहण करें स्वयं भोगे तदन्तर सन्तान सुख के लिये आप इसे मुझकों दें।[२] फिर लाजाहोम से लेकर समस्त क्रियायें पुनः दुहरायी जाती हैं[३] और वधू अग्नि में अवशिष्ट लाजाओं की टोकरी से 'भूमाय स्वाहा' कहती हुई आहुति देती है।[४]

सप्तपदी

अग्नि प्रदक्षिणा के बाद सप्तपदी नामक कृत्य होता है। इसमें सात बार वर वधू के साथ-साथ कदम मिलाकर चलते है इसमें सात चावल की ढेरी या कलाया बंधे हुये सकोरे रखं दिये जाते हैं। इन लक्ष्यों चिह्नों को पैर लगाते हुये दोनों एक-एक कदम आगे बढ़ते है रुक जाते है। प्रत्येक कदम पर मन्त्र पढ़ा जाता है। वर वधू से कहता है –हे कन्ये तुम्हारा पहला कदम अन्न के लिये दूसरा कदम शक्ति के लिये तीसरा कदम धन के लिये, चौथा कदम सुख के लिये, पाँचवा

---

१. सरस्वती प्रेदमव सुभगे वाजिनीवती
यां त्वा विश्वस्य भूतस्य प्रजायामस्याग्रतः
यस्यां भूव समभवद् यस्यां विश्वमिदं जगत्
तामद्य गाथां गास्यामि वा स्त्रीणामुत्तमं यश इति। पा.गृ.सू. १/७/२ पृ. ९५

२. हे अग्ने तुभ्यं तदर्थमेव सोमादयः अग्रे पूर्व जन्मदिन। दाराभ्य पर्यवहन् परिगृहीतवन्तः ततः सूर्या सूर्यसम्बन्धिनी भार्यामिमां भावान्वहतु। तां जायां जायात्वेन पुनः पश्चात्स्वभोगात प्रजया पुत्रैः सह मह्यं दाः देहि।
वही स१/७/३

३. एवं द्विरपरं लाजादि। वही १/७/४

४. चतुर्थ शूर्पकुष्ठया सर्वाल्लाजानावपति भगाय स्वाहेति। वही १/७/५

कदम पशुधन के लिये, छठा ऋतुओं के लिये और सातवाँ मित्रता के लिये है। तुम मेरे कर्तव्य पालन में सहायक सिद्ध हो। ये सभी पारिवारिक जीवन के लिये अनिवार्य है।[१]

प्रथम कदम अन्न के लिये इससे तात्पर्य है अन्न का उत्पादन, अन्न की रक्षा, अन्न का सदुपयोग जो कर सकता है वही सफल गृहस्थ है। दाम्पत्य जीवन का उत्तरदायित्व यह है कि आहार की सात्विकता का समुचित ध्यान रखा जाए।[२] दूसरे कदम का तात्पर्य शारीरिक और मानसिक बल की वृद्धि के लिये है। व्यायाम परिश्रम उचित एवं नियमित आहार विहार से शरीर का बल स्थिर रहता है अध्ययन एवं विचार से मनोबल बढ़ता है।[३] तीसरा कदम धन की वृद्धि का सूचक है। घर की अर्थव्यवस्था संभाले रहना दाम्पत्य जीवन का अनिवार्य कर्तव्य है।[४] चौथा कदम सुख वृद्धि कि लिये[१] है। पाँचवा

---

१. एकमिषे द्वे उर्जे त्रीणि रायसयोषाय चत्वारि मायोभवाय पञ्च पशुभ्य षड् ऋतुभ्यः सखेसप्लपदा भव सा मामनुवुताभव। पा.गृ.सू. १/८/१

२. अन्न वृद्धि के लिए प्रथम साक्षी –
एको विष्णुजगंत्सर्व व्याप्तं येन चराचरम
हृदये यस्ततो यस्य तस्य साक्षी प्रदीयतान्।।
ऊँ इष एकपदी भव सा मामनुव्रता भव विष्णुस्त्वानयतु पुत्रान् विन्दावहै वहुंस्ते सन्तु जरदष्टयः। पा.गृ.सू. १/८/२

३. बल वृद्धि के लिये द्वितीय साक्षी –
जीवात्मा परमात्मा च पृथ्वी आकाशमेव च
सूर्य चन्द्रट्टयोर्मध्ये, तस्य साक्षी प्रदीयताम्
ऊँ ऊर्जे द्विपदी भव सा मामनुव्रता भव विष्णुस्त्वानयतु पुत्रानविन्दवहै, बहूँस्ते सन्तु जरंदष्टयः ।२। वही

४. धन वृद्धि के लिये तृतीय साक्षी –
त्रिगुणाश्च त्रिदेवाश्च त्रिशक्तिः सत्परायणाः
लोकत्रये त्रिसन्ध्यायाः तस्य साक्षी प्रदीयताम्
ऊँ रायसपोषाय त्रिपदी भवं सा मामनुव्रता भव विष्णुस्त्वानयतु पुत्रान् विन्दावहै बहूस्ते सन्तु जरदष्टयः ।३। वही।

कदम परिवार पालन का है।[२] छठा कदम ऋतुचर्या का सूचक है। सन्तानोत्पादन एक स्वाभाविक वृत्ति है इसलिये दाम्पत्य जीवन में उसका भी एक स्थान है पर उस सम्बन्ध में मर्यादाओं की कठोरता एवं सर्तकता से पालन किया जाये।[३] सातवाँ कदम मित्रता को स्थिर रखने एवं बढ़ाने के लिये है। दोनों इस बात पर सूक्ष्मता से विचार करते रहे कि उनकी ओर से कोई ऐसी त्रुटि तो नहीं की जा रही है जिसके कारण साथी को रुष्ट या असंतुष्ट होने का अवसर आये।[४] सप्तपदी में सात कदम बढ़ते हुये सात सूत्रों को हृदयंगम करना पड़ता है।

---

१. सुख वृद्धि के लिये चतुर्थ साक्षी –
चतुर्मुखस्ततो ब्रह्मा, चत्वारो वेदसंभवा:
चतुर्यगा: प्रवर्तन्ते तेषां साक्षी प्रदीयताम्।
मायो भवाय चतुष्पदी भव मामनुव्रता भव। विष्णुस्त्वानयतु पुत्रान् विन्दावहै बहूस्ते सन्तु जरदष्टय:। वही

२. प्रजा पालन के लिये पाँचवी साक्षी –
पंचमे पंचभूतानां पंचप्राणै: परायणा:
तत्र दर्शन पुण्यानां, साक्षिण: प्राणपंचधा:
ऊँ प्रजाभ्य: पंचपदी भव सा सामनुवता भव विष्णुस्त्वानयतु पुत्रान् विन्दावहै बहूस्ते सन्तु जरदष्टय: ।५। वही।

३. ऋतु व्यवहार के लिये षड़ साक्षी –
षष्ठे तु षडऋतुणां च षष्मुख: स्वामिकार्तिक:
षडरसा यत्र जायन्ते, कार्तिकेयाश्च साक्षिष:।।
ऊँ ऋतुभ्य: षट्पदी भव सा मामनुव्रता भव विष्णुस्त्वानयतु पुत्रान् विन्दावहै बहूस्ते सन्तु जरदष्टम:।।

४. मित्रता वृद्धि के लिये सप्तान् साक्षी –
सप्तमे सागराश्चैव सप्तद्वीपा: सपर्वता: येषां
सपतर्षिपत्नीनां, तेषामार्दश साक्षिण:।।
ऊँ सखे सप्तपदी भव सा मामनुव्रता भव विष्णुस्तवानयतु पुत्रान् विन्दावहै, बहूँस्ते सन्तु जरदष्टय:। पा.गृ.सू. ८/१/२ आ.गृ.सू. १/७/१९

अग्नि परिक्रमण

लाजाहोम के अनन्तर अग्नि परिक्रमण (भांवर) कृत्य होता है। बायें से दायें की ओर चले। प्रथम चार परिक्रमाओं में कन्या आगे रहे और वर पीछे। परिक्रमा चार हो जाने पर वर आगे हो जाये और कन्या पीछे। परिक्रमा के समय वर वधू गायत्री मंत्र का जप करते चलें इसका तात्पर्य है कि घर परिवार के कार्यों में वधू का नेतृत्व रहेगा उसके परामर्श को महत्व दिया जायेगा। परिक्रमा करते समय मन्त्र बोला जाता है।[१]

वधू का अभिषिञ्चन

सप्तपदी के पश्चात् वधू के सिर पर इस मन्त्र के साथ अभिषिञ्चन किया जाता है – "ये सौभाग्य शाली परम मांगलिक एवं अत्यन्त शान्त जल वधू को आरोग्य प्रदान करे"[२] सभी धर्मो में जल का औषध तत्वों तथा पवित्रता से सम्पन्न होना सुप्रसिद्ध है। इस विधि के द्वारा वधू को शारीरिक दोषों से मुक्त तथा वैवाहिक जीवन के लिये पवित्र समझा जाता है।

सूर्य ध्रुव दर्शन

गृह्यसूत्रों के अनुसार वर वधू को तच्चछु रित्यादि[३] मंत्र पढ़ते हुये सूर्य दर्शन कराता है। जिससे प्रतीत होता है उस समय दिवा विवाह का विधान था। रात्रि विवाह होने पर वधू को ध्रुवमसि[४] इत्यादि मंत्र से ध्रुव तारा दिखाये इसका अर्थ है कि दोनों अपने-अपने परम कर्तव्यों पर उसी तरह दृढ़ रहेंगे जैसे कि यह ध्रुव तारा स्थिर है। ध्रुव स्थिर

---

१. तुभ्यमग्रे पर्यवहन्त्सूर्या बहतु ना सहा। पुनः पतिभ्यो जायां दा अग्ने प्रजया सह।। पा.गृ.सू. १/७/३ ऋ. १० ८५.३८

२. आपः शिवाः शिवतामाः शान्ताः शान्ततमास्तास्ते कृष्वन्तु भेपजमिति। पा.गृ. सू. १/८/५

३. तत्वक्षुर्देवहित। पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येन शरदः शतं, जीवेम शरदः शत शृणुयाम शरदः शतं, प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं, भूयश्च शरदः शतात्। पा.गृ.सू. १/८/७ पृ. १०२

४. ध्रुवमसि ध्रु वं त्वा पश्यामि ध्रुवैधि पोष्ये मयि। मह्यं त्वादात वृहस्पतिर्मयापताया प्रजापति सञ्जीव शरदः शतम्। वही १/८/१९ पृ. १०६

चित्त रहने की ओर अपने कर्तव्य पर दृढ़ रहने की प्रेरणा देता है। वर वधू से कहता है ओ वधू तुम ध्रुव नक्षत्र की भाँति हमारे घर में स्थिर रहो मैं तुम्हें ध्रुव तारे के सदृश ही अचल अटल देख रहा हूँ तुम ध्रुववत् मेरी सन्तानों का पोषण करो इसी निमित्त तुम्हें ब्रह्मा और बृहस्पति ने मुझे प्रदान किया है। तुम पति पुत्र और पौत्रों से भरी पूरी होकर १०० वर्ष की आयु भोगो।

हृदय स्पर्श

वर वधू के दाहिनी ओर जाकर इन शब्दों के साथ उसके हृदय का स्पर्श करता है मैं अपने व्रत में तेरा हृदय धारण करता हूँ तेरा चित्त का अनुगामी हो, मेरी वाणी में तू एकाग्र मन से निवास कर प्रजापति तुझे मुझसे सम्बद्ध करे। तुम प्रत्येक दृष्टि से मेरी सहयोगिनी बनो हृदय भावों का केन्द्र है इसके स्पर्श द्वारा वर प्रतीक रूप में उन्हें उद्बुद्ध तथा प्रवाहित करना चाहता है जिससे वे उसके हृदय से मिल जायें और इस प्रकार स्नेह के संसार में उन्हें संयुक्त करें।[१]

सिन्दूर दान

हृदय स्पर्श के बाद वर वधू को सुमङ्गलीरियं इत्यादि मन्त्रोच्चार करते हुये वधू की मांग में सिन्दूर लगायें और भावना करे कि मैं वधू के सौभाग्य को बढ़ाने वाला सिद्ध होऊँ।[२]

स्थानीय प्रथायें

वैवाहिक क्रियाओं में स्थानीय प्रथाओं तथा परम्परा के अनुसार भी अनेक विधि विधान सम्पन्न होते है। पारस्कर गृह्यसूत्र के अनूसार "ग्रामवचन या स्थानीय प्रथाओं का पालन करना चाहिये।" गदाधर ग्रामवचन की व्याख्या इस प्रकार करते है सूत्र में विहित न होने पर भी वधू और वर का मङ्गल सूत्र धारण गले में माला पहनना वर और वधू के वस्त्रों में ग्रन्थि देना, वट-वृक्ष का स्पर्श करना वर के वक्षः स्थल पर दही का लेप करना आदि वर के पहुँचने पर नाक छूना

---

१. मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनुचित्तं अस्तु मम वाचमेकमना जुषस्व प्रजापतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम। वही १/८/८

२. सुमङ्गलीरियं वधूरिमाह समेत पश्यत् सौभाग्यमस्यै दत्वा याथास्तं विपरेतनेति। वही १/८/९ पृ. १०३

आदि तथा अन्य क्रियाओं जिन्हें ग्राम की स्त्रियाँ तथा वृद्ध कहे करनी चाहिये।[१]

विवाह की दक्षिणा

गृह्यसूत्रों के अनुसार विवाह संस्कार के अन्त में दक्षिणा दी जाती है। ब्राह्मण[२] द्वारा एक गाय आचार्य को दी जाती थी, क्षत्रिय[३] द्वारा एक ग्राम तथा वैश्य[४] द्वारा एक घोड़ा दक्षिणा में दिया जाता था। गोभिल गृ.सू. और बौ.गृ.सू. में केवल एक गाय देने की बात कही है।[५]

वधू का उद्वाह और उसे आशीर्वाद

पा.गृ.सू. के अनुसार विवाह संस्कार की समाप्ति होने पर विवाहित दम्पती उपयुक्त वाहन से अपने घर की ओर प्रस्थान करते थे और जब वधू उस पर आरूढ़ होती थी तो पति उससे कहता था, अब तू मेरी स्वामिनी होगी और मेरे लिये पुत्र उत्पन्न करेगी। अपने श्वसुर तथा सास की साम्राज्ञी हो तू इनकी तथा घर की अन्य पुत्र बन्धुओं शिशुओं ऐश्वर्य तथा अन्य सभी वस्तुओं की साम्राज्ञी होगी।

त्रिरात्र व्रत

गृह्यसूत्रों के अनुसार विवाह सम्पन्न हो जाने पर विवाह के दिन से तीन दिन तक वर एवं वधू को क्षार और लवणयुक्त भोजन करें तथा खाट पर न सोने का विधान किया गया है। पा.गृ.सू. के अनुसार भूमि पर सोने का विधान है। कतिपय आचार्यों के अनुसार वर वधू वर्ष भर तक मैथुन न करे कुछ १२ दिन तथा कुछ अन्ततः तीन दिन तक ही मैथुन को वर्जित करते हैं।[६] त्रिरात्र व्रत का उद्देश्य वर वधू को यौन जीवन में संयत मार्ग का पाठ पढ़ाना प्रतीत होता है। यथार्थ प्रेम

---

१. ग्रामवचनं च कुर्यः। पा.गृ.सू. १/८/११

२. गौर्ब्राह्मणस्य वरः। वही १/८/१२

३. ग्रामो राजन्यस्य। वही

४. अश्वो वैश्यस्य। वही

५. पा.गृ.सू. १/८ गदाधर भाष्य पृ. १२४

६. त्रिरात्रक्षारलवणाशिनौ स्यातामधः शयीयातार्हसंवत्सरं न मिथुनमुपेयतां द्वादशराप्रर्वषडरात्रं त्रिरात्रमेततः। वही १/८/३१ पृ. ४४

कामुक्तापूर्ण या कामज न होकर पूर्ण आत्म संयम पर आधारित है। संयम की अवधि जितनी ही दीर्घ होती है उतनी ही उत्तम सन्तान प्राप्त करने का अवसर था।[१]

निष्क्रमण कृत्य करते समय कोई पुरुष सजल (जल से पूर्ण) कलश कन्धे पर रखकर वधू वर के पीछे और अग्नि के दाहिने चुपचाप खड़ा हो जाये। कतिपय आचार्यों ने अग्नि के उत्तर ओर खड़ा हो ऐसा विधान किया है। पा.गृ.सू. में बताया गया है इस आसन पर गायें अश्व और पुरुष आसीन हो सहस्त्र गायों की दक्षिणा पुष्टि कर यज्ञदेव भी यहाँ आसीन हों।

वर्तमान समय में विवाह संस्कार

कालक्रम से धार्मिक विचारधारा सामाजिक प्रथाएं क्रिया तथा विधि विधान परिवर्तित हुए। आरम्भ में धर्मशास्त्रों में केवल वैदिक कर्मकाण्डों के ही समावेश का प्रयत्न लक्षित होता है क्योंकि विशुद्ध लौकिक क्रियाओं और प्रथाओं को उनमें समुचित स्थान नहीं दिया गया है। परन्तु आगे की परिस्थितियों ने पुरोहितों को लौकिक विधि-विधानों तथा प्रथाओं को मान्यता प्रदान करने के लिए बाध्य कर दिया। विवाह संस्कार विषयक पद्धतियों तथा प्रयोगों ने जो प्राचीन धर्म शास्त्रों की अपेक्षा अधिक व्यवहारिक है, संस्कार की सीमा में अनेक नवीन तत्वों का समावेश कर लिया। भारत में विभिन्न पद्धतियों तथा प्रयोंगों का अनुसरण किया जाता है। परिणाम स्वरूप भिन्न-भिन्न प्रदेशों में वैवाहिक क्रियाएं भी भिन्न-भिन्न है किन्तु धार्मिक और सामाजिक रूढ़िवाद भारत में इतना प्रबल है कि संस्कारों की प्रमुख रूपरेखा वैदिक युग से वर्तमान काल तक अवछिन्न रही तथ: उसके साधारण तत्व एक से है। जिन्हें निम्नलिखित रूपों में देखा जा सकता है –

---

१. तां दृढ़पुरुष उन्मथ्य प्राग्वोदग्वाऽनुगुप्त आगर आनडुहे रोहिते चर्मव्युपवेशयति।

इह गावो निषीवन्त्विहाश्वा इह पुरुषा:। इहो सहस्र दक्षिणो यज्ञ इह पूषा निलीवन्तु। पा.गृ.सू. १/८/१० पृ. १०४

वाग्दान

१.	मण्डपकरण	१७. वर वधू का उत्तरीय बन्धन (ग्रन्थि)
२.	पुण्याहवाचन	१८. अक्षता रोपण
३.	वरगमन	१९. लक्ष्मी पार्वती (शची) पूजन
४.	मधुपर्क	२०. वापन दान
५.	विष्टर दान	२१. विवाह होम
६.	गौरी हर पूजा	२२. सप्तपदी
७.	कन्यादानीय जल शुद्धि	२३. गृह प्रवेश होम
८.	कन्यादान	२४. अर्णिदान
९.	अक्षतरोपण	२५. श्वसुर को कन्यार्पण
१०.	कंकण बन्धन	२६. गृह प्रवेश
११.	आद्रक्षित रोपण	२७. सूर्यावलोकन
१२.	तिलक करण	२८. अभिमंत्रण
१३.	अष्टफलदान	२९. वृष चर्म पर बैठना
१४.	मङ्गलसूत्र बन्धन	३०. देवकोत्थान और मण्डपोद्वाहन
१६.	गणपति पूजन	३१. चतुर्थी कर्म।

विवाह आधुनिक अर्थ में एक सामाजिक अनुबन्ध न होकर एक धार्मिक संस्था व संस्कार है। विवाह में वर तथा वधू दो पक्षों के अतिरिक्त एक तीसरा अतिमानव, अध्यात्मिक अथवा दैवी तत्व भी वर्तमान है। वर वधू रूप दोनों पक्षों की दैहिक स्थिति सदैव परिवर्तन का विषय है अतः वह विवाह का स्थायी आधार नहीं हो सकता पति और पत्नी के मध्य स्थायी सम्बन्ध केवल इस तृतीय तत्व पर ही निर्भर करता है।[१] पति और पत्नी केवल एक दूसरे के प्रति ही उत्तरदायी नहीं होते किन्तु उन्हें इस तृतीय तत्व के प्रति और भी महत्तर निष्ठा रखनी पड़ती है। स्त्री और पुरुष के पारस्परिक विशुद्ध सामाजिक तथा भौतिक अनुबन्ध में यह धार्मिक या रहस्यात्मक तत्व है। इसके बिना दाम्पत्य जीवन का आर्कषण और स्थायित्व नष्ट हो जाता है।

---

१. हिन्दू संस्कार – डॉ. राजबली पाण्डेय – पृ. २८७

विवाह विधि विधानों के आरम्भ की एक क्रिया है। जो योग्यतम स्त्री पुरुष के सम्बन्ध की प्रतीक है। यह क्रिया जो अर्घ्य कहलाती है।[१] और जिसके द्वारा वर को महान सम्मान दिया जाता है। वर के लिए एक प्रस्तुत किया जाता था वधू का पिता वर से उस आसन को ग्रहण करने की प्रार्थना करता है। इस प्रकार अवसर पर सम्मानित अतिथि अपने श्वसुर से उपयुक्त वस्तुएं स्वीकार करता हुआ सार्वजनिक रूप से घोषित करता है कि यह वधू के लिए योग्यतम वर है।

विवाह एक नवीन सम्बन्ध

वैवाहिक विधि विधानों के कतिपय सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रकरण इस बात के प्रतीक है कि विवाह पति पत्नी के बीच एक नवीन सम्बन्ध को जन्म देती हैं वे उन दो छोटे-छोटे पौधों के समान सम्बद्ध होते है जो भिन्न-भिन्न स्थानों से उखाड़ कर किसी एक स्थान पर लगा दिये गये हो उन्हें अपने सामान्य स्वार्थ तथा आदर्श की दिशा में अपनी सम्पूर्ण शक्ति का समर्पण कर इस सम्बन्ध को पालना होता है। इस प्रकार की एक विधि समञ्जन की है।[२] वधू का पिता समञ्जन करता है। जब यह विधि सम्पन्न होती रहती है तो वर इस मन्त्र का उच्चारण करता है "समस्त देव (विश्वदेवा) ये जल (आप:) हम दोनो के हृदय को संयुक्त करे।" समञ्जन स्नेह के फलस्वरूप नवदम्पत्ति के सम्बन्ध का प्रतीक है। पाणिग्रहण संस्कार में वर वधू का दाहिना हाँथ इस मंत्र के साथ पकड़ता है "मैं तेरा हाँथ सौभाग्य के लिए ग्रहण करता हूँ तुम मुझ पति के साथ वृद्धावस्था पर्यन्त जीवित (जरादिष्ट) रहो।" भग, अर्यम, सविता इन देवताओं ने गार्हपत्य के लिए तुझे मेरे हाँथों में सौंपा है। यह क्रिया पति पत्नी के बीच शारीरिक संबंधो का प्रतीक है।[३] तत्पश्चात् वधू के दाहिने कन्धे की ओर जाकर वर वधू हृदय का स्पर्श[४] इन शब्दों के साथ करता है।

---

१. पा.गृ.सू.– सुधाकर मालवीय १.३ १-३२

२. पा.गृ.सू. – सुधाकर मालवीय – १.४.१५

३. आ.गृ.सू. – १.७.३

गो.गृ.सू. – २.२.१६

४. पा.गृ.सू. – १.८.८

मैं अपने हृदय में तेरा हृदय धारण करता हूँ तेरा चित्त मेरे चित्त का अनुगामी (अनुचित्त) हो तू मेरी वाणी में (वाचि) एकाग्रचित (एकमना) होकर निवास करे। प्रजापति तुझे मुझसे संयुक्त करें।[१] यह विधि ये सूचित करती है विवाह केवल् शारीरिक सम्बन्ध ही नही वरन् यह तो दो हृदयों या दो आत्माओ का भी संबंध है। हृदय भावनाओं का केन्द्र है। इसके स्पर्श के द्वारा वर वधू के हृदय की सम्पूर्ण कोमल भावनाओं को उदबुद्ध और अपनी भावनाओं से अभिन्न कर देने के लिए प्रवाहित करना चाहता है। स्थालीपाक अथवा सहभोजन में वर वधू को कुछ पकवान इन शब्दों के साथ खिलाता है मैं (अपने) प्राणों से तेरे प्राणों को धारण करता हूँ। अपनी अस्थियों से तेरी अस्थियों को मांस से मांस को और त्वचा से त्वचा को धारण करता हूँ।[२]

विवाह एक सनातन तथा स्थायी संबंध

विवाह क्षणिक शारीरिक आवश्यकता की पूर्ति करने के लिए या कुछ काल तक परस्पर सहवास का लाभ उठाने के लिए किया जाने वाला एक अस्थायी सम्बन्ध नहीं है, जो नाममात्र की असुविधा होते ही विच्छिन्न हो जायें। यह एक ऐसा सम्बन्ध है जो जीवन के विभिन्न परिवर्तनों तथा संकटो की भट्ठी में पककर दृढ़तर तथा स्थायी हो जाता है। यह तथ्य प्रतीक रूप से विवाह की अनेक क्रियाओं में प्रतिबिम्बित हुआ है। अश्मारोहण की क्रिया में वर वधू को प्रस्तर खण्ड पर इन शब्दों के साथ आरूढ़ करता है। इस प्रस्तर (अश्मा) पर आरूढ़ हो और तू इसी के समान (अश्वमेव) स्थिर हो।[३] पत्थर स्थिरता व शक्ति का प्रतीक है। यहाँ पत्नी को अपनी पातिव्रत्य में स्थिर होने के लिए कहा जाता है। इस प्रकार की एक अन्य विधि ध्रुवदर्शन की। रात्रि में वर वधू को ध्रुवदर्शन कराता है तू ध्रुव है, मैं तुझे ध्रुव दिखाता हूँ हे चपले, तू मेरे साथ ध्रुव हो वृहस्पति में द्वारा सन्तति प्राप्त करने के लिए तुझे मेरे हाँथों सौंपा है। मेरे साथ सौ शरद

---

१. मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनुचितं ते अस्तु। पा.गृ.सू. पृ.-१०२

२. प्राणैस्ते प्राणान् सन्दधानि। पा.गृ.सू. १.११.५

३. हिन्दू संस्कार – डॉ. राजबली पाण्डेय – पृ. २८७-२८९

ऋतु पर्यन्त (शरदः शतम्) जीवित रहो।[१] पत्नी को आकाश में असंख्य गतिशील नक्षत्रों के मध्य ध्रुव नक्षत्र के समान असंख्य विपदाओं में स्थिर रहना चाहिए तथा सौ वर्ष पर्यन्त विद्यमान रहना चाहिए जो मानव जीवन की साधारण अवधि है। स्थिर तथा आजीवन सम्बन्ध अभीष्ट है। विवाह का पहलू अत्यन्त मूल्यवान समझा जाता है और वर उसकी रक्षा के लिए सरस्वती से प्रार्थना करता है। हे सरस्वति तुम इसका संर्वधन करो, हे सुभगे, हे वाजिनीर्णत तुम समस्त भूतों में सर्वप्रथम हो, विश्व में जो कुछ भी है तुम्ही से उसका उद्भव हुआ है और तुम्हीं में यह सम्पूर्ण विश्व स्थित है आज मैं उस गाथा का गान करूँगा जो स्त्रियों का उत्तम यज्ञ है।[२]

विवाह का प्राणिशास्त्रीय प्रतीकवाद

गृह्यसूत्रों में विवाह का प्रथम उद्देश्य जातीय अर्थात् सन्तति उत्पन्न कर जाति की अधिष्ठाता बनाये रखना है। मनु ने अपनी रचना मनुस्मृति में पुत्र प्राप्ति को विवाह का सर्वोत्तम प्रयोजन स्वीकार किया है।[३] वैदिक संहिताओं में कहा गया है कि सन्तति विहीन स्त्री और पुरुष दोनों अपूर्ण है।[४] विवाह की विधि में ऐसी अनेक क्रियाएँ है जो इस तथ्य की ओर संकेत करती है जिनका उद्देश्य इस संबंध को सफल बनाना तथा सहवास से सम्बद्ध संकटो का निराकरण करके प्रजनन विधि के विभिन्न पहलुओं को सुविधाजनक कर देना है। श्वसुर द्वारा औपचारिक रूप से दी हुई कन्या का दान स्वीकार कर वर कन्या के अभिभावक के समक्ष एक प्रश्न प्रस्तुत करता है यह वधू मुझे किसने दी है? इसका उत्तर है काम ने दी है।[५]

---

१. ध्रुवदर्शन विधि में पति पत्नी को ध्रुवमसि ध्रुवं त्वा पश्यामि; मन्त्र के साथ चित्त स्थिर करने को कहा है।

२. पा.गृ.सू. – १.७.२

३. अपसव्यं धर्मकार्याणि शुश्रुषा रतिरुत्तम। हाराधीनस्तथा स्वर्गः पितृणात्मनश्च। मनुस्मृति ९/२८

४. वैदिक संहिताओं में नारी – डॉ. मालती पृ. ९८

५. कोऽदात्? कामइति –

"रति" को विवाह का एक प्रयोजन स्वीकार किया है। वस्तुतः कामवृत्ति मनुष्य की प्रमुख नैसर्गिक प्रवृत्ति है। ऋग्वेद में एक संवाद में यह कहा गया है रति विवाह का प्रमुख प्रयोजन है क्योंकि इसके बिना सन्तति हो ही नहीं सकती।[१] दम्पती अपने मधुर समन्वय एवं सामञ्जस्य से पृथिवी को स्वर्ग बनाने में सचेष्ट रहते थे।[२] पुत्रोत्पत्ति की अभिलाषा "पुनाति पित्रादीन्" या "पुम् नाम परकात् त्रायते इति पुत्रः" अथवा पुमः त्रायते इति पुत्रः के भाव को सार्थक करती थी। "पुम्" शब्द महा नर्क या मनुष्य की नपुंसकता, निर्बलता, अक्षमता, निर्बलता, अक्षमता का द्योतक है जिससे सन्तानोत्पति के बाद ही मनुष्य त्राण पा सकता है।[३] वधू के शारीरकि विकास, विवाहित जीवन के लिए उसकी तैयारी और परिणाम स्वरूप सन्तति उत्पन्न करने का संकेत प्राप्त होता है। वर वधू को ध्यान दिलाता है प्रथम तू सोम की वधू थी उसके पश्चात् तुझे गन्धर्व ने प्राप्त किया अग्नि तेरा तृतीय पति था, मैं मनुष्यजन्मा तेरा चतुर्थ पति हूँ सोम ने तुझे गन्धर्व को दिया, गन्धर्व ने अग्नि को और अग्नि ने तुझे ऐश्वर्य (भग) तथा पुत्रों की प्राप्ति के लिए मेरे हाँथ सौपा है।[४]

सायण ने इन ऋचाओं की व्याख्या इस प्रकार की है जब कि अभी सहवास की इच्छा उद्बुद्ध नही हो पाती उस समय सोम कन्या का उपभोग करता है, जब यह आरम्भ होती है तब उसे गन्धर्व संभाल लेता है और विवाह के अवसर पर अग्नि को हस्तान्तरित कर देता है जो क्षमता आ जाने पर सन्तति उत्पन्न करने के लिए मनुष्यजन्मा पति को सौंप देता है।[५]

स्मृतियों ने इस ऋचा को इस प्रकार स्पष्ट किया गया है सोम ने स्त्रियों को शौच दिया। गान्धर्व ने उन्हें मधुर वाणी दी और अग्नि

---

१. ऋग्वेद – १०/१७९-१४

२. हिन्दू संस्कार – डॉ. राजबली पाण्डेय पृ. २९०

३. पूदिति नरकस्यारचया दुःखं च नरकं विदुः। पुदि त्रागात् ततः पुत्रमिहेच्छन्ति परत्र च तस्मात् पुत्रमनुणिष्टंलोयमाहुः इति। व्यास स्मृति ४/४२

४. ऋग्वेद – १०.८५.४०,४१

५. सायण भाष्य – इस ऋचा पर

ने उन्हें सर्वमेधत्व या सर्वशुचिता प्रदान की।[१] एक आधुनिक लेखक इस प्रकार कहता है सोम वनस्पति जगत का देवता है वह मन की अधिष्ठाता है। .... रोगों के सहित उसी का शारीरिक विकास सोमदेव की देख-रेख में होता है उसी के निर्देशन में उसका मन भी विकसित होता है। गन्धर्व सौन्दर्य या शोभा का अधिष्ठाता है। स्त्री के शरीर को सुन्दर बनाना तथा उसकी वाणी को मधुरता प्रदान करना उसका कार्य है। उसी की देख-रेख में सौन्दर्य चरम सीमा तक पहुँच जाता है। आँखे प्रेम की भाषा बोलने लगती है उसके अंगो में एक विलक्षण छवि व्याप्त हो जाता है। उसका कार्य समाप्त हो जाता है और वह वह्नि को हस्तान्तरित कर देता है। वृद्धि अग्नि तत्व का अधिष्ठाता है।[२] वसन्त ऋतु में प्रकृति एक रंग तथा हर्ष से आह्युत रहती है अग्नि उसे फलवान बनवाता है। वही स्त्री में रजः प्रवाह लाता है और तब स्त्रियाँ सन्तान उत्पन्न कर सकती है। तब अग्नि उसे अपने चतुर्थ मनुष्य जन्मा पति को सौंप देता है।[३]

जिस प्रकार वैदिक देव बाद में द्यौ और पृथ्वी (द्यावापृथ्वी) देवो अथवा द्युतिमान नक्षत्रों के जनक जननी है उसी प्रकार पति पत्नी से एक संसार को उत्पन्न करने की आशा की जाती है।

विवाह की सफलता तथा उन्नतिशीलता

वैवाहिक विधियाँ विवाह के केवल जीवशास्त्रीय प्रयोजन का ही प्रतीक नहीं है। विवाहित जीवन के उर्वरता तथा ऐश्वर्य सम्बन्धी अनेक प्रतीक भी उसमें निहित है। लाजाहोम की विधि में वधू का भाई अपनी अञ्जलि से शमीपत्रों से मिश्रित पक्व अन्न अपनी बहन के हाँथो में डालता है। खड़ी हुई वधू अपनी दृढ़तापूर्वक बंधी हुई अञ्जलि में उनकी आहुति अग्नि में देती है जबकि वह इन ऋचाओं का उच्चारण कन्या ने अर्यमा और अग्नि को आहुति दे दी है। वे देव अर्यमा हम लोगों को यहाँ से मुक्त करे किन्तु पतिगृह से नहीं। कन्या उक्त

---

१. अ.स्मृ. १३७

२. हिन्दू संस्कार – डॉ. राजबली पाण्डेय पृ. २९०

३. दि आर्यनमैरेज पृ. २६-२७

आहुति देती हुई प्रार्थना करती है मेरा पति चिरायु हो मेरे सम्बन्धी ऐश्वर्य प्रदान करे और मुझे तुझसे संयुक करे अग्नि हमें अमुक वस्तु प्रदान करे।[१] यहाँ अन्न और शमीपत्र उर्वरता का प्रतीक है। गृह्यसूत्रों की एक अन्य विधि के अनुसार एक सबल पुरुष वधू को झटककर भूमि से उठाता है और उसे पूर्व या उत्तर दिशा में लाल बैल के चमड़े पर इन शब्दों के साथ बिठाता है। यहाँ गाय अश्व और मनुष्य बैठे हैं यहाँ सहस्रदक्षिण यज्ञ हो, यहाँ पूषा बैठे।[२] ऐश्वर्य सम्पन्न तथा उन्नतिशीलता जीवन का भाव तथा उसके लिए तीव्र इच्छा की अधिक उत्तम अभिव्यक्ति सप्तपदी की विधि में हुई है। वर वधू को उत्तर दिशा में सात पग इन शब्दों के साथ चलने के लिए कहता है इष के लिए एक पग उर्ज्व के लिए दो ऐश्वर्य (भग) के लिए तीन सुख के लिए चार पशुओं के लिए पाँच और ऋतुओं के लिए छह पग चल। सखे सात पगों के साथ तू मुझसे संयुक्त हो इस प्रकार तू मेरे पति अनुश्रुता हो।[३]

विवाह दुष्ट प्रभावों का निराकरण

विवाह मनुष्य के जीवन में एक पूर्णतः नवीन अध्याय का प्रारम्भ कर देती है। यह दो व्यक्तियों के बीच एक सर्वथा नवीन सम्बन्ध स्थापित करती है जिसके विषय में अनेक संभावनाएँ आशायें तथा आशंकाएँ रहती है। वैवाहिक आशंकाओं के निवारण के लिए अनेक प्रयत्न किये जाते है। वधू का पिता जब कि वह वर वधू को देखने के लिए कहता है वधू को इस प्रकार शिक्षा देता है। तू सुन्दर और मुग्धकर नेत्रों वाली हो अपने पति के प्रति किसी भी दुष्टप्रभाव को अपने मन में स्थान न दे, पशुओं तथा अन्य आश्रितों के प्रति दयालु तथा हितैषिणी हो सदैव हर्षित तथा उन्नतिशील हो तू वीर पुत्रों की माता हो, देवों का यजन कर प्रसन्न हो, हम लोगों द्विपदों तथा चौपायो के लिए शुभ सूचक हो।[४] प्रथम आशंका तथा सन्देह वधू के

---

१. पा.गृ.सू. १.६.१

२. पा.गृ.सू. – सुधाकरमालवीय १.८.१०

३. पा.गृ.सू. – वही १.८.१

४. वही वही १.४.१७

विषय में है जिसे घर का केन्द्र बिन्दु बनना है तथा केवल अपने इन सभी के प्रति स्नेहपूर्ण दयालु तथा उदार होने की आशा की जाती है।

राष्ट्रभृत यज्ञ में वर महत्त्वपूर्ण देवों तथा पितरों से विवाहित जीवन के मार्ग में आने वाले समस्त सम्भावित संकटो से रक्षा के लिए प्रार्थना करता है वह कहता है सब प्राणियों से मेरी रक्षा करें।[१] अभिषिञ्चन क्रिया में जल (आप:) से पूर्व स्वास्थ्य तथा सर्वत: शान्ति प्रदान करने के लिए प्रार्थना की जाती है। शुभसूचक सर्वाधिक शुभसूचक तथा शान्तिपूर्ण जल तुम्हारे लिए स्वास्थ्यप्रद औषध हो।[२] इसके पश्चात् सुमङ्गली या आशीर्वाद का क्रम आता है जिसमें वर समस्त उपस्थित अतिथियों तथा सम्बन्धियों को वधू को आशीर्वाद देने के लिए इन शब्दों के साथ आमन्त्रित करता है। "यह वधू सुमङ्गली है आये और इसे देखे इसे सौभाग्य प्रदान कर आप लोग अपने-अपने घर के लिए प्रस्थान करें।"[३] विवाह के पश्चात् चतुर्थी कर्म नामक एक क्रिया है जो विवाह के पश्चात् चतुर्थ दिन की जाती है।[४] पति इन ऋचाओं के साथ आहुति देता है हे अग्ने शोधक तू देवो का शोधक है। रक्षा का इच्छुक मैं ब्राह्मण तेरी प्रार्थना करता हूँ।[५] इसके पश्चात् वह निम्न शब्दों के साथ जल से वधू का अभिषिञ्चन करता है। तुझमें विद्यमान दुष्ट तत्व जो मेरे पति शिशुओं पशु गृह तथा यज्ञ के लिए मृत्यु लाने वाले है उन्हें मैं उस तत्व में परिणत करता हूँ जो तेरे जार या उपपति के लिए मृत्यु का वाहक हो इस प्रकार मेरे साथ वृद्धावस्था पर्यन्त निवास करें।[६] विवाह की संकटपूर्ण प्रकृति तथा उससे सम्बद्ध आशंकाओं की ओर स्पष्ट संकेत किया गया है और उनके निवारण के लिए प्रयत्न किये गये है। इसमें एक बात विशेष रूप से स्मरणीय है वधू यहाँ वर की अपेक्षा आशंकाओं के प्रति

---

१. पा.गृ.सू. – सुधाकर मालवीय १.५.७-११

२. वही १.८.५

३. वही १.८.९

४. हिन्दू संस्कार पृ. २९०

५. पा.गृ.सू. १.१.११

६. पा.गृ.सू.

अधिक संदिग्ध समझी गयी है अतः वही शुभसूचक क्रियाओं का केन्द्र है।

विवाह विषय भोग का अनुमति-पत्र नहीं

विवाह काम भोग में आसक्ति का प्रमाण पत्र न होकर एक अमानवीय संस्था है। जिसका उद्देश्य दाम्पत्य जीवन में संयत मार्ग का अनुसरण है। वैवाहिक विधि विधानों के अन्त में त्रिरात्र व्रत में बल दिया गया है। तीन रात्रि पर्यन्त लवण क्षार मुक्त भोजन ग्रहण नहीं करेगें तथा अधिकतम एक वर्ष और न्यूनतम तीन दिन पर्यन्त वे सहवास से दूर रहेंगे।[१]

विवाहित दम्पत्ति को दाम्पत्य जीवन में संयत मार्ग की शिक्षा देना ही इस क्रिया की प्रतीकात्मकता प्रतीत होती है। युवक पुरुष तथा युवती स्त्री के लिए परस्पर एक दूसरे के प्रति घनिष्ठ तथा आकृष्ट होना और यथा सम्भव शीघ्र एक दूसरे के शारीरिक सम्पर्क में आने के लिए उत्सुक होना स्वाभाविक है। विवाहित प्रेम अन्धकामुकता द्वारा नियन्त्रित न होकर पूर्व आत्म संयम पर आधारित होना चाहिए। मध्यम मार्ग के अनुसरण के अनुपात में ही विवाहित जीवन भी अधिक सुखकर होगा।

विवाह एक सामाजिक परिवर्तन तथा यज्ञ

विवाह की उक्तियाँ वचन आशा तथा आशंकाएँ वर और वधू के जीवन[२] में एक महान् सामाजिक संक्रमण का प्रतीक हैं। वे अब अपने भोजन तथा विचारो के लिए माता-पिता पर आश्रित रहने वाले अनुत्तरदायी युवक व युवती नहीं रह जाते उन पर जीवन की गम्भीरता प्रकट होती है वे एक नवीन परिवार बसाने के लिए अपना पुराना परिवार त्याग देते हैं। उन्हें अब अपनी सन्तान उत्पन्न करना और देवों, पितरों तथा विश्व के इतर प्राणियों के प्रति अपना ऋण चुकाना होता है। यह दायित्वों तथा चिन्ताओं का जीवन है। विवाह का अर्थ होता है

---

१. पा.गृ.सू. १.८.२१

२. हिन्दू संस्कार – डॉ. राजबली पाण्डेय – पृ. २९३-२९४

ऊपर उठाना योग देना, ग्रहण करना, धारण करना, अपने यथार्थ रूप से समझा जा सकता है। इसमें एक महान समझौता और पारस्परिक आत्म समर्पण की भावना निहित है जो विवाह को सुख प्राप्ति की समस्या का एक समाधान समझते हैं उन्हें अपने त्रुटिपूर्ण धारणा के कारण कष्ट उठाना होता है जो सुख तथा वृद्धि के लिए विवाह करते है उन्हें कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

विवाह अपना वास्तविक अर्थ तथा पूर्णता केवल तभी प्राप्त करता है जब दाम्पत्य सम्बन्ध इस अनुभव पर आधारित रहता है कि विवाह अपने सहयोगी परिवार समाज तथा संसार के कल्याण के लिए स्वेच्छापूर्ण त्याग व आत्मसमर्पण है।

अन्त्येष्टि संस्कार

अन्त्येष्टि एक संस्कार है यह द्विजों द्वारा किये जाने वाले सोलह संस्कारों में एक है और मनु के मत से यह वैदिक मन्त्रों के साथ किया जाता है।[१] बौ. पितृमेधसूत्र का कथन है कि प्रत्येक मानव के लिये दो संस्कार ऋण स्वरूप अर्थात् उनका सम्पादन अनिवार्य है और वे है जन्म संस्कार एवं मृतक संस्कार।[२]

पा.गृ.सू. में अन्त्येष्टि के विषय में लिखा है कि जिसका उपनयन संस्कार हो चुका है उसकी अन्त्येष्टि क्रिया उसी प्रकार की जाती है जिस प्रकार श्रौत अग्निहोत्र करने वाले व्यक्ति की। अन्तर मात्र इतना होता है कि अह्यियाग्नि तीनों वैदिक अग्नियों के साथ जला दिया जाता है जिसके पास केवल स्मार्त अग्नि या औपासन अग्नि

---

१. निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः। तस्य शास्त्रेऽधिकारोऽस्मिन् ज्ञेयोनान्यस्य कस्यचित्। मनु. २/१६

ब्रह्मक्षत्रियविट् शुद्रा वर्णास्त्वांद्यास्त्रयो द्विजाः। निषेकाद्याः श्मशानांन्तास्तेषां वैमन्त्रतः क्रियाः। याज्ञ. १/१०

आधानपुससीमन्तजा तनामात्र चौलकाः। मौञ्जी व्रतानि गोदानं समावर्तविवाहकाः अन्त्यं चैतानी कर्माणि प्रोच्यन्ते षोडशैव तु जातुकर्ण्य। संस्कार प्रकाश पृ. १३५

२. बौधायन पितृमेधयज्ञ सूत्र ३/१/४

होती है वह उसके साथ जला दिया जाता है।[१] पा.गृ.सू. के अनुसार एक ही गाँव के रहने वाले सम्बन्धी एक ही प्रकार का कृत्य करते हैं वे एक ही प्रकार का वस्त्र धारण करते हैं। वे यज्ञोपवीत को दाहिने कन्धे से लटकाते थे।[२]

शवयात्रा

शवयात्रा का नेतृत्व साधारणतः मृतक का ज्येष्ठ पुत्र या प्रमुख शोकार्त सम्बन्धी करता है। शवयात्रा का नेतृत्व करने वाला व्यक्ति अपने हाँथ में जलती हुई लकड़ी लिये रहता है जिसे वह गार्हपत्य अग्नि से प्रदीपत करता है।[३]

गृह्यसूत्रों के अनुसार दो वर्ष से अधिक आयु के सभी सपिण्डों को शव के साथ श्मशान तक जाना चाहिये।[४] शवयात्रा में सम्मिलित हाने वालों का क्रम उनकी आयु के अनुसार होता है अर्थात् वयोवृद्ध आगे-आगे चलते है अन्य लोग उनके पीछे जाते हैं। प्राचीन काल में स्त्रियाँ भी अपने केशों को बिखेर व अस्त व्यस्त कर और कन्धों को धूलि धूसरित कर श्मशान जाती थी। मृतक की कनिष्ठ पत्नी उसका नेतृत्व करती थी।[५]

दाह संस्कार

आरम्भिक क्रियाओं को समाप्त करने के उपरान्त दाह संस्कार होता है। जो उस आहवनीय अग्नि में दी हुयी आहुति समझी जाती है और जो यज्ञीय आहुति के रूप में शव को स्वर्ग पहुँचाती है। जब चिता प्रदीप्त होने के लिये प्रस्तुत हो जाती है तो उसमें इस प्रार्थना के साथ अग्नि में दी जाती है।[६] सूत्रकाल में गृहस्थ द्वारा रखी हुई तीन

---

१. यद्युपेतो भूमि जोषणादि समाजमाहिताग्ने रोदकान्तस्य ममनात्।
पा.गृ.सू. ३/१०/१० पृ. ४२९

२. एकवस्त्राः प्राचीनावीतिनः। वही ३/१०/१८ पृ. ४३१

३. शालाग्निना दहन्त्येनमाहितश्चेत्। वही ३/१०/११

४. द्विवर्ष प्रभृति प्रेममाश्मशानात् सर्वे गच्छेयुः। वही ३/१०/८

५. अस्य भार्याः कनिष्ठ प्रथमाः प्रकीर्णकेशयो व्रजेयुः प्रासूनसेष्या वपमानाः
बौ.गृ.सू. १.४.३

६. आ.गृ.सू. ४.१.२, भा.गृ.सू. १-२

या पाँच अग्नियों की ज्वालाओं से दाह होता था और यह भविष्यवाणी की जाती थी कि मृतक दाह के पश्चात् किस लोक में जायेगा मृतक ने देवलोक पितृलोक या अन्य किसी लोक को प्रस्थान किया।[१] दाह संस्कार के अधिकारी उनके पुत्रादि है।[२] विवाहित स्त्रियों का दाह संस्कार के अधिकारी उनके पति होते है और विवाहित स्त्रियाँ अपने पतियों का दाह संस्कार करने की अधिकारी होती है।[३]

वापस आना

दाह संस्कार करने के पश्चात् शव के साथ जाने वाले व्यक्ति बिना आस-पास देख के वापस लौट पड़ता है।[४] श्मशान से लौटने पर घर के दरवाजे पर रखे नीम के पत्ते को दांत से चबाये, उसके बाद आचमन कर लें। पुनः पानी आग घी गोबर सरसों और तिल के तेल को छुएँ पुनः पत्थर को लांघकर तब घर में प्रवेश करना चाहिये।[५] उनसे शोक की अभिव्यक्ति न होने देने, सिर झुकाये हुये चलने परस्पर एक दूसरे को सान्त्वना देते हुए उत्तम कथायें कहते हुए चलने के लिये कहा जाता है।[६]

---

१. अनवेक्षमाणा ग्राममायन्ति रीतीभूताः कनिष्ठ पूर्वाः। पा.गृ.सू. ३/१०/२३

२. पुत्रः पौत्रः प्रपौत्रो वा भ्राता वा भ्रातृसन्ततिः
सपिण्डसन्ततिर्वापि क्रियार्हो नृप जायते।
वेषामभावे सर्वेषां समानोदकसन्ततिः
मातृपक्षस्य पिण्डेन सम्बद्धा वा जलेन वा
कुलेड्डयऽपि चोच्छिन्नते स्त्रीभिः कार्या क्रिया नृप
सङ्घातान्तर्तिगते वापि कार्या प्रेतस्य सत्क्रिया
उत्सन्नबन्धुरिक्थादा कारयेदवनीपतिः। पा.गृ.सू. के विष्णु पुराण का श्लोक ३/१३/३०-३३

३. प्रतानामितरे कुर्वीरन् ताश्त तेषाम्। पा.गृ.सू. ३/१०/४२-४३

४. अनवेक्षमाणा ग्राममायन्ति रीती भूताः कनिष्ठ पूर्वाः। पा.गृ.सू. ३/१०/२३

५. निवेशनद्वारे पिचुमन्दपत्राणि विदश्याघम्योदकमग्निं गोमयं गौर सर्षपांस्तैलमालभयाश्मानमाकृम्य प्रविशन्ति। वही ३/१०/२४

६. यमगाथां यमदवत्यायानृचि गीतं साम गायन्तः पठन्तः तथा यमसूक्तं यमदैवत्यानामृचां समुदायं सूक्त शब्दवाच्यं जपन्तोऽनुगच्छेयु रित्याहुः। वही ३/१०/९

उदक कर्म

उदक कर्म मृतक के लिये जलदान की क्रिया आती है। यह अनेक प्रकार से की जाती है। एक आचार्य के अनुसार मृतक की सातवीं या दसवीं पीढ़ी पर्यन्त सभी सम्बन्धी निकटतम नदी या तालाब में स्नान द्वारा अपने को शुद्ध कर[१] प्रजापति की स्तुति करते थे। स्नान करते समय वे केवल एक ही वस्त्र पहने रहते थे और यज्ञोपवीत दाहिने कन्धे पर लटकता रहता था शोकार्त व्यक्ति अपना मुख दक्षिण की ओर कर पानी में डुबकी लगाते थे और मृत व्यक्ति का नाम लेते हुये जल की अञ्जलि देते हैं।[२] तब वे पानी से बाहर आकर सूखे हुए वस्त्र धारण करते है और पहले पहने हुए वस्त्रों को उत्तर की ओर फैलाते है। माता पिता के विषय में कतिपय भिन्नता है। माता के पहले मर जाने पर यदि अशुद्धि के मध्य में ही पिता की मृत्यु हो जाये तो पितृमरण के निमित्त हुयी अशुद्धि के समाप्त होने पर ही शुद्धि होती है।

यदि पिता पहले मर जाये बाद में माता मरे तो पिता की मृत्यु जन्य अशुद्धि समाप्त होने के १२ प्रहर बाद शुद्धि हो जाती है।[३]

मृतक की आयु दो वर्ष से कम होने पर जलाञ्जलि नहीं दी जाती[४] है यदि मृतक का उपनयन संस्कार हो चुका हो तो उसके भूमि संस्कार से उदकाञ्जलि दान पर्यन्त कर्म अनहिताग्नि व्यक्ति की भाँति करने चाहिए।[५] कोई यौनतः सम्बद्ध व्यक्ति अर्थात् पत्नी का भाई हो तो उससे उदक करिष्यामह मंत्र पढ़कर बन्धुजन जलदान की आज्ञा मांगे[६] इस प्रकार आज्ञा मांगने पर यदि मृतक की आयु १०० से कम

---

१. सर्वे ज्ञातयोऽपोभ्य वयन्त्या सप्तमातत्पुरुषा दृश माद्वा। वही ३/१०/१६

२. एक वस्त्राः प्राचीनावीर्तिनः। सत्यस्यानानिकयाऽपनो द्यापनः शोशुचदद्यमिति दक्षिणामुख निमञ्जन्ति। वही ३/१०/२०

३. पा.गृ.सू. ३/१०/६ टिप्पणी पृ. ४२८

४. नात्रोदककर्म। वही ३/१०/७

५. वही ३/१०/१०

६. संयुक्त मैथुनं वोदकं याचेरन्नुदकं करिष्यामह। वही ३/१०/१३

हो तो वह उत्तर दे कुरुर्ध्व या चैवं पुनः[१] यदि मृतक की आयु १०० वर्ष की भोग कर मरा हो तो प्रत्युत्तर में कहा जाये कुरुध्वम्।[२]

शोकर्तो की सान्त्वना

स्नान के पश्चात् मृतक के सम्बन्धी एक स्वच्छ और पवित्र घास से युक्त स्थान की ओर चले जाते है।[३] इतिहास और पुराणों से अभिन्न व्यक्ति मृत व्यक्ति की प्रशंसा और प्राचीन साहित्य की सान्त्वना देने वाली कथाओं से शोकार्तो को शोकरहित करते है।[४] वे सूर्यास्त अथवा प्रथम नक्षत्र प्रकट होने के पूर्व गाँव को नहीं लोटती।[५] कतिपय आचार्यों के अनुसार अगर मृतक का रात्रि में स्पर्श करें तो सूर्योदय से पूर्व गाँव को नहीं जाते।[६] युवक पहले चलते हैं वृद्ध पीछे। यह प्रथा शवयात्रा के शमशान भूमि की ओर प्रस्थान करने के पूर्व वे स्वयं को शुद्ध करने के लिए पत्थर, अग्नि, गोबर, अन्न, तिल के बीच, जल और तेल का स्पर्श करते हैं।[७] अन्य आचार्यों के अनुसार घर के द्वार पर वे पिचुमण्ड अथवा नीम चबाते अपना मुख स्वच्छ करते, जल, अग्नि, गोबर आदि का स्पर्श करते पत्थर पर चलते और तब घर में प्रविष्ट होते हैं।[८]

अशौच

व्यक्ति की मृत्यु के फलस्वरूप एक ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है जिसे पात्रिमयन शब्द "टैबू (निषेध) द्वारा भली भाँति अभिव्यक्त किया जा सकता है किसी व्यक्ति का वस्तु का धार्मिक

---

१. कुरुध्वं मा चैवं पुनरत्यिशतवर्षे प्रेते। वही ३/१०/१४
२. कुरुध्वमित्येवेतरस्मिन्। वही ३/१०/१५
३. पा.गृ.सू. ३/१०
४. पा.गृ.सू. ३ १०/२२
५. पा.गृ.सू. ३११०/३६
६. पा.गृ.सू. ३.१०/२२
७. बौ.धर्म १.१२.६
८. वा.गृ.सू. ३११०/२४-२६ पृ. २४२-२४३

अथवा अर्द्ध-धार्मिक प्रयोजनों के लिए निषिद्ध ठहरा देना है। जब तक शुद्धि न हो जायें तब तक न तो वेद पढ़ना चाहिये और न ही पढ़ाना चाहिये गार्हपत्याग्निसाध्य कर्म छोड़कर नित्यकर्म सन्ध्यावन्दनादि करते रहना चाहिये। कुछ आचार्यों का मत है कि शालाग्निसाध्य (अग्निहोत्रादिकर्म) स्वयं न ही करे किन्तु दूसरे से करा ले। हरिहर पारस्कर को यह इष्ट नहीं है अन्य आचार्यों में कात्यायन का दृष्टिकोण यही है कि वैतनिक कर्म स्वयं ही करना चाहिए उसका त्याग अच्छा नहीं है वैतानिक स्वयं कुयत्तित्यागो न विधयिते" शव प्रत्येक स्थान पर स्पर्श के लिए वर्जित माना जाता है और उसके निकट आने या उसे स्पर्श आदि करने में अत्याधिक सावधानी बरती जाती है। इस निषेध के मूल में कोई भावना निहित हो परन्तु यह स्पष्ट है कि यह बहुत अंश तक शव की संक्रामक प्रकृति पर आधरित था। अतः मृतक के जीवित सम्बन्धी, मृत व्यक्ति के साथा उसकी रूग्णावस्था में और मृत्यु के पश्चात् उसके शव के साथ सम्पर्क के कारण स्वास्थ्य सम्बन्धी नियमों के आधार पर एक निश्चित अवधि के लिए समाज से पृथक हो जाते है। अशौच की अवधि दस दिन की है।[१] वैश्य की अशौच कल १५ दिन शुद्र का ३० दिन तक और क्षत्रिय का १२ दिन तक रहता है।[२] यह भेद प्रधानतः विभिन्न जातियों में स्वच्छता तथा शौच सम्बन्धी नियमों के पालन पर आधारित था। किन्तु स्थिति के भेद से व्यक्तियों को विकल्प की अनुमति प्राप्त थी मृत्यु से होने वाला अशौच तीन या दस दिनों तक रहता था।[३] जयराम ने इस सुत्रवचन की व्याख्या पर पाराशर स्मृति से एक श्लोक उद्धृत किया है विधिवत अग्निहोत्र और वेद का स्वाध्याय करने वाला ब्राह्मण एक दिन में शूद्ध हो जाता है। केवल वेद का स्वाध्याय करने वाला तीन दिन में और दोनों की उपेक्षा करने वाला दस दिनों में।[४] परवर्ती स्मृतियाँ विशिष्टः परिस्थितियों में अशौच से पूर्णतः मुक्ति की भी अनुमति देती है। ऋत्विज यज्ञ में दीक्षित तथा इसी प्रकार अन्य

---

१. पा.गृ.सू. २/१०/३० त्रिरागह शावमाशोचम् दशरात्रमित्येके।।

२. पा.गृ.सू. ३/१०/३८

३. दशरात्रमित्येके न त्रिरात्र शावमाशौचम् पा.गृ.सू. ३/१०/२९-३० पा. २२९

४. एकाहाच्छुध्यते विप्रो योडग्विेदसभन्वितः।

यज्ञीय कर्म करने वाले दीर्घसत्र का अनुष्ठान करने वाले तथा ब्रह्मचारी ब्रह्मवत्ता कारीगर शिल्पी वैध दासी दस नापित।[१]

राजा और श्रोत्रिय[२] तत्काल शूद्र (सद्यः शौच) हो जाते है।[३] वर्ष से कम आयु के शिशु की मृत्यु से केवल उसके माता पिता को

---

१. **नापित** – इस शब्द का उल्लेख शतपथ ब्रह्मण (३/१२.२) तथा काव्यायन श्रातसूत्र ७.२.८.३ आश्वलायन गृहतसूत्र १.१६ आदि में हुआ है किन्तु प्रचीन शब्दवाता है जो वेद से बना है जिसका अर्थ है क्षौर क्रिया करना अथवा बालकरना मृतको को जलाये लाने के पहले क्षौर क्रिया होती है। अथर्व पू १९.४ धार्मिक कृलो में नापित का मुख्य और आवश्यक स्थान है वह पुरोहित का एक प्रकार से सहायक होता है। हिन्दू धर्म कोश शज्ञा पाण्डेय

२. श्रोत्रियम – श्रुति अथवा वेद अध्ययन करने वाला ब्राह्मण पद्यमपुराण के उत्तर खण्ड का (१६६ अध्याय) में श्रोत्रिय का लक्षण इस प्रकार बतलाया गया है –

जन्मना ब्रह्मणो श्रयः संस्कारे द्विज उचयते
वेदाभ्यासी भवेद् विप्रः श्रोत्रियस्त्रिभिरेव च।।

जन्म से ब्रह्मण जाना जाता है संस्कारों से द्विज वेदाभ्यास करने से विप्र होता है और तीनो से श्रोत्रिय तम

मार्कण्डेय पुराण तथा मनुस्मृति में भी प्रायः श्रोत्रिय की यही परिभाषा पायी जाती है। दानकमलाकर में थोड़ी भिन्न परिभाषा मिलती है:

एकां शाखां सकल्पां वा षडभिरग्डैरधीव्य च
षट्कर्मनिरता विप्रः श्रोतयों नाम धर्मवित्।

कल्प के साथ एक वैदिक शाखा अथवा छः वेदाग्डो के साथ एक वैदिक शाखा का अध्ययन कर ष्टकर्म में लगा हुआ ब्राह्मण श्रोत्रिय कहलाता है। धर्मशास्त्र में श्रोत्रियों के अनेक कर्तव्यों तथा अधिकारों का वर्णन पाया जाता है। श्राद्व आदि कर्मो में उनका वैशिष्टय स्वीकार किया गया था राजा को यह देखना आवश्यक था कि उसके राज्य में कोई प्रश्रयहीन न रहे। हिन्दू धर्मकोश डॉ. राजबली पाण्डेय पृ. ६३९

३. ऋत्विजा दीक्षितानान्च यज्ञियं कर्म कृर्तताम्
सबव्रतिब्रह्मचारिदावृब्रहमविदां तथा या.स्मृ. ३२८
राजानः श्रोत्रियाश्चैव सद्यश्शौचः प्रळीर्तिताः। पा.स्मृ. ३.२१-२२

ही एक या तीन रात्रि के लिये अशौच लगता है कल या जन के अन्य सदस्यों को नहीं परन्तु जिसके दाँत निकल आये हो और चूड़ाकरण संस्कार हो गया हो ऐसे बालक की मृत्यु पर उसके समस्त बान्धव अशुद्ध हो जाते है। नामकरण के पूर्व शिशु की मृत्यु होने से किसी भी प्रकार का अशौच नहीं होता है। सम्बन्धियों और मित्रों के लिए अशौच के नियमों का पालन गृह्यसूत्रों में एच्छिक था। कुल के पुरोहित श्वसुर मित्र अन्य (वैवाहिक) सम्बन्धियों तथा भानजो की मृत्यु होने पर अशौच के नियमों का पालन व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर है।[१] अशौच की अवधि में पालनीय नियम दो प्रकार के है निषेधात्मक और विध्यात्मक निषेधात्मक नियमों के रूप में शोकार्तो से अनेक भाग विलसों और जीवन के साधारण कार्य और व्यवसाय को भी त्यागने और इस प्रकार अपनी शोक की भावनाओं को व्यक्त करने की अपेक्षा की जाती है।[२]

अस्थिसंचयन विधि

अस्थि संचयन वह कृत्य है जिसमें शवदाह के उपरान्त जली हुई अस्थियों एकत्र की जाती है।[३]

इसके विषय में कोई उल्लेख नहीं मिलता परन्तु जयराम ने पा. गृ.सू. में भाष्य में लिखा है आजकल दाह के ही दिन अस्थियों का चयन कर बाद में गंगा अथवा किसी अन्य पवित्र नदी में प्रवाहित कर देने मृतक के लिए नितान्त पुण्यदायक माना जाता है। जिस पुण्यवान व्यक्ति की अस्थियाँ गंगा जल में प्रवाहित की जाती है उसकी ब्रह्मलोक से पुनरावृत्ति (मृत्युलोक में) कदापि नहीं होती लोग जिसकी अस्थियों को लाकर गंगाजल में डाल देते है वह सहस्त्रों

---

१. पा.गृ.सू. ३.१०.२५

२. पा.गृ.सू. ३.१०-४६-४९ या स्मृ. ३.१५ मनुस्मृ. ५६३

३. शा. श्रो ४/१५/१२-१८ सत्याषाढ़ श्रो. २०/२ आश्व.गृ.सू. ४/५/१-१८/ गृ. व.सू. १/५ विष्णु १५-१०-१२ गृ.सू. ३/५४-५९

वर्षों तक स्वर्ग में निवास करता है।[१] सपिण्डीकरण या सपिण्डन से पिण्ड प्राप्त करने वाले पितरों के समाल से मृत व्यक्तियों को मिलाया जाता है।[२]

किस दिन करना चाहियें पाठ के अनुसार ब्राह्मण के फूल चौथे दिन क्षत्रिय के पांचवे दिन वैश्य के छठे और शुद्र के १२ वें दिन चुनने चाहिये। श्मशान में "कव्यादमुख्येभ्यों देवेभ्यः" कहकर बलि प्रदान की जायें जनेऊ को दाहिने कन्धे पर डालकर पलाश वृत्त से फूलों को बटोर कर अंगुष्ठा और कनिष्ठा उंगलियों से उन्हें उठाकर पलाश के पत्र पुट दोने में रखे शमी शेवाल और कर्दम को भी रखे। उन्हें श्रातक कर अन्य वनस्पतियाँ मिलाकर दक्षिण पूर्व में जौ के आकार का गडढ़ा खोदकर कुश विछाकर पीले कपड़े के छझेर में हल्दी की गाँठ बाँधकर ॐ वाचा मनसा आर्तेन ब्रह्मणा त्रयय विद्यया पृथिव्चयामाक्षिकायमपा रसेन सिवायाभ्यसौ असौ के स्थान पर मृतिक कर नाभ मंत्र पढ़कर रख दे। फिर उन अस्थियों को घड़े में रखकर उसे किसी वृक्ष की जड़ में गाण दें। चिन्ता की भस्म पूरी तरह पानी में फेंक दी जायें हरिहर ने इन वस्तुओं की गंगा में विसर्जित करने पर महत्व दिया है।

पिण्डदान

पिण्डदान अन्त्येष्टि क्रिया के अन्तिम भाग की क्रिया है जो अशौच की अवधि में की जाती है।[३] मृतक अभी भी एक प्रकार से जीवित समझा जाता है जीवित सम्बन्धियों के प्रयमन मृतक के लिए

---

१. गंगातोये च यस्यास्थि प्लापिते शुभकर्मणः
न तस्य पुनरावृतिब्रह्मलोकात् कदाचन।।
गंगातीर्थे च यस्यास्थि नीत्वा सड़क्षिप्यते नरेंः।
युगानान्तु सहस्राणि तस्य स्वर्गे भवेद् गतिः। यम, जयराम द्वारा पा.गृ.सू. ३/१० पर टिप्पणी

२. सापिण्डीकरण पिण्ड प्राप्त करने वाले पितरों के समाज में मृत्यु व्यक्तियों को मिलाया जाता है।

३. पा.गृ.सू. ३/१०/२७-२८

भोजन प्रस्तुत करने तथा पितरों के स्थायी आवास थी और उसका मार्गदर्शन करने के उद्देश्य से प्रेरित होते है। वैदिक युग में पिण्डदान में भाग लेने के लिए साधारणत: पितरों को आमन्त्रित किया जाता था।[१] गृह्यसूत्रों में इस विषय पर विध्यात्यक[२] नियमों का समावेश है। चावल के उक्त पिण्ड के साथ उसकी शुद्धि के लिए जल भी गिराया जाता तथा प्रेत का नाम लेकर पुकारा जाता था उसके लिए दूध और जल उन्मुक्त वायुमण्डल में इन शब्दों के साथ रख दिये जाते थे। यहाँ स्नान करों। सपिण्डीकरण के अनन्तर पिता आदि तीन जन ही अनुष्ठान करे इसलिए चतुर्थ पिण्ड की निवृत्ति हो जाती है।

मृतक का नाम स्मरण कर उसे पिण्डदान कर पिण्डदान की वेदी बिछाये कुशों पर जल छिड़के जितनी बार पिण्डदान और जल छिड़कने का कार्य होगा उतनी बार नाम लिया जाये या यह कार्य तीन दिन तक होगा। पिण्डदान प्रेतक्रियाधिकारी पुत्रादि के विषय में हरिहर का कथन है कि वह १० दिन तक प्रतिदिन एक-एक पिण्ड देता जाये साथ में कहे अमुक गोत्र अमुक शर्मन प्रेत अवनेनिक्ष्व फिर कुछ बिछाकर अमुक गोत्रामुक श्रर्मन प्रत एषते शिर: पूरक: पिण्डो भया दीयते कहकर पिण्ड दे।

उसे सुगन्धित पदार्थ और पेय तथा यम लोक के अंधकारमय मार्ग को आलोकित करने के लिए दीपक भी दिये जाते थे।[३] ग्यारहवें दिन ब्राह्मणों का भोज दिया जाता था जिसमें मास के व्यञ्जन भी परोसे जाते थे।

दाह के पश्चात् बारहवें दिन तक प्रत्येक दिन विशेष प्रयोजन के लिए विशेष प्रकार के अनुष्ठान का विधान किया गया है। तदनुसार पहले दिन सतक की क्षुधा और वृथा को वृक्ष करने तथा उसके भावी शरीर की रक्त नलियों के निर्माण के लिए एक भात का पिण्ड,

---

१. अ.वे. १०.१५

२. पा.गृ.सू. ३/१०/२६ २८

पा.गृ.सू. २.१०–२६–२८ पर जयराम की व्याख्या पा.गृ.सू. २११०/५१

३. पा.गृ.सू. ४.५

पानी का एक घड़ा तथा अन्य खाद्य पदार्थ देना चाहिए आसन के लिए कुश, लेप, प्रथ और सुगन्धित पदार्थ तथा दीपक भी मृतक के लिए बाहर रख देने चाहिए। दूसरे दिन मृतक के श्रवण नेत्र और घ्राण के निर्माण के लिए पिण्डदान किया जाता है तीसरे दिन गले, कन्धे, बाद और वक्षस्थल के निर्माण के लिए और इसी प्रकार नवें दिन तक मृतक के विधि बग्डे के निर्माण के लिए पिण्डदान दिये जाते है जबकि मृतक का देह पूर्ण हो जाता है। दसवें दिन जीवित सम्बन्धियों के केश, श्मश्रु और नख काटे जाते है और मृतक की प्रेत दशा के निवारण के लिए मृतक और यम को पिण्डदान किया जाता है। ग्यारहवें दिन अनेक क्रियायें होती है।[१] आरम्भ में मृतक को जला दिया जाता है तथा भगवान विष्णु से प्रेत को मोक्ष प्रदान करने की प्रार्थना की जाती है।[२] कुछ आचार्यों का मत है कि साल भर उसे अलग से ही पिण्डदान देना उपयुक्त है। यह पिण्डदान केवल पिता को ही देना चाहिए क्योंकि सपिण्डीकरण साल भर में ही होता है। पिता तब तक असपिण्डीकृत ही रहता है। सपिण्डो (पूर्वजो) के साथ मिल नहीं पाता, अतः उसे पृथक रूप से पिण्ड दान देना ही उचित है। साल भर तक पिता को अन्य लोगों से पृथक पिण्ड दान करना ठीक नहीं पृथक पिण्ड दान करना श्रुति विरूद्ध है। कुछ आचार्यों का मत है कि प्रतिदिन पिण्डदान भी होना चाहिए।[३]

विधिविधान

गृह्याग्नि की स्थापना करने वाले मरणासन्न व्यक्ति को पुत्रादि दुर्बल जानकर स्नान करा दे। शुद्ध वस्त्र ओढ़ कर सिर दक्षिण की ओर करके कुशमयी भूमि पर लिटा दे। यथाशक्ति स्वर्ण और भूमि का उससे दान करा दे जब उसे प्राणहीन समझ ले तो घी का लेप कर जल में अवगाहन कराकर, पुष्प माला वस्त्र यज्ञोपवीत आदि पहना कर मुख नाक आँख और कान के रन्ध्रों में सोने के टुकड़े डाल कर

---

१. पा.गृ.सू. ३.१०.४८

२. अनादिनिधनो देवः शंख चक्र गदाधरः
अक्षयय पुण्डरीकाक्षः प्रेतमोक्षप्रदो भव। गदाधर द्वारा पा.गृ.सू. ३.१०

३. हिन्दू संस्कार डॉ. राजबली पाण्डेय पृ. ४२५

शमशान ले जाये। कुछ आचार्यों का मत है कि यमगाथा को गाते हुए और यमसूक्त का जप करते हुए शमशान जाना चाहिए।[१] भूमि संस्कार पूर्वक दक्षिण और उत्तर की ओर काष्ठ चुनकर चितापर कृष्ण मृगचर्म बिछाकर मृतक को उत्तान और दक्षिणाभिमुख लिटाकर दाहिने नासिका रन्ध्र के पास घृतपूर्ण, सुवा, पैरो और सीनो पर लकड़ियाँ, बायी दाहिनी ओर शूप और चम्मच तथा मूसल उलूखल चुपचाप रख देना चाहिए। तदान्तर औपसनातिग लेकर "अस्मात्वमधिजातोऽसि" ऋचा पढ़कर दाहिनी ओर से मुख में अग्नि-दान करें।"[२] विवाहित स्त्रियों के पति प्रवास पर गये हो तो उसके पुत्र उपयुक्त दकादानादि कर्म करते हुए अशौच काल बितायें[३] दो वर्ष से कम आयु के मृतक का दाह संस्कार नहीं किया जाता है उसे भूमि दान ही करते है। स्नानान्तर मृतक को "असौ अमृक प्रेत एवत्ते उदकम्" मंत्र पढ़कर एक बार अञ्जलि से जलदान करें। इसके अन्नतर प्रेतक्रियाधिकारी पुत्र १० दिन तक के अवयव को पूर्ण करने वाला पिण्ड है।[४] एक-एक पात्र भी घटता बढ़ता जायेगा। सद्यः शुद्धि पक्ष में एक ही दिन क्रमशः १० पिण्ड ५५ जलाञ्जलियाँ और ५५ जलपत्र दिये जाये।[५] तीन दिन की अशुद्धि में पहले दिन तीन पिण्ड छह अञ्जलियाँ और छह पात्र दिये जाये दूसरे दिन चार पिण्ड २२ अञ्जलियाँ और २२ पात्र दिये जाएँ तीसरे दिन तीन पिण्ड २६ अञ्जलियाँ और २६ पात्र दिये जायें।[६] पिण्डों से अवयवों की पूर्ति इस प्रकार होगी पहले पिण्ड से शिर, दूसरे से आँख, नाक, कान तीसरे से गला कन्धा भुजायें, वक्षस्थल, चौथे से नाभि लिंग गुदा, पांचवे से घुटना जंघ, पैर, छठे से सभी मार्मिक अंग, सातवें से नाड़ी, आठवें से रोम नवे से वीर्य और १० वे से सम्पूर्ण

---

१. पा.गृ.सू. ३/१०/९
२. पा.गृ.सू. ३/१०/४२
३. पा.गृ.सू. ३/१०/४३
४. पा.गृ.सू. ३/१०/४४
५. पा.गृ.सू. ३/१०/२१
६. पा.गृ.सू. पृष्ठ २४५

शरीर को पिण्ड दे। इसके पश्चात् ११ दिन विषम संख्यक ब्राह्मणों को मांसयुक्त पायस ओदन का भोजन कराना चाहिए।[१]

क्रियाओं की आदिम प्रकृति और संस्कारी तत्व

हिन्दू धर्म के किसी भी अन्य क्षेत्र में आदिम विश्वास इतने ज्वलन्त रूप में विद्यमान है जितने अन्त्येष्टि क्रियाओं में। परलोक इस लोक का प्रायः दूसरा प्रतिरूप है और मृतक की आवश्यकतायें भी वे ही है जो एक जीवित व्यक्ति की। सम्पूर्ण क्रियाओं में मृत व्यक्ति के विषय भोग तथा सुख सुविधाओं के लिए प्रार्थनायें की जाती है। हमें उसके अध्यात्मिक लाभ अथवा मोक्ष के लिए इच्छा का बहुत कम संकेत मिलता है। जन्म मरण के चक्र से मुक्ति के लिए प्रार्थनायें बहुत ही कम है और उसका उदय कर्मकाण्ड के विकास की नवीनतम श्रृखंला में जाकर ही हो सका। संपूर्ण संस्कार प्रायः आदिम प्रकार का है और वह अत्यन्त सुदूर अतीत के विश्वासों की सूचना देता है। व्यक्तिगत, पारिवारिक एवं सामाजिक स्वच्छता का इससे पूरा प्राविधान है। वियोग से उत्पन्न शोक को दूर करने के लिए इसमें विविध उपाय है। प्रेतात्मा के उर्ध्वगमन और अध्यात्मिक कल्याण के लिए इसमें पर्याप्त संकेत है।[२]

अष्टका

अश्विन पौष माघ फाल्गुन मासों को श्राद्ध के योग्य कृष्णाष्टमी तिथियाँ अष्टका कहलाती है इसमें श्राद्ध करना आवश्यक है।[३] पा.गृ.सू. के अनुसार आग्राहायणी कर्म के अनन्तर उससे सम्बन्ध तीन अष्टकावय कर्म करने चाहिए। इन्द्र विश्वेदेव प्रजापति और पितरों की चार अष्टकायें प्रदान की जाती है। इनका क्रमशः पुए मांस और शाक से यजन करें। पारस्कर से यहाँ यद्यपि गोमांस का ही उल्लेख किया है तथापि लोक विद्धिष्ट होने के कारण इसका आचरण नहीं करना

---

१. पा.गृ.सू. ३/१०/४५

२. हिन्दू संस्कार डॉ. राजबली पाण्डेय पृ. ३४६/३४७

३. हिन्दू धर्म कोश पृ. ६७

चाहिए। इसलिए हरिहर ने इस समस्या का समाधान यह बताया है कि गवालम्भन न कर किसी अन्य अनिन्दित पशु के मांस से अष्टकाकर्म सम्पन्न कर देना चाहिए। "गोपशोरस्वर्ग्यत्वाल्लोक विद्धिष्टत्वात्कलौ विशेषतावर्जनीयत्वञ्च न गावालम्भः कर्तव्यः" किन्तु अनिषिद्धपश्वन्त रेणावश्यकर्तव्याष्टकौदिनिवर्तनीयम् विश्वनाथ ने भी छाग मांस के स्थान पर विधान किया है। छाग न प्राप्य हो या यजमान मांस मात्र से ही चिढ़ता हो, तो चरू से भी यह अष्टका अनुष्ठित हो सकती है।[1] कृष्णपक्ष की अष्टमी को पहली अष्टका का अनुष्ठान करना चाहिए। स्थाली पकाकर अग्नि और सोम की आहुतियाँ डालकर "त्रिशत्स्वसारं..........."[2] प्रभृति १० मंत्र पढ़कर १० घृताहुतियाँ डालें

---

१. पा.गृ.सू. तृतीय काण्ड तृतीय कण्डिका पृ. १९५/१९६

२. त्रिशत्स्वसार उपयन्ति न्ष्कृत समान केत प्रतिमुञ्चसतन्वते कवयः प्रजानतीर्मञ्चसतन्वते कवयः प्रजानतीर्मध्ये छन्दसः परियन्ति भारवती।।
ज्यातिष्णती प्रतिमुञ्चते नमो रात्री देवी सूर्यसय व्रतानि विपश्चयन्ति पशवो जायमाना नानारूपामातुस्या उपरथे।
एकाष्टका तपसा तप्यमाना जजान गर्भ महिमानभिन्द्रम तेन दस्यून्व्यसहन्त देवाहन्ता सुराणामभवच्छशीभिः।।
अनानुजामनुजां मामकर्व सत्यं बदन्त्यन्विच्छ एतत्। भूयासमस्या सुमतौ यथा सूयमन्यावो अन्यामति मा प्रायुक्त।।
अभून्मम सुमतौ विश्ववेदा आष्ट प्रतिष्ठामविदद्धि गाधम्। भूयासमस्या सुमतौ यथा सूयमन्यावो अन्यामति मा प्रायुक्त।।
पञ्च व्युष्टीरनु पञ्चदोहा गां पञ्चनाग्नीमृतवो नुपञ्च। पञ्च दिशः पञ्चदशेन क्लृप्ताः समानभूहनीरथिलोकमेक।।
ऋतस्य गर्भः प्रथमा व्यूसिष्यपामेका महिमान विभति सूर्यस्यैका चरति निष्कृतेषु धर्मस्यैका सवितैका नियच्छतु।।
या प्रथमा व्यौच्छत्सा धेनुरभवद्यमे। सा नः पयस्वती धुदवोत्तरा मुत्तरा समाम्।।
शुक्र श्रषभा नभसा ज्योतिषा गाद्विश्वरूपा शमली अग्नि केतुः।
समानमर्थ स्वपस्य माना विभृति जरामणर उप आगाः।।
ऋतूना पत्नी प्रथमे यमागच्छनं नेत्री जनित्री प्रजानाम् एक सती बहुघोषो व्यौच्छत्सा जीर्णा त्वं जारयसि सर्वमन्यत्।। पा.गृ.सू. १९८

"अधिष्ठानों देवी" की तिस्त्ररूपा तीस बहने चन्द्रादि के रूप में शुद्ध चिह्नाधारण कर ऋतुओं का विस्तार करती हुई अष्टका के समीप हविष्यान ग्रहण करने के लिए जाती है ये सभी क्रान्तद्रष्टि सम्पन्न, अतीत शानशीला, संवत्सर का आच्छादित करने वाली ओर दीप्तिमयी है।[१] शान्ता........प्रभृति तीन मंत्र पढ़कर स्थाली पाक से चार आहुतियाँ डाले चौथी आहुति डालते समय अष्टकायै स्वाहा मन्त्र पढ़ना चाहिए। चतुर्थ आहुति के अनन्तर 'इन्द्राय स्वाहा' कहकर एक अपूप आहुति और देकर स्विष्टकृत होम करना चाहिए।

चतुर्थ आहुति के अनन्तर "इन्द्राय स्वाहा" पढ़ककर एक अपूप आहुति और देकर स्विष्टकृत होम करना चाहिए। इसका अनुष्ठान फाल्गुन के जन्म में होना। मध्यमा अष्टका गौ से सम्पन्न होनी चाहिए। वह. वपां..........मन्त्र पढ़कर गौ की वपा से होम करें।[२] दूसरे दिन नवमी को पिण्ड पितृयज्ञ की भाँति सभी बाद में होने वाली अष्टकाओं का अनुष्ठान पार्श्व और सक्थि सव्य (पशुओं) के मांस से सर्वथा प्रच्छादित स्थान पर करना चाहिए। स्त्रियों मातृपितामही, प्रतिमही को भी पिण्डदान तथा सुरा और सत्तु अर्पित किये जाये। सुरा अंबटो में दी जायें। काजल चन्दानादि का लेप और मालाएँ भी दी जायें। इच्छानुसार सन्तानरहित आचार्य एवं अन्तेवासियों को भी पिण्डदान किया जा सकता है। वर्ष के मध्य कृष्टि काल में चौथी अष्टका शाक से सम्पन्न की जाये।

शालाकर्म

गृह निर्माण करने के लिए शालाकर्म का विधान किया जाता था इसका विधान इस प्रकार है भाष्यकार हरिहर का मत है कि ज्योतिष शास्त्र के अनुसार शुभ नक्षत्र तथा पुण्य दिन में शिल्पियों द्वारा शालाकर्म का प्रारम्भ करना चाहिए। भवन के खम्भे रखने के लिए चारों कोनों पर चार गडढ़े खोदकर उनमें 'अच्चुताय स्वाहा' 'भौमाय

---

१. पा.गृ.सू. ३/३/५

२. पा.गृ.सू. ३/३/८

स्वाहा' ये मन्त्र पढ़कर होम करें।[१] इमानुच्छयामि........वसान मंत्रो का पाठकर स्तम्भ का जहाँ-जहाँ आवश्यकता है वहाँ मत्रोच्चारण पूर्वक गडढ़े में खम्भे को गाड़े। भाष्यकार हरिहर के अनुसार भवन के भीतर पंच भू संस्कार से धरती को पवित्र कर वहाँ आवश्यक अग्नि की स्थापना करें।[२] तत्पश्चात् गृह्याग्नि के दाहिने ब्रह्म को आसन पर बैठाये। अग्नि को उत्तर में जलपूर्ण ताम्र कलश की स्थापना करें। फिर उस अग्नि पर स्थालीपाक चरण हविष्यान्न पका ले इसके बाद घर से बाहर निकल कर दरवाजे पर खड़े होकर ब्रह्मा से पूछे – हे ब्राह्मण मैं घर में प्रवेश करूँ? "ब्रह्मा से आज्ञा दे देने पर ऋतं प्रपद्ये झिंवं प्रपहो...।"[३] इत्यादि मंत्र का पाठ करते हुए घर में प्रवेश करें।

अन्न, धन पशु एवं सुख समृद्धि हेतु अग्नि सर्व देवता, उषा, विश्वकर्मा ब्रह्मा एवं प्रजापति प्रभृति देवताओं के निमित्त "अग्निमिन्द्र......।"[४] इत्यादि छः मन्त्रों को पढ़कर स्थालीपरक हविष्यान

---

१. अच्युताय भौमाय स्वाहेति पा.गृ.सू. ३/४/३

२. इमामुच्छयामि भूवनस्य नाभि वसोधारां प्रतरणी वसूनाम्
इहैव धुवान्निमिनोमि शाला क्षेमे तिष्ठतु धुतमुक्षमाणा।
अश्वामती गोमती सूनृतावत्युच्छयस्व गहते सौभगाय
आत्वा शिशुराकन्दत्वा गावो धेनवो वाश्यनाना:।।
आत्वा कुमास्तरूण आवत्सो जगढ़ै: सह। आत्वा परिस्त्रुत कुम्भ आढ़धन:
कलशैरूपक्षेमस्य पत्नी बृद्धती सुवासा रयिं नो धहि सुभंगे सुवीर्यम्।
आश्वावदगोमदूर्जस्वत् पर्ण वनस्पतेरिव
अभिन: पूर्यता रयिरिदनुश्रयो वसान: पा.गृ.सू. ३/४/४

३. पा.गृ.सू. ३/४

४. अग्निमिन्द्र बृहस्पति विश्वान् देवानुपछये
सरस्वती च वाजीं च वास्तु में दत वाजिन: स्वाहा।।
सर्पदेवजनान्त्सवनि हिमवन्त सुदर्शनम्।
वसुंश्च रूद्रानाछित्यानीशानं जगदै: सह
एवान्त्सर्वान् प्रपदो हं मध्यन्दिना सह वास्तु में दत: वाजिन स्वाहा।।
पूर्वाहमपराह चोभौ मध्यन्दिना सह
प्रदोष मर्द्धरात्रञ्च व्युष्टाा देवी महापथाम्
एतान्त्सर्वान् प्रयदो हं वास्तु में दत वाजिन: स्वाहा।

से छः आहुतियाँ डाले। संस्रव प्राशन के पश्चात् कांसे के बर्तन में दूध मिले गूलर के पत्तें, दूब, गोबर, दही, शुद्ध, घी, कुश और जौ रखकर उससे नागदंत आदि देवस्थानों का अभिषेक करें। "श्रीश्चत्वा"[१] अर्थात् "हे भवन तुम्हारी पूर्व सन्धि अर्थात् दीवारों की रक्षा यशोदेवी और भगवती लक्ष्मी करे।" इत्यादि मंत्र पढ़ते हुए पूर्व सन्धि का स्पर्श करे। हे शाला यज्ञ और दक्षिण तुम्हारी दाहिनी ओर की दीवार की रक्षा करे इस कामना से दक्षिण दीवार का स्पर्श करे। अन्न देव और ब्राह्मण गण तुम्हारी पश्चिमी दीवार की रक्षा करे तथा तेजोमय प्राण और प्रिय एवं सच्ची बात तुम्हारी उत्तरी दीवार की रक्षा करे, इस कामना से क्रमशः पश्चिमी और उत्तरी दीवार का स्पर्श करे। इस प्रकार शालाकर्म पूर्व होता है। आप पा.गृ.सू. में गृह प्रवेश विधि में शमी या पलाश का ईधन जलाकर "उदधियमाण" आदि पाँच पदो वाली ऋचा द्वारा अग्नि के एक पात्र में लेकर "इन्द्रस्थ गृहा वसुमन्तो वरूथिनः इत्यादि का उच्चारण करते हुए घर में प्रवेश करें और अमृताहुतिम" आदि का पाठ करके एक घड़े से घर के चारों ओर अथवा भीतर की ओर विश्रामागार के चारों ओर शिवं शिवम् आदि मंत्र से जल छिड़के। इसके पश्चात् युग्म संख्या में ब्राह्मणों को सत्तु पुआ भात का भोजन करना चाहिए।[२]

गृहनिर्माण सम्बन्धी कुछ विशेष विषयों पर प्रकाश डाला गया है यथाः—

हरिहर ने अपने भाष्य में कहा है यश बल की कामना करने वालों को अपने घर की मुख्य द्वार पूरब की ओर, पुत्र और पशु की

कर्त्तरञ्च विकर्तारं विश्वकर्माणमोषधीश्च वनस्पतीन्।
एतान्त्सर्वान् प्रपद्यो हं वास्तु में दत्त वाजिनः स्वाहा।
धातारञ्च विधातार निधीनां च पति – सह
एतान्त्सार्वान! प्रपदो हं वास्तु में दत्त वाजिनः स्वाहा।।
स्योन – शिवमिदं वास्तु दत्त ब्रह्मप्रजापति
सर्वाश्च देवताः स्वाहेति। पा.गृ.सू. ३/४/८

१. श्रीश्च त्वा यशश्च पूर्वे सन्धौ गोपयेताम वही ३/४/१०

२. आप.गृ.सू. सप्तम पटल सप्तदश खण्ड पृ. २५९.२६५

कामना करने वालों को उत्तर की ओर तथा सभी तरह की कामना रखने वालो लोगों को दक्षिण की रखना चाहिए। घरों में आवश्यकतानुसार अलग-अलग कमरे हुआ करते थे जिनमें प्रमुख है – अग्निशाला, जिसमें अग्नि प्रज्जवलित की जाती थी हविधानि – भण्डारगृह, विश्रामागार, अतिथिशाला आदि। गृह्यसूत्रों के अनुसार भवन के पूर्व में पीपल का पेड़ नहीं रहना चाहिए। इससे अग्नि का भय रहता है। दक्षिण में पाकड़ के पेड़ से गृहपति की आयु क्षीण होती है। पश्चिम में बरगद का पेड़ हो तो गृहपति की आँखे बैठ जाती है, अतः गृहनिर्माण करते समय लोग इन बातों का ध्यान रखते थे परन्तु मतस्य पुराण में उक्त तथ्य कुछ भिन्न प्रकार से रखे गये हैं। तदनुसार भवन के पूर्व में लगे होने पर बरगद, गूलर और पीपल वृक्ष सभी कामनाये पूर्ण करते है किन्तु वे यदि विपरीत अर्थात् पश्चिम में हुए तो उनसे कोई लाभ नहीं। भवन के निकट लगे हुए कण्टकी और क्षीरवृक्ष पत्नी तथा पुत्र को हानि पहुँचाते है यदि इन्हें कामना न चाहे तो कही पर लगा दें दाहिनी, पिप्पली वृक्ष कुसुममण्डप जम्बरीयूग पनस चमेली मल्लिका नारियल कदली और गुलाब के पौधों से घर की शोभा बढ़ती है।

मणिकावधान

मणिक से तात्पर्य है कटोरे के आकार का जल रखने का पात्र विशेष जिसे अलिञ्जर भी कहते है।[१] भाष्यकार हरिहर के अनुसार शाला के उत्तर पूर्व अर्थात् ईशान कोण में यूप के सदृश ही गड्ढ़ा खोदकर पूर्व दिशा में मिट्टी फैंकने के पश्चात् गडढ़े के ऊपर कुश राशि बिछाकर अक्षत पुष्प कोडियाँ इत्यादि अन्य मंगलमयी वस्तुयें डालकर समुद्रोऽसि......... मंत्र पढ़कर मणिक (उदक धानी उसमें रखे)[२] उसके पश्चात् "आपो रेवती.....।"[३] हे जल देव तुम्हारे अन्दर धन का निवास है अतः तुम धनवान हो, तुम श्रेष्ठ यज्ञ और अमृत फल

१. पा.गृ.सू. तृतीयकाण्डे-षष्टकण्डिका टिप्पणी पृ. ३९६

२. समृद्रो सि नभस्वानार्द्रदानुः शम्भूमयोभूरभिः ना वाहि स्वाहा। पा.गृ.सू. ३/५/२ में य. सं. १८/४५

३. आपो रेवतीः अयथा हि वस्वः कतु च भद्रविभृथामृतं च।
रायश्च रथस्वयत्यस्य पत्नी सरस्वती तदगृणते वयोधदिति वही ३/५/३

ब्राह्मदि बालियों की उत्तर दिशा में विश्वे देवश्यो नमः तथा विश्वेश्या: भूतेश्य: पढ़कर दो बालियाँ दें। इनके उत्तर में "उषसे नम:" और "भूतानां पतपे नम:" पढ़कर दो बलियाँ दी जाये। इन बलियों के दक्षिण में 'पितृश्य: स्वधा नम:' मंत्र पढ़कर एक बलि दी जाती है। उद्धरणपात्र को प्रक्षालितकर प्रक्षालन जल का वायव्य दिशा में 'यक्ष्मैक्तें निर्णेजन नम:' मंत्र पढ़ते हुए फेक देना चाहिए इसके अनन्तर वैश्वेदेव अन्न से कुछ अंश उठाकर लगभग १६ ग्रास भर या ४ ग्रास भर 'टन्नत' कहते हुए जल छिड़ककर ब्राह्मण को दिया जाता है भिक्षुकों और अतिथियों को यथायोग्य भिक्षा भोजन आदि से संतुष्ट करें जिसे भोजन करना उचित हो, उसे भोजन कराये और अन्य लोगों को भिक्षा दें दी जायें। जिन घरों में बालक है उनमें पहले बालकों को भोजन करा कर अन्य गृहीजन को भोजन करना चाहिए अथवा गृहपति पत्नी से पूर्व भोजन कर ले क्योंकि श्रुति के कथन है कि उस अन्न से जो इष्ट है उसे गृहपतियों अतिथियों से पहले ग्रहण कर लेता है। प्रतिदिन देवताओं को संतुष्ट करने के लिए हवन करे-अन्न के अभाव में किसी भी द्रव्य से काष्ठ तक से भी हवन किया जा सकता है। नृयज और पितृयज्ञ भी प्रतिदिन जलपात्र से जल लेकर करना चाहिए।[१]

उपाकर्म

पारस्कर ने इसे "अध्यायोपकर्म" कहा है[२] इसका तात्पर्य है विधि पूर्वक स्वाध्याय का प्रारम्भ सूत्रकार ने इस कृत्य के निमित्त श्रावणमास का विधान संभवत: इसलिए किया है कि वर्षा हो जाने से यह समय अपेक्षाकृत शीतल रहता है, हरियाली के कारण नैसर्गिक सौन्दर्य एवं सुषमा निखर उठती है। हस्त नक्षत्र के देवता सविता है और वेदाध्यन गायत्री मंत्र से होता है अत: उपाकर्म का हस्त नक्षत्र से स्वाभाविक सम्बन्ध देखकर उसका विधान भी ठीक है। उपामार्ग इत्यादि औषधियों के उत्पन्न होने पर श्रवण नक्षत्र मुक्त श्रावण पञ्चदशी अथवा हस्तनक्षत्र युक्त श्रावण मास की पञ्चमी को इसका अनुष्ठान

---

१. पा.गृ.सू. ३/५/ पृ. ४०६

२. अध्यायोपाकमेति वक्ष्यमाणस्य विधिपूर्वकस्य स्वाध्याम प्रारम्भ कर्मणो नामधेयम-गदाधर पा.गृ.सू. पृ. ३८

करना चाहिए। अग्नि और सोमजन्य आहुतियाँ डालकर अन्य घृताहुतियाँ डाली जायें। यदि ऋग्वेद पठनीय हो तो पृथिवी और अग्नि की आहुतियाँ भी दी जानी चाहिए। यर्जुवेद पठनीय होने पर अन्तरिक्ष और वायु का तथा सामवेद के पठनीय होने पर दिव और सूर्य तथा अर्थववेद के पठनीय होने पर दिशाओं और चन्द्रमा को आहुतियाँ प्रदान की जाये। ब्रह्मा और छन्द जन्म आहुतियाँ सर्वत्र प्रत्येक वेद के संदर्भ में डाली जाये। इसी प्रकार प्रजापति देवगण, ऋषि समुदाय श्रद्धा, मेघा सदस्पति तथा अनुमति जन्य ६ आहुतियाँ भी सर्वत्र डाली जाये। उपाकर्म में विहित यह पृथिवी से अनुमति पर्यन्त होम कर्म वेदारम्भ और समावर्तन में भी होता है। 'सदसस्पतिम' मंत्र पढ़ते हुये आचार्य तीन बार अक्षत धानों से हवन करे तथा सभी शिष्य इस मंत्र को दोहराये एक-एक आहुति डालकर, मूलर की तीन-तीन गीले पत्तों वाली तथा घी चुपड़ी हुई समिधाओं का आचार्य की प्रमुखता में सभी शिष्य अग्नि में "तत्सवितु" सावित्री मंत्र पढ़ते हुये आधान करें। ब्रह्मचारी भी सावित्री मंत्र पढ़कर समिधाधान करें। आचार्य सहित शिष्य "शन्नो भवन्तु वाजिनः....."[१] ऋचा को पढ़कर अक्षत्धानो को बिना दांतों से चबाते हुए खाये। 'दधिकाव्यो अकारिषम्.....'[२] ऋचा को पढ़ते हुए दधि भक्षण करें। आचार्य संख्या में जितने शिष्य चाहे उतने तिलों का हवन गायत्री छन्द से निबद्ध सावित्री मंत्र या शुक्र ज्योति.......। अनुवाक का पढ़कर गूलर के तने हुए (हाथ भर के सर्पाकृति फलक से करे।) संस्रव प्राशन के अनन्तर आचार्य पूर्वभिमुख बैठकर पश्चिम और मुख करके बैठे हुए शिष्यों को प्रणवमंत्र (ॐ का उच्चारण करते हुए तीनबार सावित्री मंत्र का उच्चारण करें।) "यजुर्वेद के उपाकर्म का प्रारम्भिक अंश पढ़ाया जाये सामवेद के उपाकर्म में पर्व और अर्थववेद के उपाकरण में शिष्यों को सूक्तादि पढ़ाये जाये आचार्य सहित सभी शिष्य 'सहनोऽस्तु' मंत्र का जप करे।" यह वेद हम सबके अन्दर सुप्रतिष्ठित होकर सामूहिक रूप से हमारी रक्षा करे यह अर्थात् वेद हमारे मानस से सबल रहे, क्षीण न हो अर्न्तयामी इन्द्र

---

१. शन्नो भवन्त्वित्यक्षतधाना अखादन्तः। पा.गृ.सू. ३/१०/१५

२. दधिकाव्णो इति दधि भक्षयेयुः। पा.गृ.सू. ३/१०/१६

जानते है कि वेद ज्ञान के कारण हम किसी से द्वेष नहीं करते।[१] उपाकर्म के अनन्तर तीन दिन तक अध्ययन न किया जाये तथा तीन दिन तक रोम और नाखून भी न काटे जाये। कतिपय आचार्यों का मत है कि रोम और नाखून समावर्तन से पहले न काटे जाये। हेमाद्रि के एक वचन के अनुसार उपाकर्म के दिन अपराध बेला में रक्षा बन्धन भी होना चाहिए।[२]

गदाधर के मत से भद्रा नक्षत्र में कदापि रक्षा न बाँधनी चाहिए अन्यथा वह देश के सम्राट का नाश करती है। रक्षा बंधन के समय मंत्र पढ़ा जाता है।[३] रक्षा बंधन में सभी का भाग लेना चाहिए। मनु स्मृति में उपाकर्म के संदर्भ में कहा गया है– श्रावण्यां प्रौष्ठप्रदा वाडण्युपाकृत्य यथाविधि। युक्तश्छन्दांस्यधीयीत मासान विप्रो धर्मपञ्चमान। इससे ज्ञात होता है कि साग्नि व्यक्ति को ही पढ़ाना चाहिये क्योंकि निरग्नि व्यक्ति अग्नि साध्य कर्म न हो कर सकता। कर्क आदि आचार्यों का भी यही मत है किन्तु गर्ग के कथनानुसार लौकिक अग्नि में निरग्नि व्यक्ति का भी उपाकर्म हो सकता है। हरिहर और जयराम के मतानुसार उत्कृष्ट समावर्तन निर्यत व्यक्ति का ही उपाकर्म होगा किन्तु अन्य लोगों का विचार है कि उपाकर्म समावर्तन के छह मास पहले ही हो जायेगा।

अनध्याय

अनध्याय का अर्थ है कि कुछ समय के लिए अध्ययन से विराम लेना। प्रचण्ड वायु के चलने पर तथा अमावस्या के दिन पूर्ण अनध्याय निहित है। श्राद्धान्न का भोजन करने पर उल्कापात और बिजली चमकने पर भूकम्प के समय, ऋतुओं के संधिकाल में ओर

---

१. सह नोडसतु सह नोडवतु सह न इदं वीर्यवदस्तु ब्रह्म इन्द्रस्तद्वेद येन यथा विद्विषमहे पा.गृ.सू. ३/१०/२१

२. ततो पराध समये रक्षापोटलिकां शुभाम्।
कारयेदक्षतैः शरतैः सिद्धार्थे हेमभूषितेः।। पा.गृ.सू. १४८

३. येन बद्धो बली राजा दारनवेन्द्रो महाबलः
तेन त्वमपि प्रतिबध्नामि रशे। माचल, माचल।।

अग्निजन्य विघ्नों में अनध्याय कर देना चाहिए। वेदोत्सर्ग काल में मेघ घिरने पर एक ही साथ बिजली बादल हवा बरसात और गड़गड़ाहट होने पर तीन दिन तक अथवा कतिपय आचार्यो के मत में तीन साध्य बेलाओं में अध्ययन स्थगित कर देना चाहिए। भोजन के अनन्तर आचमन कर जब तक हाथ न सूख जायें तब तक पानी में रहने पर रात्रि के मध्यस्थ दूसरे तीसरे पहरों में, सांध्य बेलाओं में, गाँव में मृतक शरीर रहने पर और चाण्डालयुक्त स्थान पर अध्ययन निषिद्ध माना गया है। दौड़ते हुए पापी ओर अपराधी के दिख जाने पर जादू आदि विस्मयावह अवसरों पर अभ्युदय (पुत्र जन्म, विवाह आदि) में तत्काल अन्ध्याय अपेक्षित है तथा कुहारा घिरे पर मृदङ्ग आदि वाद्य बजने के समय दुखी व्यक्ति के क्रन्दन करते समय, गाँव की सीमा और श्मशान में उल्लू, सियार और सान की आवाज सुनायी देने पर और शिष्टजनों के आगमन के समय में भी तत्कालिक अनध्याय रह सकता है आचार्य की मृत्यु हो जाने पर स्नान करके जलदान करे और दस दिन तक अनध्याय पूर्वक शोक मनाये तानूनप्त्र तथा सहपाठी ब्रह्मचारी मृत्यु हो जाने पर तीन अनध्याय करना चाहिए।[1]

अन्य गुरु के पास पढ़ने वाली ब्रह्मचारी की मृत्यु हो जाने पर एक दिन आधे सावन तक अर्थात् साढ़े पाँच मास तक अध्ययन कर अथवा साढ़े छः मास अध्ययन कर अनध्याय कर देना चाहिए।[2] आचार्य के साथ शिष्य "उभा कवी ऋचा को जपें"। 'हे अश्विनीकुमारों तुत्रवोनो क्रान्तद्राष्टा और तरूप हो तुम्हारे द्वारा सम्पादित धर्म हमारे मैत्रीभव की रक्षा करे। हम पारस्परिक मित्रण के धर्म में बँधकर विद्वेष करना छोड़ दे।'[3]

---

१. ब्राह्मणैः क्षत्रियैवैश्यर्यः शुप्रैरन्यैश्च मानवैः।
कर्तव्यों रक्षिकाचारो द्विजान्सयूज्य सूक्तिः।

२. पा.गृ.सू. तृतीय काण्डे – एकादश काण्डिका पृ० १४९

३. उभा कवी युवा यो नौ धर्मः परपतत्। परिसख्यस्य धर्मिणो
विसख्यानि विसृजामहे।। पा.गृ.सू. ३/११/१२

उत्सर्ग

पौष मास के रोहिणी नक्षत्र अथवा कृष्णपक्ष की अष्टमी को वेदाध्ययन का उत्सर्ग अर्थात् पूर्ण अवसानकर दिया जाय। जब तक पुनः उपाकर्म न हो तब तक स्थागित रखा जाये। उत्सर्ग विधि के अनुसार अन्य के समीप जाकर आचार्य सहित सभी शिष्य जल से देवताओं, छन्दों वेदों, ऋषियों पौरणिक आचार्यों, गन्धर्वो अन्य आचार्यों, दिन-रात, मास, ऋतु, प्रश्रति अवयवयुक्त संवत्सर पितरो और अपने आचार्यों का तर्पण करे।[१] सावित्री मंत्र को चार भागों में विभाजित कर पढ़ने के अनन्तर "विरताः स्म" कहे उपाकर्म की भाँति अनध्याय रहेगा, रोम और नाखून नहीं काटे जायेगे तथा अध्यायों का प्रवयन होगा। परन्तु इसमें प्रश्न है कि स्नान किया जाये या नहीं क्योंकि सावन भादौं में नदियाँ रजस्वला होती है।[२] इसका अपवाद है उपाकर्म, उत्सर्ग मृतक स्नान चन्द्र और सूर्यग्रहण के प्रसंग पर रजोदोष का विचार नहीं किया जाता है अतः स्नान किया जा सकता है।[३]

वृषोत्सर्ग

गो सन्तति की वृद्धि के लिए साण्ड को खुला छोड़ देने के लिए "वृषोत्सर्ग नामक कर्म का अनुष्ठान किया जाता था।" शा.गृ.सू., पा.गृ.सू. और का.गृ.वू. इस धार्मिक कृत्य का समान वर्णन करते है। पा.गृ.सू. के अनुसार इस कर्म को कार्तिक पूर्णिमा या आश्विन महीने

---

१. तर्पण विधि – नदी अथवा जलाशय में विधिवत् स्नान कर देवगातृ ष्दि.... मंत्र पढ़ने से पहले मध्याहकालीन कर्म निबटाया जाये। तत्पश्चात् देवास्तृष्यन्ताम् छन्दासि तस्यताम् आदि का पाठ कर पर्पण करें। तर्पण करने के अनन्तर स्नान वस्त्र निचोडकर देवगातु विद ऋचा पढ़कर अनुष्ठान का समापन करना चाहिए।

२. मासद्वयं श्रवणादि सवां नद्यो रजस्वताः।
तासु स्नानं न कुर्वीत वर्जायतवा समुदगाः। छन्दोगपरिशिष्ट

३. उपाकर्मणि चोत्सर्गे प्रेतस्नाने तथैव च।
चन्द्र सूर्योपरागे च रजादोषो न विद्यते। पा.गृ.सू९ पृ. १५४

के रेवती में किया जाता था।[१] इसमें गायों के बीच में अग्नि प्रज्वलित करके उसमें पायस स्थलीपाक पकाकर "पूषा गा अनवेतु न पूषा रक्षत्वर्तत:।" पूष वाजह सनोड ने: स्वाहा। इस मंत्र का उच्चारण करते हुए एक आहुति "पूषन" देवता को अर्पित की जाती है। फिर खुद सम्बन्धी मंत्रों का जाप करते हुए गाय की चार बछियों के साथ युवा बैल का अलंकृत करके पूजन अर्चन के बाद छोड़ दिया जाता था।[२] बधियो के बीच छोड़े उस साण्ड के सामने खड़े होकर "केन मयोभू:" इत्यादि अनुवाक से स्तुति की जाती थी। अन्त में सभी गायों के दूध से खीर बनाकर ब्राह्मणों को यथाशक्ति भोजन कराया जाता था।

पा.गृ.सू. में आगे कहा गया है कि वाचक "बैल के दाहिने कान में तुम बछड़ो के पिता जन्मदाता हो" यह मंत्र गुनगुनाता है। फिर बैल को युवा गायों के साथ पूर्वी अथवा उत्तरी दिशा की ओर हांकता ले जाता है और ब्राह्मण को नवनीत मिश्रित भोजन अर्पित करता है। इस प्रकार यह अनुष्ठान पूर्ण हो जाता है।[३]

शाखा पशुविधि

यह संस्कार भी वृषोत्सर्ग से ही सम्बन्धित है।[४] भाष्यकार हरिहर के अनुसार यदि पशुकर्म का अनुष्ठान करना[१] हो तो गाय के छोड़कर

---

१. कात्तिक्यां पौर्णमास्या रेवत्यां वा श्वयुजस्या पा.पृ.सू. ३/९/३

२. मध्येगवां सुसमिद्धमग्नि कृत्वा ज्य हसस्कृत्येहरतिरिति षट् जुहोति प्रतिमन्तत्र। वही ३/९/४

३. पूष गा अन्वेतु न: पूषा रक्षत्वर्वत:। पूषा वाज सनोतुन: स्वाहा। वही ३/९/५

४. रूद्रञ्ज पित्वैकवर्ण द्विवर्ण वा यो वा यूथ छदयति यं वा यूथं छदते द्रोहिता वैव स्यात्। सर्वामैकपेतो जाव्तत्साया: पर्यास्वन्या: पुत्रो यूथे च रूपस्विन्तम: स्यातमलड़्कृत्य यूथे मुख्याश्चतस्त्रो वत्सतर्यस्ताश्चायलङ्कृत्य।
एव युवानं पति वो ददामि तेन कीडन्तीश्चरथ प्रियेण।
मा न: साप्त जनुष सुभगा रामस्पोषेण समिष मदेमेत्येतयैषोत्सृजरेन।
यही। ३/९/६

अन्य पशु को स्नान कराकर आगे से अग्नि की प्रदक्षिणा कर पलाश वृक्ष की डाल में बाँध दे।[२] इसके अनन्तर तिगुनी रस्सी से शाखा का आवेस्तन तिनके से पशु का स्पर्श करना, दूनी रस्सी से सीगों के मध्य से बंधे पशु को पलाश शाखा में बांधना, प्रोक्षणी का जल छिड़कना ये क्रियाये और अन्य पशु संस्कार भी पशु प्रकरण में निहित विधान से मंत्र रहित हो किये जाये।[३] इसके अनन्नतर पशुवालम्भन की दो आहुतियाँ देकर मंत्र रहित अन्य पाँच आहुतियाँ दे।[४] उचित रीति से पशु का उदर विदारण करके तथा निकाले, पूर्ववत् अभिधारण कर "अमुष्मै त्वा उपाकरोमि, अमुर्ष्म त्वा नियुनज्मि, अमुष्मै त्वा जुष्टं प्रोक्षामि।" कहकर देवता को अर्पित करे।[५] चरण में भी देवता को उसी प्रकार से आदिष्ट करे वपा को होम कर पशु के अन्य अंग काटने चाहिए फिर इन्हें स्थालीपाक में मिलाकर होम करे।[६] दक्षिण में पशु का अंग देना चाहिए जिस देवता का तुष्ट करने के लिए पशुकर्म किया गया हो उसका यजन कर इन्द्रमनुप्राप्य कहकर अर्धादि दे इस कर्म का अनुष्ठान नदी के मध्य द्वीप में करे। पश्वालम्भन वैकल्पिक है इसे करना अनिवार्य नहीं है।[७]

---

१. काठक गृह्यसूत्र

२. पशुष्चेदाप्लांण्यागामग्रणाग्नीन्परीत्य पलाशशाखा निहन्ति। वही ३/११/१

३. परिच्ययण त्रिगुणरेशनया शाखाया: उपाकरणं तृणेन पशो: र्स्पशनं नियोजनं द्विगुणरशनया अन्तरारडबद्धस्य पशो पलाशशाखायां बन्धनं प्रोक्षणं प्रोक्षणीभिरदिभ: पशोरासेचनम्। वही ३/१२/२

४. परिपशव्ये हुत्वा इष्णीमपरा: पञ्च। वही ३/११/३

५. चरोपाकरण नियोजनाभवत्तणछुल प्रोक्षणै अमुष्मै त्वा उपाकरोमि जुष्टं प्रोक्षामिति। ३/११/१६

६. वपा हुत्वा वदानान्यातद्यति सर्वाणि त्रीणि पञ्चवा। ३/११/६

७. पश्वडगदक्षिणा। ३/११/९

अवकीर्ण प्रायश्चित्तम

पा.गृ.सू. में अवकीर्ण प्रायश्चित्त अर्थात् जिसका ब्रह्मचर्य भंग हो गया हो उसके प्रायश्चित्त का विधान इस प्रकार किया गया है।[१] ब्रह्मचर्य काल में स्त्री गमन कर अपने वृत को भंग करने वाला व्यक्ति यदि प्रायश्चित्त करना चाहे तो उसे अमावस्या के दिन चौरहे पर गधे का आलभन करना चाहिए।[२] पाक यज्ञ के द्वारा निऋति देवता का यजन करे तथा देवताओं के निर्मित पानी में पशु के कटे अंगों का होम करे।[३] अर्थात् अन्दर फैंक दे पृथ्वी पर ही पशु परोडाश को पकाये मारे गये पशु का चर्म ओढ़ ले पूँछ ऊपर रहे कुछ आचार्यों के अनुसार पूँछ तिरछी रहना चाहिए। साल भर तक "मैंने अपने ब्रह्मचर्य का भंग किया है मैं अवकीर्ण हूँ कहता हुआ भिक्षा मांगे।" प्रायश्चित्त के बाद कामावकीर्णोऽस्मि........... आदि मंत्र पढ़ते हुए वो आज्याहुतियाँ दे इसके पहले १४ नित्य आहुतियाँ भी पड़ेगी। होम के अनन्तर मरुद्गण, इन्द्र, बृहस्पति और अग्नि की प्रार्थना करें। यह भी वर्ष भर तक करना चाहिए।[४]

सभा प्रवेश

सभा में प्रवेश करते समय सभाङ्गिरसि......."हे अंगिरा देव तुम दीप्तिमयी और दानशीलता के अधिष्ठाता हो तुम्हें प्रणाम"[५] मंत्र पढ़ते

---

१. पा.गृ.सू. ३/११

२. तां छवि परिदधीत। पा.गृ.सू. ३/१२/६

३. पाक यज्ञेन यनेत –। वही
अवकीर्णी तु काणेन गर्दभेन चतुष्पथे
पाकयज्ञ विधानेन यज्ञेत निऋतियािशि। मनु ११/१८

४. कामामिद्रुग्धोइरम्याभिद्रुग्धोडस्मि कामकामाय। पा.गृ.सू. ३/१२/१ पृ. २५०

५. सभाडिरसि नादिनमासि टिवषिर्नभिनासि तस्यै ते नमः

हुए द्विज के सामने सभा में जाये सामने पहुँचकर "सभी ....[१] सभा और समिति दोनों ही प्रजापति की पुत्रियाँ है।" यह उत्कृष्ट और सजीव अथवा प्रत्यक्ष ज्ञान प्रदान करती है सभा सभासदों से कहती है कि जो पुरुष सभा के शिष्टाचार को न जानता हो वह सभा में न बैठे। "सभा में बैठने वाले को कुशाग्र बुद्धि सम्पन्न और संभाषणकुशल होना चाहिए।" मंत्र पढ़ते हुए प्रवेश करे सभा में प्रविष्ट होने के बाद अभिभूरहं.........मंत्र[२] जपे सभापति यदि कुछ प्रतीत हो तो उनके क्रोध शमन के लिए 'याते.....हे।'[३] "हे सभापति तुम्हारे ललाट पर अंकित क्रोध की रेखायें मेधावी और ब्रह्मचर्यवर्त देवगण मिटा दे। मैं द्युलोक और पृथ्वी की समन्वित शक्ति का प्रतीक हूँ मैं मंत्र बल से तुम्हारा क्रोध वैसे ही दूर कर रहा हूँ जैसे गर्भ भार का न्न सह पाने के कारण घोड़ी उसे फैंक देती है।" मंत्र से अभिमंत्रित करे और यदि वे द्रोह करते प्रतीत हों तो वांत वाचतस्य मंत्र से अभिमन्त्रित करें यही वशीकरण है।[४]

रथारोहणम्

जब रथ पर आरूढ़ होना हो तो सारथी को रथ जीतने की आज्ञा देकर रथ तैयार करने के लिए भेजते थे। फिर सारथी के द्वारा रथ तैयार हो जाने की सूचना देने पर 'सा विराट....'[५] यह मंत्र पढ़कर

---

१. सभा च मा समितिश्चोमे प्रजापतेदुहितरौ समेतसौ। यो मा विद्यादुप मा स तिष्ठेत्स चेतनो भुवत शंसथे जन। ८११

२. अभिभूरहमामविराड् प्रातिवाश्या:। अया पर्षद ईशान सहसा सुदुष्टरो जन:।

३. मा त एप रसाट्या तनूर्मन्यों: क्रोधनाशनी।
तान्देवा ब्रह्मचारिणो विनयन्तु सुनहाय।
धैरहं पृथिवी वाहं तां ते क्रेधं जयामसि गर्ममश्वतर्यसहासौ

४. ता ते वाचमास्या आदते हृदय आदधे मंत्रयत्रमिहिता वक्ता ततस्तत आदके यदहं ब्रवीमि तत्सव्यमधरो मत्तंद्यस्व।। पा.गृ.सू. तृतीयकाण्डे त्तयोदशकण्डिका पृ. २५१

५. सावराडित्येत्य चक्रे अभिगृभति – पा.गृ.सू. ३/४/२

रथ के चक्के को छूते थे, उसके बाद "रथन्तरम्.....।"[१] इत्यादि मंत्र पढ़कर दाहिने चक्के को तत्पश्चात् "वृहदासि........।"[२] मंत्र पढ़कर बाये पहिये का स्पर्श करते थे फिर "अंको चंक्रवमितो.....।[३] रक्षक के रूप में रथ के चारों ओर आगे-आगे रहने वाली अंक ओर न्यंक नामक अग्नि वृहज्जवाल ओर इन्द्ररथ नामक अग्नि, पक्षिकुल को अनुगृहीत करने वाली सभी अग्नियाँ हमारे रथ को सकुशल अपने गन्तव्य तक पहुँचायें।" इस मंत्र को पढ़ते हुए रथ से रथ के बीच का भाग हुए। तत्पश्चात् 'नमोंमणिचरय' मंत्र पढ़कर घोड़े को आगे बढ़ाते थे। मार्ग में यदि रथ कमजोर पड़ जाता था तो रथरोही को "भ्य तामश्विना.......।"[४] इत्यादि मंत्र का जप करना चाहिए। चलते हुए यदि रास्ते में वह टेढ़ा हो जाये तो रथ के ध्वजदण्ड भी धरती का स्पर्श करते हुए "रथ वामश्विना.......।"[५] मंत्र का जाप करना चाहिए। ऐसा करने से विपत्ति तथा कष्ट दूर हो जाना था। अभीष्ट गन्तव्य स्थल पर पहुँचने पर रथ से उतरकर घोड़े को दाना पानी देना चाहिए। श्रुति वचनानुसार इससे घोड़े की थकान देर हो जाती है।[६] देव मंदिरों का दूर से ही देखकर रथ से उतर जाने के लिए कहा गया है।[७] ब्राह्मणों के पास आने पर, गौ के झुण्ड के बीच तथा पितरों व अन्य सम्मानवीय जनों के सामने आने पर उनके सम्मान में रथ से उतर जाना चाहिए।[८]

---

१. रथन्तरमसीति दक्षिणम्। वही ३/४/३
२. वृहदसीत्युत्तरम्। वही ३/३/४
३. अड़ों न्याडावभितो रथं यौ ध्वान्तं वाताग्रमनुसंचरन्तम्।
द्वेर हहरेहेतिरिन्द्रियवान्पत्रि ते नो ग्नयः प्रथः पारयन्तु। वही ३/४/१२
४. अयं वामश्विना रथो या दुर्गे मास्तरोरिषदिति। वही ३/५/१२
५. ऐष वामश्विना रथो मा दुर्गे मास्तरोरिषदिति। ३/४/१३
६. या त्वा ध्वानं विमुच्य रथं यवसोदके दापयेदेष
७. उ ह वाहनस्यादहत इति श्रुते। पा.गृ.सू. ३/१४/१५
८. अप्राप्य देवताः प्रत्यवरोहेत्सम्प्रति ब्राह्मणन्मध्ये गा अभिक्रम्य पितृन। वही ३/१४/८

हस्त्यारोहण

हाथी पर आरूढ़ होने से पूर्व हाथी के पास जाकर उसे "हस्तियशस......"[१] इत्यादि मंत्र पढ़ते हुए स्पर्श करना चाहिए। अर्थात् ओ गजराज! तुम ऐरावत की तरह शक्तिशाली और सुन्दर हो, तत्पश्चात् "इन्द्रस्य त्वा........।"[२] अपने के इन्द्र समझते हुए इन्द्रयुध के साथ में तुम पर सवार होता हूँ। कल्याण कामना के साथ तुम मुझे गन्तव्य तक पहुँचाओ। इस मंत्र को पढ़ते हुए गजराज की पीठ पर आरूढ़ हो जाना चाहिए। अश्व, उष्ट्र, गदर्भ आदि पर चढ़ने के लिए इतना ही कर्म होता है, केवल हस्ति के स्थान पर उष्ट्र गदर्भ अश्व आदि शब्द का प्रयोग करना चाहिए।

---

१. हस्तियशसमृज्ञि हस्तिवर्मसमसि

२. इन्द्रय त्वा वज्रेणाभितिगणमि स्वस्ति मा संपारय।। पा.गृ.सू. तृतीयकाण्डे पञ्चदशकण्डिका पृ. २५९

तृतीय अध्याय

शुक्ल यजुर्वेदीय गृह्यनुष्ठान और समाज

समाज शब्द का निर्माण 'सम्' उपसर्गपूर्वक अज् (चलने के अर्थ में) धातु से व्युत्पन्न है। अतः साथ रहकर चलना उठना और बैठना व्यवहार करना ही समाज का पर्याय है।[1] समाज में रीति रिवाज व्यवहार अभ्यास या प्रचलन, आदतों का अध्ययन किया जाता है। इसी से मनुष्य के चरित्र का निश्चय होता है।[2]

समाज स्वभावतः एक सामाजिक प्राणी है इसलिए वह असामाजिक कार्य नहीं कर सकता क्योंकि मानव को एक विवेकशील प्राणी की संज्ञा दी गयी है विवेक का वास्तविक स्वरूप गुण है। समाज व्यक्तियों के उस सामूहिक स्वरूपों का द्वितीय नाम है जिसके पास एक निश्चित रचनात्मक उद्देश्य की प्राप्ति हेतु प्रेम सहयोग सेवा आदि नैतिक नियमों पर आधारित नियमों से निर्देशित एवं नियन्त्रित होता है। इसलिये आंतरिक रूप (आत्मीय रूप) से कोई भी व्यक्ति समाज से विलग नहीं रह सकता है। बाह्य स्वरूपों (कर्मों) के द्वारा वह समाज से वैकल्पिक रूप से सन्यास ले सकता है। परन्तु ज्ञान के द्वारा कभी नहीं। इस प्रकार जो व्यक्ति ज्ञान द्वारा समाज अर्थात् समस्त सृष्टि से संबंधित होता है यही श्रेष्ठ पूर्णरूपेण सामाजिक प्राणी है।[3]

व्यक्तिगत स्वरूप के निराकरण सम्बन्धी दो पहलू है एक स्थूल शरीर दूसरा उसकी विशेषता सूक्ष्म शरीर। शारीरिक पहलू व्यक्ति विशेष के स्वरूप का निराकरण होता है और विशेषतायें सामाजिक स्वरूप का इसलिये एक ही व्यक्ति शारीरिक अस्तित्व से क्षणिक है परन्तु उसकी विशेषतायें सूक्ष्म शरीर शाश्वत है क्योंकि व्यक्ति जन्म लेता फिर मृत्यु को प्राप्त करता है परन्तु समाज सदैव शाश्वत रहता

---

१. वैदिक संहिता में आचार मीमांसा – डॉ. प्रतिभा रानी

२. वही

३. सृष्टि का इतिहास

है। इसलिये समाज मौलिक है क्योंकि उसकी सत्ता सदैव शाश्वत एवं अक्षुण्य रहती है।

मानव समाज में जन्म लेता है समाज में ही उसका पालन पोषण होता है और समाज में ही उसका प्राणांत हो जाता है इसीलिये उसकी सार्थकता समाज में है। समाज से विलग रहने पर न तो उसका समुचित जन्म पालन पोषण तथा प्राणांत होगा न मानव जीवन प्राप्ति की स्थायी उपलब्धि ही होगी क्योंकि समाज में ही उसकी जननी एवं वंशज का अस्तित्व है। इसके अभाव में उसकी पूर्ण स्थायी अस्तित्व (सामाजिक विशेषताओं का निर्माण नहीं होगा और वह व्यक्ति सृष्टि के एक अलग अंश के रूप में विचलित स्थिति में रहते हुये अस्तित्वहीन हो जाता है। परन्तु जब वह व्यक्तिगत तथा शारीरिक रूप से जन्म लेकर सामाजिक विशेषताओं की [1]उपलब्धि कर लेता है तो वह व्यक्ति क्षणिक अस्तित्व में उर्ध्वगामीवान पूर्ण के परिपूर्ण हो जाता है। सामाजिक अस्तित्व प्राप्त कर शाश्वत सत्ता प्राप्त कर लेता है। इसीलिये समाज ही मूल शाश्वत है। क्योंकि व्यक्ति का समाज में उत्पन्न विकास और पुनः समाज में ही उसका अन्त हो जाता है। समाज ही आदि मध्य और अन्त सदैव अस्तित्व वाला संस्था है। व्यक्ति विशेष तो क्षणिक वस्तु है परन्तु व्यक्तियों के समिलन से ही समाज का निर्माण संबंधी अन्तर सहयोगी चक्र ही वास्तविक निर्णायक नियम है। जो समाज प्रत्येक व्यक्ति को समान एवं समुचित रूप से पूर्ण विकास के लिये सुविधा सम्बन्धी निर्देशन एवं नियन्त्रण को प्रदान करता है वही वास्तविक समाज है। व्यक्तिगत सुख ही एक वास्तविक तत्व है जो पूर्ण सामाजिक बन्धनों की जननी है और जनक है क्योंकि व्यक्तिगत सुख से ही प्रेम की उत्पत्ति होती है जो सम्पूर्ण मानवीय कार्य कलापों को जन्म देती है।[2]

गृह्यसूत्रकालीन समाज संस्कृति व सभ्यता के मार्ग पर आरूढ़ हो चुका था समाज में एकता का भाव जागृत हो चुका था

१. सृष्टि का इतिहास

२. वही पृ. १३२

सामाजिक जीवन के पाँच आधार स्तम्भ थे– पारिवारिक जीवन, ऋणत्रय, वर्ण व्यवस्था, आश्रम व्यवस्था तथा वर्ग चतुष्टय इत्यादि।

मानव में ईश्वर प्रदत्त या निसर्गसिद्ध संस्कार रहते हैं जिनके द्वारा उसके जीवन का विकास प्रारम्भ होता है। ये ही संस्कार समस्त सामाजिक विकास की जड़ में है। आत्म रक्षा एकत्रित हो समुदाय बनाकर रहना युग्म भावना, यौन संस्कार मनोविकारादि से सम्बन्धित संस्कार आदि नैसर्गिक तत्व मानव जीवन के इतिहास में विशेष स्थान रखते हैं समाज का विश्लेषण करने पर स्पष्ट होगा कि उसके अन्तर्गत उपरोक्त संस्कारों की क्रियायें व प्रक्रियायें वर्तमान हैं। समाज ने उन्हीं संस्कारों को अपने सांस्कृतिक विकास के आधार स्तम्भ बनाया था समाज ने मनुष्य के आन्तरिक बाह्य दोनों जगतों का सुन्दर विश्लेषण किया गया है उसके मन बुद्धि आत्मा आदि को समझ कर उसके व्यक्तित्व का अध्ययन किया गया था इसी व्यक्तित्व के विकास के लिये आश्रम व्यवस्था का विकास हुआ था जीवन का उद्देश्य न तो विशुद्ध भौतिकता से परिपूर्ण था और न विशुद्ध आध्यात्मिकता के मध्य पारलौकिकता के मध्य सुन्दर सामंजस्य किया था।[१] सूत्रकालीन समाज ने सर्वतोमुखी प्रगति थी तथा धर्म अर्थ काम और मोक्ष को अपना ध्येय बनाया था। समाज का समग्र जीवन पाँच स्तम्भों पर आश्रित था जिनसे उसे जीवन शक्ति स्थापित होती है।

पारिवारिक आधार :

एक व्यक्ति तभी कहलाता है जब मानव समुदाय के बीच में मानव द्वारा जन्म पाकर इस संसार मे प्रवेश करके परिवार के सदस्यों के मध्य बड़े होने से है प्रत्येक व्यक्ति में अपने पूर्वजों के कुछ न कुछ संस्कार अवश्य विद्यमान होते हैं। परिवार से ही व्यक्ति समाज में रहने और व्यवहार करने का उचित ढंग सीखता है। परिवार में मानव के रहने की प्रवृत्ति अत्यन्त प्राचीन है। आदर्श परिवार आदर्श व्यक्तियों का सृजन करता है और एक गृहस्थ व्यक्ति जो अपने परिवार में रहता है वह लोक व्यवहार की मर्यादा का निर्वाह करता है।[२]

---

१. वेदकालीन समाज – डॉ. शिव दत्त ज्ञानी पृ. ७९

२. वैदिक संहिताओं में आचार मीमांसा – डॉ. प्रतिभा रानी – पृ. १२२

परिवार संस्था विस्तार पाकर समाज का रूप धारण करती है। मनुष्य किसी न किसी परिवार से सम्बन्ध होता है और अनेक परिवार मिलकर समाज की संरचना करते हैं।[१] पारिवारिक जीवन आत्मीयता और कर्तव्य निष्ठा पर आधारित था उसमें हित चिन्ता और सबके लिये कर्म करते रहने की उदार भावना विद्यमान थी। पिता, पुत्र, पौत्र, पितामह पत्नी और जन्मदातृ आता तथा अन्य पारिवारिक सम्बन्धियों के प्रति आदर एवं स्नेह का प्रेम बाहुल्य था।

सूत्रकाल में परिवार से लेकर समाज तक लोग छोटे बड़े संगठनों में बंधे हुये व्यवस्थित जीवन व्यतीत कर रहे थे। सामाजिक संगठन की मूलभूत इकाई को कुल नाम से कहा जाता था।

आर्यों का जीवन बड़ा सुखमय था उनका परिवार संयुक्त था एक परिवार मे कई सदस्य होते थे। परिवार पितृप्रधान था पिता ही घर का मालिक होता था इसलिये गृहपति कहलाता था।[२]

व्यक्ति का परिवार में सर्वप्रथम आगमन एक शिशु के रूपमें होता है और तब माता-पिता के उसके प्रति कुछ कर्तव्य कर्म करने होते हैं। माता-पिता का अपने बच्चों के प्रति कर्तव्य करना उत्तरदायित्व क्योंकि इसके अभाव में बच्चों की नीव सुदृढ़ नहीं हो पाती। शिशु प्रारम्भ से ही स्वाधिकारों, कर्तव्यों को समझने में पूर्ण रूप से अनभिज्ञ रहता है और तब समाज में अव्यवस्था का पदार्पण होने लगता है।

आर्य मानव जीवन के प्रति पूर्ण जागरूक था वह व्यक्तित्व उन्नति के साथ परिवार समाज तथा राष्ट्र की भी उन्नति के लिये सदा प्रयत्नशील रहता था और अपने अराध्य देवों से भी इसके लिए प्रार्थना किया करता था।[३] वह सदैव पुत्र पौत्रों से यक्त धन की कामना करता

---

१. वैदिक संहिताओं में आचार मीमांसा – डॉ. प्रतिभा रानी – पृ. १२२

२. पश्चात् गृहेषु पूर्वमाशितेषु सत्सु पश्चात् गृहपतिः। पा.गृ.सू. २/९/१४ पृ. ३१४ ते च ते भवाः पुत्र पौत्रादयः। वही

३. वैदिक संहिताओं में आचार मीमांसा – डॉ. प्रतिभा रानी पृ. १२५

था जो उसे यश का भागी बना सके वह ऐसी स्त्री चाहता था जो सुन्दर दीर्घजीवी संतति प्रदान कर सके।[१]

पिता के कर्तव्य पुत्र के प्रति :

सर्वप्रथम जब शिशु के रूप में व्यक्ति इस धरा पर प्रथम कदम रखता हैं तो पहले वह अपने बड़ों से अधिकार प्राप्त करता है। जन्म लेने के पश्चात् जन्म देने वाले पिता के अपने पुत्र के प्रति कुछ कर्तव्य हो जाते हैं। वस्तुतः ये कर्तव्य आधार का ही एक रूप है क्योंकि कर्तव्यों को निभाने से अव्यवस्था व्याप्त होती है और सन्तान पुत्र हो या पुत्री उचित संस्कारों के अभाव में अनाचारी हो सकता है। पिता का कर्तव्य होता है कि बच्चे की सुरक्षा का पूरा ध्यान रखें। पिता शब्द "पाति रक्षति इति पिताः" निर्वचन से निष्पन्न होता है।[२] चूड़ाकरण संस्कार में पिता येन भूरिश्चय मन्त्र पढ़ते हुए बालक के सिर का मुण्डन करते हुए बालक से कहता है कि हे कुमार जिस मंत्र या तपस के बल से चरणशील वायु चिरकाल तक द्युलोक और सूर्यलोक में बहती रहती है उसी मंत्र से तुम्हारी केशराशि का वपन करता हूँ। यह कृत्य तुम्हारी जीवन शक्ति बढ़ाकर दीर्घायु बनाने और जीवन में मंगल का संचार करेगा।[३]

इससे यह स्पष्ट है कि सूत्रकाल में पिता अपने पुत्र की प्रत्येक रूप से रक्षा करना कर्तव्य समझता था। एक अन्य मंत्र में नाई के हाथ में पकड़े गये छुरे को देव मानकर प्रार्थना करता है कि नाई के हाथ में पकड़े गये इस छुरे से तुम कुमार के केशों को संस्कृत करो

---

१. तादेहि विवाहावहै सह रेतो दधावहै, प्राजां प्रजनयावहै पुत्रान् विद्यान्वहै ते सन्तु जरदष्टयः सम्प्रियौ रोचिष्णु सुमनस्यमानौ। पश्येम शरदः शतं जीवेन शरदः शत श्रुणुयाम शरदः शतमिति।
पा.गृ.सू. १/६/३ पृ. ९३

२. निरुक्त

३. येन भूरिश्चरा दिवं ज्योक्च पश्चाद्धि सूर्यम्। तेन ते वपामि ब्रह्मणा जीवातते जीवनाय सुश्लोक्याय स्वस्तय इति। वही २/१/१६ पृ. २२४

और अलंकृत करते हुये काटो परन्तु सिर को मत मूड़ (काट) देना।[१] जातकर्म संस्कार में बालक के प्रति पिता का कर्तव्य बताया गया है कि पिता बालक के नाल छेदन से पूर्व ही उसके मेधाजनन और आयुष्य कर्म करना चाहिये। पिता का कर्तव्य होता है कि वह बालक का सर्वांगीण विकास करे इसके लिये बालक का मेधाजनन संस्कार जो बुद्धि की वृद्धि क लिये पिता करता है वह बालक को मधु घृत मिलाकर कहता है कि मैं तुझमें भूः भुवः स्वः सभी तुझमें निहित करता हूँ।[२] यद्यपि घृत मधु आदि वस्तुयें भी शिशुके मानसिक विकास की दृष्टि से अत्यन्त उपकारक है। सूत्रकाल के समय में समाज में पिता अपने उत्तरदायित्व के प्रति अत्यन्त जागरूक था वह बालक की सम्पूर्ण आयु प्राप्त करने के लिये शिशु की नाभि या दाहिने कान के समीप जाकर अग्निरायुष्मान प्रभृति-------[३] मन्त्रों का उच्चारण अत्यन्त मन्द स्वर में तीन बार जप करता था इसके पश्चात् वत्सप्रीभनिन्दनः ऋषि के द्वारा दृष्ट दिवस्परि ---- से उशिजो विवबुः तक ११ ऋचाओं को पढ़कर उनका स्पर्श करता है।[४] पिता

---

१. यत्क्षुरेव माज्जयता सुपेशसा वप्लवा वावपति केशाञ्छि शिरो– माऽस्यायुः प्रमोषीः। पा.गृ.सू. २/१/१८

२. मधुघृते प्राशयति घृतं वा भूस्त्वयि दधामि। भुवस्त्वयि दधामि। स्वस्त्वयि दधामि भूभूर्वः स्वः सर्वत्वयि दधामीति। वही १/१६/४ पृ. १८१

३. अग्निरायुष्मत्तेन त्वाऽऽयुष्मन्तं करोमि। देवा आयुष्मन्तरस्तेऽमृतेनाऽऽयुष्मन्तस्तेन त्वाऽऽयुषाऽऽयुष्मन्तं करोमि। ऋषय आयुष्मन्तस्ते ब्रतैरायुष्मन्तस्तेन त्वाऽऽयुषाऽऽयुष्मन्तं करोमि। पितर आयुष्मन्तस्ते स्वधाभिरायुष्मन्तस्तेन त्वाऽऽयुषाऽऽयुष्मन्तं करोमि। यज्ञ आयुष्मान्त्स दक्षिणाभिरायुष्मॉस्तेने त्वाऽऽयुषाऽऽयुशमन्तं करोमि। समुद्र आयुष्मान्त्स। स्रवन्तीभिरायुष्मॉस्तेन त्वाऽऽयुषाऽऽयुष्मन्तं करोमिति त्रिस्त्रिः। पा.गृ.सू. १/१६/६

४. दिवस्परि प्रथमं जज्ञेऽग्नि रस्मद् द्वितीयं परिजातवेदाः
तृतीयमप्सु नृमणाऽअजस्त्रमिन्धानऽएनञ्जरते स्वाधी ।१।
विद्या विद्यमा ते अग्ने त्रेधा त्रयाणि विद्यमा ते धाम विभृता पुरुत्रा
विद्यमा ते नाम परि परमं गुहायद्विद्यमा तमुत्सं यतऽआजगन्थ ।२।

अपने पुत्र को प्राणादि शक्तियों से सम्पन्न करे इसके लिये विधान है कि वह कम से कम पाँच ब्राह्मणों को बिठाकर उनसे आग्रह करना चाहिये कि आप मेरे पुत्र को प्राणादि शक्तियों से सम्पन्न करें।[१] परन्तु गृह्यसूत्रों में ऐसा भी विधान है कि यदि ब्राह्मण न मिल पाये तो पिता स्वयं ही शिशु के चारों ओर घूमकर प्राण व्यान उदान अपान समान शब्दों का उच्चारण स्वयं करें।[२] पिता शिशु से एक मंत्र में कहता है कि तू पत्थर हो परशू हो खरा स्वर्ण बन इसमें पिता पुत्र के वीरतापूर्ण तथा शुद्ध जीवन की कामना से करता है।[३]

बालक को भूत प्रेत से बचाने के लिये जलपूर्ण कलश शिशु माता के साथ जब शय्या पर लेटा होता है तो वह उनके सिरहाने रख देता है।[४] शिशु को यदि बालगृह पीड़ित करे तो पिता को चाहिये कि वही मछली पकड़ने के जाल से और जाल के अभाव में उत्तरीय से ढककर गोद में लेकर पिता कुकुर्: ----प्रभृति मंत्रों का जाप करता है।[५] इस प्रकार से यह तथ्य सम्मुख आता है कि पिता अपने पुत्र की समाज में हर प्रकार से रक्षा करना अपना कर्तव्य समझता था।

वस्तुतः पुत्र की रक्षा करके पिता स्वयं अपने प्रति परिवार के प्रति तथा समाज के प्रति भी बहुत महत्वपूर्ण कर्तव्य की पूर्ति करता

---

१. ततः संस्कारकर्ता कुमारस्य प्रतिदिशं पञ्च ब्राह्मणानवस्थाप्य स्थापयित्वा तान्प्रतिममनुप्राणितेति प्रैषं ब्रूयात्। पा.गृ.सू. १/१६/१० पृ. १८५

२. ततः प्रेषिता ब्रह्मणाः पूर्वादिक्रमेण प्राणेति कुमारं लक्षीकृत्य पूर्वो ब्रूयात्– व्यानोति दक्षिणो ब्राह्मणः अपानेति, परिचमः उदानेत्युत्तरः समानेति पञ्चम उपरिष्टा दूद्धर्ववेक्ष अविद्यमानेषु असत्सु ब्राह्मणेषु स्वयं वा स्वयमेव अनुप्राणनं कुर्यात्। वही १/१६/११

३. अथैनमभिमृशत्यश्माभव परशुर्भव हिरण्यस्तुतं भव। आत्मा वै पुत्र नामासि सः जीव शरदः शतमिति। पा.गृ.सू. १/१६/१८

४. उदपात्रं जलपूर्ण पात्रं शिरस्तः शिरः प्रदेशे कुमारस्य निदधाति स्थापयित। वही १/१६

५. यदि चेत्कुमारो बालगृहः तं बालमुपद्रवेत् अभिभवेत् तदां तं बालं जल जालेन मतस्यगृहणसाधनेन तदलाभे उत्तरीयेण वा वाससा प्रच्छाद्य अङ्केउत्सङ्गे निधाय धृत्वा कुकुर मंत्र जपति। वही १/१६/२४

है क्योंकि उसका पुत्र केवल असमर्थ होने तक ही उसका पुत्र रहता है उसके पश्चात् तो वह उसके पुत्र के अतिरिक्त एक सामाजिक नागरिक भी हो जाता है जिसके सबल कन्धों पर आदर्श समाज की बागडोर रहती है। अतः पुत्र की विपत्तियों से रोगी से शत्रुओं से सभी प्रकार से रक्षा करना एक पिता का परम कर्तव्य है।

पोषण :

रक्षा के अतिरिक्त पिता का द्वितीय कर्तव्य पुत्र का पालन पोषण करना। ऋग्वेद में एक स्थान पर इन्द्र को पिता के समान भरण पोषण करने वाला बताया गया है।[१] स्वयं इन्द्र के मुख से ऋषि ने कहलाया है मुझे प्राणी पिता के सामान पुकारते हैं। मैं पूजक को भोजन बाँटता हूँ। गृह्यसूत्रों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि बालक का पोषण करना भी पिता का एक प्रमुख कर्तव्य था जब शिशु की आवश्यकताओं के अनुरूप उसे ठोस आहार की आवश्यकता होती थी इसीलिये अन्नाप्राशन संस्कार की व्यवस्था की जो कि जन्म के छठे मास में सम्पन्न होता है। परन्तु आज के समय में इसका कोई निश्चित समय नहीं रहा है अन्नप्राशन के पूर्व बालक माता के स्तन पान पर ही निर्भर रहता है।[२] अन्नप्राशन के समय पिता संस्रवप्राशन के पश्चात् सभी रसों और अन्नों को एक साथ मिलाकर खिलाता था।[३] खिलाते समय पिता या तो चुप रहता था 'हन्त' शब्द का उच्चारण करता था। विविध प्रकार के भोजन खिलाने के पीछे भिन्न-भिन्न प्रकार के उद्देश्य निहित होते थे। जैसे पिता पुत्र की वाणी में प्रवाह के लिए भरद्वाज पक्षी का मांस खिलाता था।[४] अन्न आदि का प्राचुर्य के लिये कपिञ्जल पक्षी का

---

१. ऋग्वेद – ७/२९/४

२. मातृस्तनं प्रक्षाल्य धावयित्वा कुमाराय ददाति इमं स्तनमित्येतयर्वा। पा.गृ.सू. १/१६/२० पृ. १८८

३. प्राशनान्ते कर्मणि सर्वान् मधुरादीन् रसान्सर्वमन्नं भक्ष्यभोज्यलेहतपेयचोष्यादि। वही १/१९/५

४. भारद्वाजीपक्षिणीविशेषः मांसेन प्रशनं कारयितष्यम्। वाकप्रसारकामस्य वाचः प्रसारो बहुत्वं तत्कुमारस्य कामयते। वही १/१९/७

मांस,[१] वेगवत्ता के मत्स्य मांस,[२] दीर्घायु के लिये कृकषा का मांस,[३] तथा ब्रह्मतेज के लिये आटि पक्षी[४] का मांस खिलाता था। पिता केवल अपने बालक का शारीरिक विकास ही नहीं अपितु सर्वांगीण रूप से विकसित हो उस प्रकार से पोषण करता है। एक आदर्श पिता ही पुत्र के प्रति अपने कर्तव्य को समझता हुआ देवों से भी सुख की कामना करता है और स्वयं भी सुखदायी होता है।

पिता केवल जन्म देने से ही पिता नहीं कहलाने का अधिकारी हो जाता है। पुत्र का अच्छी प्रकार से पालन पोषण क़रना उसके सुख समृद्धि के साधन जुटाना उसे स्वस्थ रखना और उसकी उचित अभिलाषाओं की यथा सामर्थ्य पूर्ति करना भी आदर्श पिता का कर्तव्य है। कुपोषण के शिकार बच्चे अनेक विकृतियों के ग्रास बन जाते हैं।

वर्णाश्रम व्यवस्था :

गृह्यसूत्रकालीन समाज में चारों वर्णों का प्रमुख स्थान था। किन्तु याग का सम्पादक होने के कारण उनमें ब्राह्मण का सर्वातिशायी महत्व था। ऋग्वेद में एक सूक्त में ब्राह्मण को विराट पुरुष का मुख, क्षत्रिय को बाहु, वैश्य को मध्यभाग तथा शूद्र को पैर कहा है।[५] यजुर्वेद में भी चारों वर्णों के कर्मों आदि का भी विवेचन है। शतपथ ब्राह्मण भी समाज के चातुर्दिक वर्ण विभाजन को अभिव्यक्त करता है– "चत्वारो वै वर्णाः ब्राह्मणो राजन्यो वैश्यः शुद्रः।[६] पारस्कर गृह्यसूत्र में भी चारों वर्णों का उल्लेख प्राप्त होता है।"[७]

मानव शरीर से समाज की उपमा दी गयी है मानव शरीर में मुख हाथ पेट तथा पैर ये सब मिलकर शरीर का निर्माण करते हैं।

---

१. एवमन्नाद्यकामस्य कपिञ्जलमांसेन प्राशयेत्। वही १/१९/८

२. जवनः शीघ्रगामी स्यादिति कामयेत् तद्यं मत्स्यानां मांसेन प्राशनं कुर्यात्। वही १/१९/९

३. कृकषा कङ्कणहारिका तन्मांसेन दीर्घायुकामस्य प्राशनम्। वही १/१९/१०

४. आदिर्जलचरः पक्षी ब्रह्मवर्चसकामस्य प्राशनं कुर्यात्। वही १/१९/११

५. ऋग्वेद – १०/९०/१२

६. शत.ब्रा. ५.५.४.९, ६.४.४.१.३

७. पा.गृ.सू. १.४.८–११, २.२.७–१० पृ. २५०

समाज भी मानव की भाँति एक शरीर है। समाज की पुष्टि और उन्नति के लिये प्रत्येक अंग का पुष्ट होना आवश्यक है उसके किसी अंग की अवनति समग्र समाज की अवनति और हीनता का कारण बनती है इसलिये समाज की उन्नति के लिये उसके अंगों का पुष्ट होना आवश्यक है।[१]

ब्राह्मण के विषय में कहा गया है कि जो ब्राह्मण (ब्राह्मणस्पति) रोगों को मारने वाला है जो धन प्राप्त करने वाला लोगों की पुष्टि बढ़ाने वाला सुखों को उत्पन्न करने वाला ब्राह्मण का वखान यज्ञों में किया जाता है। ब्राह्मण समाज शरीर का मुख है इसमें समाज के अन्य क्षत्रियादि अंगों की अपेक्षा पाँच गुना अधिक ज्ञान होना चाहिये क्योंकि ब्राह्मण का कार्य अपने मुख से बोलकर अपने ज्ञान से दूसरे लोगों तक पहुँचाना चाहता है इस प्रकार जो लोग ज्ञान के अर्जन और अर्जित ज्ञान के प्रचार में लगे रहते हैं वे ब्राह्मण हैं। मुख तपस्वी है कठोर से कठोर शीत के दिनों में भी मुख आवरण आदि के शब्दों को सहने का अभ्यास होना चाहिये।[२] ब्राह्मण को स्वार्थहीन तथा परोपकारी होना चाहिये, उसे अपना ज्ञान और शक्तियाँ समाज के उपकार में लगा देनी चाहिये। यदि स्वार्थी ब्राह्मण होगा तो वह स्वयं नष्ट हो जायेगा और समाज भी नष्ट हो जायेगा।

जो इस प्रकर मुख की भाँति ज्ञानवान् ज्ञान का उपदेष्टा तपस्वी सहनशील स्वार्थहीन और परोपकारी है वह ब्राह्मण है।[३]

क्षत्रिय अपने भीतर बल की विशेष वृद्धि करते हैं और उस बल से समाज की रक्षा करते हैं। क्षत्रिय समाज के किसी अंग पर प्रहार नहीं करते न ही अत्याचार होने देता वह स्वयं को कष्ट में पड़ना स्वीकार कर लेता है यहाँ तक कि मृत्यु का भी आलिंगन करने को

---

१. वेदो के राजनीतिक सिद्धान्त डॉ. प्रियव्रत – पृ. ३८७

२. वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त – डॉ. प्रियव्रत – ३८७

३. वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त – डॉ. प्रियव्रत – ३४०
जातकर्मादिभिर्यस्तु संस्कारैः संस्कृतः शुचिः, वेदाध्ययन सम्पन्न षट्सु कर्मस्ववस्थितः शौचाचारुरतः सम्यग विघसाशी गुरुप्रियः नित्यव्रती सत्यपरः स वै ब्राह्मण उच्यते। महाभारत

भी उद्यत रहेगा पर समाज के किसी अंग को अन्याय अत्याचार से पीड़ित नहीं होने देता। उसे समाज की रक्षा और उसके शत्रुओं के विनाश करने के लिये ही समाज की भुजा कहा गया है।[१]

वैश्य समाज का मध्य भाग है वैश्य की तुलना पेट से की गयी है जिस प्रकार पेट अन्न को पचाकर रस बना देता है फिर उस रस को प्रत्येक अंग में पहुँचकर उसे भोजन देता है और पुष्टि तथा बल प्रदान करता है। वैसे ही वैश्य को समाज के ब्राह्मण आदि सब अंगों को भोजन तैयार करके देना होगा। समाज का जो अंग समाज शरीर के सब अंगों का भरण पोषण का भार अपने ऊपर लेता है वह वैश्य कहा गया है। वैश्य जंघाओं की भाँति देश देशान्तर में जाकर व्यापार करना अपना कर्तव्य समझता है। ये राष्ट्र शरीर के मध्य भाग होते हैं जिसके ऊपर सब अंगों का अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय शूद्र का जीवन निर्भर करता है।[२]

शूद्र समाज रूपी शरीर का पैर है, जो लोग ज्ञान आदि विशेष गुण अपने अन्दर नहीं रखते इसीलिये वे समाज के ब्राह्मण आदि अंगों को सेवा का ही कार्य कर सकते हैं। उन्हें शूद्र की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। ये शूद्र ब्राह्मणादि की सेवा करके उनके ज्ञानार्जन और ज्ञान प्रचार आदि के कामों के लिये अधिक समय प्राप्त कर सकने में सहायता देकर समाज की सेवा करते हैं। ज्ञान आदि विशेष गुण न होने के कारण जो लोग केवल समाज शरीर की सेवा का ही कार्य कर सकने में समर्थ है वे शूद्र है।[३]

गृह्यसूत्रों के अनुसार ब्राह्मण आदि का विभाग घृणा पर आश्रित ऊँच नीच के भेद पर स्थित नहीं था। यह विभाग अपनी शक्तियों द्वारा समाज की अधिक से अधिक सेवा कर सकने के भाव पर अवलम्बित है। यही अवस्था समाज शरीर में उसे मुख भुजा पेट और

---

१. यो हि रक्षा कर्मणा जीवति यश्च अध्ययनयजन दाक्षादिकर्माणि सम्पादयति सः क्षत्रियः। भारतीय संस्कृति– आचार्य लोक मणिदाहाल पृ. ३१

२. यश्च वार्तया जीवति सम्पादयति अध्ययन यजनदानादिकर्माणि सः वैश्यः। वही

३. वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त – डॉ. प्रियव्रत – पृ. ३४१

पैर अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र की होनी चाहिये उन्हें परस्पर घृणा नहीं करनी चाहिये उन्हें एक दूसरे से मिलकर, एक दूसरे का सुख-दुःख अपना समझना चाहिये ऐसा समझकर सबको कष्ट और विपत्ति दूर करने में तथा सुख और सम्पत्ति बढ़ाने में निरन्तर भरपूर प्रयत्न करना चाहिये और उन्हें समझना चाहिये कि सम्पूर्ण मानव का जीवन सहयोग पर आधारित है।[१]

आश्रम व्यवस्था :

आश्रम व्यवस्था प्राचीन व्यवस्था का महत्वपूर्ण आधारस्तम्भ थी। जीवन के मर्म को भलीभाँति समझकर ही आश्रम व्यवस्था का विकास किया गया था। प्रत्येक को इन आश्रमों में प्रवेश करना पड़ता था। क्योंकि समाज में जो स्थान वर्णो का था वही स्थान चारों आश्रमों का था। ऋषियों ने मानव जीवन का प्रारम्भ इस व्यावहारिक सत्य को समझकर ही किया था कि यद्यपि संसार का प्रारम्भ भोग है। परन्तु भोग भी बिना त्याग साधना के नहीं भोगा जा सकता। जीवन सम्पूर्ण आयु को चार भागों अर्थात् आश्रमों में विभाजित किया। जीवन की प्रथम साधना का नाम उन्होंने ब्रह्मचर्य आश्रम रखा था। ब्रह्मचर्याश्रम गृहस्थाश्रम के लिये तैयारी का आश्रम रखा था। संसार के ऐश्वर्यों का जीवन में पूरी तरह से उपभोग किया जा सके इसीलिये ब्रह्मचर्यावस्था में बालक को संसार के ऐश्वर्यों से दूर रखा जाता था।

वर्ण व्यवस्था के समान यह व्यवस्था भी समाज को अपने उद्दिष्ट तक पहुँचाकर मनुष्य को सच्चे अर्थ में मनुष्य बनाकर उसे अपने अन्तिम ध्येय ब्रह्म प्राप्ति या मोक्ष प्राप्ति तक पहुँचाती थी। वे चार आश्रम इस प्रकार थे- ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास।[२]

ब्रह्मचर्याश्रम :

ब्रह्मचर्य आश्रम का प्रारम्भ उपनयन संस्कार से होता है। ब्रह्मचर्याश्रम एक लम्बा साधना का आश्रम है एक ऐसा आश्रम जिसमें

---

१. वही

२. धर्मशास्त्र का इतिहास- पी.वी. काणे पृ.

प्रवास दृष्टिकोण होता है। ब्रह्मचर्य का तपोमय साधना के बिना जीवन की लालसा का जीवन है। ब्रह्मचारी अपने जीवन की साधना तपसे करता है। सूत्रकाल में यह प्रथा थी कि विद्यार्थी का निवास शहर से दूर जंगल में ऋषि मुनियों के आश्रम में होता था जहाँ शहरों में कोई प्रलोभन नहीं था। ब्रह्मचर्य आश्रम में प्रवेश करने के लिये बालक का उपनयन संस्कार होता था[१] इसके लिये ब्राह्मण का उपनयन संस्कार जन्म के आठवें वर्ष[२] या गर्भ के आठवे वर्ष[३] क्षत्रिय का ११वें और वैश्य बालक का १२वें वर्ष[४] करना चाहिये अथवा सभी का सुविधा या कुल परम्परा के अनुसार किया जा सकता है। उपनयन संस्कार इस बात का द्योतक था कि अमुक व्यक्ति शिक्षा को ग्रहण करने की आयु को प्राप्त कर चुका है। यह संस्कार का परम उद्देश्य है ब्रह्मचारी के लिये नित्य प्रतिदिन जंगल में जाना और समिधा लाना था।[५] ब्रह्मचारी समित्पाणि होकर ही आचार्य के पास पहुँचता था। ब्रह्मचारी का दूसरा नित्यकर्म भिक्षाटन था।[६] भिक्षाटन एक प्रकार की मृत्यु में कदम रखना था इससे उसके अहं की मृत्यु हो जाती थी। आचार्य की आज्ञा का पालन करना आचार्य की आज्ञा से कोई कर्म करना अपनी इच्छा से कुछ भी न करना यह आचार्य को अपने अन्दर धारण करना था।[७] शास्त्रों में ब्रह्मचर्य धर्म के विषय में कहा गया है।[१] भिक्षाटन में

---

१. आचार्यस्य उपसमीपे माणवकस्य नयनम् उपनयन शब्देनोच्यते। पा.गृ.सू. २/२२१

२. प्रसवानन्तरमष्टौ वखष्यितीतानि यस्य बालकस्यासौ अष्टवर्षः तमष्ट वर्ष ब्राह्मणमुपनयेत। वही

३. एकादशवर्षाष्यतीतानि यस्यासवेकादशवर्षस्वं राजन्यं क्षत्रियमुपनयेत्। वही १२/२/२ गदाधर भाष्य

४. द्वादश वर्षाष्यतीतानि यस्यासौ तथा तं वैश्य वर्षतृतीयमुपनयेत्। वही २/२२३

५. उपनयनाङ्गभूतं समिदाधानमाह समिधां विसृणा प्रक्षेपो वृहतचारि कर्तको भवति। वही २/४/१ गदाधरभाष्य – पृ. २४०

६. भिक्षाचर्यचरणं कर्तव्यमित्यर्थः। वही. २/५/१ गदा. भाष्य पृ. २५९

७. चतुर्था भूतानि प्रविशति अग्निपक्षमृत्युम्पदाचार्यम्पदा आत्मन्येवास्त्र चतुर्थ पाद परिशिष्यते। स यदग्नये समिधा महरति य एवास्याग्नौ पादस्तमेव तने

ब्रह्मचारी उसी से शिक्षा ग्रहण करता था जो अधिक प्रशंसनीय होता था यदि ऐसा व्यक्ति न मिले तो आचार्य की पत्नी या अपनी माता से भिक्षाग्रहण कर सकता था।[२] समिदाधान तथा भिक्षाटन नित्य कर्म या विशेष परिस्थितियों में ६ दिनों तक छूट मिल सकती थी किन्तु सातवीं रात्रि का वही अतिक्रमण नहीं कर सकता था। यदि उसने अतिक्रमण किया तो वह ब्रह्मचारी के पद से च्युत हो जाता था। सात रात्रि तक लगातार समिदा न लाने वाला तथा भिक्षाटन न करने वाले ब्राह्मण ब्रह्मचारी का पुनः उपनयन करना पड़ता था।[३] शिक्षा का स्वरूप आदर्श स्वरूप आचार्य और शिष्य के स्वस्थ सम्बन्ध पर आधारित था। दोनों प्रतिदिन पाठारम्भ से पूर्व परमात्मा से प्रार्थना करते थे कि वह उन दोनों की एक साथ रक्षा करे[४] दोनों को ज्ञान का संभागी बनावे दोनों एक साथ विद्यादान एवं विद्याग्रहण रूप पराक्रम को दोनों की अधीत विद्या तेजस्वी होवे तथा वे परस्पर द्वेष न करें। आचार्य निष्कपट भाव

परिक्रीणति तं संस्कृतयात्मन्धत्ते स एनमाविशति। अथ यदात्मानं दरिदीकृत्येव महीर्भूत्वाभिक्षते या एवास्य मृत्यौ पादस्तमेव तेन परिक्रीणति तं संस्कृत्यान्मन्धत्ते स एनमाविशति अथ यवाचार्यवचनं करोति। यदावायचि कर्म करोति य एवास्याचार्ये पादस्तमेव तेन परिक्रीणाति व संस्कृत्यात्मन्धत्ते य एनमाविशति। श.ब्रा. ११/२३/३

१. ब्रह्मचारी गुरुकुले वसन् दान्तो गुरोर्हितम्
आचरन् दावन्नीचो गुरौ सुहृदसौहृद:। भाग. ७/१२/१
तपो विशेषैविविधैर्व्रतैश्च विधिचोदितै:
वेद: कृत्स्नोऽधिगन्तव्य: सरहस्यो द्विजन्मना। मनु. २/१६५
गुरुणाऽनुमत: स्नात्वा समावृत्तौ यथाविधि। मनु. ३/४
अविलुप्त ब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममावसेत्। मनु. ३/२

२. आचार्या: मातरं जननी प्रथमां भिक्षेतेत्याहु:।
पा.गृ.सू. २/५/७ गदा.भाष्य पृ. २५९

३. सप्तमी नातिनयेतं सप्तमीमतिनयन्नं ब्रह्मचारी भवति। समिदामैक्ष सप्तरात्रम् चरित्र वान् ब्रह्मचारी पुनरूपनेयोभवति।
गो.ब्रा. १.२.६ पा.गृ.सू. २/४ पृ. २५१

४. कठोपनिषद – शान्ति पाठ

से अपनी सम्पूर्ण विद्या शिष्य को प्रदान करता था यदि उसे किसी विषय का पूर्ण ज्ञान नहीं होता था तो उस विषय के जानकार अन्य आचार्य के पास अपने शिष्य को भेज देता था। शिष्य परमात्मा से यही प्रार्थना करता है कि वह उसकी रक्षा करे वक्ता आचार्य की रक्षा करे।[१] आचार्य भी अच्छे शिष्य की प्राप्ति के लिये सदा सचेष्ट रहते थे। सत्रारम्भ में आचार्य द्वारा अग्नि में पाँच आहुतियाँ इस तथ्य की पुष्टि करती हैं।[२] विद्या को एक संहिता के रूप में प्रस्तुत किया गया है जिसका पूर्वरूप आचार्य है उत्तर रूप शिष्य है विद्या संधि तथा प्रवचन संधान है।[३]

शिक्षा का तीसरा घटक तत्व है शिक्षा केन्द्र। सूत्रकाल अध्ययन से पता चलता है। शिक्षा प्रदान करने के लिये तीन संस्थाये थी आश्रम, परिषद और सम्मेलन। निर्धारित समय में विधिवत् शिक्षा प्रदान करने वाले केन्द्र आश्रम कहलाते थे। इन्हीं को गुरुकुल या आचार्य कुल भी कहा जाता था। आश्रम के अधिष्ठाता ऋषि या आचार्य का यहीं निवास होता था। आश्रमों में प्रवेश के समय शिष्यों का उपनयन संस्कार किया जाता था। उपनयन के द्वारा शिष्य का नवीन जन्म माना जाता था। ऐसी मान्यता थी कि उपनयन करता हुआ आचार्य ब्रह्मचारी को अपने गर्भ में धारण करता है तीन रात्रि पर्यन्त उदर में रखता है।[४] इसके बाद उसको गायत्री का उपदेश देता है।[५]

सामान्यतः २५ वर्ष तक शिष्य गुरुकुल या आश्रम में रहते थे। पारस्कर गृह्यसूत्र के अनुसार मंत्र ब्राह्मणात्मक वेद को भली भाँति

---

१. वन्मामवतु तदवक्तारमक्तु – तै.उप. १.१
२. तै.उप. १.४.२
३. तै.उप. १.२.३
४. शत.ब्रा. ११.५.४, १२
५. सर्वेषां वा ग्रायत्रीम् २/३/१० पृ. २४९

समाप्त करने के बाद स्नान करने का विधान है अथवा ४८ वर्षों तक ब्रह्मचर्य पालन करने का नियम है।[१]

गो.ब्रा. में भी इस बात की पुष्टि की है।[२] आश्रम शिक्षा के दो स्तर थे प्रथम स्तर के बहुत से शिष्य एक साथ आचार्य के पास बैठकर अध्ययन करते थे। इस स्तर के बाद आचार्य शिष्यों की योग्यता को परखता था जिसकी बुद्धि मन्त्रों के अर्थबोध में समर्थ नहीं हो सकती थी उसका द्वितीय स्तर में प्रवेश नहीं होता था। शिष्य की योग्यतानुसार वर्ष भर में या छठे महीने में या २४वें, १२वें या छठे दिन सावित्री मंत्र सिखलाया जा सकता है।[३]

आश्रमीय शिक्षा का स्वरूप व्यवहारिक था आश्रम में शिष्य अपने आचार्य के साथ उसके परिवार का एक सदस्य होकर रहता था यहाँ शिष्यों का आचार्य के साथ एक घनिष्ठ सम्बन्ध हो जाता था। इस घनिष्ठता में वह अपने आचार्य के गुणों को आत्मसात करने लगता था। आचार्य के आदेशों को प्राप्त करना ही शिष्य का उद्देश्य होता था। आश्रम के स्वस्थ वातावरण में शिष्य ऐसी बहुत सी नैतिक शिक्षायें ग्रहण करता था जिसका उपदेश द्वारा कथन नहीं किया जा सकता। आश्रम में रहने वाले शिष्यों की व्यवहारिक शिक्षा आचार्य के घर की देखभाल एवं उनके पशुओं के पालने में होती थी। यहीं पर आत्म-निर्भरता परिश्रम का महत्व बड़ों के प्रति सहृदय भाव सहपाठियों के साथ भ्रातृत्व भाव आदि की व्यवहारिक शिक्षा ग्रहण करता था।[४]

व्यक्ति को अनुशासन एवं संकल्प के अनुसार रहना पड़ता था उसे अतीत काल के साहित्यिक भण्डार का ज्ञान प्राप्त करना पड़ता

---

१. कष्टत्वारिशद्वर्षाणि वेदब्रह्मचर्य वरेत् चतुर्णावेदानां गृहणार्थ एकमेव ब्रह्मचर्यव्रत कुर्यात्। पा.गृ.सू. २/५/१३ पृ. २६१

२. तस्मा एवत्प्रोवाचाष्टाचत्वारिशद्वर्ष सर्ववेदब्रह्मचर्य तच्चतुर्था वेदेषु द्वादशवर्ष ब्रह्मचर्य द्वादशवर्षाष्य राष्ट्रमपि स्नाय चरेद यथाशक्त्यपरम्। गो.ब्रा. १.२.५

३. संवत्सरे षष्मास्ये चतुर्विहन्शत्यहे द्वादशाहे त्र्यहे वा। पा.गृ.सू. २/३/६ पृ. २४८

४. वैदिक संहिता में आचार मीमांसा – डॉ. प्रतिभारानी पृ. १५५

था। उसे आज्ञाकारिता आदर सादे जीवन उच्च विचार के सद्गुण सीखने पड़ते थे। ब्रह्मचर्याश्रम में प्रत्येक बालक और कन्या को अपनी रुचि संस्कार और सामर्थ्य के अनुसार चारों वर्णों में से किसी एक को अपने जीवन का लक्ष्य बनाकर उसके कर्तव्य कर्मों का पालन करने योग्य अपने आपको बनाने की तैयारी करनी होती थी। शरीर मन और आत्मा की शक्तियों का गहरा संचय करके अपने अभीष्ट वर्ण के आदर्शों के योग्य अपने आपको बनाना होता है।[१]

समाज के प्रत्येक बालक को जीवन के प्रथम भाग के गुरुकुलों में आचार्य के पास जाकर ब्रह्मचारी रहना चाहिये। ब्रह्मचर्य जीवन में संसार की सब चिन्ताओं से अलग होकर मन और इन्द्रियों का पूर्ण संयम करके अपने शरीर को बल से मस्तिष्क को तृण से लेकर परमात्मा तक के सब पदार्थों के सम्बन्ध रखने वाली भाँति-भाँति की विद्याओं से तथा आत्मा को पवित्र गुणों से भरने की ही एक मात्र चिन्ता करनी चाहिये। इसके द्वारा समाज की सेवा करने के योग्य अपने आपको बनाने के लिये आवश्यक विद्या की तैयार में जुट जाता है।[२]

ब्रह्मचारी के लक्षण :

बालक को ब्रह्मचर्याश्रम में रहते हुए नियमों का पालन करना चाहिये बालक को संयमपूर्वक एकाकी रहना चाहिये। जल पुष्प गौर का गोबर मृत्तिका और कुशा तथा आवश्यकतानुसार भिक्षा नित्य लाना चाहिये। जो पुरुष अपने कर्मों में तत्पर हो और वेदादि शास्त्रों को पढ़े तथा यज्ञादि में श्रद्धावान हो ऐसे गृहस्थों के घर से ही ब्रह्मचारी को भिक्षाग्रहण करनी चाहिये। गुरु के कुल में और अपने पारिवारिक बन्धु बान्धुवों के घरों में भिक्षा नहीं माँगनी चाहिये[३] परन्तु यदि कहीं भिक्षा न मिले तो इनके घरों में भिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। पारस्कर गृह्यसूत्र में ऐसा विधान है कि प्रथम भिक्षा माँ से ही माँगनी चाहिये तत्पश्चात्

---

१. धर्मशास्त्र का इतिहास– डॉ. पी.वी. काणे– पृ. १०९५

२. वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त आचार्य प्रियव्रत पृ. ४२९

३. मातरं प्रथमामेके– पा.गृ.सू. २/५/७ पृ. २५९

उन तीन स्त्रियों से भिक्षा माँगे जो निषेध नहीं कर सके।[१] उसके पश्चात् बारह या असंख्य स्त्रियों से भिक्षा माँग लें।[२] ब्रह्मचारी के लिये महापातकी से भिक्षा ग्रहण करने की निन्दा की गयी है अर्थात् उसका सदैव परित्याग कर देना चाहिये। भिक्षावृत्ति से रहना उपवास के बराबर माना गया है। यह धर्म केवल ब्राह्मण के लिये कहा गया है। परन्तु क्षत्रिय और वैश्य के धर्म में कतिपय भेद है। ब्रह्मचारी गुरु के सम्मुख हाथ जोड़कर खड़ा रहे जब तक गुरु की आज्ञा न हो तब तक न बैठे गुरु के पूर्व उठे और सोने के पश्चात् सोये गुरु के सम्मुख अति नम्रता से बैठे। परोक्ष में गुरु के नाम का उच्चारण न करें। किसी भी बात मे गुरु की नकल नहीं करना चाहिये। आचार्य यदि पुकारे तो माणवक तुरन्त खड़े होकर प्रत्युत्तर दें।[३] गुरु के पुकारतें समय यदि ब्रह्मचारी सो रहा हो तो बैठकर बैठा हो तो उठकर, उठ रहा हो तो आगे बढ़कर और यदि गुरुदेव सामने आ रहे हैं तो दौड़कर प्रत्युत्तर दो।[४] माता बहन या बेटी के साथ एक आसन पर नहीं बैठना चाहिये स्त्रियों के मध्य आना जाना मिथ्या भाषण और परद्रव्य ग्रहण छोड़ दे उसे भूमि पर शयन करना चाहिये[५] तथा क्षार और लवण युक्त भोजन ग्रहण नहीं करना चाहिये।[६] नदी में स्नान करने का निषेध से तात्पर्य है[७] कि माणवक अभी अल्पायु है अतः नदी और जलाशय आदि में उसके डूबने का भय है। परन्तु नदि से लाये गये जल से स्नान का

---

१. तिस्त्रः स्त्रियों भिक्षां भिक्षेत याः स्त्रियों निराकरणं न कुर्वन्ति ता भिक्षणीया इत्यर्थः। वही २/५/५

२. द्वादश वा स्त्रियः अपरिमिता असङ्ख्याता वा भिक्षेतेत्यर्थः। वही २/५/६

३. धर्मशास्त्र का इतिहास– डॉ. पी.वी. काणे

४. आचार्येणाहूत उत्थाय प्रतिश्रुणुयात्। पा.गृ.सू. २/५/२९ पृ. २६५
श्यानं चेदासीन आसीनं चेतष्ठिस्तिष्ठन्तं चेदभिक्रणमन्नभिक्रामन्तं चेदभिधावन्। वही २/५/३०

५. स्त्रीगमनं स्त्रीणां मध्येऽवस्थानम् अभिगमनस्योपरि वक्ष्यमाणत्पात्– अन्ततमसत्यभाषणम्। अदत्तादानं परद्रव्याणामदत्तानां स्वयं गृहणम्। वही २/५/१२ गदाधर भाष्य

६. अक्षारम् अलवणं चाश्नातीत्येवंशीलोऽक्षारालवणाशीभवेत। वही २/५/१०

७. नद्यादावाप्लवनं स्नानं तूद्धतोदकेन। वही २/५/१२ हरिहरभाष्य पृ. २६१

निषेध नहीं किया गया है। माता-पिता आचार्य का आदर करना चाहिये क्योंकि आचार्य ब्रह्मा की मूर्ति है पिता प्रजापति की मूर्ति है[१] माता पृथिवी की तथा भाई आत्ममूर्ति है। इस प्रकार से जो ब्रह्मचारी आचरण करता है वह मानो स्वर्ग में ही रहता है। वह ब्रह्मचर्यव्रत समाप्त कर कीर्तिमान स्थापित करता है।[२] उस समय तक जिनका उपनयन नहीं होता वे सभी पवित्र सावित्रीक हो जाते हैं न फिर उनका उपनयन करना चाहिये न उनसे यज्ञ करना चाहिये न पढ़ाना चाहिये और न ही उनसे अन्य किसी प्रकार का व्यवहार करना चाहिये तीन पीढ़ियों तक पतित सावित्रिक पुरुष अव्यवहार्य रहते हैं। उनका संस्कार और अध्यापन नहीं हो सकता।[३] परन्तु गदाधर के अनुसार यदि उस कुमार का पिता पितामह एवं प्रपितामह पतित सावित्रीक हो गये हो तो उसका संस्कार नहीं किया जाना[४] चाहिये परन्तु हरिहर ने ऐसे पतित सावित्री को उपनयन संस्कार की अनुमति दे दी है परन्तु वेदाध्ययन करने का अधिकार नहीं होता था।[५] किन्तु यदि उनमें से कोई प्रायश्चित करना चाहे तो वह ब्रात्य स्त्रोम यज्ञ करके शुद्ध हो सकता है फिर उसके संस्कार होगे अध्ययन का अधिकारी और व्यवहार का पात्र भी वह बन सकेगा।[६]

---

१. नद्यादावाप्लवनं स्नानं तूद्धतोदकेन। वही २/५/१२ हरिहरभाष्य पृ. २६१

२. स ब्रह्मचारी एव पूर्वोक्त ब्रह्मचर्यधर्मेण वर्तमानः अमुत्र स्वर्लोके अद्य इहैव स्थितः सन् वसति तिष्ठति। वही २/५/३१ पृ. २६६

३. त्रिपुरुषं पतितसावित्रीकाणामपत्य संस्कारो नाध्यापनं च। पा.गृ.सू. २/५/४२

४. यावत् ये पतितसावित्रीकाः पितृपुत्रपौत्रास्तेषामपत्ये चतुर्थे पुरुषेऽसंस्कार उपनयनसंस्कारो न भवति। अध्यापनं च न भवति। वही गदाधर भाष्य

५. यावत् ये पतित सावित्रीकाः पितृपुत्रपौत्रास्तेशामपत्ये पुत्रे संस्कारः उपनयनं भवति न पुनश्चचतुर्थादीनां तेषां च उपनीतानामपि अध्यपनं न भवति। वही हरिहर भाष्य

६. पतित सावित्रीकाणां मध्ये यः संस्कारेत्सुः आत्मानं संस्कारयितुकामः स व्रात्यस्टोमेन यशेनष्टवा ब्रात्यस्टोम कृत्वां व्यवहार्यो भवति। वही २६५

आश्रम की शिक्षा समाप्त करने के बाद ब्रह्मचारी को स्नान कराया जाता था जिसके कारण वह स्नातक कहलाता था। स्नातक तीन प्रकार के होते थे विद्यास्नातक, व्रतस्नातक और विद्याव्रतस्नातक।[१]

स्नातक व्यक्ति के कतिपय नियम होते थे स्नातक व्यक्ति को नृत्य और गाना बजाना न तो स्वयं करना चाहिये और यदि कोई कर रहा हो तो उनमें सम्मिलित भी नहीं होना चाहिये।[२] परन्तु यदि विशेष इच्छा हो तो स्वयं करे और दूसरों के द्वारा करने पर सम्मिलित भी हो सकता है क्योंकि श्रुति का कथन है कि इसमें व्यक्ति का मन रमता है।[३] सामान्य अवस्था में स्नातक को रात्रि में दूसरे गाँव नहीं जाना चाहिये।

जल से पूर्ण कुएँ में नहीं झाँकना चाहिये, पेड़ पर चढ़ने कच्चे फल आदि नहीं तोड़ने चाहिये, संधि सर्प नग्न स्नान ऊबड़-खाबड़ भूमि पर न सोये अश्लील भाषण साध्य बेला में सूर्य को देखने भिक्षा माँगने का निषेध किया गया है क्योंकि श्रुति के अनुसार ऐसा न करने पर उसका पतन हो जाता है।[४]

वर्षा ऋतु में बिना छाता लगाये अयं में वज्र -----मन्त्र पढ़ते हुए चलना चाहिये[५] जिसके शरीर पर रोयें न उगे हो दाढ़ी मूछ आदि

---

१. त्रिविधाः स्नातका भवन्ति। पा.गृ.सू. २/५/३२ पृ. २६७

२. नृत्यं च गीतं च वादित्रं च नृत्य गीत वादियाणि तानि स्वयं न कुर्यात् न च गच्छेत् नृत्यादीनि अन्यैः क्रियमाणानि द्रष्टु श्रोतुं च न व्रजेत्। वही– २/७/३ पृ. ३०१

३. तु पुनः काममिच्छया गीतं गानं स्वयं कुर्यात्। अन्यैः क्रियमाणं श्रोतुं गच्छेच्च। वही २/७/४ पृ. ३०१ गदाधरभाष्य

४. कूपस्यावेक्षणमुरि स्थित्वा अधोनमुर्खा भूयावलोकमनम् फलानामादीनां प्रपतनंत्रोटनम् सन्धौ सन्ध्या समये सर्पणमध्य गमनम्। नग्नेन स्नानम् विषमस्य पर्वतगते। वेर्लङ्घनमतिक्रमणम्। शुक्तवदनमश्लील भाषणम् सन्ध्यादित्यप्रेक्षणं सन्धासु सूर्यावेक्षणम् नेक्षेतादित्यमुद्यन्तं नास्तं यान्तं कदाचन। यतः स्नात्वा भिक्षामपजयति अपाकरोति हवै निपात समुदायो निश्चायार्थः। पा.गृ.सू. २/७/६ गदा.भाष्य में पृ. ३०२ पर स्मृति का कथन

५. अयं में वज्रः पाप्मानमपहनदिति। वही २/७/७

पुरुषत्व के चिह्न न हो ऐसी स्त्री और नपुंसक पुरुष को देखकर उपहास नहीं करना चाहिये। स्नातक को चाहिए कि गर्भिणी स्त्री को गर्भिणी न कहकर विजन्या अर्थात् विशेष प्रसवा कहे नकुल निर्वंशी को सकुल कहना उचित होता है। बछड़े को दूध पिलाती हुयी गाय दूसरे को न बतलाये[1] उर्वर और तृणादि भूमि पर खड़े होकर या बैठकर मल मूत्र का विसर्जन न करे।[2] गंदे और फटे वस्त्र को नहीं पहनना चाहिये। अपने व्रत का निष्ठापूर्वक पालन कर सबके मित्र की भाँति व्यवहार करते हुये बाधार्थ आ रहे व्यक्ति से सब प्रकार से आत्म रक्षा करें।[3]

उस समय समाज में प्रत्येक व्यक्ति के लिये नियम थे जिनका पालन कर वह अपने विशिष्ट स्थान रखता था। स्नातक ब्रह्मचर्य का द्योतक था उस समय गुरु शिष्य को उपदेश देता था सत्य बोलो धर्म का आचरण करो।[4] स्वाध्याय में कभी प्रमाद मत करना आचार्य के लिये प्रिय धन लाकर प्रजातन्तु का विस्तार करो। देव और पितरों के कार्य से कभी प्रमाद नहीं करना चाहिये।[5] माता-पिता को देवता मानने वाला बनो जो आनन्दित कर्म है उन्हीं को करना चाहिये। जो हमारे सुन्दर कर्म हैं उन्हीं को करना चाहिये अन्य कर्मों का नहीं जो हमसे श्रेष्ठ ब्राह्मण को उनको आसन देकर उनका उत्तम परिहार तुम्हें करना चाहिए यदि किसी कर्म में वृत्ति के विषय में विचिकित्सा हो तो वहाँ

---

१. गर्भिणी विजन्येति ब्रूयात्। वही २/७/१०
सकुलामेति नकुलम्। वही २/७/११
भगालमिति कपालम्। वही २/७/१२
मणिधनुरितीन्द्रधनुः। वही २/७/१३
गांधयन्ती परस्मै नाचक्षीत। वही २/७/१४

२. उतरायां सरस्यतत्यां भूमौ तृणैरनन्तहितायां केवलायां च मूत्रस्य पुरीषस्य वा उत्सर्ग न कुर्यात। वही २/७/१५

३. विकृतं मज्जिष्ठादिरागेण विकारमापादित वासो वस्त्रं न परिदधीत। वही २/७/१७

४. दृढ़व्रतो वधत्रः स्यात सर्वत आत्मानं गोपायेत् 'सर्वेषां मित्रामिव सखेत सुहृदित हितकारी स्यादित्यर्थः। वही २/६२१८ पृ. ३०४

५. सत्यवदनमेव वा। पा.गृ.सू. २/८/८ पृ. ३०६

विचारशील पक्षपातहीन मृदुस्वभाव वाले एवं धर्म में रुचि रखने वाले उस विषय में ब्राह्मण जैसा आचरण करना चाहिये यही वेद का रहस्य है इसी का पालन करना चाहिये। आचार्य द्वारा शिष्य को दिया गया दीक्षान्त उपदेश शिष्य के भावी जीवन के लिये प्रकाशस्तम्भ का काम करता था इन उपदेशों को श्रवण कर शिक्षा की सांस्कृतिक चेतना प्रबुद्ध हो उठती थी जो शिक्षा का महान् उद्देश्य है। उस समय उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिये परिषदें भी हुआ करती थी। ये अपने को सत्य और ज्ञान की खोज में लगाते थे। ऋग्वेद में ऐसी संस्थाओं का उल्लेख "विदथ" के नाम से हुआ है यहाँ शिक्षा का ढंग शास्त्रार्थ था दूर-दूर से विद्वान इन परिषदों में आते थे और शास्त्रार्थ करते थे उस युग में जो ख्यातिलब्ध व्यक्ति होते थे वे इनमें भाग लेते थे कोई आचार्य अगर किसी प्रश्न का उत्तर देने में असमर्थ होता था तो वह ऐसी ही परिषदों में भेज देता था जहाँ जाकर शिष्य अपनी शंकाओं का निराकरण करता था।[१]

गृहस्थाश्रम :

विद्या समाप्ति के उपरान्त व्यक्ति विवाह करता था और वह गृहस्थ होता था संसार के आनन्द का स्वाद लेता था जीवन का उपभोग करता था। सन्तानोत्पत्ति करता था अपनी सन्तानों मित्र सम्बन्धियों पड़ोसियों के प्रति कर्तव्य करते हुये उपयोगी परिश्रमी एवं योग्य नागरिक होता था तथा कुल का संस्थापक होता था। लौकिक दृष्टि से यह आश्रम अधिक महत्वपूर्ण समझा जाता था अन्य तीन आश्रमों का अस्तित्व इसी पर निर्भर रहता था।

वानप्रस्थाश्रम :

'वानप्रस्थ' के लिए काल में संभवतः वैखानस शब्द प्रयुक्त होता था। वैखानस धर्मसूत्र ने उसी को वानप्रस्थ माना है जो वैखानस शास्त्र से अनुमोदित नियमों का पालन करता है। मिताक्षरा के अनुसार वानप्रस्थ शब्द वानप्रस्थ ही है जिसका तात्पर्य है वह जो वन के सर्वोत्तम ढंग से जीवन के कठोर नियमों का पालन करते हुए रहता है। क्षीरस्वामी में कहा है जब गृहस्थ अपने शरीर पर झुर्रियाँ देखे उसके

---

१. वैदिक संहिताओं में आचार मीमांसा – डॉ. प्रतिभा रानी पृ. १३२

बाल पक जायें और जब उसके पुत्रों के पुत्र हो जाये तो उसे वन की राह लेनी चाहिये। मनु. एवं गौतम के मत में वानप्रस्थ को अपने गाँव वाला भोजन तथा गृहस्थी के लिए सामान गाय, अश्व, शयनासन आदि का त्याग कर देना चाहिए और फल फूल कन्दमूल तथा वन में या पानी में उगने वाली वनस्पतियों या यतियों के योग्य नीवार श्यामा सांवा आदि अनाजों पर निर्भर रहना चाहिए किन्तु उस मधुमास पृथिवी पर उगने वाले कुकुरमुत्ता भूस्तृण शिशुक तथा श्लेष्मातक फल का सेवन नहीं करना चाहिए। गौतम ने कहा है कुछ नहीं मिलने पर मासभोजी पशुओं द्वारा मारे गए पशुओं के मांस के सेवन की व्यवस्था की है।[१] उसे प्रतिदिन पाँच महायज्ञ करने चाहिए। देवों ऋषियों पितरों मानवों (अतिथियों) एवं भूतों (प्राणियों) की पूजा कर उन्हें यतियों के योग्य भोजन देना चाहिए या फलों कन्दमूलों एवं वनस्पतियों से सत्कार करना चाहिए उसे तीन बार स्नान करना चाहिए मृगचर्म वृक्ष की छाल या कुश से शरीर ढकना चाहिए और सिर के बाल एवं नख बढ़ने देने चाहिए।[२] मनु. एवं वसिष्ठ ने कहा है ऐसे व्यक्तियों को वेदाध्ययन में श्रद्धा रखनी चाहिए वेद का मौन पाठ करना चाहिए।[३] उसे संयमी आत्म निगृही, हितैषी, सचेत तथा सहृदय (उदार) होना चाहिए। वन के उत्पन्न अन्न को पका सकता है या जो स्वयं पक जाये यथा (फल) उसे खा सकता है या अन्न को पत्थरों से कुचलकर खा सकता है। वह अपने भोजन तथा धार्मिक कृत्यों में घी का प्रयोग नहीं कर सकता। वह केवल वन में उत्पन्न होने वाले वेल का ही प्रयोग कर सकते हैं।[४] वह रात तथा दिन में केवल एक बार ही खा सकता है या एक दिन या दो तीन दिनों के अन्तर पर खा सकता है।[५] यदि वानप्रस्थ किसी असाध्य रोग से पीड़ित है अपने कर्तव्य नहीं कर पाता और अपनी मृत्यु को पास आयी हुयी समझता है तो उसे उत्तर पूर्व की ओर मुख करके नद्य प्रस्थान कर देना चाहिए

---

१. धर्मशास्त्र का इतिहास– पी.वी. काणे, पृ. ४९१

२. मनु. ६/६ गौ. धर्म सूत्र ३/३४, वसिष्ठ ९/११

३. अपधर्म २/१/२२/९ मनु ६/८, याज्ञवल्क्य ३/४८

४. मनु– ६/१७, याज्ञवल्क्य – ३/४९

५. विष्णु धर्म १५/५/६, मनु ६/१९

और केवल जल एवं वायु पर निर्भर रहना चाहिए और तब तक चलते रहना चाहिए कि ऐसा गिरे कि पुनः न उठ सके।[१]

सन्यास धर्म :

सन्यास धर्म ग्रहण करने के लिए व्यक्ति को उसे अपनी सारी सम्पत्ति पुरोहितों दरिद्रों एवं असहायों में बाँट देनी होती है।[२] जो लोग तीन वैदिक अग्नियाँ रखते हैं उन्हें प्राजापत्येष्टि तथा जिनके पास केवल गृह्यग्नि होती है। वे अग्नि के लिए इष्टि करते हैं।[३] वह गृहस्थ जिसके सन्तान न हो जिसकी पत्नी मर गयी हो या जिसके लड़के ठीक से धर्म मार्ग में लग गये हो या जो ७० वर्ष से अधिक अवस्था को हो वह सन्यासी हो सकता है। सन्यासी होने वाला व्यक्ति घर पत्नी पुत्रों एवं सम्पत्ति का त्याग करके गाँव से बाहर रहना चाहिए उसे बेघर होना चाहिए जब सूर्यास्त हो जाये तो पेड़ों के नीचे परित्यक्त घर में रहना चाहिए और सदा एक स्थान से दूसरे स्थान तक चलते रहना चाहिए। वह केवल वर्षा के मौसम में ही एक स्थान पर ठहर सकता है।[४] सन्यासी को सदा अकेले घूमना चाहिए नहीं तो मोह एवं विछोह से वह पीड़ित हो सकता है। दक्ष ने इस बात पर बल दिया है कि वास्तविक सन्यासी अकेला ही रहता है। जब दो एक साथ टिकते हैं तो दोनों एक साथ टिकते हैं तो जोड़ा हो जाते हैं जब दो से अधिक टिकते हैं तो नगर के समान जो जाते हैं तपस्वी को जोड़ा ग्राम एवं नगर नहीं बनाना चाहिए नहीं तो ऐसा करने से धर्मच्युत हो जायेगा।[५] सन्यास धर्म धारण करके अपने मन में अपनी बुद्धि से शुभारम्भ कर्म को त्याग देवें। अपने चिह्न को छिपाकर अप्रकट होके सावधानी से विचरे किसी के आदर करने से प्रसन्न नहीं होवे और निरादर करने पर क्रोध नहीं करे वह विद्वान तृष्णा को त्यागकर गूंगे के समान पृथ्वी पर विचरे केवल शरीर की रक्षा के

---

१. मनु– ६/३१, याज्ञवल्क्य – ३/५५

२. मनु– ६/३८, याज्ञवल्क्य – ३/५६, विष्णु धर्म– ९६/१, शखायन धर्म ७/१

३. वैखानस धर्मसूत्र १/६

४. मनु. – ६/४१, ४३.४४

५. वैदिक धर्म दर्शन, कीथ – पृ. ४९१

लिए द्विजातियों से भिक्षा माँगे भिक्षा का पात्र हाथ होना चाहिए उसी में नित्य भिक्षा माँगे। मनुजी ने भिक्षा के लिए बिना धातुक पात्र कहे हैं। इसलिए सब भिक्षुकों के लिए काठ लौकी आदि के पात्र है।

वैश्य और क्षत्रिय के लिए ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ में तीन ही आश्रम कहे गये हैं। सन्यास आश्रम केवल ब्राह्मण के लिए है। सन्यासी को पका अन्न का अधिकारी है। प्रत्येक गृहस्थ को इनको सर्वप्रथम भोजन कराना चाहिए।[१] त्रिदण्ड[२] ग्रहण करने वाला सन्यासी मरने पर प्रेत नहीं होता है इसीलिए उसका प्रेतकर्म नहीं करके मरने के ग्यारहवें दिन उसका श्रावण श्राद्ध करना चाहिए। जो मनुष्य सन्यास धर्म ग्रहण करके अपने धर्म पर स्थिर नहीं रहता है। राजा उसके मस्तक पर कुत्ते के पैर का दाग दिलाकर उसको शीघ्र राज्य से निकाल देवें।[३] जो मनुष्य सन्यासी होकर मैथुन कर्म करता है वह मरने पर साठ हजार वर्ष तक विष्ठाका कीड़ा होकर रहता है।[४]

व्याकरण के पढ़ने पढ़ाने से संसारी विषय ग्रहण करने से भोजन वस्त्र में तत्पर रहने से तथा रमणीक गृह में वास करने से सन्यासी को मोक्ष नहीं हो सकता।[५] गृह्यसूत्रों में वानप्रस्थ आश्रम तथा सन्यास आश्रम का उल्लेख नहीं प्राप्त होता है। परन्तु उस समय भी ये आश्रम रहे होंगे।

विवाह प्रथा :

विवाह एक महत्वपूर्ण संस्था थी इसी से गृहस्थ जीवन का प्रारम्भ होता था। अग्नि को साक्षी देकर कन्या का पिता या भाई किसी योग्य वर के लिये अपनी पुत्री या बहन को समर्पित करता करता था।[६]

---

१. लिखित स्मृति – १ अध्याय

२. त्रिदण्ड – वाणी का दण्ड, मन का दण्ड, शरीर का दण्ड

३. दक्ष स्मृति ७ अध्याय मन्त्र – ३३-३५

४. शाता तप स्मृति – १९ अध्याय – ७०

५. वसिष्ठ स्मृति – १० अध्याय – मंत्र १४

६. पा.गृ.सू. – १/४ पृष्ठ ७०-७१

समीक्षण :

गृह्यसूत्रों में कन्यादान के उपरान्त समीक्षण होता था। कॅन्या का पिता जब परस्पर समीक्षेयान कहता है[1] तो उस समय की वरोक्तियाँ भी कन्या के प्रति वर के अगाध समादर का प्रमाण है जिनमें कहा गया है– हे वधूं तुम इस घर में कल्याणकारिणी होकर सबका मंगल करो। घर में रहने वाले सभी लोग और जानवर तुम्हारे सद्‌व्यवहार से प्रसन्न और सुखी हों प्रसन्नचित प्रभावयुक्त तुम सदा देवताओं की उपासिका एवं वीर प्रसवा बनो। कन्या का पिता समीक्षण कराता है उस समय वर मन्त्र पढ़ता है हे कन्ये तुम सौम्यदृष्टि अपतिघातिनी तथा पशुओं के लिये कल्याणमयी प्रसन्नतचित सुखकर और कल्याणकारिणी सिद्ध हो सोम ने गन्धर्व को तुम्हें प्रदान किया। गन्धर्व ने अग्नि को तदन्तर पुत्रों और धनसंपति के साथ अग्नि ने अब मुझे प्रदान किया है हमसे धन और सुख की कामना करती हुयी तुम अपनी जंघायें फैलाओ उसमें हम सायुज्य मुक्ति हेतु पुत्र और रतिजन्य आनन्द की चाह से अपने शिश्न को प्रविष्ट करायें।[2]

समञ्जन :

कन्या का पिता भावी पति-पत्नी का विवाह मण्डप में समञ्जजन करवाता है[3] तथा वर यह मन्त्र पढ़ता है कि हे कन्ये हमारे हृदयों को विश्वेदेव जलदेव मातरिश्वा प्रजापति और धर्मादि की उपदेशिका वाणी

---

१. वधूवरौ परस्परं समीक्षेथामिति प्रैषेण कन्यापिता समीक्षयति समीक्षयां कारयित्। तत्र समीक्षाणमाणो वरः। पा.गृ.सू. १/४/१६

२. अधीरचक्षुरपतिहन्येधि शिवा पशुभ्यः सुमनाः सुवर्च्चाः
वीर सूदैव कामा स्योनाशन्नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे।
सौमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः।
तृतीयोऽग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः।
सोमेददद्गन्धवार्य गन्धर्वोऽददद्गनये।
रयिं च पुत्रांश्चादादग्निर्महामथो इनाम्।
सा नः पूषा शिवनमामैरय सा न उरू अशती विहर
यश्या मुशन्तः प्रहराम शेपं यस्यामु कामा बहवो नितिष्टया। वही १/४/१६

३. कन्यापितुरध्येषण परस्परं समेञ्जथामिति अन्तः पटस्या पसारणम् वधूवरयोः समञ्जनम्य। पा.गृ.सू. १/४/१४ पृ. ७६

संस्कृत करे सुस्थिर करें।[१] सम्भवतः समञ्जन की यह प्रक्रिया उस समय के समाज में प्रचलित आज की उबटन आदि लगाने की तरह की कोई विधि रही होगी जिसको पूर्ण करते हुए वर कहता था "जल वायु आदि देवगण हमें एक रखे और सभी लोग हमें पारस्परिक प्रीति वाला बनायें।"[२] इस सञ्जजन की प्रथा का चाहे जो भी उद्देश्य रहा हो इतना तो स्पष्ट है कि इस विधि में उस समय के भावी दम्पत्ति का स्नेह और साहचर्य अभिव्यक्त होता है।

वैवाहिक प्रतिज्ञायें :

समञ्जन समीक्षण समस्त कार्य कन्यादान से पूर्व घटित होने वाले कार्य है जिनमें वर तथा कन्या को यह सुअवसर उपलब्ध होता है कि वे एक दूसरे के प्रेम पाश में बाँधने से पूर्व अच्छी तरह समझ लें क्योंकि विवाह का कार्य जोड़ने का है। यही कारण है कि विवाह में पति अपनी पत्नी का हाथ पकड़कर कहता है– वरानने मैं तुम्हारे और अपने सौभाग्य वर्धन क लिये तुम्हारा हाथ पकड़ता हूँ। वृद्धावस्था तक तुम मेरा साथ देना यही मेरी प्रार्थना है। भग, अर्यमा सविता पुरन्ध्रि आदि देवताओं ने गृहस्थ धर्म की सुरक्षा तथा उसके सुचारु संचालन हेतु तुम्हें मुझे दिया है।[३]

पारस्कर गृह्यसूत्र में इसी भाव को इस प्रकार कहा है कि हे वधू जैसे मैं तुम्हें गृहण करता हूँ वैसे तुम भी मेरा गृहण करती हो मैं साम हूँ तो तुम ऋक्संहिता हो यदि तुम पृथिवी हो तो मैं सूर्य के समान हूँ आओ हम तुम दोनों प्रसन्नता पूर्वक एक दूसरे के प्रति रुचि सम्मान रखते हुये सौ वर्ष तक जीवें।[४]

---

१. समञ्जन्तु विश्वेदेवाः समापो हृदयानि नौ
संमातरिश्वा सन्धाता समुद्रेष्टी दधातु नौ। वही १/५/३ पृ. ५२

२. ऋग्वेद – १०/८५/४७

३. मृशणामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्थसः। भगो अर्यमा सविता पुरन्धिमहर्ते त्वादुर्घार्हिपत्याय देवाः।। पा.गृ.सू. १/६/३

४. अमोहमस्मि सा त्व सा त्वमस्यमोऽहम्। सामाहमस्मि ऋक् त्वं द्यौरहं पृथिवी त्वम्। वही।

उस समय समाज में नारी का अत्यन्त आदर होता था। पति द्वारा पत्नी के समादर में कहे गये मन्त्र इस बात का प्रमाण देते हैं पति कहता है– हे ऐश्वर्य रूप तुम्हारे हाथ को मैं ग्रहण करता हूँ आज से तुम मेरी धर्मपत्नी हो और मैं तुम्हारा पति हम दोनों मिलकर घर के सभी कार्यों का सम्पादन करें जिससे हमारे सब कार्य सिद्ध हो सकें और हमारे यहाँ उत्तम सन्तान ऐश्वर्य सुख आदि की वृद्धि होती रहे।

हे अनघे सम्पूर्ण जगत का पालन करने वाले परमात्मा ने तुमको मुझे अर्पित किया है अतः तुम मेरे साथ सौ वर्ष तक जीवन व्यतीत करो।[१] त्वष्टा ने इस कल्याणकारी वस्त्र को वृहस्पति की आज्ञा से निर्मित किया है यह त्वष्टा जिस तरह सर्वत्र व्याप्त होकर सुशोभित है वैसे ही तुम मेरे द्वारा अलंकृत होकर सर्वत्र सुख प्राप्त करो।[२] मन्त्र में वर अपनी पत्नी से कहता है हे कल्याणी जैसे मैं कुल की वृद्धि हेतु तुम्हारे प्रेम में निमग्न हूँ वैसे तुम भी मेरे प्रति अनुरागवती बनो।

समाज में नारी की स्थिति :

कन्या या पुत्री नारी जीवन की आधारशिला है। समाज के विकास में इसका यही महत्व है जो किसी सुन्दर भवन के निर्माण में नींव का होता है समाज रूपी भवन में कमनीयता पवित्रता एवं दृढ़ता लाने के लिये आवश्यक है कन्या पुत्री या दुहिता कहलाने वाली नारी के उस स्वरूप को सम्यक् रूप से संवारा जाये तो अपने जन्मजात गुणों और संस्कारों के कारण कन्या कमनीया भवति इस सम्मान को प्राप्त करती है नारी के लिये कठिन कार्य था सन्तान हेतु गर्भधारण, प्रजनन एवं उसके लालन पालन तथा पोषण का कार्य। नारी के इस गुरुतर कार्य की ओर ऋग्वेद का एक सूक्त में प्रजापति से प्रार्थना की गयी है कि वे नारी को गर्भधारण की शक्ति दे। सरस्वती गर्भ की रक्षा करे अश्विन कुमार गर्भस्थ शिशु का पालन करे जिससे वह दसवे मास में सकुशल मातृगर्भ से बाहर आ सके।[३]

---

१. पा.गृ.सू. – १/७/२

२. ते सन्तु जरदष्टयः सम्प्रियौ रेविष्णू सुमनस्यमानौ। परयेम शरदः शतं जीवेम शरदः शत श्रृणुयाम शरदः शतमिति। वही पृ. ९३

३. वैदिक संहिताओं में नारी – डॉ. प्रतिभा रानी शर्मा

पत्नी संस्कार :

नारी का अतिशय महत्व के कारण उसकी रक्षा और खुशी के निमित्त संस्कार किये जाते थे। यद्यपि विवाह में वर वधू एक दूसरे सं संबद्ध हो जाते हैं उसके पश्चात् पति का कर्तव्य हो जाता है वह पत्नी की सुरक्षा का ध्यान रखे। जब मानव शिशु के रूप में नारी के गर्भ में आता है तब नारी का पुंसवन संस्कार निराहार रहकर करना पड़ता था[१] जिसका उद्देश्य पुत्रोत्पत्ति की कामना थी।

यह संस्कार गर्भ में शिशु स्पन्दन के पूर्व सम्पन्न होता था।[२] देवताओं से गर्भ प्रदान हेतु प्रार्थना की गयी है।[३] तैतरीय संहिता[४] में पति पत्नी के समागम के कतिपय नियम बताये गये हैं जिनको पालन करने से ब्रह्म हत्या का पाप नहीं लगता है। इसके अनन्तर दुष्टात्माओं से सन्तति की सुरक्षा हेतु सीमान्तोन्नपत्ति का समय ज्यों-ज्यों निकट होता है परिवार के लोग चिन्तातुर होकर देवी देवताओं से प्रार्थना करने लगती है कि गर्भस्थ जीव शीघ्र निर्गत हो यह प्रार्थना की जाती है[५] कि गर्भस्थ बालक यज्ञोपयोगी है और इसका उत्पत्ति स्थान स्वर्णिम इसके अंग अक्षत रहे हमने इसे जननी के योगदान से उत्पन्न किया है। इस कार्य को सोष्यन्ती कर्म कहा जाता है। गर्भ से शिशु के निर्गत होने के बाद जातकर्म संस्कार होता था जिसका संकेत ऋकसंहिता से प्राप्त होता है। प्राशन संस्कार के पश्चात् स्तर प्रदान का संस्कार होता था। षोडश संस्कारों में से प्रारम्भ के तीन गर्भाधान, पुंसवन सीमान्तोन्नयन संस्कार शिशु के जन्म के पूर्व किये जाते थे और छः संस्कार जातकर्म नामकरण निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म, कर्णवेध

---

१. गर्भिणीमुपवास्यानाशयित्वा। पा.गृ.सू. १/१४/३, गदा. भाष्य पृ. १६८

२. पुरा अग्रे स्पन्दते चलिष्यति। वही १/१४/२

३. पा.गृ.सू. के १/१४/२ में यजु संहिता का मन्त्र १३/४ पृ. १६८

४. तैत्तिरीय संहिता

५. जरायुणा सहेत्यत्र परिसमाप्तत्वाद्वाक्यस्य प्राग्यस्यैत इत्युच्यते। पा.गृ.सू. १/१६/१

बाल्यावस्था से सम्बन्धित थे। इन नौ संस्कारों को कराने का दायित्व माता-पिता का ही था।[१] माता के रूप में नारी अपनी सन्तति का पालन पोषण करने में आजीवन व्यस्त रहती है।[२]

नारी का साम्राज्ञीत्व :

नारी के गौरव को द्योतित करते हुये कहा गया है कि जिस प्रकार शक्तिशाली सागर नदियों पर शासन करता है उसी प्रकार तुम अपने पति के घर पहुँचकर महारानी बनो। इस घर में तुम श्वसुर सास देवर ननद में साम्रज्ञी बनकर रहो।[३]

वर अपनी नववधू पर गर्व करता हुआ मण्डप में ही अपने सम्बन्धियों से कहता है आप लोग इस मंगलमयी वधू को अच्छी तरह से देखे और अपना आशीर्वाद देकर ही अपने-अपने घर वापस जायें। इससे स्पष्ट है कि उस समय भी आज की तरह समाज में प्रीति भोज की प्रथा थी जो आज भी विवाह के उपारान्त होती है। इसके बाद वैवाहिक कार्य सम्पन्न करके वर वधू अपने घर जाते हैं

ऋग्वेद के एक उल्लेख में वर वधू को स्वागत करता हुआ कहता है हे वरानने चक्रवर्ती सम्राट की तरह तुम इस घर में माता-पिता और भाई-बहनों पर अविरोध पूर्वक प्रीति से उनके हृदयों को अपने सद्व्यवहार से जीतती हुयी शासन करो।[४]

---

१. ऋ. १/४६/९१/६९/९२, पा.गृ.सू. १/१६

२. अथायस्यै स्तनं प्रक्षाल्य प्रयच्छतीमं स्तनमिति। वही – १/१६/२० पृ. १८७

३. यथा सिन्धुर्नदीनां साम्राज्यं सुषुवे वृक्षा एवा त्वं साम्राज्येधि पत्युरस्तः परेत्य। साम्राज्ञेधि श्वशुरेषु साम्राज्ञ्युत देतृषु ननान्दः साम्राज्ञेधि सम्रज्ञ्युत श्वभृवाः।। अथर्व. १४/१/४३-४४

४. साम्राज्ञी श्वसुरे भव श्वश्रृवांभव ननान्दरि सार्म्राज्ञी भव, साम्राज्ञी अधिदेवृषु भव। ऋग्वेद १०/८५/४६

पिता द्वारा आदर :

सूत्रकाल में पिता अपनी पुत्री को योग्यतम वर के हाथों में सौंपना अपना धर्म मानता था। हविष्यमान वर के हाथों में उसे अपनी हविष्यमती कन्या देने पर गौरव की अनुभूति होती थी। हविष्यमान वायु अपनी गृहणशक्ति से जिस प्रकार रसवान जलों को अपने को संपृक्त कर लेता है उसी प्रकार प्रत्येक गृहपति को भी अपनी पत्नी ो अपने में मिला लेने का उपदेश दिया जाता था।[१]

कन्या के प्रति समादर भाव व्यक्त करते हुये पिता कहता है– "हे कन्ये मैं तुम्हारा पिता तुझे विपत्ति रहित घर वाले पुरुष को अर्पित करता हूँ। यहाँ तुम इन्द्र अग्नि आचार्य ज्ञानवान् पुरुष मित्रजनों तथा समस्त विद्वानों के लिये अन्नादि से सत्कार करने वाली बनो।[२] पिता की हार्दिक इच्छा होती थी कि उसकी पुत्री सूर्य के समान तेजस्वी पुरुष के समीप रहे। जिसमें राष्ट्र की अज्ञेय शक्ति का उत्तरोत्तर विकास हो सके इसी भावना के वशीभूत होकर वह अपनी कन्या से कहता है हे कन्ये तुम्हें मैं प्रेम ज्ञान से सम्पन्न तेजस्वी पुरुष के हाथों में देता है।[३] यजु. संहिता में यज्ञकुण्ड में दी जाने वाली पवित्र घृत धाराओं के साथ कन्याओं की तुलना के पीछे यही आशय सन्निहित था कि नारी समाज अपने घर के सदा पवित्र बनाये रखे यही कारण कि नारी अपने पति से प्रार्थना करती है– हे पतिदेव सर्प के समान कुटिल मार्ग अकारण क्रोध अभिमान प्राणनाशक अवगुणों को छोड़कर को छोड़कर आप सदा सत्याचरण करे जिससे गृहस्थाश्रम स्वर्गाश्रम बना रहे।[४]

---

१. पा.गृ.सू. १/४ गदा.भाष्य पृ. १०९

२. अग्नेर्वोऽपन्नगृहस्म सदसि सादयामिन्द्राग्नयेर्भागधेयीस्थ मित्रावरुणो भगिधेयीस्थ विश्वेषां देवानां भागधेयीस्थ। यजु. ६/२४

३. हृदे त्वा मनसे त्वा दिवे त्वा सूर्याय त्वा उर्ध्वमिममध्वरं दिवि देवेषु होत्रा यच्छ। वही ६/२५

४. माहिर्भूर्मा प्रदाकुनमस्त आतानर्वा प्रेहि घृतस्य कुल्या उप ऋतस्य पथ्या अनु। यजु. ६/१२
वैदिक संहिताओं में नारी – डॉ. प्रतिभा रानी पृ. २५३

सामाजिक आदर :

ऋकसंहिता में क्षेत्रपति के प्रसंग में सीता को देवी मानकर कहा गया है– हे सौभाग्यवती सीते हम स्तुति एवं प्रशंसा करते हैं[१] क्योंकि आपके कारण हमें सुख समृद्धि सूचक सौभाग्य की प्राप्ति होती है। यहाँ सीता शब्द भले ही हल के अग्रभाग (फाली) के लिये प्रयुक्त हुआ हो परन्तु इसका उद्देश्य प्रकृति प्रेमी हमारे ऋषियों की दृष्टि में नारी सम्मान ही है। समाज में नारी के प्रत्येक रूप को सम्मान दिया जाता है। नारी जब माता बनती है तब उसका पति उसे स्पर्श करते हुए कहता है– "अरी ओ वीरमाता तुम मित्रावरुण देवताओं के अंश से उत्पन्न वृद्धिस्वरूप मानव रूप में यज्ञपात्र हो" इसमें भी नारी को सम्मान प्रदान किया गया है।[२]

पत्नी एवं उसके कर्तव्य :

सूत्रकाल में नर नारी का समागम दो समान शक्तियों का सम्मेलन माना जाता था। पुरुष सम शक्ति का प्रतीक था तो नारी विषम शक्ति का प्रतीक मानी जाती थी। पति-पत्नी के रूप में स्थापित यह सम्बन्ध स्थूल सूक्ष्म तथा कारण इन तीनों शरीरों के साथ आत्मा माना गया है जिसके फलस्वरूप नारी अपनी भोगस्पृहा को अन्य सभी स्थानों से हटाकर सर्वात्मना अपने पति में ही केन्द्रीभूत करती थी।

गृहपत्नी के रूप में नारी अपना सार्वजनिक जीवन आरम्भ करती थी। अपने सेवाभाव के कारण ही नारी उस समय घर बनाती थी।[३]

गृहस्थाश्रम में प्रवेश के समय नर नारी को शुभ आशीर्वचनों के माध्यम से कर्तव्य पथ पर आरूढ़ रहकर घर को आदर्श बनाने को

---

१. अर्वाची सुभगे भव सीते वन्दामहे त्वा यथा नः सुभगासासि यथा नः सुपुलामसि इन्द्रः सीता मृच्छ गृह्णातुतां पूषानु मच्छतु सा नः पयस्वतीं दुहामुत्तरासमाम्। ऋ. ४/५६-६७
सीतागोप्दाभ्यो जलि हरति पुरस्ताद्। पा.गृ.सू. २/१६/४३ पृ. ३६९

२. इंद्रासि मैत्रावरुणी वीरे वीरमजीजनघाः सा त्वं वीरवती यऽस्मान वीरवतोडकर दिति। पा.गृ.सू. १/१६/१९ पृ. १८७

३. जायेदस्तं मघवनसेदु योनिस्तदित्वा मुक्ता वहन्तु। ऋ. ३/५३/४

कहा जाता था। नारी को अपने पति के लिए मंगलकारी बनने का उपदेश दिया गया है ग्रहस्थ जीवन को सादगी एवं सुचारु व्यवस्था की चर्चा की गयी जिसका सम्पूर्ण श्रेय गृहपत्नी को जाता है इससे स्पष्ट है कि नारी अपने घर की सुन्दर व्यवस्था करने में सफल होती थी। इससे स्पष्ट है कि जो नारी अपने घर की सुन्दर व्यवस्था करने में सफल होती थी उसको समाज में आदर की दृष्टि से देखा जाता था। पति के प्रति पत्नी की अटूट श्रद्धा का स्मरण कराते हुए पुरुरवा अपनी देवपत्नी उर्वशी से कहता है "आपसी स्नेह बन्धन में बँधे हुये पति-पत्नी के स्नेह तन्तु तोड़ने की इच्छा भले किसे होगी जहाँ तेजोमयी सन्तति प्रदीप्त हो उठी है।[२]

सूत्रकालीन नारियाँ स्वयं वस्त्र बुनती थी वस्त्र के निर्माण के पीछे नारियों का प्रेम छिपा हुआ है उस समय मातृभूमि के प्रति स्नेह वाला प्रत्येक व्यक्ति अपने वस्त्रों का निर्माण स्वयं करता था। मातायें अपनी सन्तति के आयुष्य वर्धन हेतु कपड़े बुनती थी।[२] वस्त्र बुनना नारी का पुनीत कर्तव्य था वधू को वस्त्र देता हुआ कहता है कि हे आयुष्मती जिन देवियों ने इस उत्तरीय वस्त्र को काता है, बुना है, फैलाया है और जिन देवियों ने करघे पर इसका चतुर्धा विस्तार किया है वे तुम्हें निर्दुष्ट वृद्धावस्था के लिये इसे पहनने की अनुमति दे रही है तुम इसे पहन लो।[३] वस्त्र अभिशाप और पाप से बचाने के लिये बुने जाते थे। इस मन्त्र में यह तथ्य स्पष्ट हो रहा है जब वर वधू को यह कहता हुआ वस्त्र पहनने क लिये प्रेरित करता है कन्ये तुम मेरे साथ निर्दोष वृद्धावस्था तक रहो इस वस्त्र को धारण करो मनुष्यों को अभिशाप से बचाओ। पातिव्रत्य के तेज से युक्त होकर १०० वर्ष की

---

१. को दम्पती समनसा वि यूयोदधा यदग्निः श्वशुरेषु दीदयत्। ऋ. १०/९५/१२

२. ऋ. – २/४७/६

या अकृतन्तन्नवयं या अतन्वत। याश्च देवीस्तन्तूनभितो ततन्थ तास्त्वा देवीजरसे सव्ययस्वायुष्मतीदं परिधत्स्व वासइति। पा.गृ.सू. १/१४/१३ पृ. ७५

३. जरां गच्छपरिधित्स्व वासोभवाकृष्टीनामभिशस्त्रिपावा शतं च जीव शरदः सुवर्चा रयिं च पुत्राननुसव्ययस्वायुष्मतीदं परिधत्स्व वास इति। वही १/१४/१२ पृ. ७३

आयु भोगों पुत्रों को उत्पन्न कर धनराशि का संग्रह करो हे आयुष्मति इस वस्त्र को पहन लो।[१]

गृहस्वामी पुरुष यदि अन्नदाता था तो नारी साक्षात् अन्नपूर्णा थी। भोजन बनाना सीना पिरोना बच्चों का लालन पालन घर की देख रेख के साथ अपने पति की पूर्ण सहचरी के रूप में उचित परामर्श देकर घर को स्वर्ग बनाने की अपने में अद्भुत क्षमता रखती है।[२]

सन्तति पालन :

पुरुष इस बात को अच्छी तरह समझता था कि वैवाहिक संस्कार सम्पन्न कर लेना या सन्तानोत्पत्ति करना कोई कठिन कार्य नहीं है। उनकी दृष्टि में कठिन कार्य है सन्तान हेतु गर्भधारण प्रजनन एवं उसके लालन पालन तथा पोषण का कार्य। नारी के इस गुरुतर कार्य की ओर ऋक् संहिता का एक सूक्त प्रकाश डालता है जिसमें प्रजापति से प्रार्थना की गयी है कि वे नारी को गर्भधारण की शक्ति दे सरस्वती गर्भ की रक्षा करें अश्विन कुमार गर्भस्थ शिशु का पालन करे जिसमें वह दसवें मास में सकुशल मातृगर्भ से बाहर आ सके।

पुत्रोत्पत्ति की कामना करने वाले पति-पत्नी को आशीर्वाद देता हुआ होता (पुरोहित) कहता है "मेरे हृदय चक्षु से देखा है तुम्हारी सन्तानोत्पत्ति की कामना बलवती हो।"[३]

सृष्टि के विकास में परिवार समाज की एक ऐसी इकाई है जिसके माध्यम से व्यक्ति अपनी प्रारम्भिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। सामाजिक प्राणी होने के कारण व्यक्ति अकेला नहीं रह सकता इस स्वाभाविक प्रवृत्ति की पूर्ति या अभिव्यक्ति हेतु वह सर्वप्रथम विपरीत लिंगी अर्थात (नारी) के साथ रहने की इच्छा व्यक्त करता है। जहाँ उसे सुख सन्तति की सम्प्राप्ति सम्भाग्य लगती है। सुखी जीवन के साथ पति में अगाध स्नेह रखती हुई वृद्धावस्था तक अपने घर की संचालिका बनी रहे।

---

१. वैदिक संहिताओं में नारी – डॉ. प्रतिभा रानी – पृ. २२५

२. वही

३. ऋ. – १०/१८३/२

परिवार की सदस्यता के कारण पति-पत्नी के रूप में परिणत नर-नारी के संयोग का उद्देश्य सन्तानोत्पत्ति ही नहीं अपितु भरण पोषण से होता है। नारी अपने विनय सन्तोष धीरता गम्भीरता सहनशीलता श्रमशीलता मितव्ययिता आदि सहज गुणों से परिवार की पवित्रता को अक्षुण्ण रखने तथा सभी को एकसूत्र में बाँधे रखने की अपूर्ण शक्ति रखती है। नारी को धर्म अर्थ काम मोक्ष रूपी पुरुषार्थ चतुष्टय की साधिका कहा जाता है क्योंकि यह परिवार की प्रत्येक समस्या का समाधान अपने हृदय में संजोये हुये अन्त में पति के साथ परमपदं को प्राप्त करती है।[१]

खाद्य और पेय पदार्थ

मानवीय आवश्यक आवश्यकताओं के अन्तर्गत खाद्य (भोजन) अत्यन्त महत्वपूर्ण आवश्यकता है। भोज्य पदार्थों का उत्पादन भौगोलिक वातावरण के अनुकूल होता है। अतएव भोज्य पदार्थों की सम्पूर्ति का मानव तथा उससे संबंधित वातावरण से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

आर्यों के भोजन में बलकारक जीवन वर्धक तेजोदायक पुष्टिकारक सामग्री रहती थी इसका संकेत यजुर्वेद में प्राप्त होता है:-

उर्ज्ज वहन्ती स्मृतं घृतं पयः कोलालं परिस्तुतम्
स्वधास्य तपर्यत मे पितृन॥[२]

स्वस्थ संतान की उत्पत्ति भी स्वस्थ आहार पर आधारित है। स्वस्थ आहार के गुण इस प्रकार होने चाहिये भोजन सामग्री बलवहिका अर्थात् शक्ति प्रदायिनी हो स्निग्धता (तेज) प्रदान करने वाली हो दुग्धादि द्वारा पुष्टकारिणी हो और भली भाँति स्त्रवित मधु आदि से युक्त अर्थात् आह्लादनकारिणी हो। मधु और परिस्त्रुतम सोमरस का भी ग्रहण किया जाता था।[३]

---

१. वैदिक संहिताओं में नारी – डॉ. प्रतिभा रानी पृ. २१८

२. यजु. – २.३४

३. वैदिक संस्कृति और सभ्यता – डॉ. मुंशीराम शर्मा पृ. १७६

सूत्रकाल में वर्णों के विशिष्ट गुणों में रखते हुए भोजन का निर्माण होता था। जैसे ब्राह्मण विशुद्ध सात्विक आहारी होता था, क्षत्रिय को सत्वमिश्रित रजोगुणी आहार की आवश्यकता थी। शूद्र का भोजन तमोगुणी प्रधान था। उसी प्रकार पेय पदार्थ का सेवन वर्णों के अनुसार होता था ब्राह्मण के लिये मधु, क्षत्रिय के लिये तेजोदीप्ति प्रदाता घी वैश्य के लिये दुग्धादि और शुद्रादि के लिये अन्नादि की अपेक्षा अधिक रहती है।[१] आर्यों के खाद्य पदार्थ इस प्रकार प्राप्त होते हैं :-

पुरोडाश :

पुरोडाश यज्ञ की आहुतियों में विशेष रूप से प्रयुक्त होता था और यज्ञ शेष के रूप में खाया जाता था। इसका निर्माण चावल को पीसकर किया जाता था।

सत्तू :

भुने हुये जौ को पीसकर बनाया जाता था। ग्रामों का आज भी इसको प्रिय भोजन के रूप में महत्त्व प्राप्त है।[२]

मांसाहार

गृह्यसूत्रकाल में अन्न के अतिरिक्त भोजन में मांस का भी प्रयोग किया जाता था। मांस के मूप को एक कास्य पात्र में रखे और मांस आदि को पत्थर के एक भाग में रखे और पुनः उस भाग में से थोड़ा स्थालीपाक के नियम से काट ले और स्विष्टकृत भागार्थ दूसरे कास्य पात्र में रख छोड़ें। तत्पश्चात् ओदन की हांडी से वेल के बराबर चरु लेकर मांस खण्ड के साथ मिश्रित करें।[३] परन्तु पारस्कर गृह्यसूत्र में

---

१. धानावन्तं करम्भिवमपयवन्त मुक्थिनम् इन्द्र प्रात जुर्वस्व नः।
प्रति धानां भरत तूपमस्मै पुरोडाशं वीरतमाय नृणाम।
दिवे-दिवे सदृशी रिन्द्र तुभ्यं वर्धन्तु त्वा सोमपेयाय घृष्णो। यजु. २.३४.८

२. सक्तुमिवतितउना पुनन्तः। १०.३१.२
सक्तुशेषं होमावशिष्टान् सक्तून्। पा.गृ.सू. २/१४/२२-२४

३. खा.गृ.सू.- ठाकुर उदयनारायण सिंह - पृ. १२२

मांस के खिलाने का उल्लेख मिलता है। इससे स्पष्ट होता है कि मानव के जीवन में अन्न की जितनी उपयोगिता थी उतनी ही समिष भोजन की उपयोगिता थी।[१]

वस्त्र परिधान

मानव जीवन में भोजन एवं जल के पश्चात् वस्त्र द्वितीय आवश्यक आवश्यकता के अन्तर्गत ग्रहण किये जाते हैं। वस्त्रों की संरचना आश्रमों के अनुसार होती थी।

पशुओं की खाल से निर्मित वस्त्र :

सर्वप्रथम ब्रह्मचर्य आश्रम में मानव प्रवेश करता है। तपस्वी का जीवन बिताते हुये वह अज मृग आदि पशुओं की खाल से निर्मित वस्त्र धारण करते थे, जिन्हें अजिन् कहा गया है।[२] प्रतीत होता है कि मृगचर्म के पूर्व अज (बकरे) के चर्म से वस्त्र तैयार होते थे।[३] अतएव इन्हें अजिन अभिधान प्राप्त होता है। जो मृगचर्म के समान पवित्र समझे जाते हैं।

शारीरिक अंगों के आकार के अनुसार निर्मित वस्त्र :

मानव के शारीरिक अंगों के आकार अथवा शारीरिक गठन के आधार पर विविध प्रकार के वस्त्रों को निर्मित किया जाता था। जिनमें उर्ध्ववस्त्र उल्लेखनीय है। अधोवस्त्र धोती के समान साधारण होता था जबकि अधिवास उसकी अपेक्षा छोटा तथा कुर्ते अथवा अंगस्ते की भाँति प्रायः सिला हुआ प्रतीत होता है।[४]

---

१. सर्वाणि मांसानि क्रमेण प्राश्येत – पा.गृ.सू. – १/१९/७ – १२ पृ. २१२-२१३

२. राजन्यस्य अजिनं उत्तरीयं भवति। वही २/५/१८ पृ. २६२

३. आजं गण्यं वा वैश्यस्य – वही

४. वासः परिधानादि। पा.गृ.सू. – १/५१

स्थालीपाक :

यज्ञ में हवि के रूप में डालने के लिए जो मधुर अन्न पकाया जाता है उसे स्थालीपाक कहते हैं। ऐ.ब्रा. में दूध में पके चावल के लिए स्थालीपाक शब्द है।[१]

अयूप :

इसको पुआ या मालपुआ कहा जाता है। यह घृत मिश्रित आटे को फेटकर घी से तैयार किया जाता है।[२]

चरु :

लोहे की कड़ाही में चावल का तैयार किया जाता था।[३]

क्षीरवान[४] :

दूध में बनाई गयी वस्तुएँ कहलाती थी जैसे– खीर।

पृषातक :

घी और दधि मिले हुए को पृषातक कहा जाता है।[५]

दधिवान :

दही से बनाई गई वस्तुएँ।

अन्नवान :

जौ आदि से बनाई गयी वस्तुएँ।

रसवान :

जो वस्तुएँ रस से बनायी जाती थीं।

---

१. स्थालीपाककस्य श्रपणानुपदेशादत्र सिद्धस्यैव गृहणम् – पा.गृ.सू. २/१३/६ पृ. ३४१

२. यथाविधि श्रपयित्वा अपूपांश्च चतुरः श्रपयित्वा। २/१५/२ – गदा. पृ. ३५५

३. चरु–चरोः पा.गृ.सू. २/१३/७ पृ. ३४१

४. अत्रापा क्षीरस्य च प्रणयनं कार्यम्। पा.गृ.सू. २/१५/२ पृ. ३५५

५. पृषातक इति वक्षयमाण कर्मणो नामधयेमं। २/१६/१ पृ. ३६०

मधुमान :

शहद मिलाकर वस्तुएँ निर्मित की जाती थीं।

मधुपर्क[1] :

यह घी और शहद अथवा दही मिलाकर बनाया जाता था यह अतिथियों और देवों को दिया जाता था।

सोम[2] :

सोमरस पेय वस्तुओं में था यह मानक होता था इन्द्र आदि देव इसका पान करते थे। सोम यह एक प्रसिद्ध वीरुध या लता थी। यज्ञों में इसके रस की हवि दी जाती थी। सोमलता किसे कहते हैं। उसका पूरा निर्णय नहीं प्राप्त होता है। अथर्व. में इसको वीरुधाम अधिपति कहा गया है। ऋग्वेद के अनुसार सोम मौजवत पर्वत पर होता था इसलिए इसे मोजवत कहा गया। इसके अतिरिक्त दूध, मट्ठा आदि भी पेय पदार्थ थे।

आभूषण

गृह्यसूत्रकाल में मानव आभूषण धारण करता था। स्नातक को दो कुण्डल सुवर्ण अथवा वट वृक्ष की मणि लेकर उन्हें एक सूत्र में बाँधने का विधान है। गृहस्थ जीवन में सुवर्ण का महत्व समझाया गया है। सामाजिक प्रतिष्ठा ही नहीं अपितु स्थल सुख समृद्धि के लिए भी धन अनिवार्य है। परन्तु धन से प्रभुता नहीं की उतनी कामना न करके सब जनों में प्रिय होने की कामना अधिक व्यक्त की गयी है। अभी तक ब्रह्मचारी इस भौतिक जीवन से नितान्त अस्पष्ट था। जीवन में प्रवेश करने से पूर्व उसे धन का महत्व बताया जा रहा है जिससे वह जीविकोपार्जन के लिए प्रेरित हो और सुखपूर्वक अपना तथा परिवार का पालन पोषण करें। भौतिक और अध्यात्मिक सामञ्जस्य ही समाज

---

१. दधिमधुघृतमेकस्मिन्कास्यपात्रे कृतमपरेण कास्यपात्रेणा पिहितं मधुपर्क शब्देनोच्यते। मधुपर्क दध्यलाभे पयो जलं वा प्रतिनिधिः मध्वलाभे घृतं गुड़ो वेत्याश्वलायनः। १/३/५

२. सोमे च नोच्छिष्टं ननुरब्रवीत– पा.गृ.सू. १/३/२ पृ. ५९

की उन्नति के लिए आदर्श हैं। गो.गृ.सू. में[१] आभूषणों से सुसज्जित नववधू का वर्णन प्राप्त होता है। इससे प्रतीत होता है कि यह कल्याणकारी वधू आभूषणों से सुसज्जित है व मंगलप्रद है। विवाह की चौथी रात्रि को[२] पुरुष (वर) आचमन कर ब्राह्मण से सम्भाषण कर अपनी स्त्री के पास बुलाता है और स्त्री (वधू) स्नान कर स्वच्छ वस्त्र धारण कर आभूषणों से सुसज्जित होकर अपने पति के पास जाती है।[३] समावर्तन संस्कार के प्रकरण में अलंकार शब्द प्राप्त[४] होता है। आभूषण का प्रतीक[५] दूसरा शब्द सम्भार[६] शब्द मिलता है। आभूषणों का तीसरा शब्द चित्र अलंकार के[७] अर्थ में गृह्यसूत्रों में मिलता है। चित्र शब्द कदाचित् उस अलंकार का द्योतक था जिसमें विविध रंग के मूल्यवान संग जड़े होते थे।

पुष्प के आभूषण :

गृह्यसूत्रों के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि उस समय आर्य पुष्प के आभूषण धारण करते थे। गो.गृ.सू.[८] शाल्मलि के पुष्पों से सिंगार किये हुए यान पर चढ़कर जाती हुई वधू का वर्णन प्राप्त होता है। विशेष रूप से फूलों की माला धारण करने का उल्लेख प्राप्त होता है।[९]

---

१. गो.गृ.सू. २/२२१४ ईक्षकान् प्रतिमन्त्रयेत सुमङ्गलीरियं वधूरिति।

२. हिरण्यकेशिन गृ.सू. १.७.२४.८.३ हरमेन ओल्डेनवर्ग– दी गृह्यसूत्राण आफ हिरण्यकेशिन पृ.–१९१

३. पा.गृ.सू. २/६/२६ पृ. २९५ डॉ. जगदीश मिश्रा

४. जै.गृ.सू. १/१९ डब्लू कालेण्ड– जै.गृ.सूत्रम पृ. १७

५. स्नास्यन्संभारानुपकल्पयते

६. पा.गृ.सू. १/५/११ पृ. ८८ द्रविणधेहि चित्र स्वाहा आ.श्रौ.सू.

७. चित्रायुर्मस्ते स्तनः शशयो यो मयोभूः।। आप.गृ.सू. २/१२/२०

८. गो.गृ.सू. २.४.१ यानमारोहन्त्या सुचि सुक शाल्मलिमित्येतामृचं जपेत्

९. गो.गृ.सू. पृ. ८४ हिरण्यकेशिन गृ.सू. १.१०.४ हरमेनओल्डेन वर्ग हिरण्य.गृ.सू. पृ. १६८ शुभिके शुभमारोह --------प्रतिमुञ्चते।

हिरण्य :

हिरण्य शब्द स्थान-स्थान पर स्वर्ण के अर्थ में प्राप्त होता है। ऐसा ज्ञात होता है कि हिरण्य का अर्थ हिरण्य का टुकड़ा अथवा हिरण्य नाम का कोई सिक्का भी था।[१] इसका दूसरा नाम जातरूप कई गृह्यसूत्रों में प्राप्त होता है।[२] हिरण्य का तीसरा नाम कांचन पा.गृ.सू. तथा आ.गृ.सू.[३] में प्राप्त होता है। इससे पता चलता उस समय लोग स्वर्ण को विभिन्न नामों[४] से जानते थे।

मणि :

मणि शब्द कई सूत्रों में मिलता है। मणि रत्नों को छेदकर बनायी जाती थी[५] तथा उन्हें मणियों को प्रतिसर में बाँधा जाता था मणि को ग्रीवा पर धारण की जाती थी[६] इसे वक्षस्थल पर धारण करने का उल्लेख प्राप्त होता है।[७]

सिर के आभूषण :

कुम्ब तथा कुरीर दोनों सिर के आभूषणों के नाम हैं। कुरीर शब्द की व्याख्या गेल्डनर ने श्रृंग की है।[८] ऋ. में विवाह के समय वधू के श्रृंगार के प्रकरण से प्राप्त होता है। उषा के तुल्य अनुराग वाली नव वधू जब अपने पति के साथ जाने को जो तो उसे उत्तम-उत्तम उपदेश दिये जायें तथा उसे कुरीर तथा आपेश नाम के आभूषणों से सजाया जाये जिससे उसकी मनोकामना पूर्ण हो। इसे एक

---

१. कौषीतकि गृ.सू. १.१.३ आ.गृ.सू. १/१५/१

२. कौषीतकि गृ.सू. जातकर्म के प्रसंग में, गो.गृ.सू. २/७/२१

३. पा.गृ.सू. २/१४/५ जगदीश मिश्रा पृ. ३४४, आ.गृ.सू. १/४/६ आप.गृ.सू.

४. हरिदास संस्कृत ग्रंथमाला समाख्या, काशी संस्कृत सीरीज पुस्तकमाला ५९ चौखम्बा सीरीज।

५. पा.गृ.सू. १/१६/४, आप.गृ.सू. २/४/८

६. कौषीतकि गृ.सू. १.१२, हि.गृ.सू. १.११.३

७. आ.गृ.सू. ३/८/२१, आ.गृ.सू. उरोमे मा संशारीः शिवोमोपशैष्व नल दीर्घायुत्वाय शवशारदाय

८. ऋ. १०.१८४.२

प्रकार से स्त्रियों का मुकुट कहा गया है।[१] कुरीर एक प्रकार की घास होती है जो सीधी खड़ी रहती है।[२] कुम्ब नाम का आभूषण भी स्वर्ण का बनता था।[३] कुम्ब के स्थान पर कुम्भ शब्द प्राप्त होता है।[४] यहाँ यक्ष को कुम्भी अर्थात् कुम्भ धारण करने वाला कहा है।

शिप्र शब्द का उल्लेख भी प्राप्त होता है इन्द्र को शिप्रि कहा गया है[५] पुरुषों के सिर का आभूषण को मैली कहा जाता था जिसका तात्पर्य पगड़ी होता होगा।[६]

स्त्रज :

उस छोटी माला को कहते थे जो मस्तक पर धारण की जाती थी ऐसा गृह्यसूत्रों से पता चलता है।[७] सिर पर बाँधने का संकेत प्राप्त होता है।[८] यह सुवर्ण की मणियों की माला बनी होती है।[९] इसका प्रयोग फूल की माला के लिए नहीं हुआ है। इसका प्रयोग मणि के कुण्डलों के साथ हुआ है। परन्तु जब पुष्प की माला के लिए प्रयोग की जाती है तो इसे पुष्कर स्त्रज कहा जाता है।[१०]

कान के आभूषण :

कान को छेदने से मेघा वृद्धि होती थी। इसका संकेत आ.गृ.सू. में प्राप्त होता है।[११] उस समय लोग कानों में कुण्डल धारण करते थे। उन्हें मणि कहा गया है।[१२] आभूषण में मणियाँ पिरोयी रहती

---

१. मोनियर विलियन्स बाजसेनयि संहिता पृ. २३९
२. वैदिक युग के भारतीय आभूषण– डॉ. रायगोविन्द चन्द्र पृ. ८९
३. भा.गृ.सू. १.१८
४. पा.गृ.सू. – जगदीश मिश्रा १/१६/२३ – पृ. १८९
५. वही – १/१८/५
६. वैदिक युग के भारतीय आभूषण – पृ. ९०
७. जै.गृ.सू. १/७
८. गो.गृ.सू. २/४/२५
९. आश्व.गृ.सू. ३/८/१
१०. पा.गृ.सू. २/४/८, भा.गृ.सू. १/२२४ जै.गृ.सू. १/१८
११. आ.गृ.सू. १/१५/२
१२. कौषीतकि गृ.सू. १/३/१

थी।[१] कुण्डल चन्दन और मणि के बनते थे। चन्दन की मणि पर स्वर्ण चढ़ा है। छिद्रों के पास दूर्वा से इसे बाँधकर इस पर घृत की आहुति में दी जाती है। कुण्डल के लिए कविण्टेक शब्द भी प्राप्त होता है।[२] इससे ज्ञात होता है कि आभूषण कान को ढक लेता था। प्रवर्त भी कान का आभूषण होता था।[३] जिसका आकर बाली की भाँति होता था जिसका एक मुख दूसरे पर चढ़ा रहता था।[४]

ग्रीवा के आभूषण :

यद्यपि इसका उल्लेख स्पष्ट रूप से पा.गृ.सू. में नहीं प्राप्त होता है। परन्तु अन्य गृह्यसूत्रों से पता चलता है कि उस समय ग्रीवा में भी आभूषण धारण किये जाते थे। क्योंकि विवाह संस्कार में वर कन्या को मंगलसूत्र पहनाता था। ग्रीवा में निष्क नाम का आभूषण धारण किया जाता था।[५] जो सिक्कों की बनी माला का नाम था। यह रजत का बना हुआ होता था।[६] स्वर्णरहित और सुगन्ध रहित माला धारण नहीं करनी चाहिए।[७] मणि भी कण्ठ में धारण की जाती थी जो तीन धागों में पिरोयी होती थी।[८] बड़ी मणियों की माला भी गले में धारण किये जाते थे। जिन्हें स्थागार शब्द प्राप्त होता है।[९] माला तथा माल्य भी धारण की जाती थी। ये मालाएँ पुष्प की बनी होती थी।[१०] रुक्म नाम का एक आभूषण प्राप्त होता जिसे गले में ही धारण किया जाता

---

१. आ.गृ.सू. ३/८/१, सांख्यायन, गृह्यसूत्र, हि.गृ.सू. १/११/१
२. पा.गृ.सू. श्री कर्क्कोपाध्याय, जयरानाचार्य, हरिहराचार्य, गदाधरदीक्षित प्रणीत भाष्य चतुष्टयेन समलंकृतम काश्याम मेडिकल हाल मंत्रालय सं. १९५२ पृ. ३३२
३. भा.गृ.सू. २/१८
४. वैदिक युग के आभूषण– डॉ. रायगोविन्द चन्द्र – पृ ९०
५. कौषीतकि गृ. ३/२
६. निष्को राजतः कात्यायन श्रौ.सू. २२/४/८
७. गो.गृ.सू.
८. आ.गृ.सू. ३/८/१६
९. आप.गृ.सू. ७/१८/१
१०. आ.गृ.सू. ३/८/१२

था यह गोल इक्कीस गुण्डी लगा हुआ वक्ष तक लटकने वाला आभूषण था।[१]

बाहु तथा मणिबन्ध के आभूषण :

आर्य बाहु तथा मणिबन्ध में भी आभूषण धारण करते थे। प्रतिसर नाम का आभूषण बाहु में धारण करते थे जो एक प्रकार का कड़ा होता था जिसका मुँह एक दूसरे पर चढ़ा रहता था इसको तीन मणियों से युक्त होता था इसको बाँधा जाता था[२] हाथों में अंगूठी के धारण करने का विवरण प्राप्त होता है।[३]

कटि के आभूषण :

आर्य नारियाँ तथा पुरुष दोनों कटि में आभूषण धारण करते थे। कटि में नारियाँ रजत की मेखला धारण करती थी पुरुष की मेखला के विषय में अन्तर है। वे केवल उपनयन संस्कार के समय धारण करते थे।[४] इसे नाभिदेश में तीन फेरी देनी चाहिए तथा गृन्थि लगाना चाहिए। योक्त शब्द करधनी के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है।[५] किकिण शब्द भी कटि आभूषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है।[६] परन्तु यह शब्द आगे चलकर पैर के आभूषण के रूप में द्योतक हो गया है। इस प्रकार यह आभूषण पैरों में पहना जाने लगा।[७] इसके अतिरिक्त पैर की उंगलियों में विछिया और धारण की जाती थी। इस प्रकार यह

---

१. जै.गृ.सू. १/१२, रुक्मो होतुः आ.गृ.श्रौ. ३/४/१६, हि.गृ.सू. २/७/२

२. कौषीतकि गृ.सू. १/१२

"अविधवां चाव लामेवं त्वामिह रक्षतादिमसिति दक्षिणे पाणा शलती त्रिवृतं ददाति रूपं रूपनिदर्श सव्येस्क कृष्णमविकं क्षौमं वा त्रिमणि प्रतिसरं ज्ञावयोऽस्या बाहनन्ति।"

३. पा.गृ.सू. १/१६

४. जै.गृ.सू. १/१२, आ.गृ.सू. १/१९/१०, पा.गृ.सू. २/२/६, आप.गृ.सू. ४/१० गो.गृ.सू. २/१०/३०, हिर.गृ.सू. १/४/४-५

५. आ.श्रौ.सू. १/११

६. आप.गृ.सू. ७/१८/१

७. भरत नाट्य शास्त्र २३-३९

स्पष्ट होता है कि सूत्रकाल में समाज पूर्णतया धन संपदा से परिपूर्ण था तथा वह आभूषणों का प्रयोग करता था।

अंजन आदि के लाभ :

अंजन (काजल) सौभाग्य सूचक बताया गया है। अंजन को मनुष्य एवं गाय आदि पशुओं का रक्षक कहा गया है। वह जीवन का रक्षक है। अंजन हिमालय और त्रिककुट पर्वत पर होने वाली औषधियों से बनाया जाता था यह सभी प्रकार के अभिचार को रोकने वाला कहा गया है।[१]

निवास स्थान

शाला या भवन को मानस्य पत्नी नाप के अधीनस्थ कहा गया है। इससे ज्ञात होता है गृह निर्माण सू पूर्व उसका नाप आदि किया जाता था। लम्बाई चौड़ाई आदि के नाप को मान उसके आधार पर निर्मित होने से उसे पत्नी कहा गया है। शाला को ध्रुवा अर्थात् दृढ़ कहा जाता है।[२] शाला शुभ समय में निर्माण करना चाहिए[३] शाला या मकान सुदृढ़ होनी चाहिए। गृहस्थ शाला का निर्माण करते समय प्रार्थना करता है कि विशाल धर्मशीला स्थूषा जहाँ विभूषित है लक्ष्मी जहाँ निवास करती है दिन और रात के अधिष्ठाता देवता जहाँ द्वार कपाटो में लोकालोक रूप में स्थित है। ऐसे घर प्रचुर धन सम्पत्ति और रक्षा पुरुषों से सुरक्षित है। मैं अपने पौत्रादि और पशु समुदाय के साथ उनमें आश्रय ले रहा हूँ।[४] मकान के खम्भे आदि ठोस होने चाहिए जिससे वे ऊपर का भार सरलता से उठा सके। छत बाँसच बल्लियों से बनायी जाती थी उस पर घास या पुआल विछाई जाती थी। मकान के खम्भों की उपमा हथिनी के पैर से दी गई है। इससे

---

१. अञ्जनं कज्जलं लौकिकदीपजं त्रैककुदं सौवीरमिति प्रसिद्ध वा।।
पा.गृ.सू. २/१४/१७, हरिहर भाष्य पृ. ३४८

२. अथर्ववेद का सांस्कृतिक अध्ययन

३. पा.गृ.सू. ३/४ पृ. ३८९

४. हस्तिनीव पद्वती –अथर्व. १.९.३-१६

ज्ञात होता है खम्भे बड़े भारी होने चाहिए।[१] शाला बनाने के लिए गोभिल गृ.सू. में बताया गया है कि शाला ऐसे स्थान पर बनानी चाहिए जो समतल, तृणाच्छन्न जलप्रवण और स्थिर हो वहाँ क्षीरवृक्ष न हो काँटे न हो न ही कड़वी वनस्पतियाँ होनी चाहिए।[२]

ब्राह्मण के लिए श्वेत मिट्टीवाली वैश्य के लिए पीली मिट्टी वाली, क्षत्रिय के लिए लाल मिट्टी वाली शूद्र के लिए काली मिट्टी वाली भूमि उपयुक्त है।[३] यशोबल की कामना करने वाला पुरुष पूर्व में गृहद्वार रखे। पुत्र पशुकामी उत्तर में और सर्वकामी दक्षिण में गृहद्वार रखे परन्तु पश्चिम की ओर घर का दरवाजा कभी नहीं रखना चाहिए। मकान के पूर्व में पीपल का पेड़ रहने से अग्नि का भय, दक्षिण में पाकड़ के रहने से आयु हीन पश्चिम में वटवृक्ष के रहने से शास्त्राघात का सन्देह और उत्तर में गूलर के रहने से नेत्र रोग की संभावना रहती है। परन्तु शाला के विषय में मत्स्य पुराण में कहा गया है कि भवन के पूर्व में लगे रहने से बरगद गूलर और पीपल वृक्ष सभी कामनाएँ पूर्ण करते हैं किन्तु वे ही यदि विपरीत अर्थात् पश्चिम में हुए तो उनसे कोई लाभ नहीं। भवन के निकट लगे हुए कण्टकी और क्षीरवृक्ष पत्नी तथा पुत्र को हानि पहुँचाते हैं। यदि उन्हें काटना न चाहें तो कहीं और लगा दे। दाडिनी, पिघली, द्राक्षा, कुसुममण्डप जम्बीर पूगपनस चमेली मल्लिका नारियल कदली और गुलाब के पौधों से घर की शोभा बढ़ती है।

आदर्श घर :

उत्तम घर के विषय में कहा गया है कि इसमें बड़ें कमरे हों। बड़े कमरे के लिए वृहछन्दस शब्द दिया गया है। छन्दस शब्द छदिस छाना या छप्पर के अर्थ में है। इसमें साफ किया हुआ अन्न रखा

---

१. धर्मस्थूला राज श्री स्तूपमहोरात्रे द्वारफलके इन्द्रस्य गृहा वसुमन्तो वरुथिनस्तानाहं प्रपद्ये सह प्रजया पशुभिः सह यन्मे किञ्चिदस्त्युपहूतः सर्वगणव्सरतायंसाधुसंवृतः तां त्वा शालेऽस्टि वीर गृहान्नः सन्तु सर्वत इति। पा.गृ.सू. ३/४/१८ पृ. ४०३

२. गोभिल गृ.सू. ४०७०-११

३. पा.गृ.सू. ३/४/३ टिप्पणी – पृ. ३९६

जाए। एक मंत्र में कहा गया है कि आप (शाला) में प्रभूत वेग है आइये और मुझे गृहस्वामी बना कर अन्न धन से समृद्ध कीजिए।[१] यह शाला धन को धारण करने वाली निधि स्रोत और विविध प्रकार की धनराशि का धारण करने वाली है। वह सुख प्रदान करने वाली होना चाहिए।[२] घर में शुद्ध जल की भी व्यवस्था चाहिए जिससे कोई रोग आदि न हो सके और शुद्ध जल विविध रोगों को नष्ट कर सके।[३] घर में खेलते-कूदते बालक हों।[४] घर में समृद्धि, स्वादिष्ट भोजन हो और कोई भूखा प्यासा न रहे। शाला से प्रार्थना की गई है कि तुम्हारा अवलम्बन कर युवक ब्रह्मचारी वेद घोष करे, परिचारिको को गोद में खेलते हुए शिशु दुग्ध पान करने के लिए माँ को बुलाएँ तुम पर रखे हुए लबालब जल तथा दही भरे कलश अन्य सृष्टि-समृद्धि पूर्ण कलशों के साथ ध्वनि करे। घर रक्षा प्रदान करने वाला हो। तुम स्वयं सुसमृद्ध होकर हमें धन धान्ययुक्त बनाये रखो तुम सुन्दर वस्त्रों से अलंकृत होकर हमें उर्जस्वित बनाओ, वीर्यवान करो तुम हमें सब प्रकार से धन सम्पन्न करो, ताकि हमारी दानशीलता अक्षुण्ण बनी रहे। घर के सभी व्यक्ति सत्यवादी सौभाग्ययुक्त धन धान्य से युक्त और प्रसन्नचित्त हो। घर में यश हो कोई लोभी न हो और गाय आदि पशुधन हो। अतिथि को गाय का दूध अन्न और रस दिया जाये। घर पर जो भी अतिथि आवे उसका उचित सत्कार किया जाये क्योंकि यश और धर्माथ कार्य ही घर की सुरक्षा का साधन है।[५]

---

१. पा.गृ.सू. ३/४/३ पृ. २०८
अग्निमिन्द्रं वृहस्पति विश्वान् देवानुपह्वये सरस्वतीं च वाजीं च वास्तु मेदत्तः स्वाहा। पा.गृ.सू. ३/४/८ की ऋचा सं. १ पृ. ४००

२. पा.गृ.सू. ३/५२१ पृ. २०६

३. अथर्ववेद का सांस्कृतिक अध्ययन
इमामुच्छयामि भुवनस्य नाभि वसोर्धारां प्रतरणी वसूनाम् इहैव ध्रुवान्निमिनोमि शालां क्षेमे तिष्ठतु घृतमुक्षमाणा।
पा.गृ.सू. ३/४/४ की ऋचा सं.-१, पृ. ३९७

४. पा.गृ.सू. ३/५/३

५. इष्टापूर्वमीमिरक्षात्येनाम्। अ. ३/१२/८

आवागमन के साधन

सूत्रकाल में आवागमन के अनेक साधन प्राप्त होते थे।

रथ :

मनुष्यों के आने जाने का मुख्य साधन रथ था। इसके द्वारा विभिन्न स्थानों की यात्रा की जाती थी। रथों में जो पशु जोते जाते थे उनके नाम से रथों के नाम पड़ते थे। रथों में मुख्य रूप से घोड़ा जोता जाता था। ऐसे रथों को अश्वरथ कहा गया है। इसमें वधुएँ बैठती थी। विवाह संस्कार में वधू के पतिगृह गमन के समय वधू रथ में बैठकर जाती थी।[१] रथ के वर्णन में रथोपस्थ (रथ की सीट (आसन)) रथमुख (रथ का अग्रभाग) सारथि और प्रटोद (चावुक) का भी वर्णन है रथ के चलने के मार्ग को रथयान कहा है। रथ के चालक को सारथि तथा रथ पर बैठकर चलने वाले को रथी (रथिन्) कहा है। स्त्रियों और नैष्ठिक ब्रह्मचारियों को सारथी बनाने का निषेध किया गया है।[२] रथ महत्वपूर्ण वस्तुओं में था उसे समृद्धि का सूचक माना जाता था रथ युद्ध का साधन था। रथ के पहिए को सुदृढ़ बनाने के लिए उस पर लोहे की पट्टी लगाई जाती थी। मार्ग में चलते-चलते यदि रथ क्षीण हो जाये तो वह रथी रथ पर चढ़कर आरूढ़ कर अयं वामश्विनां........प्रभृति मंत्र को जप करे।[३] रथ पर यात्रा करते समय बताया गया है कि देवताओं को दूर से, ब्राह्मणों के निकट से और गायों के मध्य आ जाने पर रथ से उतर पड़े।[४] पिता आदि मानरू जनों के सामने आ पड़ने पर भी रथ से उतर जाना चाहिए। रथ की धुरी को अक्ष कहते थे।[५]

---

१. पा.गृ.सू. २/१४/१२ पृ. ३५५

२. न स्त्री ब्रह्मचारिणौ सारथी स्थाताम्। पा.गृ.सू. ३/१४/९

३. अयं वामश्विना रथो मा दुर्गे मास्तरोषदिति

४. अप्राप्य देवताः प्रत्यवरोहेत्सन्प्रति ब्राह्मणान्मध्ये गा अभिकुम्य पितृन्। वही ३/१४/८ पृ. ४५५

५. मुहूर्तमतीयाय जपेदिहरतिरिहरमध्वम्। पा.गृ.सू. ३/१४/१०

हाथी[1] :

यातायात का दूसरा साधन हाथी था रथ की भाँति हाथी से लोग आवागमन करते थे। गजराज ऐरावत की भाँति शक्तिशाली और सुन्दर होते थे।

गृह्यसूत्र[2] में अश्व[3] उष्ट्र[4] गंदर्भ[5] आदि पर चढ़ने का भी उल्लेख मिलता है इससे प्रतीत होता है कि उस समय ये पशु भी आवागमन के लिए प्रयुक्त होते थे।

नौका :

नाव से नदी पार की जाती थी उसका सुनावनिति इत्यादि मन्त्र पढ़कर अभिमन्त्रण करना चाहिए।

मनोविनोद के साधन

संगीत के अंग :

नृत्य गीत, वादित्रय (वाद्य) और नाट्य (अभिनय) इन चार को संगीत का अंग माना गया है। इन चारों अंगों की पूर्ति होने पर संगीत पूर्ण माना जाता है। यजुर्वेद में संगीत के चारों तत्वों का उल्लेख मिलता है।

वाद्य नाम :

१. **दुन्दुभि :** दुन्दुभि का अनेक स्थानों पर वर्णन है। दुन्दुभि वीरों को उत्साहित करने के लिए बजायी जाती थी।[6]

२. **वीणा :** वीणा या बीन के लिए कर्करी शब्द एवं फर्करिक शब्द आए हैं। सीमान्तोन्नयन संस्कार में पति वीणा लेकर गाथा गान

---

१. इन्द्रस्य त्वा वज्रेणाभितिष्ठामि स्वस्ति मा साम्पारयेति। पा.गृ.सू. ३/१५/३ पृ. ३५७
२. एतेनैवाश्वारोहणं। वही ३/१५/४
३. उष्ट्रमारोहयन्नभिमन्त्रयते सुनावमिति। वही ३/१५/९
४. वही ३/१५/६
५. नावमारोक्ष्यन्नभिमन्त्रयते सुनावमिति। वही ३/१५/९ पृ. ४५८
६. पा. ग्र. सू. – डा. जगदीश चन्द्र मिश्रा

पुरुषों से कहा जाता है।[१] महस (आनन्दोत्सव) में वीणावादन होता था। वीणावाद को वीणागलिन कहा है।

३. **शंख** : शंख बजने वाले को शंखहम कहते थे।

४. **तलव** : यह तबला या ढोलक है। इसे नृत्य और आमोद प्रमोद के समय बजाया जाता था। तबला बजाने वाले को पणिहन कहा गया है। यह वाद्य हाथ से ठोक कर बजाया जाता था अतः इसे पणिहन कहा है।[२]

गाथा :

गाथा गेय पद्यों में वृहत आख्यान को कहते हैं। ऋग्वेद में गाथाओं को गाने वाले को गाथान गाथा नेतृ और ऋजुगाथ कहा गया है। मानवीय कृति गाथा कही जाती है।[३] गाथाओं को गाने वाले की गथिन या गाथी कहा जाता था। ये गेय पद्यों को सुन्दर लय में गाते थे।[४]

नाराशंसी :

यह गाथा का उपभेद है। यह नाराशंस शब्द से बना है। मनुष्यों की प्रशंसा करते स्त्रोतों को नाराशंसी नाम दिया गया है, नाराशंसी में राजा अमात्य आदि की स्तुति से सम्बन्ध पद्य आते हैं।[५]

इस प्रकार गृह्यसूत्रकालीन समाज अत्यन्त सुविकसित व्यवस्था थी क्योंकि इसका स्पष्ट आलोचनात्मक दृष्टिकोण के आधार पर आश्रम व्यवस्था, पारिवारिक जीवन, पञ्चमहायज्ञ तथा संस्कार आदि। समाज का समग्र जीवन इन्हीं आधार स्तम्भों पर आश्रित था जिनसे उसे सम्पूर्ण जीवन को सुव्यवस्थित चलाने में सम्पूर्ण शक्ति प्राप्त होती रही।

---

१. वीणां गृहीत्वा। पा.गृ.सू. १/१५/७ पृ. १७४

२. यजु. ३०.२०

३. अ. २०.३८.४ पा.गृ.सू. २/१५/७ पृ. ७४

४. वीणागथिनौ राजसम्बन्धि सोत्साहौ गायतः। पा.गृ.सू. १/१५/७ गदा. भाष्य

५. वही।

चतुर्थ अध्याय

शुक्ल यजुर्वेदीय गृह्यनुष्ठान तथा आर्थिक जीवन

गृह्यसूत्र काल में आर्यों की आर्थिक दशा अत्यन्त समुन्नत थी उन्हें किसी वस्तु का अभाव नहीं था। जीवन के लिए उपयोगी हर वस्तु का उत्पादन वे स्वयं करते थे। गृह्यसूत्रकालीन आर्य उस अवस्था को पार कर चुके थे जिसमें मनुष्य अपनी भूख मिटाने के लिए मात्र फल फूल पर निर्भर रहा करता था। वे लोग एक सुव्यवस्थित समाज में सुसंगठित हो गये थे। भौतिक जीवन का सुख आर्थिक समुन्नति पर ही निर्भर करता था। इसलिए आर्य सदा यही प्रार्थना करते थे कि हर प्रकार के धन का स्वामी[१] ने उनकी जीविका का प्रमुख साधन कृषि तथा पशुपालन था। उनकी जीविका का आधार होने के कारण गृह्यसूत्रकार इन व्यवसायों से सम्बन्धित धार्मिक एवं बलि सम्बन्धी अनुष्ठानों से भली-भाँति परिचित थे। गृह्यसूत्रों के अध्ययन से पता चलता है कि धर्म के प्रति आस्था रखने वाले ग्रामीणों ने कृषि एवं पशुओं को विभिन्न प्राकृतिक और अन्य आपदाओं से रक्षा के लिए तथा उनकी समृद्धि के लिए अनेक अनुष्ठानों और धार्मिक क्रिया कलापों को समय-समय पर किया करते थे।[२]

कृषि :

उस युग में आर्थिक स्थिति का सर्वप्रथम स्तम्भ कृषि ही रहा कृषि सम्बद्ध प्रत्येक छोटे से छोटे कार्य के साथ कोई न कोई धार्मिक विधि जोड़ दी गयी है जिससे कृषि का महत्व सूचित होता है। भूमि से सम्पत्ति उत्पन्न करने का सबसे प्राचीन व सरल तरीका कृषि है। भारत का भौगोलिक परिस्थिति के कारण यहाँ पहले से ही कृषि कर्म सम्पत्ति के उत्पादन का मुख्य साधन रहा है। गृह्यसूत्रकाल में कृषि को अत्यन्त पवित्र माना जाता था। वर्षा से सम्बन्धित देवता इन्द्र की स्तुति

---

१. वैदिक वाङ्मय का बृहद इति. वेद खण्ड

२. अथर्ववेद का सांस्कृतिक अध्ययन – डा. कपिल द्विवेदी

की जाती थी।[१] पृथ्वी को ग़ो नाम से सम्बन्धित कर पूजनीय माना गया है।[२] आर्य कृषि प्रधान जाति थी उनका प्रमुख कार्य कृषि कर्म था वे केवल कृषिकर्म से परिचित ही नहीं थे बल्कि एक निपुण कृषक थे जिन्हें मालूम था कि किस ऋतु में किस अन्न को प्रचुर मात्रा में उत्पन्न किया जा सकता है। भूमि को उपजाऊ बनाने के लिए किन साधनों का प्रयोग करना चाहिए। ये उन्हें अच्छी प्रकार से ज्ञात था। कृषि के महत्व का पर्याप्त वर्णन है। कृषि का कार्य सुयोग्य व्यक्ति ही करते थे। कवि (मेधावी, क्रान्तदर्शी और धीर विद्वान व्यक्ति इस कार्य को अपनाते थे और कृषि करते थे यह कार्य सुख प्राप्ति के उद्देश्य से किया। कृषि गौरव का कार्य था। इन्द्र और पूषा दोनों को इसमें लगाया गया है। इन्द्र का अर्थ राजा भी है अतः राजा का कार्य कृषि कार्य में लगाना उचित बताया गया है। मनुष्यों ने विराट (ब्रह्म) को इरावती (अन्न समृद्धि) नाम से पुकारा, उन्होंने उसे दुहकर कृषि और सस्य अन्न, प्राप्त किया कृषि और अन्न से ही सब मनुष्यों का काम चलता है। जिसने कृषि में सफलता प्राप्त कर ली है वह आजीविका में सफल हो जाता है। कृषि विशेषज्ञों को अन्नविद: नाम देते हुए कहा है कि सर्वप्रथम उन्होंने कृषि के नियम बनाये थे।[३] यजुर्वेद और तैत्तिरीय संहिता में कृषि को मानवीय कल्याण का साधन माना गया है।[४] कृषि ऐश्वर्य और पोषण का साधन है।[५] कृषि से ही अन्न, बल और तेज प्राप्त होता है। तैत्तिरीय संहिता में कृषि को छन्द कहा गया है।[६] इसका अभिप्राय यह है कि यह जन जीवन को आनन्दमय बनाने वाला संगीत है। छन्द का अर्थ आच्छादन भी है यह

---

१. इन्द्रदेवत्या ज्येष्ठा यतः इन्द्रायत्ता च कृषिरिति। पा.गृ.सू. २/१३/१ पृ. १५५
शिवो नो वर्षाः सन्तु शिवा नः सन्तु हेतयः।। पा.गृ.सू. ३/१५ पृ. २६०
एवेदिन्द्रंवृषेणं बज्रेबाहुं – पा.गृ.सू. २/१४

२. ऋग्वेद ५/५. १/३ यजु. २१६

३. यद् याम चक्रुः -------अन्नविदों न विद्यया अ. ६/११६/१

४. यजुर्वेद १.९.२२

५. यजुर्वेद ९.२२

६. कृषि छन्दः। तै.स. ४.३.६.१

मानव को सुखों से आच्छादित रखता है। अतः छन्द है। आर्य कृषि कर्म में पूर्ण निष्णात् थे। कृषि कर्म वैदिक ऋषियों के मन्त्र का भी विषय बना यह कृषि कर्म की प्रधानता का द्योतक है। एक मन्त्र में ऋषि उपदेश देता है कि कृषि ही करो और उससे प्राप्त वित्त को ही पर्याप्त समझकर उसमें प्रसन्न रहो।[१] कृषि भूमि के लिए क्षेत्र शब्द का प्रयोग मिलता है। इससे पता चलता है कि सबके खेत अलग-अलग होते थे।[२] खेत पर व्यक्ति का पूर्ण अधिकार होता था।[३] खेत परिवार के मुखिया पिता के अधिकार में होता था। पिता की मृत्यु के बाद वह पुत्रों के अधिकार में आता था। कृषि के लिए अथर्व.[४] में वर्णन आता है कि पृथी 'पृथु' वैन्य सर्वप्रथम मुनष्यों के लिए कृषि का मार्ग प्रशस्त किया। अश्विन देवताओं ने मनु को बीज बोने की कला सिखलायी तथा आर्यों को हल सहायता से खेती करना सिखाया।[५]

सर्वप्रथम कृषि के योग्य ऊर्वरा भूमि को हल के फाल से जोता जाता था[६] और उसे बीज बोने योग्य बनाया जाता था। कृषि के योग्यं भूमि को उर्वरा या क्षेत्र कहा गया है। बैलों को रस्सी से बाँधकर उन पर जुआ रखा जाता था।[७] और जुती हुयी भूमि में बीज बोया जाता था। कृषि को अधिक उपजाऊ बनाने के लिए खाद करीष या शकन् का प्रयोग किया जाता था[८] खाद को फलवती कहा गया है। इससे ज्ञात होता है कि खाद के महत्व को समझकर उसे उपयोगी बताया गया है।[९] अत्युत्तम खेती के लिए घी और शहद वाली खाद डालने से

---

१. कृषिमित्कृषस्य वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः ऋ. १० ३४.१३

२. ऋ. १०.३३.६

३. ऋ. ८.१९१.५

४. तां पृथी वैन्योद्योकं तां कृषि च सस्यं चाधोक वे कृषि च सस्यं मनुष्यां उपजीवन्ति कृष्टराधिरूपजीवनीयो भवति य एव वेदः।। अ.वे ८/१०/११/११

५. ऋ. १/११७/२१

६. फालं हल मुखमायभिमृशत् – पा.गृ.सू. २/१२ गदाधर भाष्य पृ. २८८

७. वृषभो हले योजये। पा.गृ.सू. २/१३

८. कर्षणे च मन्त्रों पा.गृ.सू. २/१३ हरिहर भाष्य पृ. २८६

९. पलीवदधि मधुघृते – हरिहर भाष्य पा.गृ.सू. २/१३ पृ. २८७

उत्तम कृषि होती है। बीज बोने के बाद सिंचाई की जाती थी सिंचाई के महत्व को बताते हुए कहा गया है कि कृषि के लिए जल घृततुल्य है।[१]

बुवाई के बाद निराई को भी आवश्यक बताया गया है[२] इससे अनावश्यक तृण आदि को हटाकर कृषि की रक्षा की जाती है परन्तु इसका स्पष्ट उल्लेख गृह्यसूत्रों में नहीं प्राप्त होता था।[३] कृषि फसल के पक जाने पर दराती (दात्र, सृणि) से खेतों को काटा जाता था। कटे हुए अन्न को पर्ण में बाँधा जाता था। उन्हें खलिहान (खल) में इकट्ठा करके मड़नी की जाती थी।[४] इसके बाद भूसी उड़ायी जाती थी। इसके लिए उसे उसाया शब्द का प्रयोग किया जाता था।[५] गृह्यसूत्र में भूसी को अलग करने का वर्णन प्राप्त होता है। साफ किये हुए अनाज को बर्तन में नापकर रखा जाता था। इस वर्तन को उर्दर कहते हैं।[६]

भूमि के भेद :

भूमि के विविध भेदों का उल्लेख है। तीन मुख्य भेद है। उर्वरा (उपजाऊ) हरिण (ऊषर) और शष्प्य (चरागाह के योग्य)[७] गृह्यसूत्रों में दो प्रकार की ही भूमि का उल्लेख प्राप्त होता है। कृषि की दृष्टि से भूमि के दो भेदों का उल्लेख मिलता है। ये है कृष्टपच्य जहाँ जुते हुए खेतों में कृषि द्वारा अन्न होता है। (२) अकृष्टपच्य – जहाँ अन्न बिना कृषि के होता है।[८]

---

१. आप: दिस्मैधृतामिवं क्षरन्ति। अ. ६.१८.२

२. यथादन्ति अनुपूर्व विर्यूय अ. २०.१२५.२

३. सृष्टा: पक्वमायवन अ. २०.१२५.२

४. खले न वर्षान प्रति हन्मि. ऋ. १०.४८.७

५. पा.गृ.सू. २.१४.११

६. पा.गृ.सू. उदरम् २.१४.११

७. बीजमुर्वरायां कृष्टे कालेन रोहति इरिणानु अ. ४.१५.१२
उर्पर्याय. शष्प्याय इरिष्याय यजु. १६, ३३, ४२, ४३, तै.सू. ४,५,६,८,९

८. अथर्व. का सांस्कृतिक अध्ययन – डॉ. कपिल द्विवेदी पृ. १२९

कृषि के भेद :

कृषि के भेदों का उल्लेख है। ये हैं – (१) वर्ष्य वर्षा पर निर्भर रहने वाली कृषि (२) अवर्ष्य – वर्षा पर निर्भर न रहने वाली अर्थात नहर कूप तालाब आदि सिंचाई के अन्य साधनों पर आश्रित।[१] गृह्यसूत्रों में केवल वर्ष्य कृषि ही प्राप्त होती है। ऐसा नहीं है कि जल के अन्य स्त्रोत नहीं थे। उस समय वापी कूप तड़ाग आदि की स्थापना की जाती थी और उसमें जलचरों को डाला जाता था।[२]

क्षेत्रपति :

गृह्यसूत्र में किसान के लिए की नाश[३] शब्द का प्रयोग किया गया है। जो सम्भवतः किसान शब्द का पूर्वरूप है। किसान भूमि को जोतने और बोने का काम करते थे। भाषाविज्ञान की दृष्टि से कीनाश और किसान शब्द संबद्ध है। किसान को अन्नविद अर्थात अन्न का विशेषज्ञ कहा गया है।[४] क्षेत्रस्य पतये[५] से ज्ञात होता है कि किसान क्षेत्र का स्वामी या क्षेत्रपति भी होता है। आर्यों के जीवन निर्वाह के लिए कृषि का इतना अधिक महत्व एवं उपयोग था कि उन्होंने क्षेत्रपति नामक एक देवता की स्वतन्त्र सत्ता मानी है[६] तथा उनसे सस्य सम्पन्न होने की प्रार्थना की है। क्षेत्रपति की प्रार्थना करते हुए कहा है कि हलधर कृषक सुन्दर फाल युक्त हलों से बैलों को कष्ट न देते हुए

---

१. वर्ष्याय चावर्ष्याय च यजु. १६.३८

२. पा.गृ.सू. परिशिष्टानि

३. कीनाश अभियन्तु – पा.गृ.सू. २/१३/४ मन्त्र पृ. ३४०
क्षेत्रपालादि २/१७/१८ गदाधर भाष्य पा.गृ.सू. पृ. ३६१
क्लिशनातीति क्वश विबाधने वधे वा, क्लिंशेरीत्योधायालोपश्च लो नाम च इति कन उपधाया ईत्वं ललोपोनानगमश्चत यमः। विधेहि कीनाश निकेतन तिथिम इति माद्धे १/७२१ कीनाशोगोवृषो मानमलंकारश्च तेभ्य पर विप्रस्योद्वारिकं देयमेकांशश्च प्रधानतः इति मनु ९/१५० हलायुध कोश पृ. ३४७

४. कार्पीपण अन्नविदः म. ६/११६.१

५. क्षेत्राणांपतये – यजुर्वेद संहिता

६. पा.गृ.सू. २/१३

आराम से धरती को जोते। वायु और सूर्य हविष्यान्न से संतुष्ट होकर यजमान की इस फसल को पानी से सींच-सींचकर प्रचुर फल वाली कर दें।[१]

कृषि के साधन :

गृह्यसूत्रों में कृषि के साधनों का भी वर्णन मिलता है। ये हैं– **हल** –[२] हल के लिए लांगल या सीर शब्द का प्रयोग मिलता[३] है। **सीता**[४] **फाल**[५] हल के अगले नुकीले भाग के लिए सीता और फाल शब्द का प्रयोग मिलता है। हल के नीचे लोहे की पत्ती का नाम फाल था जिससे भूमि जोती जाती थी। फाल से खेत में जो रेखा बनती थी उसको सीता नाम से अभिहित किया जाता है। सीता[६] शब्द कृषि देवता के लिए भी प्रयुक्त हुआ है।

शुनासीर[७]

हल की लकड़ी (शुना) और फाल (सीर) अर्थ लिया गया है। यास्क ने शुनासीर को शस्य समृद्धिकारी वायु और शीर (आदित्य) सूर्य अर्थ लिया है।[८] सायण ने शुनासीर का दूसरा अर्थ भी दिया है। शुन सुखकारी देव, सीर-हल का देवता।[९]

---

१. शुन सुफाला विकृषन्तु भूमि क्रीनाशा अभियनतु वाहैः। शनासीता हविषा होशमाना सुपिप्पूला ओषधीः कर्तनास्मे। स.सं. १२.६९ पा.गृ.सू. २/१३ – पृ. २८०

२. लागंल हलं तस्य योजनमनुसाधनम् – पा.गृ.सू. १/१२० जयराम पृ. २८७

३. सीता मुञ्जन्ति – पा.गृ.सू. २/१३/१४ पृ. २८१

४. यस्याः सीताया सद्भावे – पा.गृ.सू. २/१२/२

५. फालमभिमृशेत – पा.गृ.सू. २/१२ हरि. भाष्य पृ. २८८

६. इन्द्रपत्नीमुपद्वये सीता सा मे त्वन्नपायिनी भूयात्कर्मणि कर्मणि, पा.गृ.सू. २/१७/४ पृ. १७४ फल्यते विदार्यते क्षेत्रमनेनेति। हलायुधकोश पृ. ४७६

७. पा.गृ.सू. ३/१७/५

८. शुनांसीरा पा.गृ.सू. ३/१७/५

९. शुनो वायुः सीर आदित्यः निरूकत ९.४०

इषा युग वस्त्रा :

हल में जो लम्बी लकड़ी (हतस) लगी रहती है उसके लिए ईषा शब्द है इसके निचले भाग में लोहे की फाल होती है। इसके ऊपर जुआ (युग) रखा जाता है। हलस और जुए को रस्सी (वरत्रा) से बाँधा जाता है। अष्ट्रा किसान जिस चाबुक या छड़ी से बैलों को हाँकता है उसके लिए अष्ट्रा शब्द है। हल के लिए कहा गया है कि वह सुदृढ़ और सुखद हो उसकी मूढ़ चिकनी हो।[१] हल के मूठ को सरु कहते थे।[२]

कृषि के शत्रु :

यद्यपि गृह्यसूत्रों में इसका स्पष्ट उल्लेख प्राप्त नहीं होता है। परन्तु कृषि के कतिपय कीटाणु भी होते होंगे जो फसल को नुकसान पहुँचाते होंगे। जैसे अतिवृष्टि, अनावृष्टि को खेती के लिए हानिकारक होने का संकेत करते हुए कहा गया है[३] कि बिजली खेती पर न गिरे और सूर्य की किरणें खेती को नष्ट न करें, अतिवृष्टि के साथ विद्युत पात तथा वर्षा के अभाव में सूर्य की किरणें खेती को नष्ट करती हैं।

धूप और हिम :

अनावृष्टि की अवस्था में कठोर धूप खेती को नष्ट करती है और घोर हिमपात या पाला पड़ना खेती को हानि पहुँचाता है। अतः सूर्य की कड़ी धूप और हिमपात[४] खेती को नष्ट न करे ऐसी प्रार्थनाए किया करते थे। **चूहा–** चूहे भी खेती को नष्ट कर देते थे इसलिए उनको आहुतियाँ दी जाती थी।[५]

---

१. अथर्व ३.१७.५ सायण भाष्य

२. ईषायुगेभ्यः अथर्व २.८.४

३. अथर्व. ३.१७.६

४. अथर्व. ३.१७.३
या नो वधी विद्युता देव सस्यं मा वधी रश्मिभिः सूर्यस्य अ. ७/११.१
न ध्रस्तताव नहिमो जघाने – अ. ७/१८/२

५. पा.गृ.सू. ३/१३ टिप्पणी में आखुराज का तात्पर्य चुहा का वर्णन है पृ. ३४२

सिंचाई :

गृह्यसूत्रकाल में आर्य खेती के निपुण विशेषज्ञ थे। खेती के लिए जितनी महत्वपूर्ण उर्वराभूमि, बीज, की आवश्यकता है उतनी ही सिंचाई की है क्योंकि इसके अभाव में फसल उग ही नहीं सकती है। उस समय सिंचाई के मुख्य दो साधन प्रमुख थे। **वर्षा–** वर्षा को सिंचाई का प्रमुख साधन माना गया है। वर्षा से पृथ्वी तृप्त हो और सभी प्रकार के अन्न एवं औषधियाँ उत्पन्न होती हैं।[१] यजुर्वेद में वर्षा की प्रक्रिया का वर्णन करते हुए कहा गया है कि किस प्रकार बादल बनते हैं और उनसे हल्की और तेज वर्षा होती है।[२] वर्षा जनजीवन का रक्षक तत्व है। अतः वृष्टि की प्रार्थना इन्द्र से की गयी है।[३] सिंचाई का दूसरा स्त्रोत एकत्रित जल से सिंचाई करना। वर्षा के अतिरिक्त सिंचाई पर भी अपने कृषि कार्य के लिए निर्भर रहते थे। सिंचाई का काम कुओं व नहरों के द्वारा किया जाता था। ऋ. में ऐसा उल्लेख है कि किसान अपने खेतों की सिंचाई करते थे। उस युग में वापी कूप तड़ाग आदि की स्थापना की जाती थी इससे ज्ञात होता है कि आर्य एकत्रित जल से खेती की सिंचाई की जाती थी। ऐसा मात्र अनुमान से कहा जा सकता है क्योंकि इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं प्राप्त होता है।

अन्न :

"अन्नं बहु कुर्वीति" यह आर्यों के आर्थिक जीवन का सूत्रवाक्य था।[४] अन्न का महत्व बताते हुए कहा गया है कि क्षुधा निवृत्ति का साधन है और पौष्टिक तत्व है। यह रोगों का नाशक अन्न से मनुष्य जीवित रहते हैं। अन्न जीवन निर्वाह के लिए है अतः उसमें ही बुद्धि लगावे। जो कृषि की सफलता प्राप्त करता है उसका ही लोग आश्रय

---

१. वर्षस्य सर्गा मध्यन्तु भूमि प्रथम जयन्ताम ओषधयों विश्वरूपाः अथर्व ४.१५.२

२. यजु. २२.२६

३. एवेदिन्द्र वृषणं बज्रबाहुं वसिष्ठासो अभ्यचर्यन्त्यैः। स नः स्तुतो वीरवदधातु गोमधूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः। पा.गृ.सू. १/१६

४. पा.गृ.सू. परिशिष्टानि

लेते हैं। मनुष्य विराट् ब्रह्म को अन्न (इरावती) नाम से पुकारते हैं।[१] मनुष्यों का काम अन्न से चलता है उनके लिए अन्न ब्रह्म है। अन्न प्रकाश का साधन है यह जीवन ज्योति देता है।

अन्न को गृह्यसूत्रों में ओदन बताया गया है। इसका ओदन का सिर वृहस्पति है।[२] ब्रह्म इसका मुख है। द्युलोक और पृथिवी इसके कान हैं। सूर्य और चन्द्रमा इसके नेत्र हैं।[३] अन्न में देव, पितर और मनुष्य इन तीनों का हिस्सा है अतएव यज्ञ द्वारा देवों को पितृयज्ञ द्वारा माता-पिता को और अतिथि यज्ञ के द्वारा मनुष्यों को तृप्त किया जाता था। धान्य की समृद्धि के लिए संस्राव्य हवि, हवि के लिए सामूहिक परिश्रम को आवश्यक बताया गया है।[४]

अन्न मुख्यतः दो प्रकार का प्राप्त होता है। कृष्ट पच्य अर्थात् जो कृषि से उत्पन्न होता है। जैसे गेहूँ, धान इत्यादि (२) अकृष्टपच्य जो बिना कृषि के उत्पन्न होता है जैसे जंगली धान्य आदि।[५] अन्न के दो भेद और हैं वर्षा से जन्य और अन्य प्रकार से जन्य वर्षा से उत्पन्न अन्नों को वर्ष्य कहते हैं।[६] और जो अन्न कुएं, नहर आदि की सिंचाई से होते हैं उन्हें अवर्ष्य कहते हैं। गृह्यसूत्रों में मुख्यतः वर्ष्य और कृष्टपच्यं अन्न ही प्राप्त होता था।

सस्य या फसलें :

गृह्यसूत्रों में अन्नों के कटने की भिन्न-भिन्न ऋतुओं का वर्णन प्राप्त होता है। तदनुसार इनके बोने का समय जाना जा सकता है। जो ग्रीष्म में कटता था वह शरद में बोया जाता होगा। धान शरद् में कटता था वह वर्षा में बोया जाता होगा।[७] उड़द (माष) और तिलहन

---

१. वैदिक वाङ्मय का बृहद इति. प्रथम खण्ड वेद– पृ. ५९१

२. अथर्व. ८.१०.२४

३. तस्यादनत्य बृहस्पतिः शिरः अ. ६.७१.१

४. सं धान्यस्य या स्फातिः सस्राव्येण हविषा जुहोमि – अ. २.२६.३

५. कृष्टपच्याश्च मेऽकृष्टपश्चाश्च यजु. १८.१४ वै.स. ४.७.५

६. वष्यामि चावर्ष्यामि च यजु १६.३८

७. यस्मिन् व्रीहिकाले यवकाले वा यजेत। पा.गृ.सू. २/१७/२ हरिहरभाष्य पृ. १७०

(तिल) हेमन्त और शिशिर में कटते थे। ये वर्षा में बोये जाते थे। वर्षा में कटने वाले कुछ (ओषधियों) का भी उल्लेख है।

अन्नों का नाम :

गृह्यसूत्रों में कतिपय अन्नों के नाम प्राप्त होते हैं। ये हैं ब्रीहि (धान), यव (जौ), माष (उड़द), तिल (मुदंग), खल्व (चना), प्रियगु (कांगुनी), अणु (चावल का एक प्रकार), श्यामक (सांवा), गोधूम (गेहूँ) अधिकतर व्रीहि यव इत्यादि का उल्लेख मिलता है।[१]

कृष्ण व्रीहि :

काला धान यह सम्भवतः फरारी धान है। इसका छिलका काला होता है। परन्तु यह चावल लाल होता है। अग्निदेव से व्रीहि धान्य प्रदान करने की प्रार्थना करने की गयी है। यव व धान्य गृह्यसूत्र युग की प्रमुख फसलें ज्ञात होती हैं। यव का उल्लेख अनेक स्थलों पर आता है। यव की खेती नियमपूर्वक होती थी। वर्षा होने पर जब भूमि आर्द हो जाती है तब यव की फसल बहुत अच्छी होती है।[२] धान्य का अर्थ चावल होता है। धान्य (चावल) की उपज के लिए ही नियमित रूप से वर्षा की आवश्यकता होती थी नियमित वर्षा के लिए इन्द्र की स्तुति की जाती थी।[३] इन्द्र की इस कार्य में सहायता पहुँचाने के लिए यज्ञ किये जाते थे।[४] व्रीहि का प्रकार आशु व्रीहि है जो जल्दी पकने वाला है।

गवीधुक :

इसको शतपथ ब्राह्मण में गवेधुक कहा गया है। गृह्यसूत्रों में यह उल्लेख नहीं मिलता है कि गेहूँ जंगली उगाया जाता था या कृषि से

---

१. पा.गृ.सू. ३/१ टिप्पणी पृ. ३७७

२. वैदिक वाङ्मय का वृहद इति. प्रथम खण्ड – डॉ. ओमप्रकाश पाण्डे पृ. ५४०

३. एवेदिन्द्रं वृषणं बज्रेबाहुं वसिष्ठासों अभ्यर्चन्त्यकैः। स नः स्तुतो वीरवद धातु मोमधूयं पातं स्वस्तिभिः सदां नः। पा.गृ.सू. २/१६/१४ पृ. २७५

४. पा.गृ.सू. २/१५ पृ. १६४

उगाया जाता था। इन्द्रयज्ञ[१] के एक मन्त्र में खीर पुए पकाकर अग्नि और सोम की आहुतियाँ अर्पित करने का उल्लेख है। इससे स्पष्ट है कि उस समय गेहूँ और व्रीहि (चावल, प्रचुर मात्रा में उगाया जाता था। जौ के साथ चावल का भी प्रमुख खाद्यों में उल्लेख है। चावल और जौ दिव्य औषधि और ईश्वरीय देन कहा गया है। इनको ज्वर और क्षयनाशक तथा पुष्टिकर माना है। श्रवणाकर्म[२] के अन्तर जौ को एक कपाल में पकाने तथा पुरोडाश के प्रचुर जौ की ढेर के साथ पीसने के प्रसंग के साथ ज्ञात होता है कि उस समय जौ की खेती की जाती थी।

खाद्य पदार्थों में अन्न अत्यन्त प्रमुख अंग था तथा भोजन के अर्थ में प्रयुक्त होता है। श्रेष्ठ भोज्यान्नों में यव का ही सर्वाधिक उल्लेख हुआ है। जिससे ज्ञात होता है कि जौ की उपज कृषि में प्रधान होती थी। यव (जौ) की उपज से भूख मिटाने तथा मुक्त वर्णन प्राप्त होता है।[३]

धाना :

पके अथवा भुने हुए भूसी रहित यव के दाने को धाना कहा गया जिसे चबाकर खाया जाता था जिसे सामान्यतः भड़ भूजे 'यव' आदि धान्य को भूना करते थे।[४]

करम्भ :

भूने हुए यव को पीसकर सक्तु के रूप में खाद्य को करम्भ कहा गया है। करम्भ के अतिरिक्त इसका सक्तु के रूप में उल्लेख

---

१. अपणैः प्रतिदिशमग्नि स्तीर्त्वा परिस्तीर्य आज्यभागौ हुत्वा इत्यायेत्यादिभिः स्वाहान्तैः। पा.गृ.सू. २/१५/२ हरिहर भाष्य पृ. १६४

२. स्थालीपाक श्रपयित्वाडक्षत धानाश्चैकपालं पुरोडाश धानानां भूयसीः पा.गृ.सू. २/१४/२ पृ. १५७

३. शतपथ ब्राह्मण एक सांस्कृतिक अध्ययन – पृ. १२१

४. ऋ. २/११२/१ धान्यानि अजलिना – पा.गृ.सू. १/६/१, पृ. ३९ धानावन्तमिति धानानाम्। वही २/१४/७ पृ. १५७

हुआ है जिसे सूप अथवा चलनी (तितऊ) से परिमार्जित कर प्रयोग किया जाता था।[१]

अयूप :

कच्चे यव अथवा गोधूम को पीसकर एक प्रकार की पुआ जैसी घृतयुक्त मोटी-रोटी को अयूप की संज्ञा प्रदान की गयी है जो आधुनिक मालपुआ की तरह स्वादिष्ट होती होगी किन्तु सामान्यतया मिट्टी के तवे कण्डे अग्नि पर पकाई जाती प्रतीत होती है।[२] अयूप के अतिरिक्त सामान्य रोटी बनाने में यव का प्रयोग होता था।[२]

यवासिर :

सोम रस दुग्ध अथवा दधि मिश्रित यव पेय रूप में यह यव को सोम रस के अतिरिक्त दूध मधु अथवा दही के साथ मिलाकर पेयरूप में प्रयुक्त किया जाता था। यव जौ मिले सोमरस को यवासिर कहा गया है, इन विविध रूपों में यव (जौ) के उपयोग की दृष्टि में रखते हुए इसे प्रमुख खाद्यान्न कहा जा सकता है क्योंकि इस क्षेत्र में कृषि के अन्तर्गत जौ की खेती की ही प्रधानता थी।[३]

यव :

भोज्य वस्तुओं में यव का मुख्य रूप से उल्लेख है। इससे अनेक प्रकार के व्यञ्जन बनाने का वर्णन है। जौ से सत्तु का निर्माण होता है।[४]

श्यामाँक :

श्यामाक को सांवा या तिन्नी चावल कहते हैं इसको उच्च भोजन नहीं माना गया है। इनक साथ पीलू का वर्णन है।[५]

---

१. सक्तुन्सर्पेभ्यो जुहोति। पा.गृ.सू. २/१४/८

२. अपूवांश्च – २/१५/२ पृ. १६४

३. पा.गृ.सू. २/१५

४. वही – २/१४/८

५. तै.स. १८.१.२., २.३, २.६, ४.७, ४.२; मै.स. २.११.४, वासं १८, १२ का.स. १०.२, श.वा. १०.६.३; १२.६.१.९, कौ ब्रा. ४.१२

तु. लौमस्य एवास्य चित्तमस्त्रवत् ते श्यामाका अभवन् शा.ब्रा. १२.६.१.९, वैदिक कोश पृ. २२६

पशुपालन

कृषि के साथ-साथ आर्यों की आजीविका का दूसरा प्रमुख साधन पशु धन था। कृषि प्रधान समाज में पशु का महत्त्व बढ़ जाता है। क्योंकि अभाव में कृषि कर्म नहीं हो सकता है। यह उनकी जीविका का आधार था।[१] पशु का सामान्यतया (जानवर) अर्थ है जिसके अन्तर्गत मनुष्य भी आ जाते हैं। पाँच यज्ञीय अश्व, गाय, भेड़, बकरा तथा मनुष्य का अक्सर ही उल्लेख मिलता है। सामान्य रूप से उक्त पाँच पशुओं के अतिरिक्त गधे और ऊँट को भी सम्मिलित कर लिया गया है। कतिपय पशु हाथ से पकड़ने वाले जैसे पुरुष हस्तिन और मर्कट तथा कुछ मुख से पकड़ने वाले (मुखदानाः) होते हैं। मनुष्य एक द्विपाद पशु है वह पशुओं में प्रथम है, पशुओं में अकेले वही सौ वर्ष तक जीवित रहता है।[२] तीन प्रकार के पशुओं का उल्लेख प्राप्त होता वायव्य, अरण्य और ग्राम्य। **वायव्य**– आकाशीय या नभचर पक्षी कहलाते हैं। **अरण्य**– वन्य या जंगल में रहने वाले पशु अरण्य कहलाते हैं। **ग्राम्य**– गाँव में रहने वाले पशु ग्राम्य कहलाते थे।[३]

अथर्ववेद में पशु शब्द को व्यापक रूप दिया गया है। पश्यति इति पशुः जो देख सकते है या जिन्हें दार्शनिक शक्ति प्राप्त है। इस प्रकार मानव को भी एक पशु माना गया है। इस दृष्टि से पशु पाँच प्रकार के हैं। अश्वे, गाय, पुरुष, अज, अवि (भेड़)।[४] इसके अतिरिक्त पशुओं की दो श्रेणियों का उल्लेख है उभयदन्त तथा अभयदन्त।[५] यजुर्वेद और तैत्तिरीय संहिता में एक अन्य प्रकार से पशुओं के तीन

---

१. अथर्ववेद का सांस्कृतिक अध्ययन-कपिल द्विवेदी।

२. वैदिक इण्डेक्स, रामकुमार भाग २ पृ. ५८०

३. गाभ्याः पशवः आरण्यै ऋ. ३.३.१.३ तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः सम्भृतं प्रष्दाज्यम् पशुन्ताश्चक्रे वायध्यानारण्यान्ग्राम्याश्च ये। ऋ. १०.९०.८

४. यजु. १३.४७.५१, तै.स. ४.२.१०. १-४ का.सं. १६-१७ मैत्रायणी सं २-७.१७ श.ब्रा. ६.२.१.२

५. तस्मादश्चा अजायनत ये के चोभयादतः गावो ह जाज्ञिरे तस्मातस्माज्जाता अजावयः ऋ. १०.९०.१०

भेद किये गये हैं। (१) एकशफ एक खुर वाले इसमें अश्व और गंदर्भ हैं। क्षुद्र भेड़, बकरी आदि।

गृह्यसूत्रों में पशुधन का अत्यधिक बल दिया गया है। प्रत्येक घर में पशुओं का वास हो सभी ओर से पशु समृद्धि हो। अन्न आदि के साथ पशु धन भी हो।[1]

गाय :

आर्थिक तथा धार्मिक दोनों दृष्टियों से आर्यों का महत्वपूर्ण और उपयोगी पशु गाय थी। अन्न को छोड़कर भोजन के लिए दूध, दही, घृत आदि सब गाय से ही प्राप्त होता था। गाय से ही नवनीत वाजिन अमिक्षा[2] भी प्राप्त होता था।[3] अग्निहोत्र के लिए दूध, घृत आदि गाय से प्राप्त होता था इसीलिए गाय का एक नाम अग्निहोत्री था। दक्षिण में गायें दी जाती थी।[4] इसीलिए दक्षिण शब्द गाय का वाचक बन गया है। गाय बहुमूल्य मानी जाती थी। गाय का महत्व केवल धार्मिक ही नहीं बल्कि व्यवहारिक भी था। गायें दुबलों को सबल बनाती है शोभा रहित व्यक्ति को सुशोभित बनाती है।[5] घर पर सुन्दर आवाज कर शोभा वृद्धि करती है। गायों को तीन बार दुहा जाता था। प्रातःकाल दोपहर से पूर्व तथा सायंकाल। गायों के संध्याकाल में गोष्ठ[6] में रहने तथा : संगवकाल में संगविनी में रहने का उल्लेख है। सायण कहते हैं कि दूध देने वाली गाये संध्या के समय घरों (शाला) में ही रहती

---

१. वास्तोष्पते प्रतिजानीह्यस्मान्स्वावेशो अनमीवो भवानः।
यत्त्वेमहे प्रतिन्नों जुपस्व शन्नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे स्वादा। पा.गृ.सू. ३/४/१ पृ. २९९

२. अमिक्षा – जमी हुयी दही के आगार का द्योतक है। वैदिक इण्डेक्स भाग-१ ८ पृ. ६७

३. गौवें प्रति धुक तस्मै सरः तस्यै मस्तु तस्या आतञ्चन तस्यै नवनीत तस्ये घृतं तस्या अमिक्षा तस्यै वाजिनम्। २१० ब्रा. ३.३.३२

४. आचार्य गां ददाति – पा.गृ.सू. २/१/पृ. ९५ हरिहर भाष्य

५. पा.गृ.सू. – ३/१४

६. गोष्ठं गोवाहं कार्यवशात्प्राप्य – पा.गृ.सू. ३/१५/१४ पृ. ४५९

थी। संगव तथा सांयकाल बछड़े अपनी माँ के साथ रहते थे। सांयकाल में दूध देने वाली गाये सभी संगविनी में रहती थी।

चरागाहों में गाये 'गोवा' या गोपाल[१] के संरक्षण में रहती थी। गोपालक के हाथ में अष्ट्रा[२] तथा पवीर[३] होता था[४] जिससे वह गायों को हाँकता था। गृह्यकाल में सिक्कों का प्रचलन था या नहीं इसका कोई स्पष्ट उल्लेख प्राप्त नहीं होता अगर होता होगा भी तो बहुत कम अतः लेन-देन व्यवहार बँटा क्रय-विक्रय के कार्य के लिए विनियम का माध्यम गाय ही थी। गाय के बदले में वस्तुएँ खरीदी जाती थीं। इस प्रकार खेती, भोजन तथा द्रव्य विनियम[५] का मुख्य साधन होने के कारण गाय आर्यों के लिए नितान्त उपादेय तथा आवश्यक पशु थी। गाय के गौरव का रहस्य इसी सत्ता में अन्तर्निहित है आर्यगण गाय को अघन्या[६] (न मरने योग्य) के नाम से पुकारते थे। उसे एक समधिक श्रद्धा एवं आदर की दृष्टि से देखते थे। गृह्यसूत्रों में गाय को एक देवता के रूप में अंकित किया है।

गाय वसुओं की पुत्री आदित्य की भगिनी मानी गयी है। गाय की नाभि में अमृत विद्यमान है और क्षीर विद्यमान है। गाय को धनवती बताया गया है। समाज में गाय का इतना अधिक महत्व था तथा उससे लोग अपने को इतना सुखी मानते थे कि जब स्वर्ग के देवताओं के निवास स्थान की कल्पना की जाती थी। गायों के रक्षक के रूप में पूषन देवता की उपासना आर्य करते थे।[७]

---

१. पा. गृ. सू.

२. वा.स. ३.११ सातवलेकर

३. ऋ. ६.५३.६

४. ऋ. १०.६०.३

५. गोपुंगवः दक्षिणा परिक्रयद्रव्यं पा.गृ.सू. ३/८/१७ – हरिहर भाष्य पृ. ४१४

६. दुहिता वसूना स्वसाइदिव्यानाममृतस्य नाभिः। पा.गृ.सू. १३/२७ पृ. ६२

७. पूषा गा अन्देतु नः पूषा रक्षत्वर्ततः। पूषां ठवाजं सनोतु नः।
३/१० पृ. २८८ पा.गृ.सू.।

ऋषभ (बैल) :

बैल को देवी का अंश बताया गया है। सभी देवों के अंश से बैल का निर्माण हुआ है।[१] बैल का दान करने वाले यजमान का हित होता है।[२] बैल के लिए वृषभ, उक्षन्, ऋषभ् गौ, वाह अनडुह आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है। हल जोतने खलिहान में अनाज की मड़ाई सामान ढोने तथा अनस् एव शकट में अनाज ढोने के काम में बैलों का उपयोग था। अनस (गाड़ी) से खींचने के कारण ही उसे अनडुह कहा जाता था। बैल के लिए अघन्या विशेषण का प्रयोग मिलता है।[३] सभी कृषक बैल रखते थे।[४] हल में जोते जाने वाले, गाड़ी खींचने वाले वधिय (वधि) होते थे।

अश्व :

आर्यों के युद्ध का प्रमुख पशु अश्व था। इसके ऊपर सवारी की जाती थी। इनको विशेष अवसरों पर हीरे-मोतियों तथा स्वर्णाभूषणों से सजाया जाता था।[५] अध्युर्व के लिए अश्व, अर्वन, वाजिन सप्ति हय आदि अनेक शब्दों का प्रयोग मिलता है। राजा के यहाँ अश्वसेना होती थी जिसमें अच्छी नस्ल के अश्व रखे जाते थे। अश्वों को अश्वशाला में रखा जाता था। तथा इनको घास तथा दाना-पानी दिया जाता था।[६] अस्तबल में घोड़े को बाँध कर रखा जाता था अश्व के सईस के लिए अश्वपति तथा अश्वप का प्रयोग किया गया है। अश्व के लगाम के लिए 'रश्मि' अथवा 'प्रग्रह' वार्दन में बाँधने वाली रस्सी के लिए

---

१. अथर्व. – ४५.१५

२. धुर्यावनऽहोवाहौ दक्षिणा भवतीति शेषः। पा.गृ.सू. १/१०/३ गदाधर नाष्य पृ. १४०

३. उद् वे उर्भिः शक्यां हन्त्वापो योकत्राणि मुञ्चत मादुष्कृतों व्येन साऽघन्यो सूनमारमाताम्।

४. ऋ. ३१३.१३ (६) अ.वे. ६.११.१, ८.९.१६, तै.सं. १.८, ७.१.५.२.५.२ मे.स

५. २.६.२ का.सं. १५.२; २०.३; श.ब्रा. ६.२.२६, १३.८.२६ ऋ. १०.१७८.११

६. यवसोदके घासपानीये हे दापयेत् पाययतेनं सुहितं कुरूतेति। पा.गृ.सू. ३/१४.१५ हरिहर भाष्य पृ. ४५६

'अश्वाभिधानी' तथा कोड़े के लिए अश्वाजनि तथा शब्दों का प्रयोग मिलता है।

अवि (भेड़)[१]

गृह्यसूत्रकाल में भेड़ का उल्लेख मात्र एक स्थान पर प्राप्त होता है। भेड़ों के गल्लाव होते थे, जिन्हें मल्हा कहा गया है। भेड़ों के लिए मेष तथा मेषी शब्दों का प्रयोग मिलता है। सोम रस छानने के लिए भेड़ की उनकी छलनी बनायी जाती थी तथा इनकी ऊनी वस्त्र निर्माण के काम में आती थी। भेड़ घर में पाल कर गड़रियों द्वारा पाली जाती थी।

रासभः[२]

भारवाही पशु में रासभ आता है। इसे खर रासभ गंदर्भ द्विरेतस तथा भार भारितम् आदि अनेक नामों से पुकारा जाता था। गर्दभीं को अश्व से गर्भधारण कराये जाने के कारण इन्हें द्विरेतस कहा जाता था। राख के ढेर पर लोट लगाने की प्रवृत्ति गधे की आदिम प्रवृत्ति ज्ञात होती है।[३] राख के ढेर से गधा उत्पन्न हुआ अतः जहाँ कहाँ राख का ढेर होता है वह गदर्भ स्थान है। गधा वस्तुतः घोड़े से हीन पशु था इसीलिए गधा शूद्र का प्रतीक[४] है। अश्व से हीन बताने पर भी इसे उत्तम भारवाहक पशु स्वीकार किया जाता है।

उष्ट्र : बोझा ढोने वाले पशुओं में ऊँट का उल्लेख आता है।[५]

कुत्ता : पालतू पशुओं में कुत्ता महत्वपूर्ण पशु दिखाई देता है। कुत्ते को चोरों को देखकर भौंकना सिखाया जाता था।[६] कुत्ते के लिए

---

१. आविकं मेषरोमनिर्मितम – पा.गृ.सू. २/५/१६ गदाधर भाष्य पृ. २६२

२. पु.रासते शब्दायते इति। सत्वं रासभमुक्तेन स्यन्दनेनाशुगानिना बारणावतद्यैव यथा मासि तथा कुरू इति महाभारते १/१४५/७, गदर्भ, रासभमारो ३/१५/६ पृ. ४५८

३. शु.ब्रा. ४,४,७,९

४. शुप्रेऽसि शुऽजन्माग्येयों वेद्विरेता स्वस्ति मा सवारय–पा.गृ.सू. पृ. २६१

५. त्वाष्ट्रो ३/१५/५

६. श.ब्रा. ५,२,४,२०

श्वापद संज्ञा का प्रयोग हुआ है उसी को स्त्रीलिंग शब्द शुनी है। अस्वच्छ माने जाने के कारण इसे बलि के अयोग्य कहा गया है।[१] कुत्ते को चार चक्षुण कहा गया है। जहाँ उसका चौकन्ना होना अभिप्रेत है।

अज : ग्राम्य पशुओं में अज का महत्व भी विशेष रूप से दर्शाया गया है अज प्रजापति था।[२] अज तथा अजा का बहुसृजकत्व उसे प्रजापति के समकक्ष बना देता है क्योंकि ये वर्ष में तीन बार एक साथ दो या तीन बच्चे उत्पन्न करते हैं। तूपर (विषाणहीन) बकरे यश के योग्य माने जाते थे। अज को छाग[३] भी कहा गया है। बकरी का दूध उत्तम माना जाता था। सोम की पत्तियाँ चरने का सौभाग्य मिलता रहा है। अज की इन महिमाओं के कारण उसे महाज की उपाधि दी गयी है।[४]

हाथी[५] : हाथी के लिए वारण शब्द प्रयुक्त हुआ है। हाथी तेजस्विता के लिए प्रसिद्ध है। अतः स्तिवर्चस हाथी सा तेज कहा जाता है।

सर्प आदि जीव :

गृह्यसूत्रकाल में विभिन्न सरीसृप रहे होंगे परन्तु आर्य धार्मिक प्रवृत्ति से ओत-प्रोत थे। इसलिए उन्होंने सर्प को एक पृथक देवता मानकर उसकी महत्ता को प्रतिपादित किया है। इन्होंने श्रावण नामक एक यज्ञानुष्ठान करने लगे थे जिसमें वे अपने बन्धु, बान्धवों, पुत्र, पौत्रों इत्यादि सात पीढ़ियों के अपने भय से मुक्त करने की प्रार्थना

---

१. श.ब्रा.

२. श.ब्रा. ५.२, १.२४

३. छागम आलभते सज्जपयति पा.गृ.सू. ३/८/४ हरिहर भाष्य पृ. ४११

४. पा.गृ.सू. ३/८/४

५. हस्त्या पा.गृ.सू. ३/१४ पृ. ४५५

करते थे।[१] पानी में तैरने वाले जीव केकड़ा, मछली आदि जन्तु भी पाये जाते थे।[२]

औषधियाँ[३] और वनस्पतियाँ[४]

द्युलोक को औषधियों का पिता पृथिवी को माता और समुद्र को मूल कहा गया है।[५] अग्निदेव की स्तुति करते हुए कहा है कि सर्वधान्याधिप अग्निदेव इस हविष्य से सुपरिचित हैं। इसका भक्षण कर औषधियाँ और वनस्पतियों को हमारे लिए सुखद बनायें। औषधियाँ कल्याण युक्त श्रेय का भाजन है। अरोग्य प्रदान करती हैं[६] वर्षा से औषधियाँ होती हैं। अतः द्युलोक वृष्टि के द्वारा रसदान देने से पृथिवी पर औषधियाँ होती हैं। अतः पृथ्वी माता के तुल्य इनकी पालक है। समुद्र वर्षा का कारण है इसलिए वह औषधियों का मूल है। समुद्र से स्वयं भी औषधियाँ निकलती हैं। औषधि दग्ध गुणों का आधान करने वाली सरस्वती सेवन करने वाले की रक्षा करती है। कष्ट सहकर भी दोष को नष्ट कर देती है। बहुविध फल देने वाली इस वनस्पति की

---

१. राजबान्धवैनगिः राजा तक्षको वासुकिः शेषो वा तस्य ये बान्धवास्तै सह व्यज। पा.गृ.सू. २/१४/४ गदाधर भाष्य पृ. ३४४

२. पा.गृ.सू. १/१० पृ. ८९

३. ओषो दाहो दीप्रिर्वा धीयेऽत्र धीयतेऽत्र ओष+धा+षि उद्भिज्जाः श्रेयां बीज काण्डा प्रोहिणः ओष्ध्यः जलपाकानत बहुपुष्य फलोपगा इति मनु १/४६ भवन्ति यत्रोषधयो राजन्यम्-कुमार सम्भवम् १-१० –अथौषधीनामधिपस्य वृद्धां ओषधयः प्रशुष्यन्ति गवादीनां पयांसि च इति इति–हारीते पृ. १८०

४. वनस्य पतिः पारस्करादित्वात् वृक्षमाणम् कथं नु शाखस्त्रिष्ठेररिछ न्नमूले वनस्पति इति महाभाखे १/१४१/१६ अपुष्पाः फलवन्तो ये तेवनस्पतयः स्मृताः इति मनु. १/४७ पृ. ५८७

५. पा.गृ.सू. ३/२/४५ पृ. १८०

६. यासां द्यौः पिता पृथिवी माता समुद्रो मूलपीरूधावभूव अ. ३/१३.६

कृपा से जैसे मैं अपने पिता का नाम लेता हूँ वैसी ही मेरी सन्तान भी मेरा नाम उज्जवल करे।[१]

औषधियाँ आयुष्मती है। औषधि की सोमवती राज्ञी के नाम से पुकारा जाता है औषधि नाम भौतिक बाग ब्राह्मणी है। औषधियाँ दो प्रकार की होती हैं। (१) पूर्वादीय (२) अध्यात्मिक। औषधियाँ हमें स्वस्थ रखती हैं। औषधियों के उग जाने पर श्रवण नक्षत्र युक्त श्रावण महीने की पूर्णिमा के दिन अथवा श्रावण महीने की पञ्चमी के दिन उपाकर्म अर्थात वेदपाठ प्रारम्भ करने से पूर्व किया जाने वाला संस्कार किया जाना चाहिए।[२]

सोमलता :

सोमलता मूजवत् पर्वत पर होती है। इसलिए इसे मौञ्जवत भी कहते हैं। कुष्ठ औषधि को सोमलता का मित्र कहा गया है क्योंकि सोमलता हिमालय पर्वत पर कुष्ठ औषधि के पास ही होती है। ऋषभ– बलवर्धक और वीर्यवर्धक औषधियों को ऋषभ औषधि कहा गया है। पुत्रोत्पत्ति के लिए भी इसका प्रयोग किया जाता है। मुज्ज[३] यह रक्तस्राव को बन्द करने वाली औषधि है।

कण्ट कारिका (बृहती) : यह श्वेत पुष्पों वाली होती है। ये औषधि गर्भधाारण में लाभ पहुँचाती है।[४]

वृक्ष ओर लता :

गृह्यसूत्रकाल में वृक्षों में धार्मिक भावना व्यक्त की जाती थी। इसलिए आर्यों ने वृक्षों की भी पूजा की। अनेक वृक्षों के नाम प्राप्त होते हैं।

---

१. इयमोषधी त्रायमाणा सहमाना सरस्वती
असया अहं वृहत्याः पुत्रः पितुरिव नाम जग्रभमिति। पा.गृ.सू. १/१३/१ पृ. १६४

२. पा.गृ.सू. १/१०२ पृ. ३२३

३. मौञ्ज गुञ्जं तृणविशेतन्मयी – पा.गृ.सूत्र. २,५,२१, पृ. २६३

४. श्वेतपुष्प्याः सिंहीत रिगंणी कष्टकारिका। १/१३/१ हरिहर भाष्य

(१) अश्वत्थ[१] :

यह पीपल का वृक्ष है इसका बहुत महत्व है इसकों देवसदन अर्थात् देवों का निवास कहा गया है। इस वृक्ष की लकड़ी से सोमपात्र निर्मित किये जाते थे। तथा इसके मीठे फल (पिप्पल) खाये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है। सोमपात्र इससे बनने के कारण सोम से घनिष्ठ सम्बन्ध है।[२] अग्नि उत्पन्न करने के लिए दो लकड़यों (अरणि) में से ऊपरी अरणि इसी वृक्ष की होती थी। इसके जड़े खादिर तथा अन्य वृक्ष की शाखाओं से लिपट जाती है[३] तथा उन्हें नष्ट कर देती है। वैसे वनस्पति पिप्पल (पीपल) शिखण्डिन नामों के अतिरिक्त विनाशक (पैबाध) भी कहा गया हैं लोकभाषा में पीपल कहा जाता है।[४] इस वृक्ष की विशेषता है कि यह स्वतंत्र रूप से उद्भूत होता है और कभी-कभी अन्य वृक्षों के कोटर में इसका बीज पड़कर यह उत्पन्न होता है और मौलिक वृक्ष को ही नष्ट कर देता है। अन्य वृक्षोरहित पीपल पूजा के लिए अधिक शुभकर माना जाता था दो या अन्य वृक्षों के साथ या तेवर पीपल विभिन्न कृत्यों के लिए अधिक शुभ माना गया है। कुष्ठ रोग के निवारणार्थ भी पीपल वृक्ष उपयोगी है।[५]

शमी :

अग्न्युत्पादक निचली अरणि के रूप में इसकी लकड़ी प्रयुक्त होती थी। लौकिक संस्कृत साहित्य में इसका परम्परागत लता रूप में

---

१. अश्वरूथे तस्थुः स्थितवन्तः पा.गृ.सू. २/१५/१४ गदाधर भाष्य पृ. ३५६

२. ऋग्वेद १/१३/८

३. अश्वत्थोटुम्बरो– पा.गृ.सू. हरिहर भाष्य पृ. २५२

४. Of the flora in ancient sapta sindha the अश्वत्थ was called the वनस्पति on account of its size and faltness - Prof. Macdonall has translated 'Horse Stand' preply suggesting there by that the Uads of the tree was used stabling horses.
डॉ. ए.सी. दास की पो. मेक्डानल के दृष्टिकोण पर टिप्पणी ऋ. इण्डिया वा प्रथम कलकत्ता १९२१ पृ. ८३

५. भारतीय संस्कृति – बुद्ध प्रकाश – पृ. २४७

परवर्ती लता रूप में इसका प्रयोग हुआ है।[१] इसे अग्निगर्भा भी कहा गया है।[२] इसकी लकड़ी कठोर तथा काँटेदार होती है। शमी स्त्री वृक्ष है। उससे प्रार्थना की गयी है कि हे शर्मी तुम विशाल पत्तों वाली हो। वर्षा काल में बढ़ने वाली हो ऋत (सत्य) युक्त हो जिस प्रकार माता पुत्र के लिए उदार होती है उसी प्रकार तुम केशों के लिए उदार बनो।[३] शमी को सौभाग्य प्रदान करने वाली सुभागा कहा गया है। पुसवंन संस्कार में इसका प्रयोग होता था यज्ञ में प्रयुक्त काष्ठ पात्रों में अग्नि उत्पन्न करने वाली अरणि में नीचे का भाग शमी की लकड़ी का होता था।

पर्ण :

यह अश्वत्थ और न्यग्रोध (वट) के साथ प्रयुक्त हुआ है। इसकी लकड़ी से कवचों एवं यज्ञ की तश्तरियों के दक्कनों के निर्मित होने का उल्लेख हुआ है। अन्य यज्ञीय उपकरण चमस यज्ञस्तम्भ अथवा सूत्र आदि इसी की लकड़ी से बनाये जाते थे। इसकी छाल (पर्ण बल्क) को उल्टे प्राप्त होता है।[४] मेक्डानल तथा कीथ ने इसे पलाश का द्योतक माना है। समिधाए पलाश की होनी चाहिए।[५] क्योंकि पलाश ब्रह्म है तथा अग्नि भी ब्रह्म है। इसकी शषता में गार्हपत्य का स्थान किया जाता था। पलाश के नीचे देव तथा पितर निवास करते हैं। ब्राह्मण ब्रह्मचारी का दण्ड पलाश का होता था।[६]

---

१. शमीलतां छेन्तुमृषिर्ण्यवस्थति अभि. शाकु. १/१८

२. अवेहि तनयां ब्रह्मनग्निगभी शमीमिव अभि. शाकु. ४/६ ।

३. बृहलाशे सुभगे वर्ववृहद ऋतावरि
मातेव पुत्रेभ्यों मृद केशेभ्य शमि। भारतीय संस्कृति बुद्धप्रकाश शर्मा गर्भः- पा.गृ.सू. १/२/५-१-गदाधर भाष्य पृ. १६

४. वैदिक इण्डेक्स भाग १ पृ. ५७०

५. ऋग्वैदिक भूगोल कैलाशनाथ द्विवेदी

६. पा.गृ.सू. २/५/४४ गदाधर भाष्य

उदुम्बर :

इसे जीवन तत्व भी कहा जाता है यह सभी वनस्पतियों का प्रतीक है।[१] सांसारिक कृत्यों के लिए प्रायः इसी लकड़ी का व्यवहार होता था इसलिए इसे अन्न एवं ऊर्जा भी कहा गया है। उदुम्बर ही प्रजापति का अपना वृक्ष है। इस लकड़ी द्वारा यज्ञ पात्रों के बनने का भी उल्लेख प्राप्त होता है। शा.ब्रा.[२] में उदुम्बर की उत्पत्ति की ओर संकेत किया गया है जब सभी वृक्षों ने असुरों का पक्ष लिया तब उदुम्बर मात्र देवों का पक्षधारी वृक्ष था। उसे महान और भद्रवृक्ष कहा गया है।[३]

खादिर :

इसकी लकड़ी कड़ी होने के कारण यज्ञ में प्रयुक्त स्त्रुवा बनाने के काम में भी आती थी।[४] अत्यधिक कठोर होने के कारण इसकी उत्पत्ति प्रजापति की अस्थियों से बताई गयी है। सुपर्णी में खादिर की लकड़ी के द्वारा सोम पर स्वत्व स्थापित कर लिया चूँकि उस लकड़ी से खदेड़ा गया इसलिए खादिर कहलाया।[५] इसे लोकभाषा में[६] खेरे कहा जाता है। रेसू ने भी इसे खैर ही अभिहित किया है।[७] अथर्व. में अश्वत्थ को इस पर हस्तान्तिरित होकर उगने का तथा अरून्धती नामक लता के अविभूति होने का उल्लेख है।

विल्व :

बेल का वृक्ष जिसका लेटिन नाम ऐग्लेमार्मेलास है। पा.गृ.सू. में विल्व के नाम से कहा गया है। सम्भवतः यहाँ इसका अर्थ बेल के

---

१. ब्राह्मण ब्रह्मचारिणः पलाशों दण्डो भवति १२/५/२५ गदाधर भाष्य पृ. २६४
२. श.ब्रा. ६.६.३, २
३. औदुम्बरः उदुम्बर वृक्षोदभवों पा.गृ.सू. २/५/२७
४. श.ब्रा. १.३.३.२०
५. तस्मात् खादिरो येदेनारिव दत्तस्मात् खादिरो यूपो भवति। पृ. २४३
६. ऋ. वे पर ऐतिहासिक दृष्टि, १९६७ दिल्ली पृ. ९९
७. अथर्व. ३/३/१

फल से है। तै.स.[१] के अनुसार यज्ञस्तम्भ विल्व की लकड़ी का बना होता था। इस वृक्ष के बने कवच की प्रशस्ति भी मिलती है।[२] इसकी उत्पत्ति प्रजापति की मज्जा से प्रतिपादित करता है।[३] बैल की लकड़ी होमाग्नि में डाली जाती थी।

वेणु :

वेणु बांस की ही एक किस्म थी। अभ्रि (कुदाली, वेणु की ही बनानी चाहिए। बांस के सुषिर (पाले) होने के बारे में भी एक आख्यान है कि अग्नि देवों के पास से खिसक गया तथा वेणु में प्रविष्ट हो गया अत: वेणु में पोल है।[४] वेणु की लाठिया बनायी जाती थी।[५] इसके अतिरिक्त चन्दन चीर शाल तथा देवदारू वृक्ष भी पाये जाते थे।

विविध शिल्प

श्रमनिष्ठा के कारण ही शिल्पी अर्थ में प्रयुक्त होने लगा है। कतिपय शिल्पी थे। जैसे रथकार, चर्मकार सुवर्णकार आदि। रथकार का काम आदर का कार्य समझा जाता था उनका प्रशंसनीय माना जाता था। आर्यों को इन धन्धों को करने में पर्याप्त स्वतन्त्रता थी। अपनी स्वाभाविक रुचि तथा प्रवृत्ति के अनुसार ये लोग अपने लिए पेशे चुन लिया करते थे। ऋषि का कथन है कि बढ़ई टूटी हुई वस्तु को चाहता है वैद्य रोगी को, ऋत्विक यज्ञ में यजमान को, कमरि धनाढ्य को मैं स्वयं कारू हूँ मेरे पिता वैद्य है और मेरी माता (मना) जात पोसेन वाली (उपल प्रक्षिणी) है हमारे विचार नाना प्रकार के हैं और अपनी अभीष्ट वस्तु की ओर उसी प्रकार दौड़ रहे हैं जिस प्रकार बछड़े गायों की ओर।

---

१. पा.गृ.सू. २/४/८ टिप्पणी पृ. २५७ वैल्वो राजन्यस्य, वैल्व: विल्ववृक्षोदभव: २/५/२६ पृ. २६४ गदाधर भाष्य।

२. तै.सं. २,१,८,९

३. श.ब्रा. १३,४,४

४. अग्निर्देवेभ्य: उदक्रामत्स वेणु प्रविशत तस्मात स सुपिर: श.ब्रा. ६,३,३१

५. पा.गृ.सू. २/२/२१ टिप्पणी में वेणु का उल्लेख है।

बढ़ई :

गृह्यसूत्रों से पता होता है कि उस समय बढ़ई होते थे। यह लकड़ी से सब प्रकार की चीजें विशेषकर रथ तथा गाड़ी (अनस) बनाने का काम और लकड़ी की चीजों पर नक्काशी का भी काम करता था। विवाह संस्कार में कहा गया है कि वधू को कोई बलवान पुरुष उठाकर पूर्व या उत्तर दिशा में घिरे आगार वाली गाड़ी में बिठा दें।[१] इससे ज्ञात होता है उस समय बढ़ई गाड़ी का निर्माण करते थे।

रथकार[२] :

रथकार का गृह्यसूत्रकालीन समाज में बहुत आदरणीय स्थान था। रथ से राजा युद्ध में लड़ने वाले आर्य शूर वीरों की प्रधान सवारी थी। राजा के रथ की धुरी टूट[३] जाने से ज्ञात होता है कि उस समय राजा रथ से यातायात करते थे। अतः उसे बनाने वाले के प्रति आदर की भावना का होना आवश्यक है। रथ पर सवार होते समय रथ की पूजा की जाती थी जिसे रथारोहण नामक अनुष्ठान की संज्ञा दी गयी है।

लौहार :

लोह धातु से बर्तन बानानालोहार का कार्य था यह नित्य उपयोग के लिए धातु के वर्तनो का निर्माण करना था। गृह्यसूत्रों में मुण्डन संस्कार के वर्णन में जिस उस्तरे (छुरा) का वर्णन मिलता है।[४] वह तांबे का बना होता था जिसे लोहार बनाते थे। सोमरस पीने के लिए प्याले भी पीटकर बनाये जाते थे। इनके अतिरिक्त जैसे धनुष-बाण तलवार, भाला, कुल्हाड़ी[५], कवच आदि का निर्माण करना भी लोहार का कार्य था।

---

१. पा.गृ.सू. १९९/१० पृ. ५३

२. रथकारस्यो – २/२/४३ गदाधर भाष्य पृ. २७५, एवच्च रथकार विषयकम्।

३. रथावयवस्य भेदे भङ्गे नद्धस्य रथस्य विमोहो आकस्मिक बन्धाविच्छेदे। पा.गृ.सू. गदाधर भाष्य पृ. १३८

४. शिवो नाम – पा.गृ.सू. १/२/१२ पृ. ९६

५. पा.गृ.सू. ३/१२/२०

बुनकर :

लोहार की भाँति बुनकर का भी कार्य महत्वपूर्ण था परन्तु गृह्यसूत्रकाल में वस्त्र घर में ही स्त्रियाँ बुनती थी। बाहर से वस्त्र विक्रय करके आते थे या नहीं ऐसा कोई विवरण प्राप्त नहीं होता उस समय कपास की खेती प्रचुर मात्रा में होती होगी। अतः सूत से बने वस्त्र बहुधा प्रचलन में आये। पहले रुई को काटकर सूत तैयार किया जाता था उस समय धोती बुनने वालों तथा अन्य वस्त्रों जैसे चादर दुपट्टा आदि। रात्रि और दिन की दो बहिन कहा गया है जो वर्षरूपी वस्त्र को बुनकर तैयार करती है इनमें रात्रि है ताना तथा दिन है बाना।

सूती धोती (वासस्) रेशमी कपड़े ये ही बुनने की मुख्य वस्तुएँ थीं। ये वस्त्र मनुष्यों को पाप से बचाते थे। पतिव्रात्य के तेज करने वाले थे। वस्त्र सुरक्षा देने के लिए बने। एक मंत्र में कहा गया है कि हे आयुष्मती जिन देवियों ने इस उत्तरीय वस्त्र को काटा है बुना है फैलाया है और जिन देवियों ने करघे पर इसका चतुर्धा विस्तार किया है वे तुम्हें निदृष्ट वृद्धावस्था के लिए इसे पहनने की अनुमति दे रही है, तुम इसे पहन लो।

चर्मकार :

उस समय चर्मकार भी थे। ब्राह्मण छात्र बारहसिंह के चर्म का बना वस्त्र धारण करते थे। क्षत्रिय हिरन के चर्म से बना हुआ वैश्य बकरी अथवा गाय के चर्म से बना वस्त्र धारण करते थे। इन वस्त्रों का निर्माण चर्मकार ही करते थे उनकी बड़ी उपयोगिता थी।[१]

व्यापार एवं वाणिज्य

व्यापार समस्या मानव के लिए ही है अन्य प्राणियों के लिए नहीं। मानव का कर्तृत्व विभिन्न दिशाओं में जाता है। व्यापार इस कर्तृत्व का समाधान करने वाला है। श्रम और व्यापार एक दूसरे के साथी हैं। वस्तुतः मानव का प्रत्येक कार्य श्रम साध्य हैं वर्णों के अनुसार श्रम विभाजन किया जाता था। व्यापार का कार्य है एक वस्तु का एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचाना है। परन्तु पा.गृ.सू. में

---

१. पा.गृ.सू. २/३१

व्यापार का कहीं पर भी कोई उल्लेख प्राप्त नहीं प्राप्त नहीं होता है। परन्तु पात्रों के नाम उपलब्ध होते हैं उससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उस समय उद्योग अवश्यक रहे हो चाहे कम मात्रा में ही हो –

मृत्रपात्र उद्योग :

मृह्यसूत्रकाल में मिट्टी के पात्रों को बनाने का उद्योग समुन्नत दशा में था। मिट्टी के पात्रों का निर्माण करने वाले को कुलाल कहा जाता था। कुलाल कृत शब्द मिट्टी के पात्रों के लिए मिलता है।[१] घर में प्रयुक्त होने वाले पात्रों का तथा घर में प्रयोग होने वाले पात्रों का निर्माण भी वही करता था। कुम्भकार के लिए गृह्य शब्द का भी प्रयोग मिलता है।[२] पा.गृ.सू. में सूत्रपात्र का उल्लेख मिलता है। ऋ. में इन्द्र को एक वृत्त छात्र की तरह शत्रु का नाश करने वाला बताया गया है।[३] इन्द्र द्वारा पार्वती को नए कुम्भ की तरह तोड़ने का उल्लेख है।[४] कुलाल जिस पर रखकर मिट्टी का बर्तन बनाता था उसे कुलाल चक्र कहा जाता था।[५]

चटाई उद्योग :

उस समय चटाई का भी प्रयोग होता था। चटाई के लिए कट शब्द का प्रयोग मिलता है।[६] चटाई के लिए कशिपु शब्द का प्रयोग मिलता है।[७] चटाई तथा टोकरी आदि को बनाने का काम प्रायः स्त्रियाँ

---

१. वा.सं. १६.२६ पृ. २००
ममुस्तक्षभ्यो रथकारेभ्यश्च वो नमो नमः कुलालेभ्यः कर्मारिभ्यश्च वो न मो नमों निषादेभ्यः पुञ्चिष्ठेभ्यश्च वो नमो नमः खनिभ्यों मृगयुभ्यश्च वो नमः।

२. मै.स. १.८.३

३. मै.उप. २.६, ३.३, का.स. २१.२

४. ऋ. वे. १.१०४.२१ जघ्यानं वृत्रं स्वधितिवनैव रूरोज पुरो अदरन्न सिन्धून। बिभेदं गिरिं नवभिन्न कुम्भ मागा इन्दों अकृणुत स्वयुग्भिः।

५. स. १०.८९.६ – पृ. ७०५

६. श.ब्रा. ११.८.१.१

७. तै.सं. ५.३.२३.३, श.ब्रा. १३.२.१.३

करती थीं। यह इस बात से ज्ञात होता है कि 'विदलकारी' शब्द बास की टोकरी बनाने वाली औरत के लिए प्रयुक्त मिलता है।[१] पुरुष भी इस काम को करते थे। इसका प्रमाण बा.स्रं.[२] विदलकार का उल्लेख किया गया है। पा.गृ.सू. में अनेक धातुओं का उल्लेख मिलता है :-

हिरण्य :

सुवर्णा के लिए प्रयुक्त हुआ है। सुवर्णा बहुमूल्य धातु था। सर्वप्रथम मनुष्यों ने इसे सूर्य से पाया।[३] हिरण्य शब्द स्वर्ण और स्वर्णाभूषण दोनों का बोधक है। बहुवचन में हिरण्य शब्द स्वर्णाभूषण का ही बोधक है। हिरण्य[४] सोना, सिन्धु आदि नदियों से प्राप्त होता था अतः सिन्धु को हिरण्यमयी (स्वर्णयुक्त) और सरस्वती को हिरण्यवर्तनि (स्वर्णयुक्त वती वाली) कहा गया है।[५] सोना पृथिवी को खोदकर निकाला जाता था। इसलिए पृथिवी ही हिरण्यवक्षस कहा गया है। सोने को अग्नि से उत्पन्न कहा है।[६] श.ब्रा. में[७] अशुद्ध धातु को गलाकर सोना निकालने का उल्लेख है। सोने को आग्नेय अंश बताया गया है वह जल ने लिप्त और जल से निकाला गया है।[८] कुछ स्थानों पर चन्द्र शब्द भी सोने के अर्थ है सोने के लिए हरित शब्द का प्रयोग हुआ है।[९]

रजत

चाँदी के लिए रजत शब्द का प्रयोग हुआ है। यह सफेदी सोने का वाचक है। चाँदी के बर्तन और आभूषण आदि बनते थे।

---

१. अथर्व १६.१३.८.५ ।। तै.ब्रा. २.८.५१

२. वा.सं. ३०८ विदलकारी यातुनिम्भः कष्टकीकारीम पृ. ८४२

३. यद् हिरण्यं सूर्येण सुवर्ण मानवः पूर्व ईजिरे– अ. १९.२६.२

४. हिरण्ययी ऋ. १.७५.८

५. रिण्यवर्तनिः ऋ. ६.६७.७

६. अग्नेः प्रजातं परियद हिरण्यम् अ. १९.२६.१

७. अयसो हिरण्यमसृजत। श.ब्रा. ६.१.३.५

८. हिरण्यम् अन्नेर्हि रेतः अप्सु विन्दन्ति वही २.१.१७५

९. हरिते वीणि अ. ५.२८.१

अयस्[1]

अयस् शब्द लोहा और ताँबा दोनों के लिए आता है। अयस् के दो भाग हैं एक भाग ताँबे के लिए 'लोहित अयस्' और लोहे के लिए कृष्ण अयस् शब्दों का प्रयोग है।[2] अयस् से बर्तनों का भी निर्माण होता था।[3] अयस् शब्द सामान रूप से ताँबा काँसा और लोहा का वाचक है।

इस प्रकार गृह्यसूत्रकाल में समाज पर्यन्त रूप हो चुका था। उसका आर्थिक जीवन उत्तम प्रकार से व्यवस्थित व सञ्चालित किया गया था।[4] खान पान का सम्बन्ध विशेष रूप से है कृषि कर्म को कृष्टि कहा गया है। कृष्टि का सामान्य अर्थ मनुष्य भी है। परन्तु अपने धात्वर्य में यह कृषि कर्म की ओर संकेत करता है।

यस्मानं ब्रीहियवौ यस्या इमाः पञ्चकृष्टयः
शक्यै पर्जान्य पत्न्यै नमोस्तु वषमेदसो।[5]

भूमि पर्जन्य होती है। पर्जन्य ही उसकी रक्षा करता है और वहीं वर्षा की धाराओं से उसे[6] सींचता है जौ तथा चावल पृथ्वी पर उसी के कारण उत्पन्न होते हैं और पाँच प्रकार के कृषि कर्म करने वाले इसे भूमि पर निवास करते हैं। यह पृथ्वी पंचजनों की माता है।[7] जिस प्रकार से आर्य आज के समय में खेती करते हैं वेसे ही प्राचीनकाल में भी करते थे। कृषि समाज को बलवान बनाता है। यदि कृषि सफल

---

१. श्यानम अयः – लोहितम् अ. ११.३.७

२. अयस्पात्रं पात्रम् अ. ८.१०.४.२

३. लोहक्षुर लोहेन प्रामेण परिष्कृता – पा.गृ.सू.
शिवो नामेतिं लोहक्षुर मादाय निर्क्तयामीति पृवपति २/१/११ पृ. २२२

४. वेदकालीन समाज – डॉ. शिवदत्त ज्ञानी पृ. २१६
अथर्व वेद काण्ड १२ म. ४२

५. माताभूमिः पुत्रों अहं पृथिव्याः पर्जन्यः पिता स ३ नः पिपर्तु। अथर्व.

६. यक्ष्यापुरो देव कृताः क्षेत्र यस्या विकुषते। प्रजापतिः पृथिवी पृथिवी विश्व गभोमशनाशा ख्यानः कृणोतु। अथर्व १२/१/४३

७. यस्याश्चतस्त्रः प्रविशः पृथिव्या यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवु या विभर्ति बहुधावाण देजत्सा नौ भूमिर्गोऽवत्यन्नेधातु। ऋ. १/१०/१

है तो समाज में धन धान्य से सम्पन्न होगा। कृषि के अभाव में समृद्धि समाज से भाग जाती है। वेदों में इसलिए प्रार्थना की गयी है। जिस भूमि पर देव निर्मित नगर है जिसके घरों में पंचजन खेती करते हैं। धन धान्य मणि माणिक्य फल फूल मेना सब जिसके गर्भ में है उस भूमि को प्रजापति हम सबके लिए रमणी बनायें।[१] पृथ्वी के चारों दिशायें उन्मुख हैं जिसमें कृषक अन्न पैदा करते हैं जो गतिशील प्राणियों का विविध प्रकार से भरण पोषण करते हैं।[२] साधारण मानव ही नहीं विद्वान् विप्रों को कृषि कर्म करने का निर्देश है।[३]

कृषि कर्म यज्ञ ही है उसे उत्तम यज्ञ भी कहा जा सकता है। विद्वानों इस यज्ञ को करो हल फालों को संयुक्त करो जुओं को फैलाओं तैयार किये गये खेत में बीज बोओ जिससे भरपूर अन्न पैदा हो। इस यज्ञ में विप्र कृषक स्रोत पाठ करते हैं बैलों या पशुओं के लिए प्रथा अर्थात जल स्थान तैयार करो। मानव खेती पर ही आश्रित नहीं था उस समय उद्योग धन्धे भी करते थे। पशु अरण्य में विचरण करते थे परन्तु मानव ने उन्हें पालतू बनाकर अपने कार्य में उपयोग किया।

---

१. युनक्तु सीरा वयुगा तनूध्वं कृते योनो वपतेह बीजम् गिरा च श्रुष्टिः सभरा असन्नों नेदीयं इत्सृष्टाः पववमेयात्।

२. पीरा मुञ्जन्ति कवयो युगा विह्नवते पृथक धीरा देवेषु सन्नया निराहावान कृणोवन सं वरत्रा वधातन। पा.गृ.सू.

३. वही, गदाधर भाष्य

शुक्ल यजुर्वेदीय गृह्यनुष्ठान और धर्म

दार्शनिक व धार्मिक दृष्टि से ओत-प्रोत ऋषियों से प्रेरित होकर वैदिक साहित्य का निर्माण किया। गृह्यसूत्रों में तत्कालीन धार्मिक व दार्शनिक प्रतिबिम्ब होना स्वाभाविक है। प्रकृति पूजा गृह्यसूत्रकालीन धार्मिक जीवन की आदि स्रोत है। जब मनुष्य ने सांस्कृतिक बाल्यावस्था में प्रकृति के दर्शन किये तब वह उसके विभिन्न रूपों को देख कभी प्रसन्न हुआ, कभी भयभीत हुआ कभी स्तम्भित हुआ अपनी असहाय अवस्था के कारण अपनी प्राकृतिक आवश्यकताओं की सरलता से पूर्ति कर सकने से प्रकृति में दैवी शक्ति की कल्पना की। धार्मिक जीवन के प्रारम्भ से ही दो धारायें दृष्टिगोचर होती हैं। भक्ति की धारा, यज्ञों के कर्मकाण्ड की धारा। गृह्यसूत्रकाल में यज्ञ का ही महत्व था ये यज्ञ प्राचीन समय से ही किसी न किसी रूप में अवश्य विद्यमान रहें। धार्मिक जीवन में एक विशेषता थी कि उसमें धर्म और दर्शन का सुन्दर मिश्रण था।

मानव केवल एक सुख-दुःख भोगने वाला क्षणभंगुर मात्र जीव नहीं था। उस अमर ज्योति का ही अंशमात्र था जिसमें से यह चराचर जगत् अविभूर्त हुआ है।[१]

देवता:

देवता अमर हैं और मनुष्य मरणशील है अत: मनुष्यों को यम नष्ट करता है देवों को नहीं।[२] देवताओं की उन्नति अमृत से होती है अत: ये अमृत पाद्वी हैं[३] देवों के चार भेद बताये गये हैं।

---

१. वेदकालीन समाज – डॉ. शिवदत्त ज्ञानी। पृ. २५९

२. अथर्व. – १८.३.४१

३. देवा अमृते नोदकामन – अथर्व. १९.१९.१०

प्रयाज :

अनुकूल विधि से यज्ञ करने वाले बुद्धि आदि के अनुकूल कर्म करने वाले हाथ पाँव इत्यादि कर्मेन्द्रियाँ अनुयाज कहलाती हैं।

हूत :

हूत का भोग करने वाले शरीर में ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ ये भोगों को भोगती हैं।

अहुतवाद :

इसको अहुतभाग भी कहते हैं। हुत का भोग न करने वाले। शरीर में प्राण ये भोगों का उपभोग नहीं करते हैं। देवता राष्ट्रभत् के अर्थात् राष्ट्र के रक्षक और पोषक हैं।[१] वे राष्ट्र की उन्नति करते हैं ये सूर्य रूपी राजा की चारों ओर से सहायता प्राप्त करते हैं। देवता संसार को शक्ति प्रदान करते हैं। वे जो कुछ भी करते हैं विश्वहित के लिये करते हैं उनकी की हुयी रक्षा कल्याण के लिये होती है।

भावसूचक देवता :

गृह्यसूत्रों में भावसूचक देवता भी प्राप्त होते हैं। भावसूचक देवताओं का मन्तव्य धार्मिक सिद्धान्तों के विकास में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। धार्मिक विकास में वाह्य उपकरणों से आन्तरिक तत्व की ओर बढ़ने की वृत्ति का परिणाम भावसूचक देवताओं के रूप में पाया जाता है। भावसूचक संज्ञाओं के देवता के रूप में वर्णित किया गया है। वे श्रद्धा मन्यु अदिति त्वष्टा वाक् आदि है।[२]

गृह्ययागों के अनुष्ठान की गृहपति से आशा की जाती थी किन्तु प्रातःकालीन एवं सायंकालीन हवियो और सायंकालीन बलि के समय उसकी पत्नी उसके स्थान पर इस कार्य का संपादन कर सकती थी।[३] सम्भवतः प्रत्येक अवस्था में ब्रह्मा का उपयोग किया जा सकता था। कतिपय प्रमाणों के अनुसार गृहपति को स्वयं कार्य करना होता था।

---

१. पा.गृ.सू. १/४ पृ. ६६

२. वेदकालीन समाज डॉ. शिवदत्त ज्ञानी पृ. २५९

३. गो.गृ.सू. १.३.१५, ४.९.४.२९, ७९.८.९ भा.गृ.सू. ३.१२

धन्वन्तरि एवं शूलगव यज्ञों में ब्रह्मा का होना अनिवार्य होता था।[१] यदि गृहपति ब्रह्मा का कार्य करना चाहता था तो वह दक्षिण में एक आसन पर एक छत्र तथा एक वस्त्र अथवा घास की बनी पुतली को रख लेता था। ब्रह्मा का काम करने वाले लोगों का दावा था कि वैवाहिक मन्त्र पढ़ना उन्हीं का कार्य है।[२] पितरों को बलि प्रदान करते समय यज्ञोपवीत को बाई बगल के नीचे और दायें कन्धे के ऊपर पहनता था किन्तु देवताओं को बलि चढ़ाते समय वह इस स्थिति से विपरीत था।[३]

गृह्ययागों का विभाजन एवं अस्पष्ट रूप से किया गया है। इस विषय में उनके साथ सूत्रकर्ताओं की सहमति न थी।[४] एक विभाजन के अनुसार पाकयज्ञों के सात प्रकार हैं[५] जहाँ कि पाक का अर्थ संभवतः पकाया हुआ भोजन है दूसरा उसकी विधायें इस प्रकार प्रस्तुत करता है जो अग्नि में समर्पित किया जाता है जो प्रेतात्माओं को चढ़ाया जाता है।[६] पाक यज्ञों का श्रौतो से इस बात में भेद है कि इनमें प्रयाज और अनुयाज इसका आह्वान और प्रज्जवल मन्त्र था। कम से कम कतिपय कृत्यों के अन्त में यज्ञ वास्तु नामक एक पर्व का अनुष्ठान किया जाता है।

बलि पशु का विधान अतिथि समादार के लिये पितरों के लिए बलियाँ चढ़ाने एवं विवाह के अवसर पर किया गया है कि विशेष शूलगव यज्ञ भी है। गौ वैधिक बलि पशु है किन्तु उसकी जगह बकरे का प्रयोग भी किया जा सकता है यज्ञ कृत्य श्रौत पद्धति के कृत्य के समान हैं।[७]

---

१. शा.गृ.सू. १.३.६
२. गो.गृ.सू. परिशिष्ट २.२४ पा.गृ.सू. २.१७.१८
३. वै.आ. २.१, गो.गृ.सू. १.२.७, जै.गृ.सू. १.२, पा.गृ.सू. २.४
४. तै.आ. २.१, गो.गृ.सू. १.२.१, जै.गृ.सू. १.१
५. शा.गृ.सू. १.१.१५
६. शा.गृ.सू. १.५.१
७. वैदिक धर्म और दर्शन – कीथ – पृ. ४४४

संस्कार

गृह्यकर्मकाण्ड बहुसंख्यक कृत्यों के सूक्ष्म निरूपण को अधिक स्थान देता है। जो कृत्य कि तत्व की दृष्टि में सचमुच अभिचारिक है और जो बच्चे के जन्म से भी पूर्व से लेकर इसकी मृत्यु पर्यन्त साथ-साथ चलते हैं। गर्भावस्था के तीसरे या चौथे महीने में या बाद में पुत्र की सजीवता के लिये पुसंवन संस्कार होता है।[1] जिसमें औषधि का रस पत्नी की नासिका छिद्र में उसके पति द्वारा न्यग्रोध के किसलय के विन्यास में निहित है जिसे वह उचित रूप में उपयोग करता है। द्वितीय संस्कार वह है जो गर्भ की सुरक्षा के निमित्त किया जाता है। जिसका अनुष्ठान पकाये हुये आहार के प्रदान से तथा पत्नी के शरीरावयवों पर घृत के मलने से होता है।[2] सीमान्तोन्नयन[3] संस्कार केवल एक बार प्रथम गर्भ स्थिति के समय होता है और इसकी पुनरावृत्ति नहीं की जाती है। इसका अनुष्ठान चतुर्थ मास के उपरान्त होता है पत्नी अग्नि के पश्चिम में बैठ जाती है पति उसकी बालों के चारों ओर निश्चित संख्या के अपरिपक्व फलों के युक्त एक उदुम्बर की शाखा को रखता है वह वीरतर (अत्यन्त पुंजातीय) लकड़ी एक पूरे तकवे और शाल्मली (सेही) के कांटे से उसके केशों की मांग पट्टी सामने से पीछे की ओर करता है और उसे चावल तिल और घी से बने आहार को देखने के लिये कहता है। जन्म के समय तुरन्त ही दीर्घ जीवन आयुष्य की प्राप्ति तथा बुद्धि की उत्पत्ति मेघा जनन के लिये संस्कार किये जाते हैं। लड़कियों के पक्ष में बिना मन्त्रों के संस्कार किये जाते थे। पिता नवजात शिशु को तीन बार सूँघता है इसे घृत शहद तथा दही का मिश्रण देता है। सूत्रों गृह्यसूत्रों में जीवन के

---

१. गो.गृ.सू. २.६, शा.गृ.सू. १.२०, हि.गृ.सू. २.२, मा.गृ.सू. १.१६, बौ.गृ.सू. १.९ भा.गृ.सू. १.२२, जै.गृ.सू. १.५, अवे. ३.२३.६.११, ७.१७.१९, तै.स. २.३.९.१ ज.स. २.३.२, तै.ब्रा. २.३.१०, वृ.आ.उ. ६/४, आप:गृ.सू. ६.४.२३-३०

२. शा.गृ.सू. २.२६

३. गो.गृ.सू. २.७, शा.गृ.सू. १.२२, पा.गृ.सू. १.१५.३, आप.गृ.सू. १४, हि.गृ.सू. २.२, मा.गृ.सू. १.१५, भा.गृ.सू. १.२१, बौ.गृ.सू. १.१०, जै.गृ.सू. १.७

श्वासों पर इसके अधिकार का आह्वान करने के लिए पाँच ब्राह्मणों की आशा की गयी है या इस कमी की पूर्ति शिशु के पास इधर-उधर जाकर पिता ही कर लेता था[१] और कुछ दशाओं में ये वस्तुयें वस्तुतः संस्कार के समय उपस्थित भी कर दी जाती है। इस समय बच्चे के कान में एक प्रार्थना पुनरावृत्ति करके उसे बुद्धि प्रदान की जाती है। बच्चे को वर्णाछिन्न अङ्गुली से घृत तथा मधु प्रदान किया जाता है, उसके बाद नाभि नाल काटा जाता है बच्चे को स्नान कराया जाता है और दूध पिलाने के लिये उसे स्तर पकड़ाया जाता है।[२] तत्पश्चात् एक जल भरा कलश माता के शिर पर रखा जाता है और जल के संरक्षण में उसे छोड़ दिया जाता है।[३] बच्चे के दो नाम रखे जाते हैं एक तो गुप्त होता है जो केवल माता-पिता के ज्ञान का विषय होता है।[४] और प्रत्यक्षतः जन्म पर जीवन प्रदायक संस्कार के समय तुरन्त ही कर दिया जाता है। बच्चे के जीवन से निकट सम्बन्ध होने के कारण इस नाम को विदित करना स्वीकार नहीं किया गया है। इसीलिये शत्रुओं द्वारा इस नाम का प्रयोग करके की जाने वाली हानियों से रोका जाता है। जन्म के दसवें या बारहवें दिन पिता-माता एवं शिशु को स्नान कराया जाता है घर की शुद्धि की जाती है और जन्म के दिन को तीन नक्षत्रों को अग्नि तथा सोम की आहुतियाँ दी जाती हैं। विशेष अग्नि को अब बुझा दिया जाता है, और गार्हपत्याग्नि इसके कर्मों को करती है। शिशु चतुर्थ मास में प्रथम निष्क्रमण होता है जबकि बच्चे को सूर्यदर्शन कराये जाते हैं। छठे मास में प्रथम बार होम भोजन दिया जाता है। स्फूर्ति मांस भक्षण से आती है पवित्र प्रतिभा तीतर से कीर्ति चावल तथा घृत से वक्तता भारद्वाज पक्षी के मांस से प्राप्त होती है।[५]

---

१. पा.गृ.सू. १/१६/१६ डॉ. जगदीश मिश्रा पृ. १८६

२. वही १/१६/२१ डॉ. जगदीश मिश्रा पृ. १८८

३. वही

४. गो.गृ.सू. २.७.१५, आ.गृ.सू. १.१५.४, शा.गृ.सू. १.२५, पा.गृ.सू. १.१७ आप.गृ.सू. १५.८, आ.हि.गृ.सू. २.४, बौ.गृ.सू. २.१, भा.गृ.सू. १.२६

५. पा.गृ.सू. १.१९ पृ. ८७

एक सूत्र में वाक् तथा शक्ति के लिये एक आहुति का विधान किया है। चूड़ाकर्म संस्कार प्रायः तीसरे चौथे अथवा सातवें वर्ष क्रमशः क्षत्रिय तथा वैश्य का किया जाता है। संस्कार का तात्पर्य बच्चे के केशों को औपचारिक रूप से भिगोना उन पर दर्भ के बच्चों को रखना दाहिने तथा बाद में पीछे की ओर फिर बायें पार्श्व के बालों को एक उस्तरे से काटना है।[१] दर्भ सहित केशों को गोशाला में जल के समीप या जलाशय में कहीं अन्यत्र फेंक दिया जाता है।

कतिपय गृह्यसूत्रों में उल्लेख हैं कि नाई को तीन साल तक उस्तरे का प्रयोग में आने वाले नियम बदल जाते हैं केशों को वंश की रीति के अनुसार प्रवर कृत्य में वंशावलि से संबद्ध ऋषियों की संख्या वाले जुड़ों में संवारा जाता है। नाई को शुल्क रूप में चावल तथा घृत या अन्य वस्तु भेंट की जाती है। गुरु की एक सौ गायें दी जाती थीं।[२]

विविध यज्ञ

गृह्यसूत्रकाल में गृहस्थ के दैनिक यज्ञों में संध्या एवं प्रातः काल क्रमशः गौ को जाने दिया जा सकता है।[३] जहाँ पर अधिक बैल हैं उसके स्थान पर एक मेढ़े या बकरे या अन्य पशु के मांस के प्रयोग पर दिया गया है। अग्नि तथा प्रजापति और सूर्य तथा प्रजापति को दी जाने वाली हवियाँ आती हैं।[४] हवियों के स्वरूप में मतभेद है प्रायः चावल या जौ और ऐसा ही हे देवताओं और यज्ञ के विषय में फिर पाँच महायज्ञों का विधान है।[५] जिनमें प्रथम देवयज्ञ जो देवताओं के लिए प्रातःकाल और सायंकाल अग्नि में किया जाता है, दूसरा भूतयज्ञ या बलि नामक यज्ञ है जिसमें सभी प्रकार के प्राणियों के लिये भूमि की बलि दी जाती है पहली पृथ्वी के लिये दूसरी वायु के लिये

---

१. पा.गृ.सू. २/१ पृ. ९१

२. वैदिक धर्म दर्शन – डॉ. कीथ, पृ. ४५५ पा.गृ.सू. २/१

३. गो.गृ.सू. १.३.१६, मा.गृ.सू. १.२३

४. भा.गृ.सू. २.२२, बौ.गृ.सू. १.२

५. गो.गृ.सू. १.४.१, पा.गृ.सू. २.९.३, मा.गृ.सू. १.२.४, शा.गृ.सू. २.१४ कौशिक २.१.४, २.९, भा.गृ.सू. २.१४, वा.गृ.सू. पृ. २२

तीसरी विश्वदेवों के लिये चौथी प्रजापति के लिये पाँचवी जलाशय में जलों के देवताओं के लिये छठी बीच के स्तम्भों पर पौधों एवं वृक्षों के लिये सातवीं व्योम के लिये घर के द्वार पर आठवी काम के लिये शय्या पर अन्त में एक राक्षसों के लिये कूड़े के कनस्तर आदि में समर्पित की जाती है। किन्तु अनेक नाम भी दिये गये हैं जिनमें सर्पों को दी जाने वाली बलियाँ भी आ जाती हैं।[१] तीसरा यज्ञ महायज्ञ पितृयज्ञ जल से प्रेक्षित बलि के अवशिष्टांश पितरों के लिये प्रेक्षपण है। चौथा ब्रह्मयज्ञ वेद के एक भाग की आहुति है और पाँचवा मनुष्य यज्ञ ब्राह्मणाों अतिथियों और भिक्षुकों को भोजन देना है। शांखायन के अनुसार सायंकाल तथाा प्रातःकाल वैश्वदेव आहुतियाँ अग्नि में सोम इन्द्र तथा अग्नि विष्णु भरद्वाज, धन्वन्तरि विश्वेदेवो प्रजापति अदिति अनुमति और अग्नि स्विष्टकृत को दी जाती है। उसके बाद उन्हीं देवताओं के लिये शाला के केन्द्र में बलियाँ जिनके पश्चात् ब्रह्मा तथा ब्राह्मन एवं वास्तोष्पति के लिये बलियाँ प्रदान की जाती है। तब उचित क्रम से क्षितिज के विभिन्न दिग्भागो में प्रधान देवताओं इन्द्र यम वरुण सोम तथा वृहस्पति प्रत्येक को अपने से सम्बन्ध देवताओं के साथ बलियाँ वितरित की जाती है। देहली पर बलियाँ मार्ग निर्माता के रूप में पूषन् धातृ विश्वधातृ और मरुतो को दी जाती है। विष्णु को ओखली में वृक्ष को जड़ी बूटियों के रखने के स्थान पर जड़ी बूटियों को घड़े के समीप पर्जन्य और जलों को शय्या के सिरहाने और पायतो में क्रमशः श्री एवं भद्रकाली को शौचगृह में सर्वान्नभूति को बलियाँ समर्पित की जाती है। सायंकाल रात्रि में वायु में देवताओं और धनपति धन के स्वामी को अन्त में अवशिष्टाशो के दक्षिण में पितरों के लिये जल दिया जाता है और फिर औपचारिक रूप से किसी ब्राह्मण या विद्यार्थी तथा स्त्रियों के साथ ही बालकों तथा पुरुषों को भी भोजन परोसा जाता है। इस विधान में दोहरापन द्रष्टव्य होता है जो अग्नि कर्म पद्धति को साधारण बलि कर्म पद्धति पर आक्रान्त करता दीख पड़ता है देवताओं के प्रयोग के लिये बलि को केवल भूमि पर रखा दिया जाता है।[२]

---

१. पा.गृ.सू. २/४ पृ. ३४३

२. वैदिक धर्म दर्शन – डॉ. कीथ पृ. ४५६

श्रावण मास में जबकि वर्षा प्रारम्भ हो जाती है सर्प डरावने बन जाते हैं उनको शान्त करने के लिये एक बलि दक्षिणाग्नि में साधारण ग्रहस्थ के द्वारा दी जाती है अथवा इसके लिये नवीन अग्नि प्रज्वलित की जा सकती है उसमें अनेक देवताओं को बलियाँ दी जाती जिनमें पृथ्वी के सत्व भौम वर्षा श्रावण तथा अग्नि सूर्य वायु और विष्णु सम्मिलित है। अपने पैर से सर्पों को दूर भगा देने वाले एक श्वेत ---- मन्त्र से आह्वान किया जाता है। यज्ञ का द्वितीय भाग वह है जो सीधे सर्पों को संबोधित करके किया जाता है जिन्हें स्नान के लिये कंघा और अंजन आदि प्रदान किये जाते हैं। अन्त में तीनों लोकों के सर्पों को एक बलि दी जाती है।[१] घर के चारों ओर से सर्पों को दूर रखने के लिये जल धारा छोड़ दी जाती थी।[२]

प्रौष्ठप्रदा[३] की पूर्णिमा पर एक सूत्र इन्द्र इन्द्राणी अज एकपाद अहिबुध्न्य तथा प्रोष्ठप्रदो के लिये एक बलि और अन्त में मरुतो के लिये एक बलि का विधान करता है अन्यो को घृत की हवि दी जाती है। दो अप्रसिद्ध देवताओं का उल्लेख स्पष्टतः युग्म नक्षत्रों प्रोष्ठप्रदों के कारण है।

अश्विन[४] प्रषातक वास्तव में बलि का नाम है विशेषता यह है कि आश्वलायन इसे एक देवता में परिवर्तित कर देता है जिसे कोई दूसरा नहीं करता तथा शिव एवं शंकर को पशुपति के रूप में लेता है। मानव गृह्यसूत्र[५] में प्रषातक तथा गौ दोनों समाहृत हैं।

पूर्णिमा पर पशुपति तथा प्रषातक के लिये एक बलि का विधान है। यह घी के साथ दूध के मिलाने पर बनती है। यह पर्व पशु समूहों

---

१. धानानां भूयसीः पिष्ट्वाऽऽज्यभागविष्ट्वाऽऽज्याहुती हुहोति। पा.गृ.सू. २/१४

२. नमोस्तु सर्पेभ्यः ये के च पृथिवी मनु ---- यजु. संहिता– १३/६८–

३. गो.गृ.सू. ३.७.३, आ.गृ.सू. २.१.१५, शा.गृ.सू. ४.१५, पा.गृ.सू. २.१४.१, आप.गृ.सू. १८.५ से १९.२ तक हि.गृ.सू. २.१६ मा.गृ.सू. २.१६, बौ.गृ.सू. ३.१० भा.गृ.सू. २.१

४. आप.गृ.सू. २.२.१, शा.गृ.सू. ४.१६, पा.गृ.सू. ३.१६, गो.गृ.सू. ३.८, १.८ खा.गृ.सू. ३.३.१

५. मानव गृह्यसूत्र २.३.४.८

के कल्याण के लिये किया जाता था पुरोहित और यजमान प्रषातक का भाग ग्रहण करते थे और गौओ को भी इसका एक भाग दे दिया जाता था और अन्ततः बछड़ों तथा गौओं को एक साथ बन्द कर दिया जाता था।[१]

आग्रहायणी कृत्य मार्गशीर्ष मास की पूर्णिमा के दिन मनाया जाता था जैसा कि नाम से विदित है कि यह नववर्ष के प्रारम्भ का उत्सव है और घर की पूरी स्वच्छता के लिये किया जाता है जिसके बाद इसमें धुआं किया जाता है इस समय सर्पों का भय उठ जाता है। शय्या भूमि पर टिका दी जाती है। गृहस्थ आयु के क्रम से अपने पास बैठे हुये शेष परिवार के साथ अग्नि के पश्चिम में कुशासन पर बैठता है और तब तक उसकी पत्नी तथा बच्चे और परिवार के अन्य सदस्य पृथ्वी को उन सबके लिये नित्य रूप से माना जाता है। सर्पों को भी बलि दी जाती है। सर्प द्वारा डसे व्यक्ति के लिये भाद्रपद में विशेष प्रकार की बलि दी जाती है।[२]

अवसरतः किये जाने वाले यज्ञों में सबसे रोचक अर्घ्य है।[३] जो एक प्रकार की अतिथि पूजा है जिसमें गुरु पुरोहित स्नातक आदि वह वर के रूप में आया है या उस दिन स्नान करके उसने अपने अध्ययन को पूरा करके लिया है जिससे कि उसका नाम स्नातक पड़ा है किसी सम्बन्धी या मित्र की पूजा की जाती है। यह कृत्य वर्ष में केवल एक बार पूरा करना चाहिए किन्तु यज्ञ के लिए निमन्त्रित पुरोहित के लिए तो इसे लगातार करते रहना चाहिए। भेंट किये जाने वाले पदार्थ छह हैं– एक या दो आसन बैठने के लिए, पैर धोने के लिए जल अर्घ्य जल जिसका एक भाग अतिथि के हाथों पर डाल

---

१. पा.गृ.सू. २/१६/५ पृ. ३६२

२. गो.गृ.सू. ३/९, आ.गृ.सू. ३/३, शा.गृ.सू. ४/१६, पा.गृ.सू. ३.२ आप.गृ.सू. १०/३ बौ.गृ.सू. २/१७, मानव गृ.सू. २/७/१–५, भार.गृ.सू. २.३, बेवर नक्षत्र द्वितीय भाग पृ.–३३२

३. गो.गृ.सू. ४/१०, आ.गृ.सू. १.२४, शा.गृ.सू. २/१५, पा.गृ.सू. १.३, आप.गृ.सू. १३.२०, हि.गृ.सू. १/१३, मा.गृ.सू. १.९.१, भा.गृ.सू. २.२३.६, बौ.गृ.सू. १.२

दिया जाता था। मुख प्रक्षालन के लिए जल मधुपर्क जो दही शहद तथा घी का एक मिश्रण है जिसमें जल तथा भूसा निकाले हुए जौ रहे या न रहे। अतिथि सब वस्तुओं को खा सकता है अथवा एक भाग पुत्र या शिष्य या अन्य किसी व्यक्ति को दे सकता है। राजा केवल औपचारिक रूपेण इसे स्वीकार करता है और बाद में अपने पुरोहित को दे देता था। यदि अतिथि नम्रतापूर्वक अस्वीकार नहीं कर देता तो अन्त में एक गौ बलि चढ़ाई जाती थी और उसका वध किया जाता है इसके स्थान पर अन्य मांस का भी प्रयोग किया जा सकता है। विभिन्न होते हैं। अधिकतर अवस्थाओं में अग्नि वृहस्पति इन्द्र तथा अग्नि प्रजापति इन्द्र तथा मित्र को समुचित देवताओं के रूप में रखा गया था।

गृहनिर्माण[१] विषयक निर्देश बहुसंख्यक एव उलझे हुए थे। रोचक तथ्य यह है कि इसके लिए छूटे हुए स्थान पर या उसके आस-पास कुछ पौधों और कुछ वृक्षों की उपस्थिति विषिद्ध थी। अशवत्थ का सम्बन्ध अश्विनौ से है और इससे अग्नि का भय बना रहता है। यम को पलास मृत्यु के भय को वरुण का न्यग्रोध लड़ाई के भय को उत्पन्न करता है और प्रजापति का उदुम्बर आँखों को खराब करता है। चुने हुए स्थान के चारों ओर जल की तूतरू डाली जाती है। भोजन शाला वहाँ होनी चाहिए जहाँ से पानी बह जाए। यह भी आवश्यक है कि भोजन और कर्मकाण्ड में गृहस्थ की एकान्तता बनी रहे। जब धरती में खम्भे गाड़े जाते हैं तब एक अबका पौधा अग्नि को रोकने के लिए गड्ढे में रखे जाते हैं। जब बीच के स्तम्भ को रखा जाता है तब कुश को फैला दिया जाता है इस पर जल चावल और जौ डाले जाते हैं और पृथ्वी की आत्मा को श्रद्धाञ्जलि अर्पित की जाती है। एक अभिषिक्त पत्थर को भी गाड़ा जाता है। जब घर पूरा हो जाता तब वास्तोष्पति को एक बलि दी जाती है। ब्राह्मणों को भोजन कराया जाता है और उस स्थान के लिए सौभाग्य कामना की जाती है उनसे यह आशा की जाती थी।

---

१. गो.गृ.सू. ४.७, आ.गृ.सू. २.७.८, हि.गृ.सू. १.२७, मा.गृ.सू. २.११

जब घर पूरा हो ज़ाता है तब गृहस्थ अपने ज्येष्ठ पुत्र तथा अपनी पत्नी के साथ उसमें प्रवेश करता है। वे अपने साथ भोजन ले आते हैं और शहद तथा घृत में से भाग गृहण करते हैं जिससे कि इस घर में सम्पन्न बन सके। इसे छोड़ते और इसमें लौटते समय सौभाग्य वाचन का विधान किया गया है।[१]

कृषि सम्बन्धी पर्व भी कुछ थोड़े नहीं हैं। ये सचमुच बहुसंख्यक है। पशुओं[२] को बाहर निकालने तथा उन्हें तथा उन्हें घर में वापस लाने के लिए विविध विधानों का प्रयोग मिलता है। पशुधन की वृद्धि के उपायों के रूप में अनेक विचित्र अनुष्ठानों का उल्लेख मिलता है। इसमें एक नर और गाय बछड़ों की जोड़ी बनाना है। दूसरे में अग्नि पूषन इन्द्र तथा ईश्वर को मृदु आहार समर्पित किया जाता है और उस सांड़ का आदर किया जाता है। जिसकी गरदन सींगो को सुनाया जाता है और जिसे मुँह छूट खिलाया पिलाया जाता है। घोड़े के निमित्त बलि में यम तथा वरुण को सम्मिलित किया जाता है और उसी प्रकार अश्व का भी सम्मान किया जाता है। इस अवसर पर एक दो बछड़ों वाली गौ ही दी जानी चाहिए। शूलगव[३] यज्ञ सम्पत्ति प्रदान करता है इसका अपना एक विशिष्ट रूप है। रुद्र को वसन्त अथवा हेमन्त में एक वृषभ की बलि दी जाती है। बलि का अनुष्ठान गाँव से दूर मध्य रात्रि के पश्चात् या कम से कम सूर्यास्त के पश्चात् किया जाता है। रुद्र के बारह नामों का आह्वान किया जाता है। वपा एक पत्ती या एक लकड़ी के उपकरण से समर्पित की जाती है जुहु से नहीं रुद्र के गणों को शान्त करने के लिए चारों दिग्भागों में बलियाँ दी जाती है। पूँछ खाल आदि को अग्नि में फेंक दिया जाता है जिसके प्रति मन्त्र वाचन भी होता है। बलि पशुओं में से किसी को भी गाँव में नहीं लाया जा सकता क्योंकि देवता मनुष्यों को मारने के लिए लालयित रहता है। यज्ञ स्थान के निकट यजमान का कोई सम्पर्क नहीं रहता है और वह स्वयं किसी विशेष निर्देशन के बिना मांस नहीं खा सकता है।

---

१. आ.गृ.सू. २.१०.२, शा.गृ.सू. ३.४.९, पा.गृ.सू. ३/४

२. गो.गृ.सू.

३. आ.गृ.सू. ४.८, पा.गृ.सू. ३.८, गो.गृ.सू. ३.८

यज्ञ के दूसरे विधान में रुद्र की पत्नियों को इन्द्राणी रुद्राणी, शर्वाणी, भवानी को भी स्थान मिलता है। रक्त से लिप्त अन्तड़ियों को जलाया जाता है और आग में फेंक दिया जाता है। इससे भिन्न दूसरे विधान में वलिया चावल के तीन आहारों की होती है। जो तीन पशुओं सांड, गौ तथा बछड़ा को दी जाती है जिनके नाम क्रमशः शूलगव ईशान सूनृता तथा विजेता हैं।[१] जब बलियाँ दी जाती हैं तब रुद्र के समान उसके सब नामों से किया जाता है। द्वितीय बलि रुद्र की पत्नी को दी जाती है। तृतीय ज्यन्त को गौ को अग्नि के सम्मुख खड़ा कर दिया जाता है जिससे वह जली हुई बलि की गन्ध को सूँघ सके और सब बायें से दायें इसके चारों ओर चलते हैं जबकि शुलगव को संबोधित करके मंत्र पढ़े जाते हैं। सांड और गाएं देवता और उसकी पत्नी के अभिचार है।

कार्तिक की पूर्णिमा को एक सांड[२] छोड़ने का अनुष्ठान गौओं के मध्य अग्नि जलाकार पूषन के लिए घृत की छह आहुतियों से किया जाता है और अलंकृत करके रुद्र को संबोधित करके एक मन्त्र के वाचन के साथ सांड को छोड़ दिया जाता है।

कृषि सम्बन्धी कृत्यों के कई महत्व भी है। हल पर जुआं चढ़ाने (हल योजन)[३] के पश्चात् हल चलाने का कृत्य सीतायज्ञ एक आचार के साथ किया जाता है। खेत के पूर्व में एक बलि हल के सामने आकाश और पृथ्वी को दी जाती है। उन देवताओं में जिन्हें बलियाँ दी जाती हैं इन्द्र पर्जन्य अश्विनौ नरुत उदला कश्यप, स्वातिका सीता और अनुमति आदि से है। वृषभौ का शहद तथा घृत दिया जाता है। इसी प्रकार के अन्य कृत्य सीता (हल से बनी रेखा) के प्रति खलिहान के तप्पड़ के प्रति ओरने के समय फसल काटते समय और अन्न गाहते समय किये जाते हैं और इस सम्बन्ध में उस बलि का उल्लेख किया जाता है जो कि छछुन्दरों या चूहों के राजा को भय को दूर करने के

---

१. वैदिक धर्म दर्शन – कीथ, पृ. ४६१

२. पा.गृ.सू. ३.९, का.गृ.सू. २४.२२

३. शा.गृ.सू. ४.३, गो.गृ.सू. ४.४.२७, पा.गृ.सू. २.११, कौ. १/५

लिये दी जाती है।[१] सीता के प्रति दी जाने वाली बलि का कुछ विस्तार से वर्णन मिलता है। खेत के पूर्व या उत्तर में उस स्थान पर जो शुद्ध हो तथा उपज को बिना हानि पहुँचाये जोता गया हो अथवा किसी गाँव में जलाई जाती है और उसके चारों ओर ऋतु के अनुसार चावल या जौ से मिश्रित दर्भ बिछाई जाती है।

तब इन्द्र सीता (हल रेखा, मूठ, उर्वरा जोतने योग्य खेत) को घृत की बलियाँ दी जाती हैं और एक पात्र में पकाये हुए भोजन से सीता यज्ञ- मानवीकृत यज्ञ क्षमा शक्ति तथा भूति वैभव को बिछाने से बची हुयी कुशा घास से एक बलि धनुषों तथा निलङ्गो के साथ पूर्व में बैठने वाले सीता के संरक्षकों को दक्षिण में कवच धारियों को पश्चिम में शक्ति भूति, भूमि पर्ष्णी तथा शुनकरि को और उत्तर में उनको जो भयानक है दी जाती है।

नवान्न यज्ञो (आग्रायण इष्टियों) का सम्बन्ध श्रौत कर्मकाण्ड के साथ-साथ गृह्य कर्म-काण्ड से भी है। क्योंकि इसमें भिन्न-भिन्न समयों पर चावल, जौ तथा ज्वार, बाजरे की बलियाँ दी जाती हैं और इन बलियों पर इन्द्र, ब्रह्मा तथा वासुकि हवि प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार की दूसरे बलि आस्य बलि हैं जो चावल की फसल तक जौ से तथा जौ की फसल तक चावल से अकेले गृहपति द्वारा पूरी की जाती है।[२]

प्रतिकूल प्रभावों का दूरीकरण :

गृह्यसूत्रों से पता चलता है[३] कि मानव को अपने प्रयोजनों की सिद्धि के लिए यज्ञ करता था तथा अपराध होने पर भी क्रोध न करने की प्रार्थना करता है कि हमारे यज्ञों को नष्ट न करें यजमानो का वध न करें, हमारे यज्ञों को विनष्ट न करें आप हमारे लिए मंगलमय हों।

---

१. पा.गृ.सू. २/७

२. गो.गृ.सू. ४.७.४३, शा.गृ.सू. ३.८.-१
पा.गृ.सू. ३.१.१, आप.गृ.सू. १९.६
वैदिक धर्म और दर्शन – कीथ – पृ. ४५४

३. पा.गृ.सू. १/२, डॉ. जगदीश मिश्रा पृ. २३

उस समय तप होते थे उसी के बल पर चरणशील वायु बहुत दिन तक द्युलोक और सूर्य लोक में बहती रहती है। अर्थात् तपस्या मूं बहुत शक्ति होती थी। उपनयन संस्कार में सूर्यदेव की साधना करता है ताकि उसे सूर्य देव अपने तेज से अभिभूत करें। वह दस गुना सौगुना, हजारगुना दान देने की क्षमता प्राप्त करे इस कामना से साधना करना है।[1] आर्य प्रतिकूल शक्तियों को मनाना एवं राजी करना आवश्यक समझते थे। फलत: पीसते समय गिरे हुए अन्न के कणों को राक्षसों को चढ़ा दिया जाता है। रक्त अन्तड़िया एवं बलि पशु की विष्ठा उन्हें सर्पों को दी जाती है। दैत्य के रूप में देखे जाने वाले रोगों को शान्त किया जाता है और उनके प्रति समान का प्रदर्शन इन आशा में होता है कि उनके लिए जो कुछ किया गया है उससे संतुष्ट होकर वे विदा हो जाए।

दूरस्थ लोगों में आज तक किसी रोग को हटाने[2] के लिए श्रद्धाञ्जलि अर्पित करने की ऐसी प्रक्रिया बरती जाती है। एक ही समय गीदड़ को समानपूर्ण विधानो द्वारा संबोधित किया जा सकता था। उस समय एक जलता हुआ काष्ठ उस[3] पर फेंका जा सकता था। एक ही समय सर्पों के साथ आदर का व्यवहार किया जाता है और उनके विनाश की भी प्रार्थना की जाती है। स्वयं सर्प ही बलि से ही जब सर्पों को खिला पिला दिया जाता है तब यजमान घर के चारों ओर सर्पों को इससे दूर रखने के लिए जल की रेखा खींच देता है। किन्तु आम तौर पर प्रतिकूल शक्तियों के प्रति वैदिक भारतीय की प्रवृत्ति उन्हें अपने जीवन से दूर भगा देने के निमित्त हर तरह से उनके साथ छल कपट खेलने की रही है। इसलिए इस प्रकार के कार्य किये जाते हैं। उनके प्रवेश को रोकने के लिए उपवास करना साँस लेने मैथुन

---

१. पा.गृ.सू. २/१/१६, डॉ. जगदीश मिश्रा – पृ. २२४
अतो मामपि दशसनि दशगुणदक्षिणादिदातारं हरू। पा.गृ.सू. २/६/१६
गदाधर भाष्य – पृ. २९१

२. गृहमान इस्तु ९.१३.२० पा.गृ.सू. १.१६.२४, हि.गृ.सू. २.७.२, बौ.धर्म सु. २.१.३२

३. हि.गृ.सू. १.१६.२०

करने और चारोंओर देखने इत्यादि से बचे रहना। कुछ अवसरों पर छद्म वेश अपनाये जाते हैं और बच्चे या युवक के काटे हुए बालों को सावधानी के साथ दबाया जाता है।[१] माता जन्म के बाद दस बारह दिन तक अपवित्र रहती है एवं दूर रखी जाती है और अग्निवेदि की स्थापना करते समय निर्ऋति के निमित्त ईटो को उनके स्थान में बिना वास्तविक सम्पर्क में रखा जाता है। यज्ञ की अग्नि को ले जाने वाले पुरोहित के पादचिह्नों को मिटाने के लिए पत्र रखे जाता है। जैसे कि मृतक के निशानो को मिटाने के लिए मृतक के पैर में अनुबन्ध दिया जाता है।

विभिन्न प्रकार अरिष्टो के निराकरण के लिए जल का प्रयोग बहुत अधिक सामान्य रहा है। इन्द्र भूतो या पितरो के साथ बरतने के बाद जल के स्पर्श से अपने आपको शुद्ध करना आवश्यक है। लेकिन वर्षा के जल से नहीं इसमें अपवित्रता की कुछ मात्रा रहती समझी जाती है और इसे बलियों पर गिरने पर उन्हें भ्रष्ट कर देने वाला माना जाता है, बुरे स्वप्न देखकर मुख प्रक्षालन वाञ्छनीय है।

दण्ड का प्रयोग विशेष रुचिकर है विद्यार्थी को एक दण्ड दिया जाता है और उसे कहा जाता है कि वह अपने शरीर तथा इसके बीच में किसी भी वस्तु को न आने दे जब उसका विद्यार्थी जीवन समाप्त हो जाता है तब व्रत के अवशिष्ट के साथ इसे जल में फेंक दिया जाता है किन्तु उसी क्षण उसे एक नया दण्ड दे दिया जाता है।[२]जिसका स्पष्ट प्रयोजन मालवीय शत्रुओं के विरुद्ध ही नहीं अपितु दैत्यों और राक्षसों के विरुद्ध भी दण्ड धारी की रक्षा करना होगा।[३]

---

१. वैदिक धर्म दर्शन – कीथ – पृ. ४७५

२. गो.गृ.सू. ३/१/१४.२७, ४.९.१७, आ.गृ.सू. ३.८.२० शा.गृ.सू. २.१३, १२,८, पा.गृ.सू. २.६.३१, – डॉ. जगदीश मिश्रा विश्वाभ्य: सर्वाभ्य: नाष्ट्राभ्यो राक्षसादिभ्य: सर्वावस्थासु मा मां परिपाहि सर्वभावेन रक्ष। २/३/३१ गदाधर भाष्य पृ. २९७

३. पा.गृ.सू. २.१३.९

नीति शिक्षा

सज्जन पुरुष को सभ्य समाजसेवी और यज्ञकर्ता होना चाहिए उसे यह कहना चाहिए कि जीवन प्रकाशमय हो हम बड़े गौरव से युक्त होकर प्रसिद्ध हो। सभी जीव पुरुष पशु आदि सुखी हों और संसार का कल्याण हो सफलता का साधन हे स्वाहा अर्थात् स्वार्थ त्याग और आत्म समर्पण। यश से मनष्य प्रगतिशील होता है वह दूरदर्शी होता है। यश यज्ञ के तुल्य है वह ईश्वर भक्ति और पुरुषार्थ से मिलता है। सदा मधुर और तेज हो दिव्य वचन और ऐसी वाणी बोले जो दूसरों को हर्षित कर दें। विद्वान मधुर वचन से शत्रुओं के कटु वचनों पर विजय लाभ करते अपने सभी साथियों के प्रिय बने द्वेष दु:ख का कारण है अत: सब से प्रेम करना चाहिए।

काम आदि दुर्गुणों पर संयम रखना :

गृह्यसूत्रों के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि उसमें काम आदि दुर्गुणों पर संयम रखना चाहिए। अगर नियम टूट जाता था तो लोग प्रायश्चित करते थे एक सूत्र में कहा गया है हे काम क्षोभक तुम्हारे द्वारा क्षुब्ध होकर अपने व्रत को नष्ट किया है।[१] मैं तुम्हारे द्वारा क्षुब्ध हुआ हूँ अत: काम शोधन के लिए हविष्यमान बना दूँ।[२] काम का प्रभाव मन पर नहीं पड़ना चाहिए काम को शोक तथा मानसिक दु:खों का कारण बतलाया गया है। काम के वशीभूत मानव की विचार शक्ति नष्ट हो जाती है व्यक्ति मोह के कारण पराधीन हो जाता है। काम से दुर्भाव उत्पन्न होते हैं अत: दुर्भाव को मोह की पुत्री कहा गया है इसलिए काम भाव का हटाना चाहिए। आर्य प्रार्थना करते थे कि हे वेदपुरुष मेरा मुख शब्दों का शुद्ध उच्चारण करें रसना मधुमयी हो शब्द सरस हों कानों की श्रवण शक्ति प्रचुर रूप से अक्षुण्य रहे। मेरी अर्जित विद्या को तुम न छीनो तुम वेद की प्रतिष्ठान भूमि हो, शब्दकोष हो, समजीवन हो, अनिष्ट शामक हो तुम मेरे विद्याकोश में प्रवेश कर विद्या को नष्ट होने से बचाओ मैं तुम्हें अपनी वाणी से आवृत्त करता हूँ। मुझमें उदात्तादि स्वर हृदयादि वाणी के आठ उत्पत्ति

---

१. कामावर्कीणोऽस्मि अवकीर्णोऽस्मि काम कामाय। पा.गृ.सू.
– डॉ. ओमप्रकाश पाण्डेय द५.१३.९

२. पा.गृ.सू. २.१३.९

स्थान और कण्ठ्य हृद्य दन्त्स्य ओष्ठ्य ध्वनियों को ग्रहण करने तथा उच्चारण करने की क्षमता बनी रहे। मेरे अंग वाणी प्राण चक्षु श्रौत्र यश और बल सुरक्षित रहे– भरे-पूरे रहें। सुनकर अर्जित किया गया मेरा ज्ञान पठित विद्या सब यथावत् रूप से मेरे ज्ञान कोश में विद्यमान रहे नष्ट न हों।

ज्योतिष :

आर्यों में यह विश्वास था कि ज्योतिष के बिना स्मार्त कर्म सिद्ध नहीं हो सकते अतएव जगत के हित के साधन क लिये ब्रह्मा जी ने इसकी रचना की। जितने भी अनुष्ठान होते हैं उनका काल निश्चित है इस काल ज्ञान के बिना षोडश संस्कार तिथि वार नक्षत्रों के सम्बन्ध में पूर्णतया विचार करते हैं। ज्योतिष होरारूप स्कन्धत्रयात्मक ज्योतिः शास्त्र वेदभगवान का निर्मल नेत्रस्वरूप अत्युत्तम विज्ञान है।[१]

मानव षोडश संस्कारों में विवाह, चूड़ाकरण उपनयन इत्यादि सम्पूर्ण संस्कार नक्षत्रों के अनुसार किया जाता है।[२] शुक्लपक्ष में उत्तराफाल्गुनी हस्तः चित्रा घनिष्ठा, रोहिणी नक्षत्रों में कन्या का पाणिग्रहण करना चाहिये।[३] पुंसवन संस्कार पुण्य प्रभृति पुरुष नक्षत्र में चन्द्रमा के साथ हो तब करना चाहिये।[४]

इस प्रकार स्पष्ट है कि आर्य पूर्णतया धार्मिक वृत्ति से ओत-प्रोत थे।

देवताओं का स्वरूप :

गृह्यसूत्रों के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि आर्य प्रकृति के उपासक थे इसीलिये उन्होंने वस्तु को देवतुल्य समझकर उसकी अर्चना की है। उसी के अनुसार देवताओं का स्वरूप निम्नवत् है :-

---

१. सिद्धान्त संहिता होरारूप स्कन्ध त्र्यात्मकम्
वेदस्य निर्मलं चक्षुर्ज्योतिः शस्त्रमनुत्तमम्। नादर संहिता १/४

२. पा.गृ.सू. २/१

३. उदगयन आपूर्यमाणपक्षे पुण्याहे कुमार्याः पाणिगृह्णीयात वही १/४/५

४. पुंससवनवत् पुत्रश्रत्रे भवति। वही १/१५/२

अग्नि :

अग्निदेव का उल्लेख गृहस्थ और जीवन के प्रत्येक संस्कार में अलग-अलग उद्देश्य से किया गया है। अग्निदेव को वरुण देव का क्रोध शान्त करने के लिये आह्वान किया गया[१] ये यज्ञादि कर्मों के प्रधान हविष् वाहक और कान्तिमान हैं। अग्निदेव सदैव अपने भक्तों (यजमान) की रक्षा करते हैं।[२] सर्वत्र व्याप्त रहने वाले अभिशाप ग्रसित व्यक्ति को श्राप से मुक्त करते हैं। इन्हें प्रायश्चित कर्मों के कर्मपालक के शुभप्रणेता की संज्ञा दी गयी है ये व्यक्ति को भैषज्य प्रदान करते हैं।[३] ये सदैव एकाग्रमन और चेतन्ययुक्त और सबके प्रयोजनों को सिद्ध करने वाले हैं तथा इनसे अपराध होने पर भी नाराज नहीं होते हैं।[४] कन्या अग्निदेव से अपने पति के अनुराग वृद्धि की कामना करती है अपने पति के तेज तथ पतिकुल से वियोग न करने वाले तेज का प्रतीक तथा प्रत्येक कामना की पूर्ति करने वाले हैं यही मानकर कन्या अग्निदेव को खीले अर्पित करती है।[५] अग्नि को कन्या का प्रेमी तथा पति कहा गया है इसीलिये मानव रूपी पति अग्निदेव से कहता है कि आप इसे भोग करके ससन्तान मुझे समर्पित करे। अग्नि समस्त दोषों को नष्ट करने में सक्षम है।[६] अग्निदेव से यह कामना की गयी कि यदि वर के विघातक अंश कन्या के गर्भ में हो तो उसको नष्ट कर दें।[७] समिदाधान में अग्नि के अनुष्ठान का उद्देश्य

---

१. त्वं नो अग्ने तरुणस्य विद्वान् देवस्य हेडोऽअव यासि सीष्ठाः।
यजिष्ठो वह्नितमः शोशुचानो विश्वा द्वेषा सि प्रमुग्ध्यस्मत्। पा.गृ.सू. १/२/६१

२. स त्वं नोऽग्नोऽवमो भवोति, नेदिष्टोऽअस्याऽउषसो व्युष्टौ अव यक्ष्व नो वरुण रराणो, वीहि गृडीक सुहवो नऽएधि। वही १/२/२

३. अपाश्चाग्नेस्यनभिशस्तिपाश्च सत्यमित्तमया असि
अयानो यज्ञं वहास्य यानो धेहि भेषजम्। वही १/२/९

४. भवतं नः सम़नसौ सचेतसातरेपसौ य यज्ञं हि सिष्टं मा
यज्ञपति जातवेदसौ सिवौ भवतमद्यः नः। वही १/२/८

५. पा. गृ. सू. १/६/२

६. पा. गृ. सू. १/६/१

७. वही १/६/३

ब्रह्मचारी अग्निदेव के समान कीर्ति और तेज को धारण करने वाला तेज[१] धन मेधा सन्तान पशुओं तथा ब्रह्मतेज से प्रदीप्त करते हैं।[२] ब्रह्मचारी अपने गुरु के लिये पुत्रों वाला होने की कामना करता है।[३] ये अमृत तुल्य गौ के घृत का पान करते हैं। देवताओं के निधि के संरक्षक है शरीर को निरोग एवं आयुवृद्धि करते हैं।[४] अग्निदेव की आर्य अपने घरों में स्थापना इसीलिये करते हैं क्योंकि इनसे श्री वृद्धि होती है इसीलिये हमेशा अपने राज्य में निवास करने की इनसे प्रार्थना करते थे।[५] अग्नि के तीन जन्म के कारण ही इनके तीन निवास स्थान हैं। गार्हपत्य, आवहनीय आन्वाहार्य और पाकप्रभृति है।[६] अग्नि का एक रूप सूर्य भी अग्निदेव उदारतापूर्वक सम्प्रति दान करते हैं। इनके जन्म के विषय में कहा गया है कि सर्वप्रथम मानवजन्मा प्रजापति ने समुद्र के वडवानल के रूप में प्रदीप्त किया था[७] मेदुर मेघ मालाओं के मध्य बिजली के रूप में स्थित थे तृतीय बार प्रजापति ने ही तुम्हें रञ्जनात्मक तेजी मण्डल के मध्य स्थित सूर्य के रूप में प्रज्वलित किया। जलराशि के मध्य में स्थित अग्नि का संवर्धन पुरुषों ने किया।[८]

सूर्य के माध्यम से अपनी रश्मियों को संसार में सर्वत्र विखेरते हैं। अन्तरिक्ष में आरोहण कर उन्होंने इन्द्र के रूप में सुदृढ़ पर्वतों पर

---

१. पा. गृ. सू. १/६/४

२. वमग्ने समिधा समिध्यस एवमहमायुषा मेधया पर्च्चसा प्रजयां पशुभिर्बह्यवर्चसेन। पा.गृ.सू. २/४/५

३. जीवपुत्रो ममाचार्यो मेधाण्यहमसान्यनिराकारण्ष्णुर्यशस्ती। वही

४. त्म्बं ये पाह्यायुर्दा अग्नेऽस्यायुर्मे देहि। वही २/४/८

५. आ त्वाहार्षमन्तर भ्रूर्ध्रवस्तिष्ठाविचाचलिः। विशस्त्वां सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वाद्राष्ट्रमधिभ्रशत्। वही १/१०

६. विद्मा ते अग्ने त्रेधा त्रयाणि विद्मा ते धाम विभृतां पुरुषापुरुत्रा विद्या ते नामं परमं गुहा यद्विद्मा तमुत्सं यत आजगन्थ। वही १/१६

७. दिवस्परि प्रथम जज्ञे अग्निरस्मद्द्वितीयं परिजातवेदाः तृतीयमासु नृमणा अजस्त्रमिन्धान एनं जरते स्वाधीः। वही

८. समुद्रे त्वां नृमणां आस्वन्तर्नचक्षा ईधे दिवो अग्न ऊधन तृतीये त्वा रंजसि तस्थिवा सम मापपस्थे महिषा अवर्धयन्। वही

मेघ मालाओं को विदीर्ण किया।[१] देवताओं ने अग्निदेव की स्तुति की थी क्योंकि वे विश्व का भरण पोषण कर अपने विमल प्रभा पुञ्ज से आकाश को व्याप्त करते हैं। अग्निदेव अक्षय वै भवशाली यजमान के द्वारा मनुष्यों के उपकारक बल पुत्र और बादलों के मध्य बिजली के समान चमकने वाले प्राणिमात्र के विज्ञान स्वरूप है। उन्होंने अन्तरिक्ष में आरोहण कर उन्होंने ही इन्द्र के रूप में सुदृढ़ पर्वतों पर मेघ मालाओं को विदीर्ण किया। अग्निदेव को यजमान प्रिय है अग्नि का उन पर अनुराग रहता है वे कमनीय कान्तिवाले हैं।[२] दुष्टों का विनाश करने वाले मेघावी और अभरण है। वे भूत भावी पुत्रों से धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थों की उपलब्धि कराते हैं।[३] अग्निदेव यजमान के समस्त कर्मों को स्वस्तिमय बनाते हैं तथा अपनी महिमाप्रदान करते हुए विविध प्रकार की धनराशि प्रदान करते हैं। अग्निदेव का एक नाम जाठर भी है।[४]

अग्निदेव से यजमान प्रार्थना करता हुआ कहता है कि हमारा जीवन आपकी कृपा से उत्कृष्ट पर्जन्यवृष्टि और पृथिवी के सातों धर्मों से मुक्त हो।[५] अग्नि अन्नपति है। अग्नि का नाम केता और सुकेता है अग्नि का विशेषण श्यावास्य के रूप में प्रयुक्त हुआ है उसे भूरे मुख वाला बताया गया है।[६] शवभक्षी अग्नि का निवास यम के राज्य में है। अग्निदेव की स्थापना यजमान पुनर्जन्म पाने के लिये करता है।[७]

---

१. विश्वस्य केतुर्भुवनस्य गर्भ आ रोदसी अपृणाज्ञाजायमानः वीडु चिदद्छिमभिनत्परायन्जना यदग्निमयजन्त पञ्च। वही १/१६/६

२. उशिक पावको अरतिःसुमेधा मर्त्येष्वग्नि स्मृतो निधायि। इयर्ति धूममरूषं भरिभ्रतुच्छ क्रेण शोचिषा द्यामिनक्षन्। पा.गृ.सू. १/१६/७

३. आ वं भज सौश्रवसेष्वग्न उक्थ उक्थ आ भज शस्यमाने।
प्रियः सूर्ये प्रियो अग्ना भवात्युज्जातेनभिनददुज्जुनित्वैः। वही १/१६/१०

४. पा.गृ.सू. ३/१/४-५

५. उदायुषा स्वायुषोत्पर्जन्यस्यवृष्टया पृथिव्या सप्तधामभिः। वही ३/३/६

६. नमः श्यावास्यायान्नशने यत्त अबिद्ध तत्ते निष्कृन्तामि।। वही १/३/८

७. क्रव्यादमग्नि प्रहिणोमि दूरं यमराज्यं गच्छतु। रिप्रवाहः इहै वायमितरो जातवेदा देवेभ्यो हव्यं वहतु प्रजानन। वही ३/१०/१९

वरुण

गृह्यसूत्रों में इनका आह्वान मात्र दो गृह्यानुष्ठान में प्राप्त होता है। वरुण देव सर्वसुख प्रदाता तथा सर्वरक्षक है।[1] इनको राजा कहा गया है इनसे धन पुत्र समन्वित फल की याचना हविष्यप्रदाता यजमान करता है।[2] वरुण मनुष्यों के पाप पुण्यों को देखते हैं यजमान प्रार्थना करता है कि वह मृत्यु के पाशों से मुक्त कर दे।[3] वरुण देव की स्तुति करते हुये पति कहता है कि स्त्री के भावी सन्तान को मृत्यु से मुक्त करके अमरता प्रदान करें जिससे स्त्री सन्तान सुख से वंचित न हो। वरुणदेव प्राणियों को बन्धनों और सन्तापों से मुक्त करते हैं जिससे मनुष्य अपराध मनोवृत्ति से मुक्त होकर अनुष्ठानों में प्रवृत्त हो सके।[4] ये अदिति के पुत्र हैं इनसे दैत्यरहित अखण्ड ऐश्वर्य के योग्य बनाने की कामना की गयी है। ये पशुधन के स्वामी हैं इनको जलेश कहा गया है। ब्रह्मवर्चस्व प्रदान करते हैं।

इन्द्र

इन्द्र के विषय में वेदों में मान्यता है कि इनका स्थान अग्नि के पश्चात् आता है। गृह्यानुष्ठानों में इनका आह्वान अलग-अलग उद्देश्य से किया गया है। विवाह संस्कार में इन्द्र को अभीष्ट प्रयोजन का सिद्धकर्ता बताया गया है। इन्द्र स्तुति के भोक्ता हैं।

इन्द्र को जया मन्त्र प्रदान किये जाते हैं इन्हें पाकर सेना विजय नामक कृत्यों में इन्द्र प्रचण्ड हो उठते जिससे सम्पूर्ण प्रजा प्रणाम करती है।[5] इन्द्र सब देवों के स्वामी हैं। इन्द्र ने इन्द्राणी के साथ

---

१. अमं मे वरुण श्रुधी हवमद्या च मृ यत्वामवस्युराचके। पा.गृ.सू. १/२/१

२. ये ते शतं वरुण ये सहस्त्रं यज्ञिया: पाशा: वितता महान्त:
पेभिर्नो अद्य सवितोउत विष्णु विश्वे मुञ्चतु स्वर्क्का:। वही १/२/५

३. तत्वौ यामि ब्रह्मण वन्दमान स्त्रदा शास्वे यजमानो हविर्भि:
अहेडमानो वरुणेह वो ध्युरुशस समानऽआयु: प्रमोषी। वही १/२/४

४. उदुत्तमं वरुण पाशमस्मद वाधमं वि मध्यम् श्रथाय
अथा वयमादित्य व्रते त्वा नागसोऽदितये स्याम्। वही १/२/७

५. प्रजापतिर्जयानिन्द्राय वृष्णे प्रायच्छ दुग्र: प्रतना जयेक तस्मै विश: समनमन्त: सर्ता: स उग्र: स इहष्यो वभूव। पा.गृ.सू. १/५९

गन्धमादन पर्वत पर आरोहण किया था इन्द्र से अच्छे सन्तान वाली हो ऐसी कामना वर करता है। इन्द्र बहुकर्मशील है इन्द्र का प्रिय पेय सोम है इन्द्र के दोनों अश्व केशयुक्त हैं।[१] इन्द्र शीघ्र क्रोधित हो उठते हैं। इन्द्र को सम्पूर्ण प्रजा ने अपना नेता स्वीकार किया।[२] है देवराज इन्द्र को सुखद एवं स्निग्ध चित्त के स्वामी है। इन्द्र से ऐश्वर्य, धन विश्व की समग्र श्रेष्ठ वस्तुयें सौ वर्ष की आयु पुत्र और पौत्र प्रदान करने की याचना की जाती है।[३] इन्द्रदेव से प्रार्थना की गयी है कि आप इस बालक अर्थात् वर को आप अत्यन्त उत्तम कोटि की मंगलमयी धनराशि चैतन्य प्रज्ञा ज्ञान निरोगता प्रजापति दक्ष का सा प्रभुत्व धन साध्य पुष्टि वाणी का माधुर्य और सफल दिन प्रदान करें।[४] इन्द्र के मूर्ति रूप नक्षत्र आकाश में प्रकाशित होते हैं दम्पत्ति के प्रत्येक संयुक्त कार्य में और प्रत्येक अन्न युक्त आहुति में रक्षा के निमित्त अधिक बलशाली इन्द्र का आह्वान करते हैं।[५] इन्द्र गृहपति हैं तथा उनकी स्तुति नये घर में प्रवेश सुखकर हो तुम हमें श्रेष्ठ और निरोग बनाकर प्रविष्ट कराओ हम जिस वस्तु की प्रार्थना करते हैं वह हमें प्रदान करो। तुम मनुष्य और पशुओं के लिए समान रूप से कल्याणकारी हो।[६] इन्द्र चल सम्पत्ति गौ और अश्व साध्य पराक्रमों से आपत्तियों का निराकरण करते हैं।[७]

---

१. गृहमन्त्रों का विनियोग – डॉ. कृष्णलाल – पृ. २५३

२. पा.गृ.सू. १/५/९

३. अस्ते प्रयन्धि महाबन्नृजीषिन्नन्द्र रायो विश्वारस्य वारेः अस्मे शतं शरदो जीवसे धा अस्मै वीराञ्छ श्वत इन्द्रं शिप्रिन। वही १/१८/४

४. इन्द्र श्रेष्ठानि द्रविणानि धेहि चित्ति दक्षस्य सुभगत्वमस्मे। पोषं रयीणामरिष्टि तनूनां स्वात्मानं वाचः सुदिनत्वमह्यम्। वही १/१८/५

५. पा. गृ. सू.

६. वास्तोष्पते प्रविजानीप्लस्नान् स्वावेशो अनभीवो भवानः यत्वेमहे प्रति तन्नो जुषस्व शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे। वही

७. वाष्तोष्पति प्रवरणो न एधि गयस्फाने गोभि रखेभिरिन्द्रो आजरास्ते सख्ये स्यामपितेव पुत्रान्प्रति तन्नो जुषस्वराज्ञो द्विपदे चतुष्पदे। वही

इन्द्र वृत्रहन्ता हैं वे यज्ञानुष्ठान के द्वारा मानव की सम्पूर्ण कामनायें पूर्ण करते हैं।[१] इन्द्र अगणित शास्त्रों से सम्बद्ध अपरिसीमः शक्तियुक्त असंख्य रक्षा-साधन सम्पन्न और शत्रुओं को पराजित करने वाले हैं वे सम्पूर्ण दुःखों और दुव्यर्वसनों को दूर करके १०० वर्ष की आयु प्रदान करते हैं।[२]

इन्द्र मानव के अस्थिर हुये मन को अपने पाश में बद्ध करके स्थिर कर देते हैं।[३] इन्द्र के पराक्रमों की चर्चा स्वर्ग की भाँति पृथिवी पर होती है ये मानव के पोषक स्तुतियों से उत्साहित होकर यजमान की रक्षा के लिये आते हैं।[४] इनके अश्वों का रंग हरा है जो कीर्ति का प्रतीक है ये अश्वों के रथ पर आरूढ़ होकर यज्ञशाला में आते हैं।[५] वीरों में अग्रणी तथा समर्थ हैं उन्होंने स्वयं अनेक यज्ञों का अनुष्ठान किया इसीलिये प्रत्येक व्यक्ति इनका आह्वान अपने कल्याण और आनन्द के लिये करता है।[६] इन्द्र अत्यधिक बुद्धि बल वाले उत्तम रक्षक और समृद्धि के अधिष्ठाता तथा दुर्भाग्य को समाप्त करने वाले हैं।[७] ये गम्भीर ध्वनि करने वाले हैं। इनसे याचना की गयी है कि जिस प्रकार पथिक बीहड़ मरुभूमि के पार चला जाता है तुम्हें किसी

---

१. यन्मे किञ्चिदुषेप्सितमस्निकर्मणि वृत्रहन् तन्मे सर्व समृध्यतां जीवतः शरदः शत। पा.गृ.सू. २/१६/९ पृ. १६९

२. शतायुधाय शतवीर्याय शतोतये अभिमातषाहे शतं यो नः शरदोऽजीजानिन्द्रौ नेषदति दुरतानि विश्वा। वही ३/१/२ पृ. १७७

३. परित्वा हवलनो हवल निर्हत्तेन्द्र वीरुधः। इन्द्रपाशेन सित्वा मह्यं मुक्त्वाऽथान्यमानयेत्। वही ३/७/३ पृ. २१२

४. अयोत्विन्द्रोऽवस उप न इह स्तुतः सधमादस्तु शूरः ववृधानस्तविषीयस्य पूर्वीद्यौनं क्षत्रमभिभूतिपुष्यात्। वही २/१६/१ पृ> २७२

५. आ न इन्द्रो हरिभिर्यात्वच्छार्वाचीनोऽवसे सधवे च विष्टाति वज्रीमचवा विराशीमं यज्ञमनु नो वाजसातौ। वही २/१६/९ पृ. २७४

६. त्रातारमिन्द्रमवितारमिन्द्र हव सुहव शूरमिन्द्रम हयामि शक्रं पुरुहूतमिन्द्रं स्वस्तिमनो मधवा धात्विन्द्रः। वही २/१६/५०

७. तस्य वय सुमतौ यज्ञियस्यापि भद्रे सौमनसे स्याम सुत्रामा स्ववॉश इन्द्रो अस्मे आरात्विछेषः सनुतर्युयोत्। वही २/१६/५२ पृ. २७४

का अनुरोध यात्रा से विमुख न करें।[१] इनको धान करम्भ और अयूप भी अर्पित किये जाते हैं।[२]

लिङ्गोक्त देवता

लिङ्गोक्त देवता वे कहे जाते हैं जो कि चिह्न द्वारा पहचाने जाते हैं इनका अन्य देवों के समान वैदिक देव नहीं है न ही इनका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व है। ये देवताओं के समूह के अन्तर्गत माने जाते हैं। गृह्यानुष्ठानों में अधिकतर इस देव की स्तुति की गयी है प्रत्येक अनुष्ठान में इनका नाम परिवर्तित हो जाता है। ये मनुष्यों के हृदय में विश्वदेव जलदेव मातरिश्वा प्रजापति धर्म आदि के रूप में उपदेशक वाणी सुस्थिर करते हैं।[३] प्रजापति के रूप में वे मनुष्यों को विजयी बनाते हैं। वे प्राणियों के अधिपति अग्निदेव, श्रेष्ठाधिपति इन्द्र, पृथिवीपाल यम अन्तरिक्ष स्वामी वायु द्युलोक पति सूर्य, नक्षत्रादि चन्द्र वेदाधिष्ठाता वृहस्पति, सत्य के पालक मित्र, जलेश वरुण, नदीपति समुद्र साम्राज्य चालक अन्न, वनस्पतियों का अधिष्ठाता सोम, प्रेरक वस्तुओं के प्रधान सवितृ देव, पशुपति रुद्र, शिल्प और वास्तु प्रमुख त्वष्टा, पर्वतों के स्वामी विष्णु, गणस्वामी मरुत तथा पिता पितामह और अन्य पूर्वज गण इस ब्रह्मकर्म प्रजापालन रूप क्षत्रियकर्म में हमारी रक्षा करें।[४] लिङ्गोक्त देव हृदय चेतना कर्मेन्द्रिय तदधिष्ठात्री देवता

---

१. आ मन्द्रै रिन्द्र हरिभिर्याहि मयूरशेमभिः। मा त्वा केचिन्नयमन् विं न पाशिनोऽति धन्वेव तां। वही २/१६/५३

२. धानावन्तं करम्भिन मपपवन्तमुविथनम्। इन्द्र प्रातर्जुषस्व नः। वही २/१६/३ छन्द सं. २०-२९ पृ. २७७

३. समञ्जन्तु विश्वेदेवाः समापो हृदयानि नौ।
समातरिश्ववा सं धाता समुदेष्ट्री दधातु नौ। पा.गृ.सू. १/५/४ पृ. ३२

४. अग्निर्भूतानामधिपतिः स मावत्विन्द्रो ज्येष्ठानां यमः पृथिव्या वायुरन्तरिक्षस्य सूर्योदिवश्चन्द्रमा नक्षत्राणां वृहस्पति ब्रह्मणो मित्रः सत्यानां वरुणोऽपा समुद्रः स्त्रोत्यानामन्नं साम्राज्यानामधिपति तन्मावतु सोम ओषधीनां सविता प्रसवाना रुद्रः पशूनां त्वष्टा रूपाणां विष्णुः पर्वतानां मरुतो गणानामधिपतयस्ते मावन्तु पितरः पितामहाः परेवरे ततास्ततामहाः। इह मावन्त्वसिमन् ब्राह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन्कर्मण्यस्यां देवहुत्यां। वही १/५/१४-३२

शिल्पादि ज्ञान अपरोक्ष ज्ञान मन मानसिक शक्तियाँ दर्शपौर्णमास तथा वृहत और रथन्तर साम विजय विष्णु वृत्ति प्रदान करते हैं।[१] ये गायों, पुरुषों को पुष्टिकर बनाते हैं। वे मनुष्यों को मेधावी बनाते हैं, संपति ऐश्वर्य आश्रय स्थान वृष्टि ज्येष्ठता, श्रेष्ठता और सौन्दर्य प्रदान करते हैं।[२]

ये प्रत्यक्ष और परोक्ष माधुर्ययुक्त यवान्न को सरस्वती नदी की तटवर्ती वनभूमि से कृषक और सुन्दर भोगों को प्रदान करने वालो मरुदगण में हल अधिष्ठाता और शतसंख्यक यज्ञ करने वाले इन्द्र के मार्ग में कृषि कर्म कर उत्पन्न किया है।[३] ये दीर्घायु और परिपक्व आयु प्राप्त करने के लिये वस्त्रों के रूप में धारण किये जाते हैं जिससे पुष्टिकर धन और बहुत से पुत्र पौत्रों से समृद्धि सम्पन्न होकर १०० वर्ष की आयु का आनन्द उठाता है।[४] शाला के रूप में अन्नदात्री है। अश्व, गौ तथ प्रिय और सत्य वचनों से पूर्ण है, इसपर आरूढ़ होकर बालक हँसते हैं प्रसूता अप्रसूता गायें भी किलकारियाँ भरती है।[५] इनका अवलम्बन कर युवक ब्रह्मचारी वेदघोष कर परिचारिकों की गोद में खेलते हुये शिशु दुग्ध पान करने के लिये माँ को बुलाये तुम पर रखे जल तथा दही भरे कलश अन्य ऋद्धि समृद्धि पूर्ण कलशों के साथ ध्वनि करे। शाला के रूप में ये हमारी रक्षा करते हैं उस स्थान पर रहते हुये व्यक्ति उसी प्रकार धनों से पूर्ण हो जाता है जिस प्रकार

---

१. चित्तं च चित्तिश्चाकूतं चाकूतिश्च विज्ञातं च विज्ञातिश्च नमश्च शकवरीश्च दर्शश्च पौर्णमासं च वृहत्घरथन्तरंच। वही १/५/१२

२. सपत्तिर्भूतिभूमिर्वृष्टिर्ज्यैष्ठ्य श्रैष्ट्य श्री प्रजामिहावतु। वही २/१७/३ पृ. १७५

३. एतमुत्यं मधुना संयुतम्। यवं सरस्वत्या अधिवनाय चकृषुः इन्द्र आसीत्सीरपतिः शतक्रतुः कीनाशा आसन्मरुतः सुदानवः। वही ३/२/६ पृ. १८०

४. परिधास्यै यशोधास्यै दीर्घायुत्वाय जरदष्टिरस्मि। शतं च जीवाभि शरदः पुरुची रायष्पोषमभिसंव्ययिष्ये। पा.गृ.सू. २/६/११ पृ. १३०

५. अश्वावती गोमती सूनृतावत्युच्छ्र यस्व महते सौभगाय। आत्त्वा शिशुरा क्रन्दत्वा गावो धेनवी दाश्यमानाः। वही ३/५/२ पृ. ३०६

वनस्पति में पलाश पल्लवित हो उठते हैं।[१] लिङ्गोक्त देवता अन्न धन से समृद्ध करते हैं। विशाल धर्मशीला स्थूला जहाँ विभूषित है लक्ष्मी वहाँ निवास करती है दिन और रात के अधिष्ठाता देवता जहाँ द्वार कपाटों में लोकालोक रूप में स्थित हैं ऐसे इन्द्र के घर प्रचुर सम्पत्ति और रक्षा पुरुषों से सुरक्षित है। मैं अपने पुत्र, पौत्र और पशु समुदाय के साथ उनमें आश्रय ले रहा है।[२] लिङ्गोक्त देवता की स्तुति इस कामना से की गयी है हे शाले हमारे मित्र समुदाय को परिपार्श्व के जनों को रोगमुक्त कर दो।[३]

सूर्य

गृह्यसूत्रों में सूर्य देवता का वर्णन कतिपय अनुष्ठानों में हुआ है। गृह्यसूत्रों में ये मधुपर्क के अधिष्ठाता हैं।[४] सूर्यदेव का आह्वान दीर्घायु के लिये किया गया है। ये आयु वृद्धि करते हैं इनसे याचना की गयी है जिस छूरे से राजा वरुण तथा सोम के केश आपने मूड़े थे उसी से इस कुमार की केश राशि काटे[५] अपनी सभी पुञ्ज से अन्य तेजों को अभिभूत करने वाले हैं। सूर्य देव उदीयमान शुभा शुभ के ज्ञात हैं। प्रातःकाल तथा मध्यान्ह और सायंकाल अपने उपासकों को दान देते हैं ये अपने भक्तों के मध्य इन्द्र मरुतों के समान स्थित हैं। इनकी

---

१. आत्त्वा कुमार स्वरूण आवत्सो जगदैः सह। आ त्वा परिस्रुतः कुम्भ आदहनः कलैशरूप।
क्षेमस्य पत्नी बृहती सुवासा रयिं न धेहि सुभगो सुवीर्यम्।
वही ३/५/३ पृ. २०६

२. धर्मस्थूणा राज श्रीस्तुपमहोरात्रे द्वारफलके। इन्द्रस्य गृहा वसुमन्तो बरूथिनस्वानहं प्रपे सह प्रजया पशुभिः सह। वही ३/५/२१ पृ. २०९

३. यन्ये किञ्चिदस्त्युपहूतः सर्वगण सरवाय साधुसंबृतः। तां त्वा शालेऽस्टि वीरा गृहान्नः सन्तु सर्वतः। वही २/५/२२

४. देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णोर्हस्ताभ्यां प्रतिगृहगामि। पा.गृ.सू. १/३/७ पृ. २६६

५. येनावपत्सविता क्षुरेण सोमस्य राज्ञो वरुणस्य विद्वान्। तेन ब्राह्मणो वपतेदमस्यायुष्याञ्जर दष्टिर्यथासत्। वही २/१/१२ पृ. ९६

उपासना से लोगों में दान देने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है।[१] नेत्रों को दृष्टि मुख को तेज और कानों को श्रवण शक्ति प्रदान करते हैं।[२] सूर्य के उदय होने की दिशा पुराकाल में जल और पृथिवी प्रभृति पञ्चमहाभूतों से परिपुष्ट और विश्वकर्मा काल की प्रीतिवश उत्पन्न रस रूप को धारण कर सूर्य प्रतिदिन पूर्वदिशा में उदय होता है।[३] सूर्य दैवी गुणों से युक्त पुरुषों के लिये हितैषी है यह पूर्वदिशा में उदित होते हैं इनका वर्ण शुक्ल है ऐसे सूर्य देव की कृपा से नेत्र कान वाणी स्वस्थ रहें।[४]

सवितृदेव क्रान्तदर्शी है विद्वान तथा सभी देवताओं में श्रेष्ठ हैं संसार की विभिन्न वस्तुओं पर छाये अन्धकार का निराकरण कर उन्हें आलोकित करते हैं।[५] सूर्य का तेज माँ वसुन्धरा को पवित्र करता है सूर्य मृतक की अस्थियों को धरती माँ की गोद में अपने बेटे की देह सुख से रखे ताकि उसे कष्ट न हो।[६] सूर्य सम्पूर्ण संसार के दर्शन के लिये अपनी किरणों को ऊपर उठाती अर्थात् उदय करती है। सूर्य द्रष्टा

---

१. उद्यन्भ्राज्रभृष्णुरिन्द्रो मरुद्भिरस्थात्प्रातयविभिरस्थाछशसनि दशसनि मा कुर्वाविदन्मागमय। उद्यन्भ्राजमृष्णुरिन्द्रो मरुद्भिरस्थाद्विवा यावभिरस्थाच्छतसनिरसि शतसनि मा कुर्वाविदन्मागमय उद्यन्भ्राजभृष्णुरिन्द्रो मरुद्भिरस्थात्सायं यावभिरस्थात्सहससनिरसि सहस्रसनि वा कुर्वाविदन्मागमय। वही २/६/४-७

२. सुचक्षा अहमक्षीभ्यां भूयासं सुवर्चा मुखेन। सुश्रुत्कर्णाभ्यां भूयासम्। वही २/६/१०

३. अदभ्यः संभृतः पृथिव्यै रसाच्च विश्ववर्मणः समवर्तताग्रे तस्य त्वष्टा विदधद्पमेति तन्यर्त्यस्यदेव त्वमाजानमग्रे।
पा.गृ.सू. १/१७ में यजु. सं. ३१-१७

४. तच्चक्षुदेर्वहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं श्रृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्। वही ३६-२४

५. विश्वा रूपाणि प्रतिभुञ्चते कतिः प्रासावीद्भद्रं। वही य.स. १२-३

६. सविता ते शरीराणि मातुरूपस्थ आद्यपतु तस्मै पृथिविशं भव। वही ३/१/५ पृ. २८२

जीवात्मा है[1] अपदृष्टा अर्थात् अर्न्तयामी आत्मा वाले हैं सर्वलोकरूप उपख्याता अर्थात् रूपादि धर्म अनुख्याता अर्थात् धर्माधर्म रूपादि में विद्यमान सूर्य को सुनने वाले अर्थात् आकाश रूप तथा श्रोत्ररूप सूर्य को सत् तथा असत् वाले हैं। सूर्य अदिति के पुत्र हैं इसलिये आदित्य नाम भी है, सूर्यदेव सर्वप्रेरक है उनके पूजनीय तेज का ध्यान करते हुए सविता देव ब्रह्मचारी की बुद्धियों को प्रेरित करे देवताओं का पूजनीय मुख मित्र है वरुण और अग्नि का नेत्र उदय हो गया है पृथिवी आकाश और अन्तरिक्ष को सूर्य ने माप लिया है। गतिशील तत्व ने सूर्य की सात किरणों के द्वारा समृद्ध होने वाली सर्पणशील चरणों वाली इच्छाशक्ति तथा ऊर्जा का दोहन किया है। सूर्य के द्वारा आकाश स्थिर किया गया है। सूर्य को ऋत् स्थिर करते हैं और उसी के द्वारा आकाश चन्द्रमा सुस्थित है। सविता ने सूर्या को देने के लिये पशुधन की सृष्टि की थी। कन्या सविता देव से प्रार्थना करते हैं कि मुझे (वधू) को पति के लिये सुखद बनायें सूर्य सुदीप्त दिशा से प्रकट हुआ था। धनवान सूर्य के द्वारा उत्पादित वेद है। सविता देव, सरस्वती देवी और कमलों की मालाओं से युक्त मेघा का आह्वान करें। आकाश में चारों दिशाओं का सर्वेक्षण सूर्य करता है।

रुद्र

रुद्र देवता ऋग्वेद से सम्बन्धित है इनका वृषोत्सर्ग में जप किया जाता है[2] यह पूषा के समान जटा धारण करते हैं वह देदीप्यमान

---

१. तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो योनः प्रचोदयात्।
पा.गृ.सू. २/३/३ पृ. २३५

२. यास्ते रुद्रं पुरस्तात सेनाताभ्य एष बलिस्ताभ्यस्ते नमः।
यास्ते रुद्रं दक्षिणतः सेनाताभ्य एष बलिस्ताभ्यस्ते नमः।
यास्ते रुद्रं पश्चात् सेनाताभ्य एष बलिस्ताभ्यस्ते नमः।
यास्ते रुद्रोत्तरतः सेनाताभ्य एष बलिस्ताभ्यस्ते नमः।
यास्ते रुद्रो परिष्टात् सेनाताभ्य एष बलिस्ताभ्यस्ते नमः।
यास्ते रुद्राधस्तात सेनाताभ्य एष बलिस्ताभ्यस्ते नमः। वही ३/८/११

सुवर्ण के समान चमकते हैं तथा सुवर्ण के आभूषण धारण करते हैं धनुष बाण हेति (भाला) आदि का प्रयोग करते हैं। पापनाशक औषधियों के स्वामी तथा भिषगो के भिष है।

गन्धर्व

गन्धर्व अर्द्धदेव माने गये हैं उन्हें देवताओं के समान पूर्ण अधिकार नहीं प्राप्त होते अपितु जो देवता विशेष कहते हैं उनका ही पालन करते हैं ये गन्धर्व अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा इत्यादि देव गन्धर्व कहे जाते हैं। गन्धर्व सत्य, सहिष्णु, असत्य पर क्रुध होने वाले सत्याश्रयी हैं। वे विचारशील और सबल व्यक्तियों की रक्षा करते हैं। विविध धान्यों और वनस्पतियों का उपभोग कर अप्सराओं की भाँति प्रसन्न रहते हैं।[१] निरन्तर सन्नद्ध रहने वाले सर्वमानरूप गन्धर्व मारीचि नाम्नी अप्सरायें सर्वत्र व्याप्त हो रही हैं। गन्धर्व विचारकों और सैनिकों की रक्षा करते हैं।[२] चन्द्रमा गन्धर्व सुषुम्ना नाम्नी सूर्य की प्रमुख किरण से संयुक्त है। दीप्तिमयी भकुरा नाम्नी नक्षत्र मलिका ही गन्धर्व की अप्सरायें हैं।[३] आशुगामी वायु गन्धर्व की गति सर्वत्र अप्रतिहत है। सुन्दर पंख वाले प्रशसिका दक्षिणा उसकी अप्सरा है।[४] मनोगन्धर्व प्रजापालक और समग्र कृत्यों का अधिष्ठाता है। गन्धर्वों का विवाह से घनिष्ठ सम्बन्ध है विश्वासु गन्धर्व से कहा गया है कि यहाँ से उठो और किसी दूसरी पत्नी की इच्छा से इस पत्नी को पति के साथ समृद्ध करो।[५]

---

१. ऋताष्षाड्तधामाग्नि गन्धर्वस्तस्यौषधयोऽप्सरसो मुदो नाम।
स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाअ ताभ्यः स्वाहा। पा.गृ.सू.

२. स हितो वि श्वसामा सूर्यो गन्धर्वस्तस्य मारीचयोऽप्सरस आयुधोनाम।
स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा व्राअ ताभ्यः स्वाहा।
वही राष्ट्रभृत संज्ञक आहुतियाँ।

३. सुषुम्णः सूर्येरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वस्तस्य नक्षत्राव्यप्सरसो भेकुरयो नाम। वही

४. इषिरो विश्वव्यचा बातो गन्धर्वस्तस्यापो अप्सरस ऊर्जो नाम। वही

५. प्रजापतिविश्वकर्मामनो गन्धर्वस्तस्य ऋक्सामान्यप्सरसएष्टयो नाम। वही

गाय

गाय रुद्रों की माँ है वसुओं की पुत्री आदित्य की भगिनी मानी गयी है।[१] गौ पाप को नष्ट करने वाले हैं इनके सहारे वसु देवता जीवित रहते हैं। गाय धनवती है इनकी कृपा से यजमान धनवान हो जाते हैं इसीलिये कहा गया है कि तुम सर्वत्र रमण करो बैल को गाय का पति कहा गया है।

विष्णु :

विष्णु देव को गृहों के अन्दर होने वाले अनुष्ठान के देवता हैं इनका वैदिक देवता के रूप में भी मान्यता प्राप्त है। इनकी सतुति युवक मानव के रूप में की गयी है। विष्णु का उच्चतम स्थान अग्नि के तुल्य है वहाँ पुण्यात्मा सानन्द निवास करते हैं। विष्णु गतिशील है वर को विष्णु का प्रतीक माना गया है। त्रिदेवरूपा है विष्णु साम है।[२] इनका निवास स्थान द्युलोक है। विष्णु ने सूर्य तक क्षेत्र विस्तार कर रखा है। विष्णु देव परम उपकारी भिरूपद्रव कृपालु उदार अभ्रमित रक्षक और मुक्तिप्रदाता हैं। विष्णु इन्द्र के घनिष्ठ मित्र हैं। विष्णु का प्रतीक वर लक्ष्मी रूपा कन्या से कहता है कि आओ हम व्याह करें और एक साथ वीर्य धारण करें संतान उत्पन्न करे हमारे पुत्रों की संख्या प्रभूत हो सन्ताने दीर्घायु हों, परस्पर प्रीतियुक्त रहते हुए १०० वर्ष तक देखते सुनते हुए जीवित रहें।[३] विष्णु का एक अन्य नाम वृहस्पति है।[४]

---

१. माता रुद्राणा दुहिता वसूनां स्वसादित्यानाममृतस्य नाभिः प्रनुवोत्तच्चिकितुषे जनाय मागामना गामदिति वधिष्ट। वही पा.गृ.सू. १/४/१४

२. अमोहमस्मि सा त्व ९-सा त्वमस्यमोऽहम् सामाह्मस्मि ऋक् त्वं द्यौरहं पृथिवी त्वम्। पा.गृ.सू. –

३. तावेहि विवाहवहै सह रेतो दधावहै प्रजां प्रजनयावहे पुत्रान् विद्यान्वहै बहून ते सन्तु जरदष्ट्यः सम्प्रियो रोचिष्णु सुमनस्यमानौ पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शत श्रुणुयाम शरदः शतमितिः। वही १/६/३

४. वेनेन्द्राय वृहस्पतिर्वासः पर्यदधादमृतं तेन त्वा परिदधाम्यायुषे दीर्घायु त्वाच बलाश वर्चस इति। वही २/२/७

देवगण :

मनुष्य के दैनिक जीवन में देवताओं का स्थान प्रमुख है। देवों के समूह के रूप में कतिपय देवता रहते हैं उन्हें देवगण कहते हैं। देवों का प्रत्येक स्थान संस्कार व यज्ञ में अपना महत्व है। भातृविद देवता यज्ञ के वेत्ता हैं। देवों में वन्दनीय हैं आप प्रसन्न होकर सदैव हम पर कृपा की दृष्टि करें। देवगण से मधु प्रशंसा करते हुये उसमें प्राप्त गुण का उल्लेख करते हैं कि यह मधु मधुर और अन्नप्राशन के योग्य है। मधु की शक्ति से मैं मधु के समान मधुर और अन्न का भक्षक बन जाऊँ।[१]

विश्वेदेव :

विश्वेदेव का स्वतन्त्र कोई अस्तित्व नहीं है न ही ये वैदिक देवता माने जाते हैं। परन्तु गृह्यसूत्रों में इनकी स्तुति की गयी है। इनसे प्रार्थना की गयी है कि जिस प्रकार मधुमय पवन बहने से नदियों में मधुर जलस्राव होता है उसी प्रकार वनस्पतियाँ हमारे लिये मधुरता से समन्वित हो उठे।[२] इनकी कृपा से रात्रि मधुमयी हो उषस मधुमयी हो पृथिवी सरस हो जाती है ये रस प्रदान करते हैं।[३] सूर्य संताप रहित होकर आनन्द युक्त होता है।[४] इनकी कृपा से वाणी नासिका प्राणवायु नेत्रगोलक नेत्र इन्द्रिय श्रवणइन्द्रिय बाहु और जंघाये सबल तथा तेज रहती हैं।[५]

---

१. यन्मधुनो मधष्यं परमं रूपमन्नाद्यम। तेनाहं मधुनो मह्यष्येन परमेण रूपेणान्नाद्येन न परमोमधव्योऽन्नादोऽसानि। वही १/४/९

२. मधुष्वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः। माहवीर्नः सन्त्वोषधीः पा.गृ.सू. १/३/२१ में यजुं सहि. – की १३/२७ पृ. ५९

३. मधुनक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिव रजः मधुद्यौरस्तु नः पिता।
वही। यजु. संहिता १३/२८

४. मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमांऽअस्तु सूर्यः माध्वीर्गावो भवन्तु नः। वही १३/२९

५. वाङ्म आस्ये जसोः प्राणोऽक्ष्णोश्चक्षुः कर्णयोः श्रोत्रं बाहुबल मूर्वोरोजोऽरिष्टानि मेऽङ्गानि तनूस्तन्ता मे सह। वही १/४/१२ पृ. २६

विष्टर, मृगचर्म ओषधि, यज्ञोपवीत दण्ड :

गृह्यसूत्रों के अध्ययन से पता चलता है कि आर्य धार्मिक वृत्ति से पूर्णतया ओत-प्रोत थे इसलिये वे मात्र वैदिक देवताओं को महत्व देते हैं बल्कि संस्कार में प्रयुक्त होने वाली प्रत्येक वस्तु को देवता का स्थान देते थे। अतिथि विष्टर से प्रार्थना करते हैं कि जिस प्रकार चमकने वाले पदार्थों में सूर्य श्रेष्ठ है उसी प्रकार मैं सहजात व्यक्तियों में श्रेष्ठ बनूँ। विष्टर अतिथि के शत्रुओं का दमन कर देता है। विष्टर का राजा सोम है।[1]

मृगचर्म बल तेज प्रदान करता है। इसे सूर्य का नेत्र कहा गया है। प्राचीन दीप्तिमान संयमशक्ति बढ़ाने वाला और वृद्धावस्था का नाशक है।[2] विशेष ऋत्विग् अथवा सोम के दोनों अधिषवण पलकों में से पिसने से बचे हुये सोम को शकट के ऊपर ले आओ पिसे हुये सोम को दशा पवित्र छलनी रूप वस्त्र के छोर में लाकर डालो और बचे हुये सोम को ऋषभचर्म पर रख दो।[3]

औषधि दग्ध गुणों का आधान करने वाली रसवती सेवन करने वाले की रक्षा करती है। स्वयं कष्ट सहकर भी दोष के वेग को नष्ट कर देती है। बहुविधि फल देने वाली इस वनस्पति की कृपा से जैसे मैं अपने पिता का नाम उज्ज्वल करने वाला हूँ उसी प्रकार मानव की सन्तान मेरा (मानव) का नाम उज्ज्वल करने वाली हो।[4]

यज्ञोपवीत परम पवित्र प्रजापति का सहजात था वह दीर्घायु प्रदान करने वाले हैं। यज्ञोपवीत बल और तेज प्राप्त हो यज्ञोपवीत यज्ञ के सूत्र से बँधा होता है क्योंकि उसे दीर्घायु सत्सन्तति वीरता सब वेदों

---

१. वर्षोऽस्मि समानानामुधुद्यतामिवं सूर्यः। इमं तमभितिष्ठामि यो ना कश्चाभिदासति। वही १/३/८

२. मित्रस्य चर्क्षुद्धरुण बलीयस्तेजो यशसिस्थाविरं समिद्ध अनाहमस्यं वसनं जरिष्णुः परीदं वाज्यनिनंदधेऽहम। पा.गृ.सू. २/२/११

३. गृह्यमंत्रो का विनियोग – डॉ. कृष्णलाल पृ. २६३

४. इयमोषधी त्रायमाणा सहमाना सरस्वती
अस्याअहं वृहव्याः पुत्रः पितुरिव नाम जग्रभम्। पा.गृ.सू. १/१४/१ पृ. ६९

पर अधिकार यश और ब्रह्मतेज के लिये यज्ञ के सूत्र से बँधा है।[१] दण्ड अग्नि के समान आयु से अधिक पोषण प्रदान करता है। मरुतो के समान ये इन्द्र तथा वसुओं के साथ आदित्य इस अवसर पर आयु और पोषण प्रदान करता है।[२] दण्ड शोभन कीर्ति युक्त होता है ये देवों के कोष रक्षक हैं। वेद और ब्राह्मणों का कोष रक्षक बनने की कामना से ब्रह्मचारी दण्ड धारण करता है।[३]

प्रजापति :

प्रजापति अर्थात् ब्रह्मा यज्ञ का नेता होता है इसलिये यह गृह्यानुष्ठान के प्रमुख स्थान रखता है। यज्ञीय कार्य सम्पादन के निमित्त कर्मकाण्ड में नैमित्तिक पवित्र ब्राह्मण को ब्रह्मा कहा जाता है। ब्रह्मा का यदि अभाव हो तो पच्चीस कुशों से निर्मित ब्रह्मा का वरण कर लेना चाहिये।[४] वर वधू से कहता है कि हे कन्ये शास्त्र विहित नियमों का पालन के लिये मैं तुम्हारे हृदय को धारण करता हूँ तुम्हारी चितवृत्तियाँ हमारे अनुकूल हो तुम एक निष्ठ होकर मेरे वचनों का पालन करो। प्रजापति तुम्हें मुझसे संयुक्त करें। तुम प्रत्येक दृष्टि से मेरी सहयोगिनी बनो।[५] ब्रह्मा ने वधू वर को इसलिये प्रदान किया ताकि वह उनके घर

---

१. यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत् सहजं पुरस्तात
आयुष्यमग्रय प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः। वही २/२/१०

२. यो मे दण्डः परापदद्वैहायसोऽधि भूम्यातमहं पुनराददं आयुषे ब्राह्मणे ब्रह्मवर्चसात्र। वही २/२/१२ पृ. २३८

३. सुश्रवः सुश्रवसं मा कुरु यथा त्वं सुश्रावः सुश्रवा अस्येवमह सुश्रुतः सुश्रवा भूया संयथात्वं सुश्रवो निधिगोपोऽस्येव महं ब्रह्मणानां निधिगोपो भूयाज्ञम्। गृह्यसूत्रों का विनियोग – डॉ. कृष्णलाल।

४. पा.गृ.सू. १/१

५. मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनुचित ते अस्तु
मम वाचमेकमना जुषस्व प्रजापतिष्ट्वा नियुनक्त मह्यम् इति। वही १/८/८ पृ. १०२

में ध्रुव नक्षत्र के समान अटल रहकर पुत्र पौत्रो से भरी पूरी होकर १०० वर्ष तक की आयु प्राप्त करे।[१]

वधू :

वधू को देवता के रूप में वर्णन गृह्यसूत्रों में किया गया है। वर कहता है वधू तू पति से विरोध न करने वाली प्रिय दृष्टि हो सब पशुओं का मंगल करने वाली पवित्रान्तःकरण युक्त सुन्दर शुभ कर्म गुण स्वभाव और विश्वा से सुप्रकाशित वीर पुरुषों को उत्पन्न करने वाली देव के गुणों के इच्छुक सुखयुक्त हो हमारे मनुष्यादि के लिये सुख करने वाली हो और पशुओं को भी सुख देने वाली हो।[२] वधू शिला के समान सुदृढ़ चित्त वाली होने की कामना की गयी है। वह शत्रुओं को नष्ट करने में सक्षम होती है।[३] वधू का प्रत्येक पग घर की समृद्धि के लिये होता है।[४] वधू से वर यह उपेक्षा करता है कि वधू उसके कर्तव्य पालन में सहायक सिद्ध हो, पति की अनुगामिनी हो तथा बहुत से पुत्रों वाली है।[५]

वसु

वसु शब्द की व्युत्पत्ति है कि इनमें सृष्टि का मूलधन सुरक्षित रहता है और ये अपने में उस मूलधन सृष्टि बीजों का निवसित रखते हैं अतः वसु कहलाते हैं। अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष आदित्य द्यौ और नक्षत्र ये अष्टवसु हैं। इन्हीं से अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, द्यौ, आदित्य, चन्द्रमा, अश्विनी आदि नक्षत्रों का क्रमिक विकास और

---

१. ध्रुवमसि ध्रुवं त्वा पश्यामि ध्रुवैधि पोष्ये मयि। मह्य त्वाढाद् वृहस्पतिर्मया पत्या प्रजापती सञ्जीवा शरदः शतम् इति। वही १/८/१९ पृ. १०६

२. गृह्यमन्त्रो का विनियोग – डॉ. कृष्णलाल पृ. ७१

३. आरोहेममश्मानमश्मेव त्व स्थिरा भव
अभितिष्ठ पृतन्य तोऽवबाधस्व प्रतनपायत।। पा.गृ.सू. १/७/१ पृ. ९५

४. एकमिषे, द्वि ऊर्जे त्रीणि रायस्योषाय, चत्वारि मायोभ्वाय, पञ्च पशुभ्यः षद ऋतुभ्यः सखे सप्तपदा भव सा मामनुव्रता भव। वही १/८/१

५. पा.गृ.सू. १/४

सृष्टि के सब तत्वों का विकास होता है। पञ्चपर्वा विद्या में ये अष्ट वसु पञ्चनदी या सप्त नदी के मूलस्रोत रूप अष्टवसुधारा भी कहलाती है पञ्चपर्वा विद्या के पर्वतों में ब्राह्मणस्पति को प्रथम पर्वत का विकास कारक और उस प्रथमपर्वत को वसुमान तथा मधुधार वाला कहा गया है। यजुर्वेद में इसका समर्थन किया गया है।[१] वसुओं का अग्निरूप में सर्वत्र वर्णन मिलता है इसीलिये अग्नि का नाम विभावसु है। वसुओं को अग्निहुताश अधृष्ट और सबके स्तुत्य देव कहते हुये लिखा वसुदेवता वाग्धेनु देवी के भी पिता है इन्द्र वसुओं से वासव कहलाता है सम्पूर्ण देवता वासवीय है ये सबके मूल देवता हैं। वसु देवता का कोई पृथक् सूक्त नहीं है इनका वर्णन विश्वदेवताओं के सूक्त में आता है अत: ये विश्वदेवता भी है सर्वादेवता है।[२] इनका वर्णन धन, रत्न, वसु द्रविण शब्दों में किया गया है वसुओं का सप्तक सर्वप्रथम सप्तक है इनके सप्तक का नाम अन्तरिक्षषद् है।[३] लौकिक अन्तरिक्ष तो पृथिवी और आकाश के मध्य को कहते हैं पर वैदिक अन्तरिक्ष द्यौ और वैदिक या शुचिषद् भी कहते हैं। वसु के विषय में मात्र दो ऋचायें उपलब्ध होती हैं।[४] अन्तरिक्षषद् का तात्पर्य वसुओं की सद है इसका दूसरा नाम भू लोक या ब्रह्मलोक है। वसु देवता भू नामक लोक में रमण करते हुये शुभ्र वर्ण स्वरूप में अपने अन्तरिक्षषद् में ही रमण करते हैं। ऐसे वसुदेवता इस अग्निरूपदूत के उत्तरोत्तर विकास के लिये अद्योऽध: मार्ग या सीढ़ियों या पीढ़ियों को बड़े वेगवान बनावे हमारी प्रार्थना सुन लें हे वसुदेवताओं आप लोगों के विकास के मार्ग को सुगम कर दिये गये हैं इन यज्ञों का अस्वादन करने के लिये आप आइये यहाँ हवि पाक और सोम पीकर हमें अपने सब वसु या धन देते जाइये वसुओं की दिशा प्राची है जिसे राज्ञी कहते हैं। वसु और

---

१. वसो: पवित्रमसि शवधारं वसो: पवित्रमसि सहस्रधारं। य.

२. ग्नाहुतासो वसतो धृष्टा विश्वे स्तुतासौ भूता यजत्रा:।।

३. वैदिक वि. दर्शन – पेज ३७०-३७१-१०५ पा.गृ.सू.

४. मया अत्र वसवो रन्त देवा उरावन्तरिक्षे मर्जयन्त शुभ्रा:
अवाक्पथ उरूप्त्रय: कृणुध्वं श्रोता दूतस्य जग्मुषो नो अस्य।।

ऋषि का स्थान एक सा हो जाता है। सब तत्व ऋषि हैं, सब तत्व वसु हैं। आठ से वसुओं की सात से ऋषियों की व्याख्या की जाती है।[१]

मरुद्गण

"मितराविणे वा मिलशेचिनो वा महद्द्रवन्तीति वा" इसके द्वारा मरुत शब्द की व्युत्पत्ति बतायी गयी है। एक अन्य प्रकार से जो 'म (ँ)' अनुनासिक ध्वनि में ध्वनित या चलित या ज्वलित होते हैं न कि वे सीमित ध्वनि के या सीमित प्रकाशित या बहुत भागने वाले हैं, क्योंकि मरुत सीमित नहीं हैं असीम और व्यापक तत्व हैं और इनकी अपनी पृथक् प्रकार की ध्वनि है। ये ध्वनि के पर्वत शब्द ब्रह्म पर्वत है वेदों में मरुत तत्व महत्वपूर्ण देवता हे मरुत एक नहीं अनेक हैं वैदिक दर्शन में जितने तत्व हैं उतने मरुत हैं अतः इन्हें सदा बहुवचन में मरुतः या मरुद्गण कहते हैं ये सर्वदेवता भी हैं। इनका वर्णन वातः या वायु या प्राणः के रूप में भी किया गया है। मरुत का मार्ग इन्द्र का ही मार्ग है। मरुत रूद्र इन्द्र आदि देवता उनको रौद्र रूप रोदन रूप सतत क्रियाशील स्वर्ग विकास द्वारा योग्य बनाकर उन्हें प्रकृति या स्वभाव का स्वरूप प्रदान करते हैं। मरुतो का विकास रौद्र रूप में, रव रूप में या प्राण रूप में होता है यही रौद्र रूप 'रावण' रूप में परिणत होता है मरुत गणरूप देवता हैं मरुत के सात गण हैं कुल मरुतों की संख्या ४९ है। मरुतों का संबंध इषु अञ्जन और पर्वतों से भी है मरुतों के पिता रुद्र हैं इनकी माता का नाम प्रश्नि है। अतः इन्हें प्रश्निमातरः और गोमातरःनाम से पुकारा जाता है।[२] ये चमकीले सात्विक तत्व हैं। इन्हीं से पर्वत बनते हैं जो आञ्जनेय या आञ्जन कहलाते हैं। इन्हें रघुष्यद् या रघुतत्व नाम से पुकारा जाता है। दधीच नाम मातरिश्वा नामक मरुतो का है। मातरिश्वा नामक चतुर्थ सप्तक के प्राण वायुओं का है मरुतो के प्राण वायु विद्यन्मय है रोचिष्मान है

---

१. वैदिक विश्व दर्शन – हरिशंकर जोशी पृ. ३७०-३७२

२. अर्चियन्तो अर्क जनयन्त इन्द्रियमधिश्रियो दधिरे प्रश्निमातरः
गोमातरो यच्छुभयन्ते अञ्जिभिस्तनूषु शुभ्रा दधिरे विरुक्मतः।

जिन्हें स्वर्का या अर्कादिवो कहा जाता है ये कल्याणकारी अश्व या अश्वपर्ण भी कहलाते हैं। यही वैद्युतीय मरुत पर्वतों का निर्माण करते हैं ये आञ्जन पर्वत सर्वतोभद्र चक्र में चलते हैं।[1] मरुतों का नाम यज्ञायज्ञ भी है इन्हें सुदानव और अहिभानवः नामों से भी पुकारा गयाा है इन्हें जाति में विश तथा अश्म नामों से संबोधित किया गया है। इन मरुतों को धारावरा अर्थात् धारा में प्रवाहित होने वाला भी कहा गया है।

मरुत अपान ब्रह्म या चतुर्थ सप्तकीय भौतिक अपान वायुओं का प्रतिदिन निर्माण करते मरुत को प्रवदश्वा नाम से पुकारते हैं। मरुतों को २०वें तत्व से आदित्य नाम से पुकारा जाता है इनको स्वाध्याय युक्त विप्र के समान कहा है। विप्राः नाम भी मरुत्सप्तक का है। ये नदियों की तरह उत्तरार्द्ध की ओर प्रस्थान करते हैं। अतः इन्हें सिन्धुमातरः भी कहा है इनकी प्रशंसा में लिखा है कि ये धूनन में वात की तरह, जिह्वा में अग्नि की तरह, योद्धाओं की तरह वर्मकवच वाले पितरों की तरह कल्याण चाहने वाले और देवताओं के प्रिय हैं। इनकी स्तुति करते हुये कहा गया है आप शुक्रज्योति[2] शुक्ल या शुद्ध ज्योति चिप्रज्योति, सत्यज्योति, ज्योतिष्मान शुक्र ऋतपा और अत्यहां नामक सात मरुत देवता इस यज्ञ में आकर अपना भाग ग्रहण करें।[3] इन्हें उषा या केतु का झंडा भी बतलाया गया है तथा अध्वर की श्री भी मरुत राजाओं की तरह चित्र विचित्र वेष के हैं तथा ब्रह्म की ही तरह अरेपस या बाधाहीन सुखदायक भोजदायक इत्यादि ये विप्र और देव रक्षक हैं। यज्ञ के समान स्वप्नशील हैं। विप्र नाम सात विप्राः उद्धरण के अनुसार सप्त ऋषियों का है। इसका समर्थन वामनपुराण में किया गया है।[4] कलश से उत्पन्न सात ऋषियों का ही नाम मरुद्गण है। ये ऋषि अंगिरसों से भिन्न हैं क्योंकि मरुतों और अङ्गिरस ऋषियों

---

१. भूरीणिभद्रानर्थेषु बाहुषु वक्षषु रूक्मा रभसासो अञ्जयः।
अंसेस्क्ता पविशुक्षरा अधिवयोनपक्षान्व्यनुश्रियो धिरे।।

२. शुक्रज्यौतिश्च चित्रज्योति श्च सत्यज्यो ति श्च ज्योतिष्मा श्च। शुक्र श्चं ऋतापाश्वात्ये द्वाः।

३. पा.गृ.सू. – डॉ. ओमप्रकाश पाण्डये पृ. २७९

४. विप्रासो न मन्मभिः स्वाध्यो देवाव्यो न यज्ञैः स्वप्नसः

को एक साथ उत्तरवासी बताया है। अतः ये मरुतः सप्तर्षि सिद्ध होते हैं। इधर देखने वाले अन्य और देखने वाले समदर्शी सापेक्ष समदर्शी मानयुक्त और संमित सम्यक रूप से प्रतिनिष्ठत गण यहाँ पधारे आचार्य यज्ञ में मरुतगण को बुलाते हैं।[१] दधिक्रावत् इष उर्ज:महः आदि नाम भी मरुतों के बतलाये हैं। मरुत् को रूद्रस्य वीरा पुत्र भी कहा गया है। मरुतों का नाम रश्मि भी है। मरुत्, ऋत्, सत्य, ध्रुव, वरुण धारक, कर्ता विधर्ता और विभिन्न वस्तुओं को धारण करने वाले विधारीमरुतो का गण यहाँ आकर अपना अंश स्वीकार करें।[२] मरुत ऋतजयी सत्यजेव शत्रुसैन्यजयी, सैन्य अधिष्ठाता, मित्रो से युक्त और शत्रुओं को दूर भगा देने वाले मरुत्गण हैं।[३]

ओ मरुतों तुम सभी सजीव निर्जीव वस्तुओं को देखने वाले समदर्शी प्रतिसमदर्शी हो तुम एक ही प्रकार के आभूषण पहनते हो इस यज्ञ में पधारो[४] मरुतों का नाम रश्मि है मरुत् सब देवताओं से अधिक मरुत अन्न है मरुत् प्राण ग्रावाण है मरुत् आप हैं और आपो में रहते हैं मरुतों का छन्द पंक्ति है इन्द्र के खिलाड़ी है मरुत् सांतपन है। मरुत स्वाधीन बलशाली, यज्ञान्नसेवी, सूर्य से सम्बन्धित गृहस्थ धर्म के परिपालक सशक्तसमर्थ एवं महाविजयी हैं।[५] उग्र भयंकर शत्रुओं को अंधा कर देने वाले भयकम्पित और पराजित कर पलायन के लिये उन्हें विवश कर देने वाले मरुदगण है। मरुदगण देवलोक की प्रजा है उसने इन्द्र का अनुगमन किया था जैसे मरुद्गण इन्द्र का अनुयायी है ठीक वैसे ही ये मानुषी प्रजायें शुभकर्म करने वाले का अनुगमन करें।[६]

---

१. ईहङ् चान्याहङ् च सृहङ् च प्रतिसदृङ्। मितश्च संमित श्च सभराः।।

२. ऋतश्च सत्यश्च ध्रुवश्च धरुणाश्च। धर्ता च विधर्ता च विधारयः।।

३. वैदिक विश्वदर्शन – हरिशंकर जोशी – ४५३

४. ईहक्षास एतादृक्षासङ्ऊषृणः सदृक्षाक्षः प्रतिसदृक्षास एतन।
मितासश्च समितासो नो अद्य सभरसो मरुतो यज्ञे अस्मिन्।

५. स्वतवा श्च प्रघासी च सातपन श्च गृहममेधी च। क्रीडी च शाकी चोज्जेषी।।

६. पा.गृ.सू. – डॉ. ओमप्रकाश पाण्डेय – पृ. २७९-२८०

वनस्पति

वनस्पति या सोम ज्योति की मणियों का नाम द्रविण है। इसीलिये वनस्पति देवता से द्रविण देने की प्रार्थना की गयी है। वनस्पति देवता को प्रथम भौतिक अणु का वाचक भी सिद्ध किया है और इसे उत्तरायण में रहने वाला बताया है। वृहस्पति द्रविणोदा और वनस्पति तीनों सर्वदेवता और विश्वदेवा स्वयं सिद्ध हो जाते हैं ये वनस्पति द्रविण को धारण करने वाले हैं। एक ऋचा में वनस्पति को हिरण्यपर्ण नाम से पुकार कर कहती है तेरा अर्थ दिव या द्यु है तेरा रथ द्यु है। परन्तु विकास परम्परा में जब तुम दक्षिणार्द्धिनी बनती हो तुम ऋत के मार्ग को रजः युक्त या भौतिकाणु दीप्ति युक्त कर देते है। ये भौतिकाणु या रजः भी हिरण्यपर्ण दीप्तिमान द्रविण ही स्वयं हो गये हैं। हिरण्यपर्ण शब्द वनस्पति का सूचक है। हिरण्यपर्ण रूप वनस्पति देवता के द्रविण के विकास का नाम रशना देते हुये भौतिक तत्व को पिष्टतमा नाम से पुकारती है और कहती है कि तुम अमृत नामक त्रिपादामृतो के बारे में हमें बताओ वनस्पति देवता किसी घास फूस पत्ती पेड़ों का नाम नहीं है वरन् यह सोमरूप अग्नि का नाम है इस अग्नि का नाम शमग्नि या शमिनाग्नि है। शम नामक अग्नि भौतिकाणु की अग्नि है जिसका प्रारम्भ सूर्य से होता है। सभी शब्द का प्रयोग कर्मकाण्ड ने शमी प्रभृति वनस्पति इसका कार्य करने लगी और इसे वनस्पति देवता भी कहने लगें वनस्पति देवता सोमरूप देवता है वनस्पति को प्राण नाम से पुकारा जाता है फिर अग्निाम् सेवनस्पति देवता देवरथ का वाचक है।

वनस्पति को मरुतों का मुख मित्र का गर्भ और वरुण की नाभि कहा है। वनस्पति की प्रशंसा में कहते हैं कि ऐ दांतो अन्नभक्षण हेतु आत्मशुद्धमर्थ तुम पंक्तिबद्ध हो जाओ क्योंकि इस दातुन के रूप में स्वयं वनस्पतियों के अधिष्ठाता राजा सोम पधारे हैं वे सुकीर्ति और षङविध ऐश्वर्य प्रदान करते हुये मेरे मुंज की शुद्धि कर रहे हैं।[१] वृक्षराज वज्र कुठार राजा के द्वारा भेजा गया दण्ड और आंधियाँ तुम्हें

---

१. अन्नाद्याय व्यूहध्वं सोमो राजाऽयमागमत्। स मे मुर्खप्रमार्क्ष्यते यशसा च भगेन च।।

हानि न पहुँचाये। तुम्हारे अङ्कुर निकले इन्द्र निवति वातावरण में वर्षा कर तुम्हें काटने में सहायता करे। अग्नि देव तुम्हारे मूल को नष्ट न करे ओ वनस्पति तुम्हारा और हमारा सर्वथा कल्याण हो।[१]

उषा

उषा हिरण्यगर्भ की स्थिति है उषा का नाम गर्भ है वह उषा है जिससे समस्त ब्रह्माण्ड प्रवर्तित हुआ है। चक्षु नामक सूर्य का जन्मदाता भी इसी उषा को बतलाया गया है। ब्रह्ममहत्उल्बं में आपो ब्रह्माणी रहती है। ब्रह्म के तृतीय सप्तक में इस उषा का जन्म होता है। इसे तनूनपात् भी कहा गया है जिसे दिव दुरोण द्यु और स्वः नाम से पुकारा जाता है। इसमें सात तत्व हैं सातों का नाम वनूनपात् भी है उषा तो दो प्रकार की हैं प्रातः कालीन और नकोषा या सायंकालीन उषा या भौतिक उषा प्रथम सात तत्वों की है। सातवें में वह पूषा की अरिणी कहलाती है। द्वितीय में वह सूर्य की पत्नी २६वें में सविता की पत्नी कहलाती है। उषा शब्द अहोरात्र वाचक होने से द्विवचनान्त है अतः दिव्येयोषणे सुरुक्मे बृहती विशेषण दिये हैं वह शुक्र पिश या शुक्ररूपिणी और उपक या समीप में तुम गर्भ रूप में लेटी हुयी बैठो तुम भौतिक सृष्टि के लिये भौतिक अणु के परिपाक होने पर लेटे ही विकास पाती हो। नक्तोषा से भौतिक सृष्टि के भौतिकाणु रूप सोकं तनय प्राप्ति की प्रार्थना की गयी है कहा गया है कि तुम वाजिनीवती हो या अन्न या भौतिकामृत वाली हो। इसी उषा को तत्वों के पूर्वार्द्ध २५ तत्वों में भौतिक तत्व के रजोरूप प्रकाश से आदित्यों को उद्दीप्त करने वाली और भाव रूप प्रत्येक आदित्य रूप गायें ही तुमसे माता रूप में जन्म लेती है। लौकिक उषा तो नित नयी होती है प्रतिदिन जन्म लेती है। हे चिर रूपिणी उषा देवि। तुम सबके लिये समान रूप से हितकारी कर्मों का संपादन कर उषःकाल में जगने वाले लोगों की दीर्घायुदान करती हुयी उस रात्रि में आई हो जो दीप्तिमयी, वृष्टिशीला

---

१. मा त्वाऽशनिर्मापरशर्मा वातोराजप्रेषितो दण्डः। अंकुरास्ते प्ररोहन्तु निवाते त्वाऽभिवर्षतु।
अग्निष्टे मूलं महिसीत्वस्तसित तोऽस्तु वनस्पते स्वस्ति मेऽस्तु वनस्पते।। पा.गृ.सू.

श्रेष्ठ और नानारूपों वाली है वह आकाशस्थ ज्योतियष्मान नक्षत्रों के साथ आई है।

त्वष्टा

त्वष्टा की उत्पत्ति आसुरी प्रवृत्ति के कारण हो गया है जिसका दमन इन्द्र ने किया था इस त्वष्टा को सुदक्ष कहकर दक्ष नामक तत्व का विकास बतलाया गया है त्वष्टा पूषा का पोषणशील धर्मी है और ये युक्त द्यावा या भौतिक पर्वत की स्फटिक शिलायुक्त कहा गया है अतः इसे देवताओं या तत्वों के विकास के योग्य भी बतलाया है अद्यः शब्द दक्षिणायन के वाचक है अतः त्वष्टा का स्थान निश्चयपूर्वक चतुर्थ सप्तक हो जाता है यह सूर्य के तमः केतुः स्वर्भानु का स्फटिका शिला सम समरूप है और इसीलिये सूर्य को ताक्ष्र्य या त्वष्टा नाम से कहा जाता है त्वष्टा शब्दत्विषकान्ति वाचक है यह अन्नादभी है इसी त्वष्टा का पुत्र वृत्र है त्वष्टा के पुत्र को त्रिशिरा कहते हैं। इस त्वष्टा ने अखिल ब्रह्माण्ड के रूप या भौतिक स्वरूप दिया। इनको रूप देने का कार्य या भौतिकात्मा में संबद्ध सन्नद्ध संगठित करने का काम केवल यही त्वष्टा करता है। इसने अखिल भुवनों सातों सप्तकों को विश्व का आवरण पहिना दिया। आज हे होता उसी श्रद्धा और यज्ञ के योग्य त्वष्टा देव के यज्ञ को कर रहे हो। यह त्वष्टा प्रतीची दिशा या सूर्योदय के स्थान में उदीयमान असीन होकर सिंह के समान गरजने लगा। त्वष्टा रूप लौल्यमान भौतिक तत्व को लोलाकै षष्ठी के दिन भाद्रपद में माना जाता है। यह मघा सिंह का तत्व चित्र या विश्वरूप है। त्वष्टा उत्तरार्ध के आरम्भ में अश्विनी होता है। त्वष्टा के चार रूप हैं प्रथमरूप है त्वष्टा असुर ऐतिहासिक व्यक्ति जो वैदिक दर्शन के इस तत्व को वाहन रूप में ताक्ष्र्य रूप में देखना चक्तर्थ रूप सविता का अर्मत्य दैवी भौतिक स्वरूप। त्वष्टा के अमृत स्वरूप भौतिकात्मा का स्वरूप सूर्य की ज्योति के समान फैला दिया, उस ज्योति की गति सैकड़ों हजारों प्रकार की है। उसको देवता लोग उसी प्रकार अपनाते हैं जैसे कटाक्षशर वाली युवती को। त्वष्टा की उक्त ज्योति का नाम त्वाष्ट्री सरण्यू कहकर इसे त्वष्टा की पुत्री के रूप में वर्णित किया है। जब त्वष्टा का अधिक विकास हो जाता है

घनान्धकार हो जाता है वह वृत्र कहलाता है ऐसे परिवर्तित स्वरूप भौतिकात्मा सहित सविता को उसके अमृत भौतिकात्मा युक्ततत्व की दृष्टि से या त्वष्टा रूप भौतिकात्मासहित मानकर त्वष्टा नाम से पुकारा गया है। वैदिक दर्शन के मत त्वष्टा का स्थान दर्शन के तत्वों के मध्य २५वें में पड़ता है। त्वष्टा को समिधो का पति भी कहा गया है इन्द्र का नाम त्वष्टा के पशु है त्वष्टा रूप का स्वामी है। त्वष्टा ने इन्द्र का वज्र बनाया यह वज्र भौतिक तत्व है।[१] अन्त्येष्टि संस्कार मेंपुत्र अपने पिता से कहता है कि पितरों दीर्घायु और वृद्धावस्था का वरण करते हुये स्वर्ग का आरोहण करो ज्येष्ठक्रम से प्रयत्न करते हुये चलो। यहाँ पापनाशक शोभन जन्मा सबके प्रति समान प्रीति वाला त्वष्टा आपके जीवन के लिये दीर्घायु प्रदान करें।[२]

वास्तोष्पते

कर्मकाण्ड में वास्तोष्पति का अभिनय वास्तुपति के रूप में किया जाता है वाष्तोष्पति दैवत्य दर्शन है। वास्तोष्पति एक क्षेत्र है एक तत्व है। वाष्तोष्पति नामक तत्व भौतिक शरीर का मूल बीज दिव्य शरीर मास या चन्द्र है। इसीलिये वाष्तोष्पति को इन्दु नाम से संबोधित किया तथा पिता नाम से पुकारा है। गो रूप आदित्यों और अश्वरूप प्राणों से शरीर की वृद्धि करने वाला कहा है इसी के साथ तेरे साथ मेरी मित्रता अमर रहे यह प्रार्थना भी की गयी है। वाष्तोष्पति अखिल ब्रह्माण्ड के नाना रूपों को प्राप्त होने वाले और रोगहतो बतलाया है इसके भौतिक नाना स्वरूपों में पिता (ब्रह्म) माता (वाङ्ब्रह्मञ्चा) प्राण जीवब्रह्म विश्वति बान्धव या दिव्य शरीर का परिवर्द्धित कण-कण का परिवार रूपस्थूल शरीर तथा अन्य इसी प्रकार के व्याप्त तत्वों को इस वाष्तोष्पति रूप दिव्य शरीर के प्रसाद में सोने की कामना हो गयी कि सब में सुख पूर्वक निवास कर सके और उनके विरोधियों को मार भगा दिया जाये वाष्तोष्पति चतुर्थ सप्तक के समुद्र में उत्थित हुआ है और वह सहस्त्र शीर्षा या सहस्त्रशृंग वृषभ है। उसी प्रकार इसकी हजारों आसुरी पुण्यगन्धाः स्त्रियाँ और वारब्रह्मणियाँ स्त्री रूप के साथ

१. वैदिक विश्व दर्शन – हरिशंकर जोशी
२. पा.गृ.सू. – डॉ. ओमप्रकाश पाण्डेय

रहती हैं उन्हें भी इसी के साथ सुलाने में समर्थ होवे। वास्तोष्पति निश्चय रूप से वैदिक दर्शन के सोम का एतद्रुप वर्णन है वास्तु का नाम वस्तु या ग्रह भी है।[१] हे वास्तोष्पति इन्द्र को रूप चल सम्पत्ति और अश्वसाध्य पराक्रमों से हमारी आपत्तियों का निराकरण करो तुम हमारी प्राण शक्ति बढ़ाओ। तुम्हारे मित्र के रूप में हमारी सम्पदा अक्षर रहे– हम चिर तरुण रहे जैसे पिता पुत्र से प्रेम करता है ठीक वैसे ही तुम हमारी प्रीति की डोर में बँध जाओ। मनुष्यों और पशुओं के लिये तुम समान रूप से सुमंगलमय रहो।[२] गृहपति इन्द्र तुम्हारी शास्त्रीय ध्वनियों से अनुगूंजित यज्ञमयी अथवा वेदत्रयी से आपूरित सुखरूप संसद से हम सम्बन्द्ध हो जाये। तुम हमारे योगक्षेम की रक्षा अप्राप्त की प्राप्ति और प्राप्त की सुरक्षा करो। इन्द्र के अनुचरों तुम अभीष्ट फलों से निरन्तर हमारा संरक्षण करते रहो।[३]

पूषा

पूषा शब्द की व्याख्या है पुण्यवीति पोषयतीति पूषा है जिसका अर्थ है जो तत्व पुष्ट हैं या पोषण करता है वह पूषा है। यह शुद्रतत्व है। अतः चतुर्थपाद या सप्तक है जो आदित्यों में आता है। पूषा पञ्चम आदित्य से १७वें आदित्य तक के सब तत्व हैं परिपुष्ट पूषा अन्तिम अज नामक पशु तत्व या ३१वाँ तत्व है पूषा के पितर अश्विनी हैं। भुवनों के संरक्ष विद्वान अनिष्ट पशु अग्नि रूप पूषा सुन्दरदायिनी देवताओं और पितरों को अपना पोषण दे। पूषा को करम्भ या लस्सी प्यारी है। यह अदन्तक है रजो रूप है अतः इनको पिण्ड का पुरोडाश दिया जाता है। पूषा प्रथम भौतिकता का उदय करता है अतः दिशाओं का उद्भव और पितरों की पथ्या का सृजन इसी तत्व से प्रारम्भ होता है अतः यही तत्वद्यावा पृथिवी को पूर्णता देता है। पृथिवी के माने

---

१. वैदिक विश्व दर्शन – हरिशंकर जोशी – पृ. १७४१

२. वास्तोष्पते प्रवरणो न एधि गयस्फानो गोभिरश्वेभिन्रिे। अजरा सस्ते सरलो स्याम पितेव पुत्रान्प्रति तन्रे जुषुरव शन्नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे।।

३. वास्तोष्पते शम्मया संसदा ते सक्षीमहिरण्वया गातुमात्या।
पाहि क्षेम उत योगे वरन्नो यूयम्पात स्वस्तिभिः सदा नः।।
पा.गृ.सू. – डॉ. ओम प्रकाश पाण्डेय – पृ. २०७

भौतिकात्मा स्वरूप जलीय या वैद्युतीय दिव्य शरीरी अखिल ब्रह्माण्ड है। पूषा बुद्धि रूप है। पूषा का एक नाम अष्ट्रा भी है पूषा की हिरण्यी नाव है पूषा व्यापक तत्व है पूषा का नाम मघ्झवा सुबन्धु इलास्पति भी है। पूजा की खेती नक्षत्र है यह विशां विश्पति है। इसकी स्त्री सरस्वती है। पूषा ऋत का रथी है। इसे विमुचोनपात् नाम से भी पुकारा जाता है इसको स्वसुर्जार बहिन का यार भी कहते हैं। उषा इसकी बहिन है पर पूषा प्रजापति कहा जाता है। इन्द्र का भाई है। पूषनदेव हमें गाय और अन्न प्रदान करे व हमारे प्राणों को सर्वथा बनाये रखें।[१]

भूमि

पृथिवी या भूमि तो प्रत्यक्ष रूप में अश्विनी है। इनको माता के नाम से पुकारा जाता है। इस पृथिवी भौतिक तत्व के गर्भ में वाक् का गर्भाधान रहता है। पृथिवी इस अखिल ब्रह्माण्ड का भौतिकता हे इसका स्थूल शरीर नहीं है, पृथिवी रूप भौतिकात्मा में भूः या प्रथम सप्तकीय शब्द ब्रह्म है। पृथिवी जो आदि में अगर्व या आपोब्रह्म के सलिल रूप में थी जिसका हृदय या आत्मा परमेव्यामन् या द्यावा या त्रिपादामृत है। इस पृथिवी को सत्य या भौतिक स्वरूप ने आवृत्त कर दिया है। जिस पृथिवी रूप दिंव्य शरीर में वैद्युतीय प्रवाही आत्माओं प्रमादहीन अहोरात्र का क्षरण या विकास करते हैं वह भूमि उन आत्माओं की पयोधाराओं को अनेक धाराओं में संचारित करती रहे। जिस पृथिवी को अश्विनौ ने अभिभरण किया जिसमें विष्णु के तीन पद का विक्रमण हुआ जिसमें इन्द्र ने शक्तिमान बनकर मित्र का उदय किया वह माता रूप पृथिवी हमें आत्माओं का पयोदान करती है भूमि शब्द पूरे नौ भागों में विभक्त किया गया है।[२] हे पृथिवी तुम पर्वतों के छेदन का विकास बल धारण करती है। उससे भूमि का निर्माण करती हो। हे भूमि तुम्हारे जिस हृदय का निवास स्वर्ग में चन्द्रमा में है

---

१. पूषा गा अन्वेतु नः पूषा रक्षत्वर्वतः। पूषा ठवाजं सनोतु नः।।
पा.गृ.सू. – डॉ. ओम प्रकाश पाण्डेय।

२. नवभूमीः समुद्रा अच्छेप्टेधि श्रिता दिवः।
आ सूर्यो भात्युच्छि ष्टेऽहोरात्रेआपे तन्मयि।।

उसे मैं जानता हूँ इस कारण अमरत्व का स्वामी मैं पुत्र संबंधी कष्ट पर न रोऊ। हे पृथिवी यज्ञ और दुग्ध के साथ मेरे सम्मुख आओ अर्थात् प्रसन्न होकर मुझे दुग्धवान् और यज्ञिक बनाओ यह प्रेषित अग्नि तुम्हारी सारभूत वेदी पर आरोहण कर संतापरहित तथा शोभायुक्त पृथिवी तुम्हारे लिये कल्याणकारी हो। पृथिवी अन्तरिक्ष और सूर्य लोक की भी सृष्टि है।[१] वसुन्धरे इस शिशु को तुम्हारे हृदय का ज्ञान है द्युलोक में स्थित चन्द्रमा में आश्रित तुम्हारे हृदय को मैं जिस प्रकार जानता हूँ उसी प्रकार यह मुझे जाने।[२]

चन्द्रमा

चन्द्रमा को विधाता कहा गया है ये अखिल ब्रह्माण्ड की रचना करते हैं इसे इन्दु नाम से पुकारा जाता है क्योंकि इससे बूँद-बूँद इन्दु टपकने लगता है। यह इन्दु चन्द्र इन्द्रिय का रस जिसे वह पीता है। विष्णु इसी सागर के शायी है चन्द्रमा सोम और वृत्र की आत्मा या दैवी शक्ति है सोम से चन्द्रमा का महत्व है क्योंकि वह सोम का भौतिक स्वरूप है। चन्द्र सविता और हिरण्य है चन्द्रमा आपः है। सोम राजा चन्द्रमा है। वृत्र नाम भी है। चन्द्रमा मन्त्री और वरेण्य है इसका पञ्चदश या २६वां तत्व है षोडश कला (ब्रह्म) चन्द्रमा ही है। चन्द्रमा को असु कहा गया है नक्षत्र चन्द्रमा में श्रित है चन्द्रमा द्वार विधान है रात्रि उड़ान है यह अमावस्या में उदित होता है और दक्षिण में इसका निवास है चन्द्रमा तो मनुष्य लोक है वाक् है चन्द्रमा का नाम हन्तकार है यह हिंकार और प्रतिकार है यज्ञियायज्ञिय है। चन्द्रमा भर्ग और भृगु वंशी हैं। चन्द्रमा उदान है। सुक्र को चन्द्रमा ने बतलाया है इनका जन्म चक्षु नामक सूर्य से बतलाया गया है इनको जगत की आत्मा और प्रजापति कहा गया है इसको हवि नाम पुकारा है।[३] चन्द्रमा

---

१. गृह्यसूत्रों का विनियोग – डॉ. कृष्ण लाल

२. वेद ते भूमि हृदयं दिति चन्द्रमसि श्रितम वेदाहं तन्मांतद्विद्यात
पश्येम शरदः शतं जीवम शरदः शतं श्रुणुयाम शरदः शतम्।।

३. वैदिक विश्व दर्शन – हरिशंकर जोशी

गन्धर्व सुषुम्ना नाम्नी सूर्य की प्रमुख किरण से संयुक्त है दीप्तिमयी मेकुरा नाम्नी नक्षत्रमलिका ही उसकी अप्सराये हैं।[१]

मृत्यु

समुद्र से छूटा उसे मुच्यु कहते-कहते मृत्यु कहने लगे हैं। इसके विपरीत युद्ध के मृत्यु पर विजय पायी गयी है। असुर और आसुरी शशि के इस नाश दबोचने और पराजित होने का नाम मृत्यु है नाम अश्व या प्राणो का है जिये यशः भी कहते हैं उसे मेध्य या दैवी बनाने की चेष्टा में अश्वमेध दोनों का एकत्व किया गया है। मेध्या बच दैवी प्राण है इनका शरीर असुर या मृत्यु है। आसुरी रूपों का नाम पादपा द्विषन् और भ्रातव्य है इनका हनन दमन ही मृत्यु है। इनकी मृत्यु के पश्चात् ही दैवी सम्पदा दीप्त प्रकाशित प्रकट होती है। वाणी की मृत्यु को मार कर अग्नि उत्पन्न होती है। प्राणों की मृत्यु को मारकर वायु उत्पन्न होती है चक्षु की मृत्यु को मारकर आदित्य दर्शन शक्ति उत्पन्न होती है। श्रोत्र को मारकर दिशाये तथ मन की मृत्यु को मारकर चन्द्र का उदय होता है।

यह अखिल ब्रह्माण्ड भौतिक रूप में मृत्यु रूप क्षणिक नित्य परिवर्तनशील या मिथ्या कहलाता जब वह मृत्यु रूप ब्रह्माण्ड दैवी स्वरूप में परिणत होता तब उसको ठीक प्रकार से मृत्यु कहते हैं। मृत्यु पाँच है– लोभ, त्वङ्, मांस, अस्थि, मज्जा। मृत्यु को भौतिक संसार सागर को पुकारा गया है जिसे ज्ञान की नाव से पार किया जाता है। मृत्यु से कहा गया है– हे मृत्यो तुम उस अलग मार्ग से जाओ जो मार्ग तुम्हारा अपना है[२] वह मार्ग देवयान के मार्ग से पृथक् है तुम भी चक्षुष्मान् और श्रवणवान् भौतिक स्थूल आसुरी रूप वाले हो तुम न तो हमारी देवी सम्पदा के चन्द्रमा सोम को न इनको प्रारम्भ करने वाले वीर अत्रि मित्र वरुण आदि पर अपना प्रकोप दिखाओ यह हम तुमसे प्रार्थना करते हैं। जिस प्रकार दिन प्रतिदिन उदित होता रहता

---

१. सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वस्वस्य नक्षत्राण्यप्सरसो अंकुरयो नाम।
स न इदं ब्रह्म क्षत्र पातु तस्मै स्वाहा वाट ताभ्यः स्वाहा।

२. वैदिक दर्शन – हरिशंकर जोशी, पृ. २०८-२०९

है और एक ऋतु दूसरे को नियमत: लाती रहती है जिस प्रकार अग्रिम विकास अपने पूर्व मूल को नहीं छोड़ता ठीक उसी प्रकार इस भौतिकात्मा की आयु त्रिपादामृतो के अनुकूल शत सहस्त्र वर्षा की होवे है घात, यह हमारी याचना है।[१] मृत्यु देव से पिता अपने पुत्रों को छोड़ देने के लिए कहता है कि मृत्युदेव, तुम देवयान (देवताओं के मार्ग से नहीं अन्य उत्तम और हिंसारहित मार्ग से जाओ। तुम सम्पूर्ण लोक व्यवहार के दृष्टा और श्रोता हो कुछ भी तो ऐसा नहीं जो तुमने न देखा सुना हो मैं तुमसे प्रार्थना करता हूँ कि तुम हमारी सन्तानो और अन्य स्वजनों की हिंसा न करो।[२]

रासभ

रासभ को खर गदर्भ द्विरेतस तथा भारिवम आदि अनेक नामों से पुकारा जाता था। गदर्भी को अश्व से गर्भभार धारण कराये जाने के कारण इन्हें द्विरेतस कहा जाता था अश्वी को भी द्विरेतसा कहा जाना विलोम क्रिया की संभावना को जन्म देता है। राख के ढेर पर लोट लगाने की प्रवृत्ति ज्ञात होती है जिसके संबंध में शतपथ में उद्धृत है कि राख के ढेर से उत्पन्न हुआ अत: राख के ढेर को गदर्भ स्थान कहते हैं।

गधा वस्तुत: घोड़े से हीन ही पशु था इसलिये अश्व जहाँ क्षत्रिय का प्रतीक है रासभ वैश्य एवं शुद्र का अश्व से हीन बताने पर भी इसे उत्तम भारवाहक पशु स्वीकार किया गया है।[३] राक्षस तुम शुद्र हो शोकावह जन्म न होने के कारण तुम अग्निदेवता से सम्बद्ध हो अश्व के वीर्य से और गधी की योनि से उत्पन्न हुये हो अत: तुम्हारे

---

१. इमं जीवेभ्य: परिधि दधामि मैषां नु गादपरो अर्यमेतम्।
शतं जीवन्तु शरद: पुरुची रन्तर्मृत्युं दधतां पर्वतेन।।
यथाहन्यनुपूर्व भवन्ति यथ ऋतव ऋतुभिर्यन्ति साधु।
यथा न पूर्वमपरो जहात्येवा धातरायुषि कल्पयेषाम्।।

२. परं मृत्यो अनुपरेहि पन्थां यस्ते अन्य इतरो देवयानात् चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमि मा न: प्रजा रीरिषो मात वीरान्।। य.सू.

३. शतपथ ब्राह्मण – एक सांकेतिक अध्ययन

अन्दर दो प्रकार के अंश है तुम मुझे सकुशल पार कराओ ऐसी कामना यजमान करता है।[१]

सीर

सीर नाम आदित्यों का है। इनका आह्वान करते हुये यजमान कहता है कि धैर्यशाली कृषि विशेषज्ञ दैवीगुणों से युक्त जनों को सुखी करने के लिये पृथक् बैलों की जोड़िया हल में जुते।।[२]

यम

यम भौतिकता के विकास का एक रूप है मृत्यु उसकी आत्मा है। यम शरीर है मृत्यु उसकी आत्मा है। यम ने देवताओं या तत्वों को जीवित करने के लिये जीव रूप देने के लिये दीर्घायु प्रदान किया यम को राजा कहा गया है इसको विवस्वान् आदित्य का पुत्र बताया गया है। उनका नाम मार्ताण्ड है इनका आकार वेडौल तथा जितना बड़ा इसका धड़ था उतना ही बड़ा सिर भी। अत: इनका नाम पुरुष पशु नाम से पुकारा गया है। देवताओं ने इसके विकृत भाग को काटा। यम का स्थान २८वां है। यम की पत्नी त्वष्टा की पुत्री सरण्यु थी यह अपनी पथ्या का वासी तत्व है पर यह पितरों को पथि या गण्पूति में ले जाता है पूर्वद्धीयपितरों को सबसे पहले यम ने जाना उसके इस ज्ञान को कोई नहीं छीन सकता यम का अपना मार्ग पथ्या कहलाता है जीवों को शुभाशुभ कर्मों की सरणि होने से पत्या कहलाती है। कहा गया है कि जिस मार्ग को बहुत से पूर्व पितरों ने पार किया है उसी कठिन दुगर्म मार्ग का या ऊँची चढ़ाई के मार्ग का अनुसरण करते हुये विवस्वान् के पुत्र यमराज की पूजा हवियों द्वारा करो।

यम की मृत्यु ही उसका देवत्व है उसका शरीर भौतिक आत्मा है यम रूप देह में आदित्य अग्नि देव का निवास हो जाता है यम का सीधा सम्बन्ध अङ्गिरस से है। यम को अग्नि नाम से भी पुकारते हैं।

---

१. शुडोऽन्सि शुडजन्मागनेयो वे द्विरेता: स्वस्ति मा सपारय।।
पा.गृ.सू. – डॉ. ओमप्रकाश पाण्डेय – पृ. २६१

२. सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वितन्तते। धीरा देवेषु सुम्नया। पा.गृ.सू. २.१३

यम सेना के समान बल या भय उत्पन्न करने वाला बिजली की तरह चमक वाला इन्द्र के साथ उत्पन्न हुआ जनित्व भविष्य को पूर्वज जन्म देने वाला कन्याओं को बुटिया बनाने वाला जायाओं को पति है। चतुनेत्र यम का रूपक है। प्रथम मनु यम का ही रूप है।[१] यद्यपि यमराज प्रतिदिन मृत प्राणियों को चिरविश्राम हेतु ले जाते हैं फिर भी वह संतुष्ट नहीं होते वे उस दुर्बुद्धि मद्यप की भाँति हैं जो सुरापान करते हुये कभी नहीं आघाता।[२]

जाया

जाया का अर्थ ततः जायते सा जाया। जो उसी से उत्पन्न हुई है वह दुहिता है पर उसका नाम जाया या पत्नी भी है। यह पति-पत्नी रूपक का काव्यत्व रूप दर्शन है गृह्यानुष्ठानों में देवपत्नियों का आह्वान किया गया है इनमें सीता इन्द्राणी गौ या गौरी उषा पृथ्वी भी है। ये पिता पुत्री रूप वर्णन को भी उन्होंने पति-पत्नी के रूप में वर्णित कर दिया है। उत्तरार्द्ध भौतिक सृष्टि रूप पत्नी जाया है इनके संयोग के बिना सृष्टि आगे नहीं चल सकती। पुत्री का भी वर्णन पत्नी जैसा ही करना अनिवार्य हो गया है। पत्नियों को पार्थिव भौतिक पूर्ण और आपोमा सोम रूपात्मक कहते हुये इनसे प्रार्थना की गयी है ये सुहावनीय होते कल्याण कारी बने तथा रक्षा की सदा कामना करती हुयी हमें अपत्य जनन और उनके संरक्षण के योग्य बनावें। वरुण की पत्नी जाया रूप में ऋतुकाल के अनुसार कामनाओं को पूर्ण करें। जाया से कामना की गयी है कि नाशक मारक विघ्न कुशल आश्रित घातक अप्रतीकार्य अत्यन्त मलिन बुद्धि लम्बी नाक वाला और सभी इन्द्रियों की शक्ति को क्षीण करने वाला बालगृह यहाँ से नष्ट हो जाये।[३] चतुर्दिक भक्षण करता हुआ अनिमेष दृष्टा अस्पष्ट ध्वनिकर्ता

---

१. वैदिक विश्व दर्शन – हरिशंकर जोशी।

२. अहरहनीयिमानो गामश्रं पुरुषं ब्रजम्।
वैवस्वतो न तृप्यति सुरापा इव दुर्मतिः।।

३. शण्डामर्क्का उपवीरः शौण्डिकेय उलूखलः।
मलिम्लूचो द्रोणासश्च्यवनो नश्यतादितः।।
आलिखन्न निमिषः किवदन्त उपश्रुति विर्ह्यक्षः
कुम्भी शत्रुपात्रापाणिर्पृमणिमुखः सर्षपारूणः श्च्यतनो नश्यतावदितः

समीप से अहितकर आँखों वाला स्तम्भक शत्रु हाथ में चीथड़े लिये हुये नाश कामी हिस्त्रमुख सरसों के दानों से पीला और हमारी शक्ति क्षीण करने वाला वालगृह यहाँ से नष्ट हो जाये।

सीता

कृषि से सम्बद्ध देवी हैं। यों, सामान्य रूप से 'सीता हल की रेखा का वाचक है। सीता देवपत्नी के रूप में है। इनकी रक्षा के निमित्त यजमान कहता है कि हे सीते जो श्रेष्ठ धनुर्धर और तरकश युक्त देवता तुम्हारे पूर्ववती है वे प्रमादरहित होकर पूर्वदिशा में तुम्हारी रक्षा करें तुम्हारे कष्ट दूर करे। मैं (यजमान) उन्हें नमस्कार बलि अर्पण कर रहा हूँ, और जो देवता तुम्हारे पश्चिम में है वे सर्वतोभव एवं प्रभावी है भूति, भूमि, पार्ष्णि और शुनङ्कुरि आदि उनके नाम हैं वे तुम्हारी रक्षा करें। हलधर कृषक सुन्दर फाल युक्त हलों से बैलों को कष्ट न देते हुये आराम से धरती को जोते। वायु और सूर्य हविष्यान्न से संतुष्ट होकर सजमान की इस फसल को पानी से सींच सींचकर प्रचुर फल वाली कर दें।[१]

रात्रि

रात्रियाँ योग के पूर्वार्द्ध की है ये रात्रियाँ योगी की योग प्रक्रिया की सीढ़िया है। ये चतुर्थ सप्तक के ९९रात्रियाँ है जिनमें आगे बढ़ते चलकर योगी इनकी संख्या घटाते जाते हुये क्रम से ८८, ७७, ६६, ५५, ४४, ३३, २२, ११ करके अन्त में प्रथम रात्रि रूप २४. १/२ के अंश या तत्व में पहुँच जाता है जहाँ पर रात्रि समाप्त होकर उषा का पूर्णोदय हो जाता है यह योग त्रिष्टुप छन्द के अखरो या प्राणों की सीढ़ियों से किया जाता है ये ही इन्द्र रूप मनोब्रह्म के यज्ञ है जिनसे वह शतक्रतु कहलाता है। इन्द्र का स्थान ३१वा है उसे २४. १/२ वे तत्व सूर्य को प्राप्त करने के लिये ३१ - २४ १/२ = ६ १/२ १५ = ९९ अंशों या सीढ़ियों को पार करना है। प्रत्येक तत्व एक पक्ष १५

---

१. शुन ँ सुफाला विकृषन्तु भूमि ँ शुभं कीनाशा अभियन्तु वाहै: शुनासीरा हविषा तोश माना सुपिप्पला ओषधी: कृर्तनासो। या.सं. १२-६९

रातों का है। अतः ६ १/२ तत्वों को पार करने में ९९ रात या सीढ़ियों पार करनी पड़ती है। रात्रि के लिये कहा गया है कि वन से लौटती हुयी गाय के सदृश आगमनशील जिस रात्रि को देखकर जनमन हर्षविह्ववल हो उठते हैं प्रजापति की पत्नी वह रात्रि हमारे लिये शोभन मंगलमय हो।[१] गाय मधुमयी हो रात्रि ज्योतिर्मयी दीप्तिमयी और नक्षत्रमण्डित दानादि गुणों से युक्त है। वह आकाश मण्डल को आच्छन्न कर सूर्यजन्य दिवसोचित कर्मों को भी नहीं होने देती।

रात्रि वेला में विभिन्न पशु समुदाय मातृरूपा धरती पर खड़े होकर ऊपर के कार्यकलापों को विशेष ध्यान से देखती है। अष्टकायें रात्रि की प्रशंसा करते हुये कहती है ओ रात्रि की देवियो आपने हमें कनिष्ठ होते हुये ज्येष्ठता प्रदान की यह हमें शिरोधार्य है।

हम तुम सभी इस यजमान को श्रेष्ठ बुद्धि प्रदान करें। तुम्हारे मध्य की अन्य रात्रियाँ इस यजमान के कार्यों को विच्छिन्न न करें व सभी परस्पर रसानुराग होकर यजमान के कार्य को सिद्ध करें।[२]

रात्रि से अष्टकायें कहती हैं कि मेरे सदबुद्धि युक्त निर्देशन में रहते हुये यह यजमान समग्रधन ज्ञान प्रतिष्ठा प्रगति और अपने निश्चित ध्येय को प्राप्त करें। पाँच प्रकार के अधिकार प्रदान करने वाली पाँच रात्रियाँ उषा की अनुगामिनी है। इस पृथ्वीलोक के ऊपर यजमान के कल्याण हेतु पाँच नाम संवत्सर परिवत्सर इदावत्सर वत्सर अथवा नन्दा, भद्रा, सुरभी सुशीला सुमना वाली गाय है।[३] पाँच ऋतुयें इसके बछड़ों जैसे हैं। आदित्य रूप समान मस्तक वाली और १५ स्तोमों की शक्ति से समन्वित पाँच दिशाये हैं। एक रात्रि यज्ञ सत्य या वेद को आश्रय देती है दूसरी अन्धकार को दूर कर जल की महिमा धारण करती है तीसरी सूर्यास्त के अनन्तर आती है चौथी धूप दल

---

१. यां जनाः प्रतिनन्दन्ति रात्री धेनुमिवायतीम्।
संवत्सरस्य या पत्नी सा नो असत्न सुमङ्गली। पा.गृ.सू., वैदकि विश्व दर्शन।

२. अनानुजामनुजां मामकर्त सत्यं वदन्त्यन्विच्छ एतत्।
भूयासमस्य सुमतौ यथायूयमन्यावो अन्यामति मा प्रयुक्त।

३. पञ्चवयुदष्दीसु पञ्चदोहा गां पञ्चनाम्नीमृतोवाऽपञ्च।
पञ्चदिशः पञ्चदशेन क्लृप्ताः समानमृर्ध्नीशधिलोकमेक।।

जाने पर प्रवृत्त होती है सवितृ देवी उसी एक रात्रि को सुखदायी बनाये उसके सुखमय होने पर अन्य रात्रियाँ स्वयमेव सुखद हो जायेंगी।[१] प्रथम रात्रि को जब यम ने अपने पाश में बाँधा तो वह गौ बन गयी। श्रद्धादि जन्य हविषं का सम्पादन कर वह यम को अभीष्ट प्रदान करने लगी।

शाला

मनुष्य के जीवन में घर अर्थात् शाला का महत्वपूर्ण स्थान है। क्योंकि प्रत्येक स्मार्त कर्मशाला के अन्दर ही सम्पन्न होता है। इसीलिये शाला का निर्माण करता है। उससे कोई हानि न पहुँचे इसलिये वह शाला प्रवेश करता है। शाला की स्तुति करते हुये यजमान कहता है कि पृथ्वीगत शाला की आधारभूत इस स्थूणा को उठा रहा हूँ धन को धारण करने वाली निधि स्रोत और विविध प्रकार की धनराशि का विस्तार करने वाली है यह शाला हमें सुख प्रदान करती हुयी निरूपद्रव स्थान पर स्थिर रहें यह शाला अश्व युक्त गोयुक्त तथा प्रिय सत्यवचनों से पूर्ण है। प्रकार की शाला हमारे महान् भाग्योदय के लिये उठो तुम पर आरूढ़ होकर बालक हँसे खेले प्रसूता और अप्रसूता गायें भी किलकारियाँ भरे।[२] शाला का आलम्बन कर युवक ब्रह्मचारी वेद घोष करे पारिचारको की गोद में खेलते हुये शिशु दुग्ध पान करने के लिये माँ को बुलायें तुम पर रखे हुये लबालब जल तथा दही भरे कलश अन्य ऋद्धि समृद्धि पूर्ण कलशों के साथ ध्वनि करें हे शाले तुम हमारी रक्षा स्वामिनी हो सुन्दरी प्रचुरगुणशीला हो, तुम स्वयं सुसमृद्ध होकर हमें धन धन्य युक्त बनाये रखो। तुम सुन्दर वस्त्रों से अलंकृत होकर हमें ऊर्जस्वित बनाओ वीर्यवान् करो। तुम हमें सब प्रकार से धन सम्पन्न करो ताकि हमारी दानशीलता अक्षुण्ण रहे। इस

---

१. ऋतस्यगर्भः प्रथमा व्युतिष्यपामेका महिमानं विभर्ति सूर्यस्यैकाचर्यत निष्कृतेषु धर्मस्यैंका सवितैकी नियच्छ तु।।

२. अश्वावती गोमती सुन्ततवृत्युच्छ यस्व महतेसौभागायामात्वा शिशु सक्रान्तातवा मावो धेववो वष्यमानाः।।

स्थान पर निवास करते हुये मैं अश्व गो रथ और अन्य सभी प्रकार की धनराशि से पूर्ण हो जाऊँ ठीक वैसे ही जैसे वनस्पति में पलाश पल्लवित हो उठते हैं। तुम सत्यशील और कल्याणरूप हो।[१] विशाल धर्मशीला स्थूणा जहाँ विभूषित है लक्ष्मी जहाँ निवास करती है। दिन और रात के अधिष्ठाता देवता जहाँ द्वार कपाटो में लोकलोक से स्थित है, हे शाले! सम्पूर्ण शक्ति से मेरी तुमसे यह प्रार्थना है जब हम तुम्हें बुलायें तो तुम हम गृहस्थों के समीप आकर हमारे परिवार मित्र समुदाय और परिपाश्र्व के जनों को सर्वथा रोगमुक्त करे दें।

सुमन

सुमन (पुष्प) को प्रजापति जमदग्नि ने मेधा की कामनापूर्ति और इन्द्रिय पाटव के निमित्त धारण किया था यश और षडविध, ऐश्वर्य के साथ मैं भी उन्हें उपर्युक्त गुणों की कामना से ग्रहण करता हूँ। इन्द्र ने सुमनों को गूथकर उर्वशी आदि स्वर्गीय अप्सराओं को लोकप्रिय बनाया था उन्हें मैं यश की कामना से अपनी शिखा से गूंथ रहा हूँ ताकि मेरा विपुल यश स्थिर रहे।[२]

विरूपाक्ष :

इनका अत्यन्त संक्षिप्त स्वरूप ज्ञात होता है। विरूपाक्ष अंगों को झुकाकर उनका भेदन करने वाले है। ये श्वेत पक्ष वाले और महायशस्वी हो तुम्हारी कृपा से इस रोगी का सिर न दुखे तुम इसके लिये संताप गृस्त न करो।[३]

---

१. अश्वावदगोन्नइर्जरवत् पर्ण वनेस्पते रिगअभि नः नृयर्त रयिरिदमनुश्रेयो वसाम।।

२. यद्यशोऽप्सस्माभिन्द्रश्चकार विपुलपृथु।
तेन सङ्ग्रथिता सुमनस आवदमानि यशोमयि।।

३. अवभेदन विरुपाक्ष श्वेत पक्ष मदायशः अक्षो चित्रपक्ष शिरों मास्याभि तात्सति।।

देवियाँ

गृह्यसूत्रों में देवियों को भी स्थान प्राप्त हुआ है। जैसे कि अन्नाधिष्ठात्री देवियाँ तथा वस्त्राभिनिष्ठित तन्तुदेवियाँ। अन्नाधिष्ठात्री देवियों की स्तुति में कहा गया है कि अन्न की अधिष्ठाता देवी आपकी कृपा हम पर आज से अन्न धन की दृष्टि से हो हम अन्न से यथा समय हवियाँ देवताओं को प्रदान करते रहें अन्नमय ब्रह्म से ही हमारे सभी पुत्र पौत्रों का जन्म हुआ है हम अन्न धन से समृद्ध होकर सभी दिशाओं में विजयी बनें– ओ विवाह देवियों यह वधू मंगलमयी है तुम संगठित होकर समवेत रूप से इनका अवलोकन करो। इसे सौभाग्य और इसके पुत्रादि को मंगलमय आशीर्वाद देकर ही तुम अपने स्थान पर जाओ विमुख होकर नहीं। तन्तुदेवियों से कहता है हे कन्ये तुम मेरे साथ वृद्धावस्था तक रहो इन वस्त्रों को पहनो और मनुष्यों को अभिशाप से बचाओ। पतिव्रत्य के तेज से युक्त होकर १०० वर्ष की आयु भोगों पुत्रों को उत्पन्न कर धनराशि का संग्रह करो।[१] हे आयुष्पति जिन देवियों ने इस उत्तरीय वस्त्र को काता है चुना है फैलाया है और जिन देवियों करघे पर इसका चतुर्था विस्तार किया है वे तुम्हें निदुर्ष्ट वृद्धावस्था के लिये इसे पहनने की अनुमति दें।[२]

ऋतु

ऋतु का प्रयोग काल के अर्थ में प्रयुक्त होता रहा है। वर्ष की तीन ऋतुयें ग्रीष्म शरद, हेमन्त ऋतुओं के उषः काल से सम्बद्ध बताया गया है। ऋतुओं के तीन से बढ़कर पाँच हो जाने के सम्बन्ध में त्सिमर ने कहा है कि यह आर्यों के पूर्व की ओर बढ़ने के साथ-साथ हुआ है। ऐसा उल्लेख प्राप्त होता है। ऋतुओं के ग्रीष्म शरद हेमन्त के स्थान पर हिमा और समा शब्द वर्ष के वाचक के रूप में आया है। इन सबकी अपेक्षा शरद का अधिक प्रयोग हुआ है

---

१. सुमंगलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत्। सोभाग्य मत्यैदत्वा याथास्तं विपरेतन।।

२. जरां गच्छ परिधत्स्व वासो भवाकृष्टी नामभिशस्तिपावा।
शतं च जीव शरदः सुवर्च्चा रयिं च पुत्राननु सव्ययस्वायुष्मतदिं परिधत्स्व वासः।।

क्योंकि यह खलिहान की सूचना देता है जो कि एक वृद्धिशील कृषि निर्भर जाति के लिये उल्लास का समय है। ऋतुओं से स्तुति की गयी है कि ग्रीष्म हेमन्त वसन्त वर्षा शरद ऋतुयें हमारे लिये कल्याणकारी हो और निर्भयताप्रद हो इन ऋतुओं के अधिष्ठात् देवों की कृपा से हम निर्विघ्न स्थान पर निश्चिन्त रहें।[१]

यज्ञ

वैदिक धर्म की विशेषता यज्ञ है यज्ञ शब्द यजन पूजन या उपासना के सामान्य अर्थ में भी आया किन्तु बाद में अग्नि में आहुति देने के साथ अनेक प्रकार की क्रियाओं से युक्त अनुष्ठान को ही यज्ञ समझा जाता था अशेष ब्राह्मण ग्रन्थ नहीं इन्हीं यज्ञ प्रपञ्चों से भरे पड़े हैं। यज्ञ संस्था का इतना विस्तृत वर्णन नहीं प्राप्त होता है। यज्ञ की प्रशंसा में कहते हैं कि हम अपने कल्याण के लिये छिद्र रहित निष्कलुष और सैकड़ों शत्रुओं से बचाने वाली यज्ञ या शुभकर्म रूपी श्रेष्ठ नौका पर आरोहण करें।[२]

संवत्सर

जो संवृतरूप होते हुये भी सरण प्रसारण करता या विकास पाता है वही संवत्सर है। संवत्सर का नाम वर्ष है यह उसके कृतिका या वृष राशि से उत्पन्न होने के कारण पड़ा वृष ही वर्ष है। चमकता वह तो संवत् है जो बीच में कृष्ण है वह सर यह अधिदैवत संवत्सर है। जो चक्षु का शुक्त रूप है वह संवत है जो बीच में कृष्ण है वह सर; है यह अध्यात्म संवत्सर है। सूर्य रूप संवत है और चन्द्र रूप सरः अतः पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध के जोड़े का नाम संवत्सर है। ब्रह्म संवत्सर ब्रह्मसूत्रों तक चलने के कारण कहलाता है। संवत्सर को गृह्यसूत्र में देवता की मान्यता दी गयी है। उनकी प्रशंसा करते हुये कहते हैं कि हे स्तोताओं आप संवत्सर परिसंवत्सर इदावत्सर इदवत्सर और वत्सर

---

१. ग्रीष्मोहेमन्त उतनो वसन्तः शिवा वषा उमया शरन्नः।
तेषामृतूना शतशारदाना निब्यव एषामृभये बसेम।।

२. सुनाव मारुहेयमस्रदन्ती मनागसम। शतादित्रा स्वस्तये वैदिक कोश

जिन पाँच विशिष्ट देवों को नमस्कार करते हैं। यज्ञ भाग के वे अधिकारी उन देवताओं की कृपा से हम सबुद्ध रहकर चिरन्तन काल तक अजेय और अक्षुण्ण रहे।[१] "अनारम्भ आरम्भणीयसंवत्सर ब्रह्मो" संवत्सर के दो नाम है इसको चतुष्काल या चतुष्पाद ब्रह्म के नाम से भी पुकारा जाता है जिसमें पूर्वार्द्धीय संवत्सर ब्रह्म में ३६० दिन तथा उत्तराद्धीर्य संवत्सर में ३६० रातें होती है। इसमें २४ तत्वरूप २४ अर्द्धमाङ्म होते हैं।[२]

नदी रूपिणी सरस्वती

नदी रूप में पञ्चपर्वा विद्या की मुख्याङ्गभूत तृतीय पर्वणी नदी। जब यह पञ्चपर्वाविद्यानुसार नदी रूप में वर्णित की जाती है तो पञ्चपर्वा विद्या के पर्वत रूप पञ्चपर्वों से भी इसका संबंध जोड़ा जाता है जिससे इसका वर्णन कुछ लौकिक सा लगने लगता है। वैदिक नदियाँ सुन्दरप्राणों वाली सुन्दर वस्त्र वाली हिरण्यमय सुशीला अन्नवती ऊणर्विती सदा युवती और जीवन युद्ध में निरन्तर संघर्ष करने वाली है। ये भूलोक में ही नहीं बल्कि अश्विनी के साथ चलती है। सरस्वती अपने बल से पर्वतों के सानुओं को पर्वत विद्या के विभागो शत्रुओं की तरह अपने से अपने अर्नियों की शक्ति से कुचलती हुयी उत्तरार्ध के भौतिक वृद्धि के अन्धकार से ब्रह्मज्ञान की रक्षा करने के लिये सदा प्रवृत्त रहती है। सरस्वती का उदय पूषा नामक २४वें तत्व से होता है। सरस्वती की गंगा आदि सात बहिने कही गयी हैं। आर्यों की सबसे प्रिय नदी है। आपो रूप में सरस्वती भैषज्य भी है। सरस्वती से याचना करता है कि माँ सरस्वती तुम हमें अपने उस स्तर से दूध पिलाओ जो अमृत सुखद रत्नराशि का केन्द्र धनज्ञ और उदार दानी है जिस स्तर से तुम विश्व की सभी श्रेष्ठ और रमणीय वस्तुओं को पुष्ट

---

१. पा.गृ.सू. – डॉ. ओमप्रकाश पाण्डेय

२. संवत्सराय परिवत्सराये दावत्सराये द्वन्तसराय वत्सराय कृणुते वृह्नमः।
तेपा वर्य सुमतौ यज्ञियाना ज्योग्जीतः आदृताः स्याम्।।

करती हों मैं तुम्हारे उसी स्तन और अपने जीवन स्रोत को विशाल अन्तरिक्ष में खोज रहा हूँ। आपका जल बुद्धि रूप है।[१]

अश्व

अश्व शब्द का प्रयोग घोड़े के अर्थ में प्रयोग किया जाता है घोड़े को दौड़ने वाला आर्या तेज वाली शक्ति युक्त सप्ति दौड़ने वाला और गतिमान कहा गया है। अश्व के कई रंग होते हैं। हरित, हरि, अरुण, विशङ्ग, रोहित, श्वेत। अवे. मे श्याम वर्ण वाले श्वेत अश्व को विशेष मूल्यवान कहा गया है। घोड़ों को बड़े-बड़े पुरस्कार दिये जाते थे विशेष अवसरों पर उन्हें मोतियों और स्वर्ण से सजाया जाता था। वड़वाओं को रथ में जोतना अधिक ठीक समझा जाता था क्योंकि वे तेज तरेर और ठंडे मिजाज की होती थी वे गाड़ी में जुतती थी किन्तु इस काम में उन्हें साधारणतया नहीं लगाया जाता था युद्ध में इन्हीं पर सवार होकर जाते थे किंन्तु अन्य कार्यों में उनकी सवारी लोक प्रिय थी अश्व प्रायः घुड़सालों में बाँधे जाते थे वहीं उन्हें सतब दिया था किन्तु घोड़ों को बाहर चरने के लिये भी छोड़ा जाता था उनके पैरों को छान दिया जाता था। घुड़दौड़ के बाद उन्हें ठंडा किया जाता था सतृण्ण अश्व को कभी-कभी वधिया कर दिया जाता था सिन्धुप्रदेश के अश्वमद्धार्ध होते थे। सरस्वती प्रदेश में निवास करने वाले घोड़े अधिक मूल्य वाले होते थे। वृष्क नामक जंगली अश्वों और राक्षसों का संहार करने वाले घोड़े देवयज्ञों में देवताओं का आह्वान करते समय हमें सुख शान्ति प्रदान करे वे हमारे कष्टों व व्याधियों को शीघ्र दूर कर दें।[२]

---

१. यस्ते स्तनः शशुयो यो मंथो भूयोरित्न धाश्चक्षु विद्यः सदत्रः येन् विश्वा पुण्यासि वासदिसि सरस्वतितमिह धातवेडः उर्ववतरिक्षे क्षन्वेति।। य.स.

२. वैदिक कोश – सूर्यकान्त
शं नौ भवन्तु वाजिनो हवेषु देवतोतानितडवः स्वर्काः।
जम्भयन्तोऽहि वृक् सिनेभ्यस्मद्यु मयवन्नमीवाः।।
पा.गृ.सू. – डॉ. ओम प्रकाश पाण्डेय – पृ. २७८

कुमारी देवता

कुमारी देवता भी वधू के समान गृह्यदेवता है। इनका गृह्यानुष्ठान के अतिरिक्त कहीं उल्लेख नहीं आता है। इनके वर्णन में यजुर्वेद में कतिपय मन्त्र ही उपलब्ध होते हैं। इनका भी विवाह संस्कार में ही आह्वान किया गया है इनके वर्णन में कहा गया है कि कन्ये तुम सौम्य दृष्टि वाली अपतिघातिनी तथा पशुओं के लिये कल्याणमयी प्रसन्नचित्त और तेजोमयी हो वीर पुत्र को जन्म देने वाली हो देवताओं की प्रिय बनो पशुओं और मनुष्यों दोनों के लिये सुखकारी और कल्याणकारी सिद्ध हो।[१]

हे कन्या तुम्हें सर्वप्रथम जन्मदिन पर सोम ने प्राप्त किया उसके ढाई वर्ष के अनन्तर गन्धर्व सूर्य ने प्राप्त किया उसी समय अग्नि तुम्हारे तीसरे पति हुये और अब मनुष्य योनि में उत्पन्न तुम्हारा चौथा पति हूँ सोम ने गन्धर्व को तुम्हें प्रदान किया गन्धर्व ने अग्नि की ओर तदनन्तर पुत्रों और धन संपत्ति के साथ अग्नि ने मुझे प्रदान किया है। यह कन्या जिस दानादि गुणों से युक्त अग्रणी अर्यमा की पूजा करती है। हे कन्ये तुम मेरे साथ निर्दोष वृद्धावस्था तक रहो इस वस्त्र को पहनो और मनुष्यों को अभिशाप से बचाओ। पतिव्रत्य के तेज से युक्त होकर १०० वर्ष की आयु भोगों पुत्रों को उत्पन्न कर धनराशि का संग्रह करो।[२]

सरस्वती

सरस्वती देवी विद्या की देवी मानी जाती है इनका आह्वान यजुर्वेद के गृह्यसूत्रों में कतिपय मन्त्र में ही हुआ है सरस्वती देवी अन्नवती कल्याणकारी है तुम इस युग्म अर्थात् वर वधू की रक्षा करो सरस्वती सम्पूर्ण प्राणियों की जननी है प्रकृति रूप में आद्य माता है इनमें सम्पूर्ण जगत लीन हो जाता है वर सरस्वती के नारी के विविध

---

१. अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि ---- निविष्ट्यै
गृह्यमन्त्रो का विनियोग – डॉ. कृष्णलाल

२. पा.गृ.सू. – ओमप्रकाश पाण्डेय

रूपों के वर्णन करता है।[१] वर सरस्वती देवी की प्रशंसा करते हुये कहता है कि हे सरस्वती हमारे लिये कल्याणकार सबसे अच्छी शरणदात्री तथा शोभन सुख वाली हो हम तुम्हारी इस दृष्टि से पृथक् न हो अर्थात् हे सरस्वती जब तुम मुझ पर कटाक्ष करो उस समय सुख का अभाव न हो। हे सरस्वती तुम्हारा जो शब्द रूपी स्तन सोया है अर्थात् तुम्हारे शरीर में विद्यमान है जो सुख का उत्पादक है जो धन प्राप्त करने वाला है रत्न देने वाला है जो शोभन दाता है जिससे तुम सब इष्ट पदार्थों का पोषण करती हो उसे तुम इसके धारणार्थ ठीक करो। जो वाणी रूपी दूध देती है वही यज्ञ है। सरस्वती सर्वहितकारणि ओषधियों से युक्त है इस सारे प्राणि जगत् की उत्पत्ति से पहले ही स्थित है उस भगवती की स्तुति की गयी है कि वे इस कर्म की रक्षा करें जो स्त्रियों के मन का उत्तम प्रकाशन है जो सर्वप्रथम वे आरम्भ में सर्वरूपा हुयी जिस पर सारा संसार स्थित है।[२]

अश्विन्

अश्विन् युगल देव है। इनके लिये कहा गया है कि तुम दोनों क्रान्तदृष्टा और वरुण हो तुम्हारे द्वारा सम्पादित धर्म हमारे मैत्रीभाव की रक्षा करे। हम पारस्परिक मित्रता के धर्म में बँधकर विद्वेश करना छोड़ दें।[३] अश्विन् देव मित्रता के रक्षक हैं। उनसे कहा गया है कि हे अश्विन् देव हमारे द्वारा स्तूयमान आप दोनों मनुष्य के घर में पुत्र सहित धन स्थापित कीजिये और शोभन वाणी की अभिलाषा करने वाले के लिये तीर्थ सरलता से अवगाहन योग्य तथा स्थिर सम्पत्ति वाला बनाइये हे शुभ पालक देवो इस मनुष्य को सुरूढ़ दुर्बुद्धि का नाश कीजिये। अश्विन् अन्न रूपी धन वाले हैं। जल के स्वामी

---

१. सरस्वति प्रेदमेव सुभगे वाजनीवती। यां त्वां विश्वस्य भूतस्य प्रजायामस्यागृहः।
यस्यां भूतं सनभवद्यस्यां विश्वमिदं जगत् तामद्य गाथा गास्यामि या स्त्रीणामुत्तमं यथः।

२. गृह्यमन्त्रों का विनियोग – डॉ. कृष्णलाल – पृ. ११०–२२१

३. उभा कवी युवा यो नो धर्मः परापतत् परिसंख्यस्य धर्मिणो विसरथनि विसृजामहे।। पा.गृ.सू.

साथ-साथ रहने वाले हैं आप हमें शोभन वृद्धि प्रदान करें हमारे हृदय में अभिलाषायें नियन्त्रित रहें अश्विन् रक्षक हैं अश्विन् सोम पीते हैं सन्तान को प्रदान करने वाले हैं उषा और सूर्य के द्वारा शक्ति प्रदान कीजिये आप दोनों विजयी होवें शत्रुओं को नाश करते हैं। मित्रों की सहायता करते हैं।[१]

सोम

सोम वैदिक आर्यों का प्रमुख पेय था इसको गृह्यसूत्रों में प्रयोग किया गया है तथा देवता के रूप में माना गया है उसके पास तेज व भयानक शस्त्र रहते हैं जिसे वे अपने हाथों से पकड़ते हैं उसके पास धनुष बाण है वह इन्द्र तथा वायु के समान अपने रथ पर बैठता है तथा हविष ग्रहण करने के लिये यज्ञ में आता है सोमरस को बहुधा मधु भी कहा जाता है उसे इन्दु शब्द से संबोधित किया गया है सोमवर्णन में सोम के सोमरस को अमृत कहा गया क्योंकि उसको पीने से अमृतत्व प्राप्त होता था। वैदिक आर्यों का विश्वास था कि सब देवता सोमरस पीते हैं जिसके कारण अमरत्व को प्राप्त होते हैं। सोमरस औषधियों का राजा है उसको पीने से अन्धे लंगड़े भी ठीक हो जाते हैं तथा बुद्धि का विकास होता है। उसी को पीकर इन्द्र वृत्र से सफलता पूर्वक लड़ सका सोम का पौधा स्वर्ग में मूजवत पर्वत पर उगता है सोम के पौधे को दो पत्थरों के बीच दबाया जाता था व कभी-कभी उखल में मूसर से कूटा जाता था। तत्पश्चात् उसमें से अपनी उंगलियों से रस निकालती थी। इसके पश्चात् सोम रस को दूध दही या शहद के साथ मिलाते थे यही रस देवों को देते थे तथा लोग स्वतः पीते थे।[२] वीणावादको के गाथा गाते हुये कहता है कि सोम ही हमारा राजा है, यह मानुषी प्रजा तुम्हारे राजचक्र से अवियुक्त तट पर निवास करे। सोम रस वाग्ब्रह्म या भौतिक विश्वदेवता है।[३]

---

१. गृह्यमन्त्रो का विनियोग – डॉ. कृष्णलाल पृ. १३५, १४४, १५९

२. वेदकालीन समाज।

३. सोम एव नो राजेमा मानुषीः प्रजाः अविमुक्त चक्र आसीरंस्तीरे तुभ्यमसौ। गृह्यमन्त्रो का विनियोग। पृ. २०१

वायु

वायुदेव का मनुष्य के जीवन में महत्वपूर्ण स्थान है इसलिये उनका विवाह संस्कार में आह्वान किया गया है ताकि वो क्रुद्ध होकर कोई अनर्थ न करे। वायु देवता का आह्वान करते हुये वर कन्या से कहता है कि हे कन्ये तुम्हाराज जो मन पितृग्रह से बहुत दूर प्राची दिशाओं में वायु के सदृश चला जाता है जो वायुदेव केवल मुझमें ही केन्द्रित करें। वायुदेव हिरण्यपर्ण और कर्ण पर आश्रित है।[१]

वायु दिशाओं से उत्पन्न होते हैं[२] वायुदेव के कुमार की रक्षा के निमित्त कहता है कि कुमार के जिस अंग का स्पर्श कर हम मंत्र जाप करते हैं उसे न तो वह मोड़ता है न रोता है न हँसता है और न ही छटपटाता है। आप उसको स्वस्थ कर दें। दानशील यजमान को पूर्ण आयु प्रदान करते हैं।[३]

शुनक

शुनक देव देवों की कुतिया सरमा से उत्पन्न हुआ है अर्थात् वह उसकी माँ है तथा देवताओं का कुत्ता सीसर इनके पिता है श्याम और सबल शुनक के भाई हैं। शुनक बालगृह गण के मुखिया हैं शुनक गात्राप्रहारक हैं इन्हें देवों से वर मिला है। पिता अपने पिता पुत्र की रक्षा के निमित्त शुनक देव से प्रार्थना करते हैं कि बालगृह भीषण ही नहीं अति भीषण तथा कर्कश है। जीभ फैलाये हुये तुम्हें नमस्कार है। तुम संतुष्ट होकर छू-छू करते हुये इस शिशु को छोड़ दो यह ठीक

---

१. यदैषि मनसादूरं दिशोऽनुपवमानो वा हिरण्यवर्णो वैकर्णः सा त्वा मन्मनसां करोत्विव्यसौ।।

२. गृह्यमन्त्रो का विनियोग

३. न नमपति न रुदति न दृष्यति न ग्लायति
यत्र वयं वदामो यत्र चाभिमृशांमसि।। पा.गृ.सू.

नहीं है कि वर पाकर तुमने इस शिशु को ही अक्रान्त कर लिया आप इसको छोड़ दीजिये।[१]

गृह्यसूत्रकालीन धार्मिक जीवन का अवलोकन करने पर स्पष्ट रूप से यह सामने आता है कि आर्यों का जीवन धार्मिक वृत्ति से पूर्णतया ओत-प्रोत था। आर्यों ने जीवन मरण की समस्याओं से मुख न मोड़कर उनको सुलझाने का प्रयत्न किया। वाह्य व आन्तरिक दोनों जगतों ने उनके सामने बड़ी-बड़ी समस्यायें उपस्थित की थी। प्रकृति की महान् शक्तियों के सामने अपनी शक्ति व सामर्थ्यहीनता का अनुभव कर उन्होंने प्रकृति के विभिन्न शक्तियों के सामने अपनी शक्ति व सामर्थ्यहीनता का अनुभव कर उन्होंने प्रकृति के विभिन्न शक्तियों के दर्शन किये व इन्द्र वरुण विष्णु सूर्य आदि का प्रादुर्भाव हुआ। मानसिक व बौद्धिक विकास ने उनकी दृष्टि आन्तरिक जगत की ओर प्रेरित की और वाक श्रद्धा और मन्यु आदि देवताओं की कल्पना समूर्त होने लगी विभिन्नता के पीछे एकत्व के दर्शन किये और हिरणागर्भ प्रजापति, ब्रह्मा आदि नामों द्वारा उसे किया आन्तरिक जगत की एकता आत्मा या पुरुष के रूप में उपस्थित की गयी।

आर्यों ने अपने धार्मिक व दार्शनिक सिद्धान्तों के रूप में मानव जाति को एक महान देन दी जो देशकाल आदि से परिवाधित नहीं हो सकती।

---

१. कूर्कुरः सुकूर्कुरः कूर्कुरो बालबन्धनः
चेच्चेच्छुनक सृज नमस्ते असतु सीसरो लपेतापह्वर तत्सत्यम
यत्ते देवा परमददुः स त्व कुमारमेव वा वृणीथाः
चेच्चेच्छुनक सृज नमस्ते अस्तु सीसरो लपेतापह्वर तत्सत्यम्।
यत्ते सरमा माता सीसरः पिता श्यामब्लौ भ्रातरौ
चेच्चेच्छुनक सृज नमस्ते अस्तु सीसरो लपेतापह्वरेति।
पा.गृ.सू. १/१६/२४ पृ. १९०

गृह्यनुष्ठानों में निहित राजनैतिक परिवेश

आर्यों का राजनीतिक जीवन स्पष्ट रूप से उल्लिखित नहीं है। सांकेतिक सामग्री से ज्ञात होता है कि गृह्यसूत्रकालीन समाज धर्म प्रधान था इसलिए उस युग की न्याय और शासन व्यवस्था धर्म पर आधारित थी।[१] समाज और राजा दोनों धर्म के द्वारा शासित होते थे। गृह्यसूत्रों में अश्वमेध, राजसूय, सर्वमेध सोमयज्ञ आदि कुछ ऐसे यज्ञों का संकेत प्राप्त होते हैं जिनका सम्बन्ध राजा से होता था। वैदिक आर्य स्वभावतः सुख शान्ति प्रिय थे परन्तु प्रत्येक समाज में कुछ दूषित तत्व अवश्य होते हैं। अपने जीवन को सामान्य बनाये रखने के लिए आर्य जनों को उनसे संघर्ष करना पड़ता था। इस समाज के शत्रुओं से युद्ध करने के लिए ही आर्यों के सामाजिक जीवन ने राजनीतिक जीवन का रूप धारण किया।[२]

ऋषियों ने अपनी समकालिक कार्य जनता के कल्याण हेतु राजा की आवश्यकता अनुभव कर ली थी। आर्य सभ्यता एवं संस्कृति को जीवित रखने और उसके विकास तथा प्रसार के लिए समाज में राजा का होना नितान्त आवश्यक था। शत्रु पर विजय प्राप्त करना राज्य में शान्ति तथा व्यवस्था की स्थापना करना और स्थायी बनाना राज्य के निवासियों को भयमुक्त रखना राष्ट्र के सर्वांग विकास एवं समृद्धि के साधन जुटाये रखना आदि कुछ महान् कार्य थे जिनका विधिवत् सम्पादन राजा के सहयोग के बिना असम्भव समझा जाता था।[३]

---

१. वैदिक संहिताओं में आचार मीमांसा – डॉ. प्रतिभा रानी – पृ. १८१
२. संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इति. प्रो. ब्रजविहारी चौबे – पृ. ५४६
३. वेदकालीन राजव्यवस्था – डॉ. श्यामलाल पाण्डे पृ. १६७

राजा :

विभो द्वारा स्वयंवृत राजा[१] राज्+क्विप[२] धातु से निष्पन्न हुआ है। गृह्यसूत्रकाल में सामान्यतया सरकार का रूप राजसत्तात्मक था। अन्य दशाओं में राजसत्ता चुनाव पर आधारित थी। जनता द्वारा केवल राजपरिवार के सदस्यों से किसी एक को ही राजा चुनना पड़ता था अथवा सभी श्रेष्ठ जातियों के सदस्यों में से राजशक्ति स्पष्टतः असुरक्षित होती थी।[३] राजा द्वारा विजित सम्पत्ति के सर्वथा कर मुक्त होने के अत्यन्त निश्चित विचार मिलते हैं।[४] ब्राह्मणों को इस अधिकार की, कि वह पार्थिव राजा नहीं वरन् सोम की सेवा करेंगे फिर भी राजा की शक्ति प्रजा में निहित होती थी। प्रतिदान में राजा न्यायाधीश को भी कर्तव्यों का पालन करता था वह स्वयं अदण्ड्य होते हुए भी दण्ड धारण करता था। मुख्यतः अपराधों का न्याय करना ही उसका प्रमुख कर्तव्य रहा है। क्योंकि सूत्रों में अपराधों का निर्णय करने से सम्बद्ध राजा के व्यक्तिगत राजकीय अधिकारों के स्पष्ट चिन्ह वर्तमान हैं। किसी शूद्र को दण्ड देने के समय अध्यक्ष के रूप में राजन्य का उल्लेख मिलता है।[५] गृह्यसूत्रों में राजन्य शब्द का सम्बन्ध राजा से न होकर क्षत्रिय[६] जाति से होता है। सम्भवतः वे क्षत्रिय जिनका भूतकाल की पीढ़ियों में राजाओं में रक्त सम्बन्ध रहा हो राजन्य क्षत्रिय कहलाते रहे होंगे।[७]

राजपरिवार के व्यक्तियों के लिए प्रयुक्त नियमित शब्द है उसके अन्तर्गत ऐसे व्यक्ति भी आ जाते हैं जो राजपरिवार के सदस्य न होते हुए भी विशिष्ट होते थे। यद्यपि मूलतः उसका अर्थ सदस्यों तक ही सीमित रहा हो सकता है। परन्तु किसी स्थल द्वारा स्पष्टतः ऐसा प्रतीत

---

१. ऋग्वेद मण्डल मणि सूत्रा – पं. देव विद्यालंकार

२. संस्कृत हिन्दी कोश – वामन शिवराम आप्टे पृ. ८५२

३. भारतीय संस्कृते के उत्थान

४. श.ब्रा. १३.६.२.१८, ७.१३

५. काठक संहिता २७.४

६. राजन्यं क्षत्रियम् पा.गृ.सू. २/२/२ हरिहर भाष्य पृ. ९९

७. श.ब्रा. एक सांस्कृतिक अध्ययन – श्रीमती उर्मिला देवी शर्मा – पृ. १४९

नहीं होता यह शब्द मूलतः किसी भी विशिष्ट व्यक्ति के लिए प्रयुक्त हुआ है चाहे उसके पास राजशक्ति रही हो अथवा नहीं। शतपथ ब्राह्मण में राजन्य उस राजपुत्र से भिन्न है जो वास्तव में राजा का पुत्र होता था।[१] बाद में यह साधारणताया शासक वर्ग की उपाधि के रूप में राजन्य का स्थान ग्रहण कर लेती है। राजन्य की उच्च स्थिति इस तथ्य द्वारा व्यक्त होती है कि तैत्तिरीय संहिता[२] में इसे विद्वान् ब्राह्मण और ग्रामणी (जो वैश्य होता था) के साथ सम्पन्नता की चरम सीमा पर पहुँचने वाला बताया गया है।[३] राजा स्वयं धार्मिक तथा कर्तव्य परायण होता था। ऐसी परिस्थिति में 'यथा राजा तथा प्रजा' के अनुसार प्रजा स्वभावतः धार्मिक बन जाती थी।[४] प्रजा के सुख और अभ्युदय के लिए सर्वाधिक प्रयत्न करने वाला राज प्रजा का सेवक था। राजा के व्यक्तित्व का विकास करने के लिए उसकी बाल्यावस्था से प्रयत्न होते थे। उसे अपने पद के योग्य बनने के लिए शास्त्रों के साथ शास्त्रों की शिक्षा दी जाती थी।[५]

राज के गुण :

राजा को क्षत्रिय धर्म का पालन करना चाहिए। ब्राह्मणों की सेवा करना, युद्धों में परस्पर प्रहार करने की इच्छा करते हुए अपार शक्ति से युद्ध करते हुए राजा स्वर्ग को जाने की इच्छा राजा को भूमि पर स्थित नपुंसक हाथ जोड़े बैठे हुए शरणागत को कभी नहीं मरना चाहिए।[६]

सत्कुलोत्पन्न देवबुद्धि बलवान् धार्मिक सत्यवादी तत्व का कृतज्ञ उच्चादर्श युक्त उत्साही शीघ्र कार्य करने वाला समर्थ सामंतो से युक्त, दृढ़ निश्चयी और विद्या व्यसनी राजा के चरित्र के प्रधान गुण हैं।

---

१. तु. की १३४.२ – ९७.१३ १,६.२
२. तैतरीय संहिता २.५.४.४
३. वैदिक इण्डेक्स – रामकुमार – पृ. भाग २ पृ. २४२
४. यादृशो जायते तादृशोऽस्य जनो भवेत्। महाभारत स्त्रीपर्व ८३२
५. भारतीय संस्कृति का उत्थान – डॉ. रामजी उपाध्याय पृ. १६४
६. स्वयं रथस्थो रथं व्यक्तवा स्थालाखट न हन्यात् तथा नपुंसकम् वद्धाञ्जलिम् मुक्तकेशम उपविष्टम् व्यवीयोऽहमित्येववादेनं न हन्यात्। मनु. ७/९१

राजा में तर्क वितर्क द्वारा तत्व के बात को जान लेने की निपुणता होनी चाहिए। शौर्य अमर्ष शीघ्रता और दक्षता में चार बातें उसके उत्साह में होनी चाहिए, जिनके कारण वह विराट प्रजा के उच्चादर्शी का जान सके[१] राजा को सोये हुए, युद्ध में भिड़े हुए, कवच से रहित नंगा शस्त्र से रहित अपने शस्त्र आदि के टूटने से दुःखी पुत्र आदि शोक से आर्त बहुत घायल डरे हुए और युद्ध से विमुख योद्धा को सज्जन क्षत्रियों के धर्म का स्मरण करता हुआ नहीं मारना चाहिए। राजा का गुण अप्राप्त को प्राप्त करने की इच्छा करनी चाहिए प्राप्त की यत्न पूर्वक रक्षा करे और रक्षा किये गये को बढ़ायें और बढ़ाये हुए को सत्पात्र में दान करें।[२] अपने आचरण को विशुद्ध बनाये रखने के लिए राजा को जितेन्द्रिय होना चाहिए उसकी परस्त्री पर धन और हिंसा आदि कार्यों से सदा दूर रहना चाहिए अधिक शयन करना लोभ मिथ्या उद्धतवेष एवं अनर्थकारी कार्यों को त्याग देना चाहिए।

राजा के आवरण पर ही उसके कर्मचारियों का आचरण निर्भर है। यदि वह प्रमादी होगा तो उसके कर्मचारी भी प्रमाद करने लगेंगे और यह भी असंभव नहीं कि प्रमादी राजा के कर्मचारी उसके शत्रु से संधि करके एक दिन उसका सर्वस्व ही समाप्त कर डालेंगे इसके विपरीत यदि राजा उदार और परिश्रमी और विवेकशील होगा तो उसका सारा भृत्यवर्ग उसके इन गुणों को अपनायेगा।[३] राजा दण्ड को सर्वत्र उद्यत रखें और पुरुषार्थ को प्रदर्शित करता रहे गुप्त रखने योग्य अपने विचार को सर्वदा गुप्त रखे और शत्रु के छिद्र (सेना यो प्रकृति) के द्वेष आदि से दुर्बलता को सर्वदा देखता रहे।[४] राजा को अविश्वासी पर विश्वास नहीं करना चाहिए विश्वासी पर भी अधिक विश्वास न करें क्योंकि विश्वास से उत्पन्न भय जड़ से ही नाश कर

---

१. अर्थशास्त्र कौटिल्य

२. अर्जिवं भूमिहिव्यादि जेतुमित्छेत् प्रयत्नतो रक्षेत रक्षितं च वाणि ज्यादिना वर्धयेत् वृद्धं च पात्रेभ्यो दद्यात्। मनु. ७/९९

३. अर्थशास्त्र कौटिल्य

४. मनु. ७/१०२

देता है।[१] राज बगुले के समान अर्थचिन्तन करे सिंह के समान पराक्रम करे, भेड़िये के समान शत्रु कानाश करे और शत्रु के घेरे से निकल जाये।[२] राजा के प्रमुख कर्तव्य है प्रजापालन न्याय दान शत्रु मित्र से उचित व्यवहार विभिन्न विषयों के प्रकांड विद्वानों को उनके उपयुक्त स्थानों पर नियुक्त करना चाहिए।[३] राज्य रूपी वृक्ष का मूल बताते हुए शुक्रनीतिसार[४] में उसकी स्थिति को बड़े अंच्छे ढंग से दर्शाया गया है कि राजा राज्यरूपी वृक्ष का मूल है न कि परिषद उसका धड़ है या स्कन्ध है सेनापति उसकी शाखायें और सैनिक उसके पल्लव है। प्रजा उसके पुष्प है देश की सम्पन्नता उसके फल है और समस्त देश उसका बीज है। प्रत्येक राज्याभिषेक के समय अभिषिक्त राजा को यह कहकर पुनीत थाती को सौंपा जाता था कि "यह राष्ट्र तुम्हें सौंपा जाता है तुम इसके संचालक नियामक और उत्तरदायित्व के हद वाहनकर्ता हो। यह राज्य तुम्हें कल्याण सम्पन्नता प्रजा के पोषण के लिए दिया जाता है।[५]

राज्याभिषेक :

निर्वाचित होने के उपरान्त राजा का अभिषेक अवश्यम्भावी था। जिसका कारण राजसूय[६] यज्ञ से उपलब्ध होता है। राजसूय ही सामान्यत: राज्याभिषेक का प्रतीक था।[७] भारतीय आर्यों का सबसे प्रथम अभिषिक्त राजा पृथृवैन्य था जिसका ऋग्वेद में भी ऐतिहासिक व्यक्तित्व के रूप में उल्लेख मिलता है।[८] अभिषेक का तात्पर्य

---

१. तथा यत्नं कुर्यायथान्नस्य प्रकृतिं भेदादि छिद्र न विश्वसेदविश्वस्ते जाति विश्वसेत विश्वासाद्भयमुत्पन्नं मूलादपिनिकृन्ताति। मनु. ७/१०५/१०

२. मनु. ७/१०६

३. अर्थशास्त्र पृ. ६६

४. शुक्रनीतिसार ५/१२

५. शुक्लयजुर्वेद ९/२२

६. राजसूयदीक्षायै २/१ पृ. २३३ पा.गृ.सू.

७. राज्ञ एव राजसूयम् राजा वै राजसूयेनेष्ट्वा भवति। श.ब्रा. ५.३. ८.४

८. ऋग्वेद ८.१९..१०

मन्त्रपाठ के साथ पवित्र जल सिंचन या स्नान। धार्मिक अभिषेक व्यक्ति अथवा वस्तुओं की शुद्धि के रूप में विश्व की अति प्राचीन पद्धति के श.ब्रा. के[१] अनुसार इस क्रिया द्वारा तेजस्वित एवं व्यक्ति विशेष में जागृत की जाती है।[२] श.ब्रा. के अनुसार क्षत्रियों का ही अभिषेक हो सकता था[३] क्योंकि सर्वसाधारण अनभिषेचनीय थे।[४]

मैत्रावरुण वेदी के समक्ष एक व्याघ्रचर्म पर निर्वाचित राजा उपस्थित होता था। क्रमशः चार व्यक्ति ब्राह्मण राजा का स्वजन राजन्य एवं वैश्य अभिषेक करते थे। अभिषिंचन हेतु सरस्वती नदी समुद्र एवं अन्य प्रादेशिक जलागारों में जल एकत्र किया जाता था। जल लेते समय मन्त्र बोले जाते थे।[५] अभिषेक के अवसर पर राजा अपनी प्रजा के सामने एक बडी प्रतिज्ञा करता था जिसका राजनैतिक मूल्य बहुत ही गम्भीर तथा सातिशय है। राजा श्रृद्धा के साथ वह प्रतिज्ञा उद्घोषित करता है।[६] अभिषेक के अवसर पर की गयी प्रतिज्ञा इस निष्कर्ष पर पहुँचती है कि राजा प्रजा का यथार्थतः सेवक है प्रजा के कल्याण के निमित्त वह एक प्रतिष्ठापित पदाधिकारी है। जब तक उस प्रतिज्ञा को निभाता है तभी तक वह सिंहासन पर बैठने की योग्यता रखता है अन्यथा वह हटाया जा सकता है। इस प्रकार अत्यन्त प्राचीन काल से हिन्दू राजा स्वेच्छाचारी नरपति कभी नहीं होता था।[७]

---

१. हिन्दू धर्मकोश – डॉ. राजबली पाण्डेय पृ. ४२

२. श.ब्रा. ५.४.२२

३. वही ५.३.५, १३.४ ३.१७

४. वही ५.५.२.५

५. स्वराजस्य राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मैदन्त श.ब्रा. ५.३.४

६. या च रात्रिमजायेऽहं यां च प्रेतास्मिं तदुभयमन्तरेण इष्टापूर्त मे लोकं सुकृतमग्युः प्रजां वृञ्जीथा यदि ते द्रहोयमिति – तैत.ब्रा. ८.२.१५

७. वैदिक साहित्य का इति. बल्देव उपाध्याय – पृ. ४६६

राष्ट्र : प्रतिक्षत्रे प्रतिष्ठानि राष्ट्रे प्रत्यश्वेषु प्रतिष्ठिामि गोषु। पा.गृ.सू. १/१०/२ स्विष्ट्कृत आहुति मन्त्र सं. १ च.स. २०/१० पृ. १३९

विशस्त्वा सर्वावाग्छन्तु ना त्वद्राष्ट्रमधिभृशत्। पा.गृ.सू. च.स. १२/११ पृ. १४०

राष्ट्रभृदादीना राष्ट्रभृत्संज्ञकाः पा.गृ.सू. १/म५/६, १/५/८ पृ. ८३

राष्ट्र का तात्पर्य उस भूभाग से है जो राज्य सीमा के अन्तर्गत आता है। राज्य के लिए किस प्रकार का भूभाग (राष्ट्र) होना चाहिए। उसके अन्न, घास, काष्ठ, रत्न आदि के उत्पादन की सामर्थ्य एवं ऋतुओं के प्रभाव जल आदि की सुविधा का विवेचन नहीं किया गया है।

राष्ट्र की उत्पत्ति राजष्ट्रन दुर्गवलानि च।[१] जिस भूभाग में आनन्द प्रमोद आदि है। जहाँ सारी कामनाएँ तृप्त हो जाती हैं वह राष्ट्र कहा जाता है। वहाँ राजा रहते हैं।[२] राष्ट्र का लक्षण इस प्रकार दिया गया है राष्ट्र में ब्रह्मतेजस्वी ब्राह्मण धनुर्विद्या में कुशल शूरवीर, दुष्टों का अतिवेधन करने वाले एवं महारथी राजन्य उत्पन्न दूध देने वाली गौएँ भार वहन करने में समर्थ वृषभ तथा द्रुतगामी अश्वं सर्वगुण महिलाएँ रथमानों से सम्पन्न सभ्य मूलक और वीर पुत्र उत्पन्न हो इच्छित अवसरों पर मेघ वर्षा किया करें राष्ट्र में अन्न से परिपूरित समय उत्पन्न हो और हमारे राष्ट्र में सदैव योगक्षेम बना रहे।[३] राष्ट्र में उन सभी पदार्थों एवं प्राणियों के उत्पादन की सामर्थ्य होनी चाहिए जिनसे राष्ट्रवासियों का भरण-पोषण होता है और वे सम्यक् प्रकार से सुरक्षित बने रहते हैं।[४] समाज तथा राज्य का अभिन्न सम्बन्ध है। समाज तथा सामाजिक व्यवस्था हेतु ही राज्य की परिकल्पना अस्तित्व में आयी। अपरिमित समृद्धि से युक्त राज्य को राष्ट्र संज्ञा प्रदान कर देश अथवा राज्य के लिए राष्ट्र शब्द का गौरव युक्त प्रयोग किया है।[५] वरुण राष्ट्रों का स्वामी है।[६]

राष्ट्र की परिभाषा को स्पष्टतर करने का प्रयास किया है 'राष्ट्र का हित क्षेम प्राप्त की रक्षा तथा वृद्धि में है।[७] शतपथ ने क्रमशः

---

१. अमरकोश, मनु. ७/१०९

२. ऋग्वेद ८/११३/९

३. यजु. २२/२२

४. वेदकालीन राज्यव्यवस्था श्यामलाल पाण्डे पृ. ५०

५. अपरिमित समृद्धमृ वै राष्ट्रम २.८.८.७ (६) ऋग्वेद ४२.१.७.३४.११

६. वै राष्ट्रस्य हितम् श.ब्रा. १३.२.९.५

७. शतपथ ब्रा. एक सांस्कृतिक अध्ययन – डॉ. उर्मिला देवी शर्मा पृ. १४१

आसंद्री एवं सन्नम्य राष्ट्र की उपमा देकर यही समझाने का प्रयत्न भी किया है।[१]

कार्य :

राष्ट्रसभा में सभी प्रकार के व्यवहारों को करने वाले वसु[२] रुद्र[३] और आदित्य आदि विद्वान् प्रतिनिधि होकर जाते हैं। उनके विचार विमर्श से राष्ट्र चलती है। राष्ट्र के द्वारा ही इन्द्र (सम्राट) तथा राज्य के अग्नि मित्र वरुण और अश्विन आदि कर्मचारियों को धारण करता है।

यदि राष्ट्रसभा की सहायता इनको प्राप्त न हो तो कर्मचारी अपना कार्य नहीं कर सकते। राष्ट्र सभा ही ऐसे नियम बनाती है जिनके अनुसार चलते हुए राष्ट्र के लोग सब प्रकार के ऐश्वर्यों को प्राप्त कर सकते। राष्ट्र के ठीक प्रकार से संचालन के लिए उचित नियम बनाने वाली है और अतएवं उसकी रक्षिका राष्ट्रसभा न हो तो राष्ट्र के कोई भी यज्ञिय कर्म चल नहीं सकते राष्ट्रसभा को भूरिस्थात्रा कहा गया है क्योंकि वहाँ बहुत से लोग जाकर बैठते हैं। राष्ट्र से प्राप्त होने वाली रक्षा के कारण ही राष्ट्र की बहुत प्रजाएँ सुखपूर्वक बस सकती हैं। इसलिए भूर्यावेशयन्ती कही जाती है। बहुतो की रक्षा करने के कारण वह्युरुत्ता भी है अथवा पुरुत्रा है।[४] जिन विद्वान पुरुषों में द्विण्य भावनाएँ रहती हैं वे राष्ट्रसभाओं का निर्माण करते हैं।

राष्ट्र के सभी प्राणी अपना भोजन और दूसरे प्रकार के भोज्य पदार्थ इसलिए प्राप्त कर सकते हैं कि उनकी सुख शान्ति और रक्षा की चिन्ता न करने वाली राष्ट्रसभा उनके ऊपर बैठी होती है। इसके अभाव में उत्तमकोटि की सुख शान्ति तो दूर रही उन्हें जी सकना भी दुष्कर हो जाता है। जो राष्ट्र सभा की आज्ञाओं को नहीं मानेंगे।[५]

---

१. वसु जो २४ वर्ष की आयु तक शिक्षा प्राप्त करते हैं।

२. रुद्र जो ३६ वर्ष की आयु तक शिक्षा प्राप्त करते हैं।

३. आदित्य जो ४८ वर्ष की आयु तक शिक्षा प्राप्त करते हैं।

४. पुरुष इति पुरुत्र सप्तम्यास्त्रल। यद्धा पुरुन् त्रायत् इति पुरुत्रा तां पुरुत्रा उनमः स्थाने छान्दस अकारोन्तोदेशः।

५. वेदों में राजनीतिक सिद्धान्त – पृ. २२५ – सत्यवृत प्रियवृत वेदवाचस्पति

प्राचीन भारत में शासन व्यवस्था के परिचालन के लिए सभाएँ तथा समितियाँ नियुक्त होती थी। प्रौढ़ो की राजसभा जनता की सार्वजनिक सभा व्यापारियों तथा व्यवसायिकों का मण्डल राज्यों का संघ और कुटुम्बों (कुल) की ग्रामसभाएँ। ये ही सभाएँ कानून बनाती तथा उसको जनता में क्रियान्वित करती थी इन सभाओं का प्रमुख कार्य जनता का प्रतिनिधित्व करना और राजा के निर्वाचन तथा सार्वजनिक भलायी के लिए अपनी राय देना था।[१]

संस्थाओं का महत्व :

प्रत्येक जाति के जीवन का बहुत कुछ परिचय उस जाति की संस्थाओं के अध्ययन करने से प्राप्त किया जा सकता है। इन संस्थाओं का आश्रय गृहण कर वह जाति अपने जीवन सम्बन्धी सिद्धान्तों को कार्यान्वित करने का प्रयास करती है। इसलिए जाति विशेष के जीवन सम्बन्धी सिद्धान्तों एवं उन सिद्धान्तों के व्यवहारिक रूप का अध्ययन उस समय तक अधूरा ही रहता है जब तक कि उस जाति से सम्बन्धित संस्थाओं का क्रमबद्ध एवं विधिवत अध्ययन गृह्यसूत्रकालीन आर्यों की कतिपय संस्थाओं की ओर संकेत है। ये वे संस्थाएँ जान पड़ती हैं जिनका निर्माण आर्यों के जीवन सम्बन्धी सिद्धान्तों को कार्यान्वित करने के लिए हुआ था। इन संस्थाओं में अपने-अपने क्षेत्राधिकार के अनुसार जीवन सम्बन्धी समस्याओं पर गम्भीरता एवं शान्ति विचार किया जाता था और इस प्रकार उन पर विवेचनापूर्ण विचार हो जाने के बाद उनके निराकरण हेतु निर्णय किये जाते थे जों उनके द्वारा यथासम्भव कार्यान्वित होते थे। इस प्रकार उनकी लोकयात्रा के मार्ग में उपस्थित होनें वाले विघ्नों और उपद्रवों का शमन छोटा रहता था और तदनुसार वे अपने उस प्रशस्त मार्ग में गमन करते हुए जीवन के परम ध्येय की प्राप्ति करते थे। गृह्यसूत्रों में उल्लिखित इन संस्थाओं में सभा समिति विशेष महत्वपूर्ण थी।

सभा की प्राचीनता :

आर्यों की संस्थाओं में सभा का प्रमुख स्थान था। यह उनकी राष्ट्रीय संस्था थी। इस संस्था के माध्यम से उनके राष्ट्रीय जीवन

---

१. कौटिल्यीय अर्थशास्त्र – वाचस्पति गैरोला पृ. १

प्रस्फुटन में महत्वपूर्ण योगदान प्राप्त होता था। सभा को प्रजापति की दुहिता कहकर सम्बोधित किया गया है।[१] आर्यों को अति पुरातन संस्था सभा थी जिसका प्रादुर्भाव सृष्टि रचना के साथ ही आदि काल में हुआ था। सभा की उत्पत्ति विराट् पुरुष से कही गयी है। वेद के एक प्रसंग में व्रात्य अथवा आदि पुरुष से सभा की उत्पत्ति बतलायी गयी है।[२]

आर्यों की यह सभा उतनी ही पुरातन है जितने पुरातन प्रजापति विराट पुरुष अथवा व्रात्य हैं। सभा की उत्पत्ति भी आदि सृष्टि के साथ ही हुई थी। सभा का सर्वप्रथम निर्माण चाहे जिसने और चाहे जब किया हो परन्तु आर्यों की जिन संस्थाओं का उल्लेख गृह्यसूत्रों में हैं उनमें सभा ही एक ऐसी संस्था है जिसके विषय में अन्य संस्थाओं की अपेक्षा परिचयात्मक सामग्री उपलब्ध है।

सभा का स्वरूप :

सभा के स्वरूप के विषय में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। आर्य किसी विशेष समस्या को समाधान हेतु विचार करने के लिए जन एकत्र होकर एक स्थान पर बैठते थे तो उनके इस प्रकार एकत्र होने के स्थान अथवा भवन को सभा कहते थे। समिति के सदस्यों की बैठक जिस स्थान या भवन में होती थी उस स्थान या भवन को सभा की संज्ञा दी गयी है।[३]

सभा ग्राम की संस्था थी और इस दृष्टि से वैदिक राज्य में अनेक सभाएँ थी। सभा समिति की स्थायी उपसमिति थी। गृह्यसूत्र युग में जुआ के लिए भी सभा का प्रयोग होता था सभासद के सदस्य सभा एवं सभासद कहलाते थे। सभा मात्र संस्था न थी केवल सभा स्थानीय अथवा ग्राम की संस्था न थी अपितु उसके अपने कार्य थे। अपने एक पृथक् अस्तित्व था।

---

१. प्रजापतिर्दुहितरौ – पा.गृ.सू. जगदीश मिश्रा– ३/१३/३ पृ. ४५२

२. अथर्व. २/९/१५

३. इस मत के प्रवर्तक हेली ब्राण्ड हैं। वेदकालीन राज्य व्यवस्था पृ. –

सभा का संगठन :

सभा शब्द के नामकरण पर प्रकाश डालते हुए जयराम ने पारस्कर गृह्यसूत्र की व्याख्या में कहा है कि स+भा अर्थात् सहधर्म के कारण यह शोभित होती है और एक सम्मति बनाते हैं।[१]

सज्जनों और विद्वानों से यह शोभित होती है अतः इसे सभा कहते हैं। सभा का यह अर्थ हो सकता है कि स अर्थात् सहयोग और सामंजस्य से 'भा' अर्थात् शोभित होने वाली। सभा के सभी सदस्य पारस्परिक सहयोग के द्वारा राजा और प्रजा दोनों का सहयोग करते हैं। अतएव इसका यह गौरव है सभा का एक और अर्थ है स+भा अर्थात् इसके सदस्य 'भा' अर्थात् तेज और योग्यता आदि से युक्त होते हैं अतः इसे सभा कहते हैं।[२]

सभा की सदस्यता :

सभा का शाब्दिक अर्थ भासित अथवा प्रकाशित होना है इसलिए सभा का तात्पर्य तेजस्वी अथवा विशिष्ट पुरुषो की बैठक अथवा उनके एकत्र होने का स्थान है। इससे ज्ञात होता है कि सभा आर्यों की ऐसी संस्था थी जिसमें तेजस्वी अथवा विशिष्ट पुरुष एकत्र होते थे। सभा की सदस्यता का अधिकार सामान्य पुरुषों को तब तक न प्राप्त था जब तक कि उनमें उसकी सदस्यता के अनुरूप वांछनीय गुण एवं योग्यताएँ विद्यमान न होती हो। सभा अपने सभासदों से कहती है कि ऐसे व्यक्ति जिन्हें सभा के शिष्टाचार का ज्ञान न हो वे सभा में न बैठें। सभा में बैठने वाले व्यक्ति की बुद्धि तीक्ष्ण होनी चाहिए।[३] सभा की सदस्यता कठिनाई से प्राप्त होती थी। सभा की सदस्यता के लिए लोग लालायित रहते थे इस तथ्य की पुष्टि ऋग्वेद के एक मंत्र में सोम की उपासना का फल बतलाते हुए इस प्रकार की गयी है जो पुरुष श्रद्धा भक्ति के साथ सोम की उपासना करता है। सोम उस भक्त के लिए दूध देने वाली गाय द्रुतगामी अश्व कर्तव्य

---

१. पा.गृ.सू. ३/१३/१

२. अथर्व. का सांस्कृतिक अध्ययन – डॉ. कपिल द्विवेदी – पृ. ४६६

३. यो मा न विद्यादुपमा स तिष्ठेत्स चेतनो भवतु शहसथे जन इति।
पा.गृ.सू. ३/१३/३ पृ. ४५२

परायण गृहसत्कार कार्य में कुशल पितृभक्त विदथ की सदस्यता योग्य और सभा का सदस्य बनने योग्य पुत्र प्रदान करता है।[१] सभा की सदस्यता प्राप्ति लोक की दृष्टि में विशेष राष्ट्रीय सम्मान मानी जाती थी। इस पद की प्राप्ति के निमित्त विशेष गुणों एवं योग्यताओं का धारण करना अनिवार्य था। ये गुण तथा योग्यताएँ सामान्य श्रेणी के पुरुषों के लिए साधारणतया सुलभ न थी। सभा के सदस्य को सभ्य अथवा सभासद की उपाधि से विभूषित किया जाता था।[२]

सभा के सदस्यों के विशेषाधिकार :

सभा के सभासदों के विशेषाधिकारों के विषय में स्पष्ट उल्लेख नहीं है। परन्तु यत्र तत्र कतिपय ऐसे अंकित अवश्य प्राप्त हैं जिनके आधार पर उनके कुछ विशेषाधिकारों का अनुमान किया जा सकता है।

सभा में समान आसनों के होने की ओर संकेत किया गया है। इस आधार पर सभा भवन में सभासदों के लिए आसन ग्रहण करने का अधिकार का परिचय प्राप्त होता है। सभा में सभासद का एक विशेषाधिकार सभा भवन अथवा सभा भूमि में आसन ग्रहण करने से सम्बन्ध रखता है। सभा का सदस्य चाहे जिस वर्ण रंग आकृति आदि का पुरुष क्यों न हो परन्तु सभा का सदस्य होने के नाते सभा में बैठने के लिए उसे समान आसन ग्रहण करने का अधिकार प्राप्त है। इससे स्पष्ट है कि सभा के सभी सदस्यों के लिए समान आसनों की व्यवस्था थी। आसन व्यवस्था की दृष्टि से वैदिक सभा जनतान्त्रिक संस्था थी।[३]

सभापति :

सूत्रों में सभा के अध्यक्ष की ओर संकेत किया गया है। पा.गृ.सू.[४] आदि देव को कान्तिपूर्ण तथा शब्दशील सभा का अधिष्ठाता कहा गया है। सभापति का जिस रूप में उल्लेख है उससे ज्ञात होता है कि आर्य जनता में सभापति पद महत्वपूर्ण समझा जाता था। जहाँ

१. ऋग्वेद २०/९१/१
२. अथर्ववेद
३. वेदकालीन राज्यव्यवस्था – डॉ. श्यामलाल पाण्डे – पृ. १४१
४. सभाङ्गिरसि नादिर्नामासि त्विषिर्नामासि पा.गृ.सू. ३/१३/२, पृ. ४५२

राज्य के अन्य पदाधिकारियों के प्रति सम्मान प्रदर्शन हेतु व्यवस्था दी गयी है। वही सभा के सभापति के प्रति थी उसी रूप में विशेष सम्मान प्रदर्शित करने के निमित्त आदेश किया गया है।[१] समाज में सभा के सभापति का पद अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं प्रतिष्ठित समझा जाता था। सभा की बैठकें इसी सभापति की अध्यक्षता में होती थी। सभापति की नियुक्ति किस प्रकार किसके द्वारा होती है इस विषय मे कोई विशेष उल्लेख नहीं प्राप्त होता है। सभापति सभा सदस्यों के अनुचित व्यवहार पर क्रोध कर सकता था। सभासद का कर्तव्य होता था कि वह सभापति का क्रोध शान्त करने का प्रयत्न करना चाहिए।[२]

सभा के कार्य :

सभा का प्रधान कार्य धर्म निर्णय था। मनुष्य को उसके आचरण, कार्य करने, तथा दण्ड की मात्रा निश्चित करना सभा का कार्य था। कि सभा का कार्य विवादग्रस्त विषयों पर विचार करना एवं तदनुसार निर्णय देना था।

सभा का परिचय देते हुए बतलाया गया है कि धर्म के लिए (धर्माय) सभा में कार्य करने वाले (सभाचरण) को जानना चाहिए।[३] मनुष्य धर्मनिर्णय अर्थात् न्याय की प्राप्ति हेतु सभा में गमन करता था। यज्ञ तू आक्रमण के लिए अर्थात् आक्रमण से सुरक्षित स्थान समझी जाती थी। ये रहने के लिए सभा अस्कन्दाय सभा में स्थित (सभा स्थाणुम) को प्रकट करे।[४] इससे स्पष्ट है कि आक्रमण से सुरक्षित रहने के लिए स्थान समझी जाती थी। सभा में उस व्यक्ति को शरण मिलती थी जिसके जीवन सम्पत्ति स्वतन्त्रता अथवा सम्मान तथा प्रतिष्ठा आदि पर आक्रमण होता होगा अर्थात् दूसरे से त्रस्त अथवा पीड़ित व्यक्ति की रक्षा सभा की शरण में आने से होती थी। किसी

---

१. यजुर्वेद २४/१६

२. पा.गृ.सू. एषा रराटया तनूर्मन्योः क्रोधस्य नाशनी। ३/१३/५ पृ. ४५३

३. यजुर्वेद ६/३०

४. यजुर्वेद १८/३०

२. यदि दुग्धो द्रोहकर्ताऽयमिति मन्यते तर्हि तमभिमन्यते तां ते वाचमित्यादिमन्त्रेषु पा.गृ.सू. ३/१३/६-७, पृ. ४५३

व्यक्ति के अधिकार पर आघात हुआ है ऐसी परिस्थिति के उपस्थित होने पर सभा उस व्यक्ति के अधिकार की रक्षा करती थी और उसके उस अपहृत अधिकार को पुनः दिखाने का निर्णय देती थी।

सभा एक प्रकार की न्यायालय थी। प्रार्थना की जाती थी सभा में जो हम पाप करें उस पाप का मोचन करने वाला तू है अर्थात् प्रभु अथवा यज्ञ उस पाप का मोचन करे। सभा के समक्ष निर्णय हेतु प्रस्तुत किसी विषय ने अनृत अथवा अधर्मपूर्ण निर्णय दिया गया है जो इस प्रकार पापाचरण हुआ है उस पाप का एक चौथाई अंश मात्र पापकर्ता को होता है। उस पाप के शेष भाग में एक तिहाई अंश सभाध्यक्ष को, एक तिहाई अंश अनृत साक्ष्य देने वाले व्यक्ति को एक अवशेष एक तिहाई अंश सभासदों को होता है।[१] परन्तु जिस सभा में अन्ततवादी अथवा पापाचारी के अनुसार ही न्यायपूर्ण निर्णय दिया जाता है उस सभा में सभाध्यक्ष और सभासद दोनों निष्पाप रहते हैं उस पापाचारी अथवा अनृतवादी (वादी, प्रतिवादी अथवा साक्षी को) सम्पूर्ण पाप होता है। जिस सभा में न्याय नहीं होता, सभा में पाप का आधा अंश सभाध्यक्ष के अवशेष आधे को आधा उस सभा के उन सभासदों को पाप लगता है जो सभा में बैठक निन्दित पुरुष की निन्दा नहीं करते और उस पांप का चतुर्थांश मात्र पाप कर्ता को लगता है।[२] आर्यों के दैनिक जीवन में समय-समय पर उपस्थित होने वाली महत्वपूर्ण समस्याओं की गुत्थियों का सुलझाना भी सभा का कार्य रहा होगा। समाज में विवादग्रस्त कतिपय विशेष समस्याओं पर विचार करना और तदनुसार निर्णय देना सभा के कार्यक्षेत्र के अन्तर्गत अवश्य रहा होगा।

सभा की कार्यप्रणाली :

सभा के कार्य संचालन हेतु किस प्रकार की प्रणाली का आश्रय लिया जाता है? इस विषय में गृह्यसूत्रों में प्रमाणिक सामग्री का अभाव है इसीलिए सभा की कार्य प्रणाली के विषयों से किसी निश्चित मत

---

१. मानवधर्म शास्त्र – १८/८

२. वही २९/८

का निर्धारण किया जाना असम्भव है। अथर्ववेद[१] एक दो अप्रत्यक्ष संकेत सभा की कार्य प्रणाली की ओर संकेत किये गये हैं इन संकेतों के आधार पर ऐसा अनुमान होता है वादी अपने वाद को सभा के समक्ष करता था कि सभा के सदस्यों को पिता के समान पुत्रवत उसकी रक्षा करे इसी प्रसंग में यह प्रार्थना की गई है कि सदस्य अपना मत सभा के समक्ष प्रस्तुत प्रस्ताव अथवा वाद पर विचार करने में लगाएँ।[२] यदि उनका मन इधर-उधर भटक जाता है तो अपने इस प्रकार भटके हुए मन को खींचकर अपने समक्ष प्रस्तुत विषय की पूर्ण विवेचना सभासदों द्वारा की जाती थी। सभा के सदस्यों के लिए सर्वसम्मति की प्राप्ति हेतु कामना अथवा प्रार्थना की गयी है।[३] सभा में इस ओर विशेष ध्यान दिया जाता था कि उसके द्वारा किये गये निर्णय की प्रशंसा की जाती थी। परन्तु ऐसा सदैव सम्भव न होने के कारण कभी-कभी किसी विषय में सभा के सदस्यों के भिन्न मत होने के कारण निर्णय देने में बहुमत का आश्रय लिया जाता था।[४] यजु. में धर्म अर्थात् न्याय के लिए सभाचर के पास जाने का उल्लेख है।[५] यह सभा राष्ट्रीय न्यायालय का कार्य करती थी। सभापति न्यायाधीश का काम करता था। तै.स. में ग्रामसभा के सभापति की ग्राम्यवादी कहा गया है।[६] वह ग्राम का न्यायाधीश का काम करता था।[७] पारस्कर गृह्यसूत्र में[८] सभा को नादि और त्विषि कहा है। जयराम ने इसकी व्याख्या की है कि यह नादि अर्थात् शब्द करने वाली है। इसका यह अभिप्राय है कि सभा में सभापति अपना निर्णय देने से पूर्व पक्ष विपक्ष के वक्ताओं की बातों को सुनता था और इसमें उनका हल्ला होता था। त्विषि का अभिप्राय चमकने वाला किया है। सभा अपने

---

१. अथर्ववेद।
२. वेदकालीन राज्य व्यवस्था – डॉ. श्यामलाल पाण्डे – पृ. १४४
३. अथर्ववेद – १/१३/७
४. यजु. ३०.६
५. तै.स. २.३.१.३
६. मैत्रायणी संहिता २.२.१
७. तै. संहिता
८. पा.गृ.सू. नादिर्नामसि त्विर्ष्निामासि ३/१३/२ पृ. ४५२

निष्पक्ष निर्णयों के द्वारा चमकती थी। इस प्रकार सभा के समक्ष उपस्थित वादी अपना पक्ष प्रार्थना के रूप में प्रस्तुत करता थ। इसके अतिरिक्त अन्य आवश्यक विषय भी सभा में निर्णय हेतु प्रस्तुत किये जाते थे, प्रस्तुत किये गये विषय अथवा वाद पर सभा के सदस्य गम्भीरतापूर्वक विचार कर अपने मत पृथक्-पृथक् व्यक्त करते थे और उनके इन मतों के आधार पर सभा प्रस्तुत विषय अथवा वाद पर निर्णय देती थी जो मान्य होता था। निर्णय सर्वसम्मति अथवा बहुमत द्वारा किये जाते थे। सर्वसम्मति के आधार पर दिये गये निर्णय विशेष प्रशंसनीय माने जाते थे। प्रतिवादी साक्षी आदि को सम्बन्धित विषय पर दिये गये निर्णय विशेष प्रशंसनीय जाता होगा और सम्बन्धित घटना अथवा विषय में तथ्य तक पहुँचने के लिए उनको भी विधिवत् सुनने का समुचित अवसर दिया जाता होगा।[१]

सभा में प्रस्तुत विषय पर उसके प्रत्येक सदस्य को अपना मत स्वतन्त्रतापूर्वक व्यक्त करने का पूर्ण अधिकार था जिस समय सभा का कोई सदस्य प्रस्तुत विषय पर अपने विचार व्यक्त के लिए सभा में बोलता था उस अवधि में सभा के दूसरे सदस्यों को बोलने का अधिकार न था। वक्ता का भाषण समाप्त हो जाने पर अथवा बोलने पर निर्धारित समय के समाप्त हो जाने पर सभा के अन्य सदस्यों को बोलने का अधिकार था। इस तथ्य की पुष्टि अथर्व. इन शब्दों में की गयी है सभा का सदस्य कहता है जहाँ मैं भाषण करूँ तब तू भाषण मत कर। मेरे भाषण के उपरान्त तू भाषण कर।[२] सभा की कार्यवाही सभा के सभापति के नियन्त्रण में सम्पन्न होती थी। इस प्रकार सभा का संचालन निर्धारित निश्चित नियमों के अनुसार सभापति के अनुशासन में होता था।

सभा और भाषण शक्ति :

सभा में भाषण शक्ति का बहुत महत्व था। जो अच्छा वक्ता होता था वह जनमत को अपनी ओर खींच लेता था। इसलिए भाषण

---

१. वेदकालीन राज्यव्यवस्था – डॉ. श्यामलाल पाण्डे पृ. १४५

२. अथर्ववेद – ४/३९/७

शक्ति को उन्नत करने के लिए प्रयत्न किये जाते थे। मैं सभाओं में मधुर बोलूँ सब सभासद मेरी बात का समर्थन करें। सभा का अध्यक्ष यदि दुष्ट प्रकृति वाला हो तब भी मुझसे शिष्टतापूर्वक व्यवहार करें।[१] सभासद भाषण के द्वारा धरती और आकाश की सम्मिलित शक्ति का प्रतीक है। वह अपनी मन्त्र शक्ति से सभापति के क्रोध को उसी प्रकार दूर हटा देती है जिस प्रकार असह्य गर्भ को सहन करने में असमर्थ खच्चरी दूर हटा देती है।[२] भाषण शक्ति का महत्व बताते हुए कहा गया है कि वक्ता की वाणी में जादू है वह श्रोताओं में मंत्र या जादू सा फूंक देता है।[३]

सभा की न्याय समिति :

सभा के सदस्यों को सभ्य और सभासद नाम से सम्बोधित किया गया है।[४] सभा के सभासदस्य सामान्यतया सभासद कहलाते थे। परन्तु उनमें कुछ सभासद ऐसे भी होते थे जिनमें सामान्य सभासदों की अपेक्षा कतिपय विशेष योग्यता एवं गुण होते थे। उनकी इस विशेषता के कारण उन्हें कुछ विशेष कार्य सौंप दिये जाते थे। जिनका विधिवत् सम्पादन करना उनका कर्तव्य समझा जाता था। उनका यह विशेष कार्य न्याय सम्बन्धी था इस श्रेणी के सभासदों को सभ्य की उपाधि से विभूषित किया जाता था।

इस प्रकार सभा की एक उपसमिति होती थी वैदिक राज्य में सर्वश्रेष्ठ न्यायालय का रूप धारण किये हुए थी। इस उपसमिति का कार्य न्याय की स्थापना था। सभा की इस उपसमिति के सभी सदस्य सभ्य कहलाते थे। प्राचीन भारत में सभ्य न्यायलय रहे हैं। न्याय क्षेत्र में वे सक्रिय योगदान करते थे। जनता में उनका विशेष महत्व एवं आदर था। ऐसा ज्ञात होता है कि इस सभ्य न्यायालयों का विकास

---

१. अस्या:पर्षद ईशान सहसा सुद्रष्टरो जन इति – ३/१३/४ पृ. ४५२ पा.गृ.सू.

२. घौजहं पृथिवी चाहं तौ ते क्रोध नयमसि गर्भमश्वतर्यंसहासाविति पा.गृ.सू. ३/१३/५ पृ. ४५३

३. अथर्ववेद का सांस्कृतिक अध्ययन डॉ. कपिल देव

४. अथर्व. २/५५/१९

वैदिक सभा की इसी उपसमिति से हुआ है। लोक में उनकी विशेष प्रतिष्ठा एवं महत्व था। मानव धर्मशास्त्र के रचनाकाल में भी सभ्य न्यायालय महत्वपूर्ण एवं सम्मानित न्यायिक संस्थाए समझी जाती थी।[१] सभा में एक न्याय समिति होती थी जिसका निमार्ण सभा अपने विशेष योग्य सभासदों से करती थी ये सदस्य इस उपसमिति में बैठकर न्याय कार्य का सम्पादन करते थे।

सभा आर्यों की महत्वपूर्ण संस्था थी जो वैदिक संहिताओं के युग में महत्वपूर्ण कार्य सक्रिय रूप में करती हुई उनके जीवन के विकास में समुचित योग देती रहती थी।[२]

समिति :

संस्थाओं का उल्लेख जिस रूप में हुआ है उससे ज्ञात होता है कि सभा और समिति आर्यों की दो मुख्य संस्थाएँ थी। उनकी इन दोनों संस्थाओं ने उनके जीवन के विकास में महत्वपूर्ण सहयोग दिया था। उनके जीवन में उनके लिए सभा जितनी महत्वपूर्ण एवं उपयोगी थी उससे किसी अंश में न्यून महत्वपूर्ण एवं उपयोगी समिति न थी। समिति को पुरातन संस्था बताया गया है। अथर्ववेद में समिति को सभा की अग्रज भगनि और प्रजापति की दुहिता कहकर सम्बोधित किया गया है।

समिति भगिनि पुरातन संस्था होना सिद्ध करते हैं। इन प्रसंगों के अनुसार समिति उतनी ही पुरातन है जितने कि प्रजापति विराट् पुरुष और ब्रात्य पुरातन है। इसके अतिरिक्त ऋग्वेदीय ऋषियों ने भी समिति को अपने समय की महत्वपूर्ण एवं सक्रिय उपयोगी संस्था के रूप में वर्णन किया है।[३]

समिति का संगठन :

समिति शब्द सम् और इति के योग से बना है। जिसका अर्थ एकत्र होना है। इस दृष्टि से समिति आर्यों की सार्वजनिक संस्था थी

---

१. मानवधर्मसूत्र १०/८

२. वेदकालीन राज्यव्यवस्था – डॉ. श्यामलाल पाण्डे पृ. १४६

३. ऋग्वेद २/९/१५

जिसमें राज्य के लगभग सभी वयस्क निवासी एकत्र होकर सार्वजनिक जीवन सम्बन्धी समस्याओं का समाधान मिल जुलकर कर लेने के अधिकारी थे।

इस प्रकार सभा और समिति के संगठन में सबसे महत्वपूर्ण अन्तर यह था कि सदस्यता का अधिकार केवल उन पुरुषों को प्राप्त था जो राज्य में विशिष्ट पुरुष समझे जाते थे। परन्तु समिति की सदस्यता के लिए ऐसा कोई प्रतिबन्ध न था। राष्ट्र के लगभग सभी निवासी समिति में बैठ सकते थे और उसकी कार्यवाही में भाग लेने के अधिकारी थे। संगठन की दृष्टि से सभा की अपेक्षा समिति कहीं अधिक उदार थी। समिति का एक अध्यक्ष होता था। समिति के अध्यक्ष को सम्भवतः समितिपति कहते थे। इसी समिति पति की अध्यक्षता में समिति की बैठकें होती थी और आवश्यकतानुसार कार्य सम्पन्न होता था। एक मंत्र में समिति के सदस्य को सामित्य कहकर सम्बोधित किया गया है।[१]

समिति के कार्य :

समिति का कार्य निष्कासित राजा की पुनः स्थापना करने की अधिकारिणी होती थी। समिति का कार्य राज्य की नीति का निर्धारण करना प्रधान कर्तव्य था। राष्ट्रवासियों के कल्याण हेतु प्रस्तुत की गयी योजनाओं पर गम्भीर एवं विवेचनात्मक प्रणाली द्वारा विचार करना और उन्हें स्वीकार अथवा अस्वीकार करना समिति के अधिकार क्षेत्र की परिधि में था।

राष्ट्रवासियों के लिए नूतन राजा का वरण करना अनुपयुक्त एवं अयोग्य राजा को राजपद से भ्रष्ट कर उसे निष्कासित करना, निष्कासित राजा को राजपद हेतु आमन्त्रित कर राजपद पर उसकी पुनः स्थापना करना राज्य की नीति का निर्धारण करना राष्ट्रवासियों के कल्याण हेतु प्रस्तुत की गयी योजनाओं पर विवेचनात्मक प्रणाली से विचार कर उन्हें स्वीकार अथवा अस्वीकार करना समिति के क्षेत्र के

---

१. अथर्व. ११/१०/८ वेदकालीन राज्य व्यवस्था– पृ. १४८

अन्तर्गत समझे जाते थे। समिति नाम की संस्था आर्यों की महत्वपूर्ण संस्था थी इसका सार्वजनिक जीवन में विशेष महत्व था।[१]

समिति की कार्यप्रणाली :

ऋग्वेद के एक प्रसंग में प्रार्थना की गयी है कि उनकी समिति में एकमत हो समिति के सदस्यों के चित्र उनके मन और उनके द्वारा निर्णित मंत्र एवं मंत्र निर्णय की उनकी प्रक्रिया में एकमत रहे।[२] आर्यों के सार्वजनिक जीवन से सम्बन्धित समस्यायें उनके द्वारा समाधान हेतु समिति के समक्ष प्रस्तुत की जाती थी। समिति में इन समस्याओं पर गम्भीर विवेचना की जाती थी उनके समाधान हेतु वाद-विवाद भी होते थे। इन वाद-विवादों एवं गहन विवेचनों के उपरान्त समिति द्वारा उन पर अन्तिम निर्णय दिया जाता था जो समयानुसार यथासम्भव कार्यान्वित होता था यह प्रार्थना सम्भवतः इसी आशय से की गयी जान पड़ती है कि समिति में उपस्थिति समित्य गण एक संकल्प करे और एक चित्त होकर प्रस्तुत संकल्प अथवा विचार अपने-अपने मत व्यक्त करते हुए अन्त में एक ही निर्णय दें इस प्रकार प्राप्त निर्णय पर दृढ़ रहे।[३] सार्वजनिक समस्याओं के समाधान हेतु समिति के सदस्यों के मन उनके व्रत और उनके चित्त में एकता तथा समता रहने की आवश्यकता बतलायी गयी है। इस प्रकार समिति के सदस्यों में कुमति रहे इस ओर विशेष ध्यान दिया गया है।[४]

उपयोगिता :

समिति की उपयोगिता की ओर संकेत किया गया है कि जिस राष्ट्र में ब्रह्महत्या होती है वहाँ मित्र वरुण जलवृष्टि नहीं करते समिति वहाँ कार्य नहीं करती और उस राष्ट्र के मित्र उसके वश में नहीं रहते।[५] इस संकेत से स्पष्ट है कि वे राज्य में समिति का अभाव

---

१. वेदकालीन राज्य व्यवस्था पृ. १५३

२. ऋग्वेद – ३/१९१/१०

३. यजुर्वेद ५८/१२

४. वेदकालीन राज्यव्यवस्था – पृ. १५१

५. अथर्ववेद

अथवा निष्क्रिय हो जाना लोक ने महान अनर्थ समझा जाता था। समिति हीन राज्य मृतवत् समझा जाता था। आर्यों द्वारा इस सार्वजनिक जीवन सम्बन्धी समस्याओं को परस्पर मिल जुलकर एवं विचारों के परस्पर आदान-प्रदान द्वारा सुलझने और सम्पूर्ण राज्य की जनता के कल्याण का चिन्तन कर तदनुसार साधनों के जुटाने में समिति का महान् सहयोग रहता था। इस दृष्टि से समिति आर्यों की उपयोगी संस्था थी उसके बिना उनके राष्ट्रीय जीवन का सम्यक विकास असम्भव था।[१]

सेना का स्वरूप :

गृह्यसूत्रों में सेना का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं प्राप्त होता है परन्तु यत्र-तत्र सेना शब्द का उल्लेख मिलने से ज्ञात होता है कि उस समय सेना का निर्माण किया जाता था। शत्रु के नाश हेतु सेना का रखा जाना आवश्यक था सेना दो प्रकार की होती थी। कुछ सैनिक राज्य की वेतनभोगी स्थायी सेना में रहते थे और इन सैनिकों का संगठित समूह श्रुत सेना कहलाता था जिसने वैदिक युग के उपरान्त कुछ काल में मूल सेना का रूप धारण किया।[२]

सेना संगठन :

गृह्यसूत्रकालीन सेना द्विअंगिनी अवश्य थी सेना के ये दो अंग पदारोही थे। उस समय गजारोही सेना का भी निर्माण हो चुका था।

रथ सेना :

गृह्यसूत्रकाल में रथसेना, महत्वपूर्ण, परमोपयोगी तथा सर्वश्रेष्ठ समझी जाती थी। अनेक ऐसे प्रसंग हैं जिनमें रथ सेना को प्रोत्साहित किया गया है।[३] एक मंत्र में रथ द्वारा निर्वाध सर्वत्र गमन कर। रथ में सामान्यतया दो अश्व जोते जाते थे। वृषभ शत्रु नाश हेतु तू रथ द्वारा निर्वाद्य सर्वत्र गमन कर। रथ में सामान्यतया दो अश्व जोते जाते थे।

---

१. वेदकालीन राज्यव्यवस्था पृ. १४९

२. राज्ञश्चेन्निमित्तं तदा सेना। पा.गृ.सू. १/१०/१ गदाधर भाष्य पृ. १३८

३. यजु. ३७/१७

वृषभ भी जोते जाते थे। इन्द्र के रथ में दो अश्व वहन करते थे।[१] साधारणतया रथ में बैठकर एक वीर योद्धा युद्ध करता था जिसे रथी कहते थे।[२]

इस प्रकार सामान्य रथों मे बैठने के दो विशेष आसनों का प्रबन्ध किया जाता था। रथ के अग्रभाग में चालक का आसन होता था। इस प्रकार एक आसन योद्धा के लिए और दूसरा रथ चालक के लिए होता था। परन्तु कुछ विशेष रथ भी होते थे जिनमें दो से अधिक आसनों का आयोजन था।[३] रथ द्रुत गति से गमन करता है। रथ के चक्र को नाभि को नेमि और उसके अरों की अरा कहते थे। अरा चक्र की नेमि को चक्र की परिधि से संयुक्त करते थे। रथ निर्माण में कुशल कारीगर रथ का निर्माण करते थे।[४] युद्ध के जिस यान में खाद्य सामग्री आयुध और कवच रखे जाते थे उसका नाम रथवाहन है। गृह्यसूत्रों में रथचालक को सारथि[५] की उपाधि दी गयी है। रथ में जोते गये अश्वों को सारथि चाबुक से हाँकता था जिसे कुशा कहा गया।[६] रथ में आसीन वीर योद्धा रण स्थल में युद्ध करता था इस योद्धा को रथी की उपाधि दी गयी है सर्वश्रेष्ठ सारथि को रथीतम की उपाधि से विभूषित किया गया है।[७] इसी आधार पर इन्द्र को रथीतम की उपाधि प्रदान की गयी थी।[८]

आर्यों ने आत्म रक्षा हेतु राज्य में सेना का होना आवश्यक समझा था। उन्होंने अपने राज्य में सेना निर्माण किया था और समयानुसार उसे संगठित एवं सुसज्जित भी किया था उन्होंने अपनी

---

१. आप.गृ.सू. २/५/२० मा.गृ.सू. १/१३/२

२. सारथी पा.गृ.सू. ३/१४/१२ हरिहरभाष्य – पृ. ४५५

३. ऋग्वेद १/१८३/१

४. ऋग्वेद – ३/२४/६ यजु. ६/३०

५. सारथिना युक्तोरथ इति. पा.गृ.सू. ३/१४/३ हरिहर भाष्य पृ. ४५४

६. ऋग्वेद १७/१६२/१ यजु. ३६/१६

७. यजु. ६१/१५

८. वेदकालीन राज्यव्यवस्था पृ. १८५

इसी सेना द्वारा शत्रु से अपनी रक्षा की थी और उसके द्वारा अपने शत्रुओं से अपनी रक्षा की थी और उसके द्वारा अपने शत्रुओं से अनेक युद्ध किये थे जिनमें विजय प्राप्त हुई थी।[१]

आयुध :

गृह्यसूत्र में यद्यपि युद्धका कोई उल्लेख स्पष्ट रूप से परिलक्षित नहीं होता है परन्तु कतिपय आयुधों का यत्र तत्र उल्लेख प्राप्त होता है जिससे यह अनुमान किया जाता है कि आर्य युद्ध में विविध प्रकार के आयुधों का उपयोग करते थे। इन आयुधों का उल्लेख यत्रतत्र प्राप्त है। आर्य शास्त्र और अस्त्र दोनों प्रकार के आयुधों का प्रयोग करते थे।

धनुष :

गृह्यसूत्र युग का परम उपयोगी तथा विशेष प्रचलित आयुध धनुष था। आर्य धनुष बाण का विशेष उपयोग करते थे। आर्य वीर योद्धा बाण चलाने में कुशल होते थे।[२] आत्म रक्षा एवं शत्रु की पराजय के निमित्त धनुष बाण के आश्रय पर विशेष आस्था रखते थे। धनुष के विषय में इस प्रकार विचार व्यक्त किया गया है। धनुष के द्वारा भूमि पर अधिकार और संग्राम में विजय प्राप्त करनी चाहिए। धनुष शत्रु की कामनाओं को विफल करता है। रुद्र के धनुष को पिनाक नाम से सम्बोधित किया गया है।[३] धनुष के आकार प्रकार का बोध कराने के लिए प्रामाणिक सामग्री का नितान्त अभाव होने के कारण कुछभी कहा नहीं जा सकता। परन्तु उस युग का धनुष विशाल होता होगा। धनुष का निमार्ण बांस अथवा अन्य किसी प्रकार के उपयुक्त काष्ठ को झुकाकर उसके दोनों अव्यों को दृढ़ डोरी से बाँधकर किया जाता था। धनुष की डोरी का प्रिय सखा कहकर सम्बोधित किया गया है। यजुर्वेद[४] के अन्तर्गत एक प्रसंग में आया है कि तेजस्वी रुद्र तेरे हाथ में जो बाण है उन्हें धनुष के दोनों अव्यों से बँधी डोरी पर रखकर

---

१. असुरसेनाविजयाख्या कर्मसु उग्रः प्रचण्डो। पा.गृ.सू. १/५ पृ. ८४
२. यजु. २२/२२, धनुर्ज्या। पा.गृ.सू. २/५/२२, पृ. २६३
३. यजु. ५१/१६
४. यजु. ९१/७

बलपूर्वक फेंक और तेरे शत्रुओं ने जो तेरे ऊपर बाण छोड़े हैं। उन्हें नष्ट कर दें। धनुष की डोरी को ज्या और धनुष के दोनों सिरों को अन्त्या नाम से सम्बोधित किया गया है।[१]

बाण :

बाण का इषु, शल्य, शर, सायक आदि नामों से सम्बोधित किया गया है। विशेष नुकीले बाण को शल्य की संज्ञा दी गयी है। शल्य के अग्रभाग को शल्यमुख और शल्यमुख के अग्रभाग में जो नुकीला अग्रभाग था उसे शल्यदान कहा गया है। बाण का यह नुकीला अग्रभाग शत्रु के शरीर का वेधन करता था। शल्य के इन अग्रभागों को सुरक्षित रखने के लिए वेदों में प्रार्थनाएँ की गयी है कि अनेक तूणीरधारी इन्द्र धनुष का विस्तार कर बाणों के अग्रभाग को शल्यानां मुख्यः निकाल कर हमारे लिए प्रसन्न मन वाले मंगलकारी होओ।[२] शल्य के अग्रभाग का नुकीला दन्त अस्थि लोहे अथवा ऐसे किसी कठोर पदार्थ से बनाया जाता होगा बाद में पक्षी के पर लगाने का चलन था। सम्भवतः इसीलिए बाण को सुपर्ण नाम से सम्बोधित किया गया है।[३] उस बाण को सुपर्ण नाम से सम्बोधित किया गया है जिसमें सुपर्ण (श्येन) पक्षी का पंख लगा रहता था। यह कार्य बाण को द्रुतगामी बनाने के लिए किया जाता होगा। बाण का नुकीला अग्रभाग वेध्य प्राणी की खोज करने वाला होता है। तात की डोरी से प्रेरित छोड़ा गया बाण गिरता है। जहाँ मनुष्य विशेष प्रकार से इधर उधर दौड़ते हैं। वहाँ हमारे लिए सुख प्रदान करे। हे सीधी गति वाले बाण हमें बचा सकता अथवा हमें सब ओर से दूर रख हमारे शरीर पत्थरवत् हो जाये सोम साहस दे पृथिवी हमारे लिए सुख प्रदान करे।[४]

---

१. ऋग्वेद ११/६५/६

२. यजु. १३/१६

३. ऋग्वेद ११/७५/६

४. ऋग्वेद १२/७५/६

शत्रु–वध हेतु विष बुझे बाणों का भी उपयोग किया जाता था।[१] बाण निर्माण करने वाले शिल्पी को इषुकार और धनुष निर्माण करने वाले को धनुषकार नाम से सम्बोधित किया गया है।

वज्र[२] :

धनुष बाण के अतिरिक्त आर्यों का राजा इन्द्र एक विशेष अस्त्र का उपयोग करता था। इन्द्र ने अपने बलवान् एवं भयंकर शत्रु वृत्त का वध इसी अस्त्र के द्वारा किया था। वज्र लोहे (आयस) से निर्मित होता था। यह भाले के फल के समान कहा गया है। इन्द्र ने दधीचि के सिर की हड्डी से बने वज्र से असुरों का संहार किया था। भागवतानुसार वृत्रासुर के वध के लिए इन्द्र ने दधीचि से वज्र बनवाने के लिए उनकी हड्डी माँगी थी उनके शरीर त्यागपूर्वक अपनी अस्थि देने पर विश्वकर्मा ने उससे वज्र बनाया था।[३] वज्र के शरीर और नाम सृक हेति प्रहेति आदि मिलते हैं।

पाश :

शत्रु को पकड़ने के लिए पाश का विशेष प्रयोग किया जाता था। यह डोरी सूत, मूंज, तात, चमड़े आदि की हो। तीन रस्सियाँ होनी चाहिए। प्राण दण्ड में भी इसका प्रयोग किया जाता था। पाश द्वारा वध करने वाले पाशी कहलाते थे। जिनके सन्तान आजकल के पासी है। पाश[४] के छः भेद बतलाये गये हैं इन्हें साम्य, व्याम्य, संदेश्य, दैव और मानुष पाश के नाम से सम्बोधित किया गया है।[५]

---

१. अथर्ववेद ५/६/४

२. वज्रेणाभि तिष्ठामि – पा.गृ.सू. ३/१५ पृ. २६०
अयं मे वज्रः पापमानमपहनत् २/७/१ पृ. १३४

३. ऐतरेय ब्राह्मण ६.१०.११–१३, पौराणिक कोश रामप्रसाद शर्मा पृ. ४५५
पाशः वितता १/३ त्वन्नो अग्ने मन्त्र सं. पृ. २२ पा.गृ.सू.

४. पौराणिक कोश – पृ. ३०४

५. अथर्व. ८/१६/४

क्षुर :

क्षुर नाम के शस्त्र का भी उल्लेख है। यह एक प्रकार का चौड़े फाल वाला चाकू होता है जो तीक्ष्ण धार के लिए प्रसिद्ध था।[१]

दण्ड[२] :

दण्ड शब्द का प्रयोग अनेक रूपों में प्राप्त होता है। पशुओं को हाँकने के लिए प्रयुक्त दण्ड के अतिरिक्त प्रतिष्ठापन के समय असुरों को भगाने के लिए हाथ में एक दण्ड दिया जाता था। किन्तु सर्वाधिक महत्वपूर्ण राजप्रेषित दण्ड है। यह राजा की लौकिक शक्ति का प्रतीक माना गया है। अभिषेक के बाद राजा की पीठ पर दण्ड का स्पर्श कराया जाता था। जिसका तात्पर्य राजा का अदंडय होना था। अदंडय का तात्पर्य राजशक्ति के क्षेत्र में वृद्धि का प्रतीक है।[३] आधुनिक लाठी के स्थान में दण्ड का प्रयोग मार-पीट हेतु होता होगा।[४] कौटिल्य ने भी दण्ड का शास्त्रों में स्थान दिया।[५]

अश्मा (पत्थर)[६] :

पाषाण (अश्मा) को भी आयुध कोटि में परिगणित किया गया है। ऋग्वेद के एक स्थल पर पाषाण द्वारा शत्रु हनन करने की ओर संकेत किया गया है।[७] यम को पाषाण फेंकने वाला बताया गया है। शत्रु के नाश हेतु उस पर पाषाणों की वर्षा कर उसे आहत किया जाता था।

---

१. लोहक्षुरमादाय – पा.गृ.सू. २/१ हरिहर भाष्य पृ. ९२
२. ऋग्वेद ४१/३/२
३. तं दंडं यो मे दंड, इत्यादिना – पा.गृ.सू. २/२ हरिहर भाष्य पृ. १००
४. श.ब्रा. एक सांस्कृतिक अध्ययन – उर्मिला देवी शर्मा पृ. १५५
५. कौटिल्य अर्थशास्त्र – वाचस्पति गैरोला – ४१/३/२
६. अश्मारोहण पा.गृ.सू. १/७/१ हरिहर भाष्य पृ. ४१
७. ऋ. ५/१०४/७

संग्राम में वाद्य प्रयोग :

युद्धकाल में सैनिकों को उत्साहित एवं उत्तेजित करना परमावश्यक होता है। इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु विविध प्रकार के वाद्यों का आश्रय लिया जाना भी एक प्रमुख साधन समझा जाता था। इन वाद्यों की वीर ध्वनि से उत्साहित एवं उत्तेजित होकर सैनिक अपने स्वामी एवं अपने राज्य की रक्षा हेतु अपने प्राणों पर सहर्ष खेल जाता है। सैनिकों को उत्साहित एवं उत्तेजित करने के लिए विविध प्रकार के वाद्यों का उपयोग किया गया था। ऐसे वाद्यों में दुन्दुभि शंख कर्करि और गर्गर मुख्य हैं।[१]

ग्राम विशं तथा जन :

राजनैतिक व्यवस्था की इकाई ग्राम था। इसका सर्वोच्च अधिकारी ग्रामणी[२] कहलाता था। अनेक ग्रामों के मिलने से विश् बनता था। ग्रामणी नागरिक एवं सैनिक उत्तरदायित्वों का निर्वाह करता था। ग्रामणी की सहायता ग्रामसभा करती थी। यही ग्रामणी का चुनाव भी करती थी। विश् का सर्वोपरि सत्ताधिकारी विश्पति कहलाता था। यम को विशपति तथा पिता कहकर पुरों का पालन माना गया है। लेकिन विशों का समुदाय जन कहलाता था।[३] गृह्यसूत्रकालीन समाज में शासन व्यवस्था धर्मतान्त्रिक थी। राजनैतिक संस्था के विकास से पूर्व समाज प्रकृति नियम द्वारा शासित था जिसको स्वशासन या धर्मतान्त्रिक आसन कहा जाता था। प्रत्येक व्यक्ति ऋ. के नियम का पालन करता था यह एक आदर्श शासन व्यवस्था थी जिसमें किसी तन्त्रात्मक संस्था के बिना ही सभी ऋतधर्म के नियमों द्वारा शासित थे। शासन

---

१. ग्रामं परंददाति पा.गृ.सू. १/६/१६ जगदीश मिश्र गदाधर भाष्य

२. अत्रा वो विश्पतिः पिता पुराणाम् ऋ. सं. १०/१३/५.१
वैदिक साहित्य और संस्कृति का स्वरूप – डॉ. ओमप्रकाश पाण्डेय पृ. २९४

३. त्रि ग्रामं सतसथं तत्रत्यान् जनान् नयति दोषगुण विचारादभिः परिचालयति प्रेरयति वा क्विप्, ग्रामेण ग्राम्येण भोग्य आयुर्नयति क्षपयतीति। ग्रामाः भोग्य वस्तूनि नयति आत्मानं प्रापयतीति वा। हलायुध कोश – पृ. २८८

का प्रमुख राजा कहलाता था। प्रजा द्वारा उसका चुनाव होता था। राजा के राज्याभिषेक के समय एक कृत्य सम्पन्न होता था उस समय अध्वर्य और उसकी प्रजा जब उस पर जल से अभिषेक करती हुयी अदण्ड्योऽसि कहती थी किसी समय एक ब्राह्मण धर्मदण्डयोऽसि कहता था। यह प्रजा स्वतन्त्र के ऊपर धर्मतन्त्र के नियन्त्रण की द्योतक है।

राष्ट्र कई प्रशासनिक इकाइयों ग्राम, विश जन और राष्ट्र में विभाजित था। राज्यकार्य निष्पादन में राजा की सहायता करने के लिये विशों की दो संस्थायें थी सभा और समिति। इन दोनों का राजा के ऊपर पूर्ण नियन्त्रण भी होता था। इनको प्रजापति की जुड़वा पुत्रियाँ कहा गया है। सभा के लोगों को सभासद कहा जाता था और इसके अध्यक्ष को सभापति। समिति से सम्बन्धित सन्दर्भों में यह उल्लेख प्राप्त होता है कि समिति की बैठकों की अध्यक्षता राजा स्वयं करता था। राजनैतिक इतिहास के साथ-साथ पुरोहित का महत्वपूर्ण स्थान था। राजा और पुराहित जो क्रमशः क्षत्र और ब्रह्मबल का प्रतिनिधित्व करता था। समिति के निर्णयों का समाज में महत्वपूर्ण स्थान था। इन उल्लेखों से यह पता चलता है कि समिति का सम्बन्ध पूरे समाज से था।

इस प्रकार उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि गृह्यकालीन में राजनैतिक व्यवस्था सुदृढ़ और संगठित थी।

सप्तम अध्याय

संस्कृतिक के विकास में संस्कारों का योगदान

संस्कृति का अर्थ होता है– भूषणभूत सम्यक् कृति। इसीलिए भूषणभूत सम्यक् कृति या चेष्टा है संस्कृति कही जा सकती है। भूषणयुक्त कृतियों का सम्पूर्ण क्षेत्र संस्कृति का क्षेत्र है।[१] जिस प्रकार कृषि कर्म में भूमि का संशोधन तत्पश्चात् बीज वर्णन किया जाता है और सिंचन नियन आदि द्वारा आवश्यक संस्कारों का संस्पर्श देकर भूमि को शस्य सम्पन्न बनाया जाता है उसी प्रकार मानव मानस् में सत्संस्कारों द्वारा विकास की भूमि तैयार की जाती है।[२] मनुष्य के लौकिक पारलौकिक सर्वाभ्युदय के अनुकूल आचार विचार ही संस्कृति है।

संस्कृति शब्द से मानव समाज की उस स्थिति का बोध होता है जिससे उसे सुधरा हुआ ऊँचा सभ्य आदि विशेषणों से आभूषित किया जा सकता है। निसर्ग ने मनुष्य में तीन प्रकार की शक्तियाँ भर दी हैं जिनका सम्बन्ध शरीर मन या बुद्धि व आत्मा से है। शारीरिक मानसिक या बौद्धिक तथा आत्मिक शक्ति का विकास ही संस्कृति का मुख्य उद्देश्य है। व्यायाम के द्वारा शारीरिक शक्ति का विकास किया जाता था। यह विकास मानसिक शक्ति के विकास के लिए भूमिका भी तैयार करता था।

संशोधन या परिमार्जन की क्रिया को ही संस्कार कहते हैं इस क्रिया द्वारा वस्तु की शुद्धि ही नहीं होती उसकी उपयोगिता तथा लालित्य में भी वृद्धि हो जाती वह शरीर ही नहीं मन का पोषण करने लगती है। संस्कारों से आत्मा या अन्तःकरण शुद्ध होता है। इसलिए उत्तम और निकृष्ट संस्कार इस रूप से संस्कारों में उत्कृष्टता या निष्कृष्टता का भी व्यवहार होता है। षोडश एवं अष्ट्राचत्वारिशत् संस्कारों द्वारा आत्मा अथवा अन्तःकरण को संस्कृत करना चाहिए।

---

१. कल्याण – पृ. २४

२. वैदिक सभ्यता और संस्कृति पृ. ४७

जैसे वेदोक्त कर्म और कर्मजन्य अहष्ट दोनों ही धर्म शब्द से व्यवहृत होते हैं जैसे ही संस्कार और संस्कारोपयुक्त कृतियाँ दोनों ही संस्कृति शब्द से कही जा सकती है। सांसारिक नियम सीमाओं में आबद्ध आत्मा के उत्थानानुकूल सम्यक् भूषणभूत कृतियाँ ही संस्कृति है।

संस्कार के प्रभाव ने मनुष्य को शक्ति दी है मन को चकित किया है। बुद्धि को उत्साह दिया है और उसे प्रगति के पथ अग्रसर किया है। मनुष्य की उन्नत बुद्धि ने अपने से अतिरिक्त जीवन रूपों का भी संस्कार किया है। पशु पक्षियों को पालतू बनाकर संस्कारों द्वारा उसने अपने लिए उपयोगी बना लिया। मानव के उन्नत जीवन ने विकसित मस्तिष्क ने इन अवनत और अपेक्षाकृत अविकसित मस्तिष्क वाले जीवन रूपों पर अपने संस्कारों से गहरा प्रभाव डाला। सांस्कृतिक प्रभु विष्णुता को वर्धमान करने में भी संस्कारों का प्रधान योगदान है। संस्कृति और संस्कार दोनों एक दूसरे के सन्निकट हैं। अर्थ की दृष्टि से एक साध्य है दूसरा साधन। एक जीवन की पूर्णता की ओर इंगित करता है दूसरा विधि विधानों की ओर। संस्कारों का उद्देश्य है संस्कृत जीवन का निर्माण। संस्कृत जीवन का अर्थ है उन्नत उदात्त दिव्य जीवन मानवता का परिवरण देवी अतिमानुष विभूतियों का आधान, परम उज्जवल ज्योति स्वरूप शक्ति का मानव काया में अवतरण ही संस्कारों का तात्पर्य है।

संस्कार आदर्श के मार्ग पर मानव को अग्रसर करने वाले हैं। वे मनुष्य को शिष्ट संस्कृत अनुशासित एवं संयमी बनाते हैं। संस्कारों से व्यक्ति का अन्तस्थल ही नहीं सामाजिक वातावरण भी शुद्ध होता है। संस्कृत जीवन की पवित्रता में यह सौरभ है जो सीमाओं का अतिक्रमण करता हुआ सबके पास पहुँचता है और सबको सौरभ सम्पन्न एवं पवित्र बनाता है। हमारे संस्कार इसी हेतु यज्ञ भावना पर अवलम्बित है पूजा और दान उनकी प्रमुख विशेषता है।

आर्य जाति ने मानव के अध्यात्मिक निर्माण के लिए जिन संस्कारों की कल्पना की, उनकी आधार शिला अतीव सुदृढ़ तथा गहरी है। संस्कार जन्म के पश्चात् नहीं उसके बहुत पूर्व से ही प्रारम्भ हो जाते हैं। सृष्टि के मूल में जिन ऋत एवं सत्य प्राण एवं रयि सोम एवं अग्नि नाम के तत्वों का सहयोग है। वे ही द्विविध तत्व मानव

जन्म के मूल में भी क्रियाशील रहते हैं। इसका नाम वीर्य और रज है। वीर्य और रज जितने ही शुद्ध होंगे। संतति भी उतनी ही शुद्ध होगी। वीर्य और रज की शुद्धता स्वयं संस्कारों पर अवलम्बित है। संस्कारी माता-पिता के विशुद्ध वीर्य एवं रज से हो संस्कृत सन्तान का जन्म होता है। अतः संस्कारों का प्रारम्भ गर्भाधान से होता है। गर्भाधान संस्कार की समीचीनता भी आगामी जीवन के सभी अंगों को परिष्कृत रूप देने में समर्थ है।[१]

संस्कार के विधायक अंग

संस्कार विविध तत्वों के पञ्चमेल है वे प्राचीन हिन्दुओं के विश्वासों भावनाओं विश्व तथा मानव स्वभाव की परख और उन अतिमानुष शक्तियों में उनके सम्बन्ध को सूचित करते हैं जिनको वे मनुष्य के भाग्य का नियामक तथा मार्गदर्शक समझते हैं। हिन्दुओं का विश्वास था कि मनुष्य के लिए सुरक्षा, पवित्रता वर परिष्कार आवश्यक वस्तुएँ हैं उनके लिए वे अधिकांशतः देवताओं पर आश्रित थे जिनके अस्तित्व का वे अनुभव करते थे तथा सहायता के लिए वे उनसे प्रार्थना करते थे किन्तु जहाँ वे दिव्य सहायता की अपेक्षा रखते थे वहाँ उनका भौतिक तथा अधिभौतिक संसार का ज्ञान भी उनका सहायक था। इस प्रकार संस्कारों में भौतिक तत्वों का समन्वय मिलता है–

अग्नि :

संस्कारों का प्रथम व सर्वाधिक अंग अग्नि था। यह प्रत्येक संस्कार के आरम्भ में प्रदीप्त किया जाता था। आर्यों के कर्म में अग्नि का महत्व अतिप्राचीन है। उनकी पूजा प्रमुख गृहदेवता के रूप में की जाती थी। यह गृहस्थ के लौकिक व धार्मिक दोनों प्रकार के जीवन में सहायता का स्रोत था। गृह्य अग्निकुण्ड को पवित्र वस्तुओं में प्रथम स्थान प्राप्त हुआ। अग्नि जो प्रत्येक घर में सदा प्रदीप्त रखा जाता था उन प्रभावों का स्थायी प्रतीक बन गया जो मनुष्य को पारिवारिक व सामाजिक संबंधों में रखते थे। वह समस्त गृह्यानुष्ठानों व धार्मिक

---

१. वैदिक संस्कृति और सभ्यता – पृ. ४९, ५०, ५२, ५३ डॉ. मुंशीराम शर्मा

कृत्यों का केन्द्र बन गया। संस्कारों में अग्नि के महत्व का मूल्यांकन करते हुए इसे दैनिक जीवन में इसकी व्यवहारिक उपयोगिता के कारण इसे गृहपति का स्थान प्राप्त हुआ है कहा गया है– अपना कार्य करता हुआ अग्नि इन पार्थिव गृहों में निवास करता है यद्यपि यह देव है तथापि उसे मृत्य लोक का साहचर्य प्राप्त है।[१] वह पञ्चजनों में समान रूप से सम्मानित है और वह उनके प्रत्येक घर में विद्यमान है वह कवि है वह युवा है वह गृहपति है।[२] लोगों का विश्वास था कि अग्नि रोग राक्षसों और अन्य अमंगल शक्तियों से रक्षा करता है। अतः विविध संस्कारों के अवसर पर अग्नि की आराधना किया जाता था और उस बहुमानित स्थान दिया जाता था क्योंकि संस्कारों का एक उद्देश्य अशुभ प्रभावों से संस्कार्य की रक्षा करना भी था।

यज्ञ में सत्यधर्मा अग्नि की उपासना करनी चाहिए वह रोगों का नाश करता है।[३] अमर है शुचि सराहनीय है। हे अग्नि तुम विपत्ति से हमारी रक्षा करो, हे देव तुम अजर अमर हो अपनी तपनशील ज्वालाओं से हमारे शत्रुओं का नाश करो।[४] अग्नि हव्य को द्युलोक में पहुँचा देता है।[५] वह सन्देशवाहक के कार्य से परिचित है वह पृथ्वी और द्युलोक के बीच आता जाता है द्युलोक के मार्ग को भलीभाँति जानता है।[६]

आर्य अग्नि को धार्मिक कृत्यों का निर्देशक व नैतिक विधान का संरक्षक समझते थे। किसी भी धार्मिक कृत्य का अनुष्ठान तथा अनुबन्ध और किसी प्रकार के समझौते में प्रवेश अग्नि के द्वारा किया जाता था यह एक सनातन साक्षी समझा जाता था। उपनयन और

---

१. सचेतयन्मनुषो यशबन्धुः प्रतं महता रसनया नयन्ति
सक्षेत्यस्य दुर्यासु साश्चन्देवो मर्त्यस्य मर्त्यस्य राधानित्वमापत् ऋग्वेद ३

२. यः पञ्च चर्षणीरभि निषसाद दने दमें कविगृर्हपति युवा– ऋ. ७/१५/२

३. कविमग्निमुप स्तुहि सत्यधर्माणमहपरे देवमनीवचातनम् ऋ.वू. १/१२/७

४. अग्नी रक्षांसि सेधाति शुक्रशीचिरमर्त्यः शुचिः पावकः इड्यः। अग्ने रक्षा गोअहसः प्रतिष्म देव रीषतः तपिष्ठैरजरो दह। ऋ.वे. ७/१५/१०/१३

५. अग्निर्दिवि हव्यमाततान् ऋ. १०.८०.७

६. ऋ. ७.५.१

विवाह संस्कार के अवसर पर ब्रह्मचारी तथा पति और पत्नी उसकी परिक्रमा करते थे जिससे उनका सम्बन्ध स्थायी व वैध हो। अध्वरों (यशों) के राजा ऋतु के संरक्षक प्रज्वलित तथा वेदों में वृद्धि को प्राप्त करते हुए अग्नि की स्तुति करता है।[१]

स्तुतियाँ प्रार्थनाएँ और आर्शीवचन :

संस्कारों के दूसरे तत्व के अन्तर्गत स्तुतियाँ प्रार्थनाएँ तथा आशीर्वचन आते हैं। टायलर के अनुसार 'स्तुति चाहे व्यक्त हो चाहे अव्यक्त आत्मा की निष्कपट इच्छा है वह एक हृदय का दूसरे हृदय को सम्बोधन है।[२] जब संस्कारों तथा धार्मिक कृत्यों का विकास हुआ तब ब्रह्मवादी स्तुतियाँ भी कर्मकाण्डीय स्तुतियों के साथ जुड़ गयी क्योंकि स्तुतियों का उद्भव मानव संस्कृति के आदिकाल में हुआ और उनका उपयोग गृहकृत्यों में किया गया है अतः वे आरम्भ में नैतिकता से उतने ओत प्रोत नहीं थी। इच्छा की पूर्ति के लिए देवों से प्रार्थना की जाती थी किन्तु यह इच्छा अभी वैयक्तिक या पारिवारिक स्वार्थों तक ही सीमित थी। यद्यपि संस्कार घरेलू विधि विधान से होते थे। संस्कारों के अवसर पर परिवार की रक्षा समृद्धि व सुख संवर्धन आदि के लिए प्रार्थनायें की जाती थी जिनमें सन्तनि पशु आदि सम्मिलित थे। विवाह के समय वधू के साथ सप्तपदी करता हुआ वर विष्णु से प्रार्थना करता है कि पहला पग श्व (मंगल) के लिए दूसरा उर्ज (शक्ति) के लिए तीसरा समृद्धि के लिए चौथा सुखी जीवन के लिए पांचवा पशुओं के लिए छठा ऋतुओं के लिए सातवां पग पति और पत्नी की मैत्री के बन्धन में बाँधने में तनर्थ हो।[३]

उपनयन जैसे सांस्कृतिक अवसरों पर ब्रह्मचारी सद्गुणों की प्राप्ति और दुर्गुणों के निवारण में सहायता के लिए प्रार्थना करता है। इस प्रकार आराधना का उपयोग नैतिकता के संवर्धन क लिए किये

---

१. राजन्दमध्वराणां गोपामृतस्य दिदितम् वधमानं स्वेदमें ऋग्वेद १.१.८

२. प्रिमिदिव कल्वर भाग १ पृ. ३६४

३. एकमिषे विष्णुसत्वा द्वे ऊर्जे विष्णुस्त्वा त्रीणी रायस्पोषाय, चत्वारि मायोभवाय पंचपशुओं, षड्तुम्भो ज्ञरवे सप्तपदा भव सा। पा.गृ.सू. १.८.१ हरिहर भाष्य आ.गृ.सू. १.१९.१

जाने लगा था उपनयन संस्कार में बौद्धिक चेतना पवित्रता तथा ब्रह्मचर्य आदि के लिए प्रार्थनाएँ की जाती थी। प्रसद्धि और पवित्रम गायत्री मन्त्र में कहा गया है कि 'हम स्त्रष्टा (सूर्य) देव के वरणीय तेज का आराधन करें, वह ईश्वर हमारी बुद्धि को सन्मार्ग में प्रेरित करें।[1] आहुति देते समय विद्यार्थी प्रार्थना करता है, हे अग्नि! अर्न्तदृष्टि प्रदान करो, स्मरण शक्ति प्रदान करो मुझे गौरवशील बनाओ मुझे तेजस्वी और दीप्तिमान बनाओ ब्रह्मचारी अपने कटि प्रदेश में मेखला बाँधते हुए कहता है देवताओं की भगिनी स्वरूप कीर्तिमयी मेखला अपशब्दों (दुरूक्त) का निवारण करती है यह मेरे वर्ण को पवित्र और शुद्ध रखती है अतः मैं इसे अपने कटि प्रदेश के चारों ओर बाँधता हूँ यह प्राण और अपान वायु को बल और शक्ति प्रदान करती है।[2]

संस्कारों के अनुष्ठान के समय आशीर्वचनों का भी उच्चारण किया जाता था। वे प्रार्थनाओं से इस अर्थ में भिन्न थे कि जहाँ प्रार्थना अपने वैयक्तिक हित की सिद्धि के लिए की जाती थी वहाँ आशीर्वाद में परहित की आकांक्षाएँ थी। वे अपनी अभीष्ट वास्तु का प्रतीक रूप दे दिया करते थे। जनसाधारण का यह विश्वास था कि उनके आशीर्वचनों का शुभ परिणाम होगा और इस प्रकार संस्कार्य व्यक्ति पर अभीष्ट प्रभाव हो सकेगा। आशीर्वचनों के विषय वे ही थे जो प्रार्थनाओं के प्रति पत्नी को अधोवस्त्र भेंट करता हुआ कहता था तुम दीर्घायु होओ यह अधोवस्त्र धारण करो, अभिशापो से परिवार की रक्षा करो सौ शरद पर्यन्त (शतायु) वर्चस् सहित जीवित रहो वैभव तथा सन्तति से समृद्ध होओ दीर्घायुष्य की प्राप्ति के लिए यह वस्त्र पहनो[3] जातकर्म संस्कार के अवसर पर पिता अपने पुत्र को आशीर्वाद देता था

---

१. गो.गृ.सू. २.१०.३५, पा.गृ.सू. २/२ तत्सवितुर्रेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो योनः प्रचोदयात्।

२. इयं दुकक्तं परिवाधमान वर्णं पवित्रं पुनाती म आगात् प्राणापानाभ्यां बलमादधाना स्वसा देवी सुभगा मेखलेयम् पा.गृ.सू. २.२.२

३. नरां गच्छ परिधत्स्व वासो भवाकृष्टो नामभिशस्तिपावा शटञ्च जीवाशरदः सुवचां कीयं च पुत्रानमुसव्यय स्वायुष्मतीदं परिधत्स्ववाज्ञः पा.गृ.सू. १/४/१३

तू प्रस्तर खण्ड व फरसे के समान दृढ़ व बलवान बन स्वर्ण के समान देदीप्यमान व दीर्घजीवी हो। तुम यथार्थ में पुत्ररूप में उत्पन्न मेरी आत्मा है। अतः तू सौ शरद ऋतु जीवित रहो।[१]

यज्ञ :

संस्कारों का एक अन्य महत्वपूर्ण अंग यज्ञ है। इसका उद्भव उसी सांस्कृतिक युग में हुआ और यह उन्हीं मानवीय विश्वासों से विकसित हुआ जिन्होंने प्रार्थना को जन्म दिया अपने दीर्घ जीवन में ये प्रायः एक दूसरे से घनिष्ठता से सम्बन्ध रहे हैं लोगों का विश्वास था कि मनुष्यों के समान देवताओं को भी प्रशंसा व प्रार्थना के द्वारा प्रसन्न किया जा सकता है। उसकी यह धारणा भी स्वाभाविक ही थी मनुष्यों के समान वे भी किन्हीं अभीष्ट उपहारों को स्वीकार करें। अन्त्येष्टि को छोड़कर अन्य सभी संस्कार व्यक्ति अथवा यदि वह आयु में छोटा होता उसके माता-पिता कृतज्ञता के प्रति आदरभाव व्यक्त करते तथा आहुति देते थे। यहाँ तक कि अन्त्येष्टि के अवसर पर भी यज्ञ किये जाते हैं जिनमें देवताओं से मृतात्मा की सहायता के लिए प्रार्थना की जाती है। संस्कारों के आरम्भ में या सम्पूर्ण संस्कार पर्यन्त यज्ञ किये जाते थे। लोगों की यह धारणा थी कि जीवन के किसी विशेष भाग तक किसी विशिष्ट देवता का प्रभुत्व दी जाती थी किन्तु इलर देवों को भी प्रार्थना की जाती थी क्योंकि उनके क्षेत्र निश्चित रूप से किसी विशेष भाग तक सीमित नहीं थे।[२]

अभिषिञ्चन :

स्नान आचमन और व्यक्तियों व वस्तुओं का जल से अभिषिञ्चन संस्कारों के अन्य विधायक अंग थे। विश्व का ब्रह्मवादी सिद्धान्त संसार के प्रायः समस्त प्राचीन धर्मों व दर्शनों के मूल में निहित रहा है। इसी कारण जल को भी चेतन समझा जाता था और जहाँ तक वह विकास की प्रक्रिया तथा अन्य प्रकार से मनुष्य को सहायता पहुँचाता। शुभ माना जाता था।[३] यह धारणा थी कि जल में

---

१. अश्माभूव परशुभवि हिरण्यनस्तुवं भव। पा.गृ.सू. १.१६.१४: २.३.२

२. हिन्दू संस्कार पृ. ४६

३. इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स भाग-१ पृ. ३६७

अशुभ प्रभावों के निवारण और भूत पिशाचों के विनाश करने की क्षमता है।[१] यह बिल्कुल स्वाभाविक था कि इतनी शक्तियों के प्रभाव तथा संस्कृति के विकसित स्तर पर पाप के निवारण के लिए करते थे। यह विश्वास था कि स्नान से सभी प्रकार के अधिभौतिक तथा अध्यात्मिक अशौच तथा व्याधियाँ दूर हो जाती है।

आचमन और अभिषेक आंशिक या प्रतीक स्नान थे। औपचारिक शुद्धि सभी संस्कारों की व्यापक विशेषता थी। माता के गर्भ में प्रवेश से मृत्युपर्यन्त और यहाँ तक कि उसके पश्चात् भी नियमित रूप से जल से शुद्ध जीवन व्यतीत करते थे। गर्भाधान के पश्चात् पिता को स्नान करना पड़ता था।[२] और जातकर्म में भी स्नान आवश्यक था।[३] चूड़ाकर्म व उपनयन संस्कार के पूर्व भी स्नान करना अनिवार्य था।[४] ब्रह्मचर्य जीवन की समाप्ति पर स्नान अत्यन्त महत्वपूर्ण समझा जाता था।[५] वर व वधू को वैवाहिक कृत्यों से पूर्व स्नान कराया जाता था।[६] मृतक की दाह से पूर्व पानी से धोया जाता था।[७] संस्कार आरम्भ होने के पूर्व सम्पूर्ण सामग्री को पानी छिड़ककर पवित्र कर लिया जाता था। चूड़ाकर्म संस्कार के अवसर पर बालक के सिर को जल से अभिषिञ्चित किया जाता था। यज्ञ श्री विद्या तथा ब्रह्मवर्चस् के लिए जल से स्नातक का अभिषेक किया जाता था।[८]

दिशा निर्देशन :

दिशा निर्देशन संस्कारों की एक मुख्य विशेषता थी। यह सूर्य के मार्ग का चित्रमय प्रतीकवाद तथा उन पौराणिक विश्वासों पर आधारित

---

१. ऋग्वेद ७,४७,४९,१०,९,३०

२. ऋसौ तु गर्भशङ्कित्वात् स्नानं मैथुनिन स्मृतम आप. गदाधर द्वारा पा.गृ.सू. उद्धृत

३. श्रुत्वां जातं पिता पुत्रं सचैलं स्नान माचरेत् वसिष्ठ पा.गृ.सू.

४. माता कुमार मादावारलाव्य आ.गृ.सू. १.१७

५. पा.गृ.सू. २.६ गो.गृ.सू. ३.४६

६. गो.गृ.सू. २.१.१०-१७

७. वौ.पि.सू.

८. तेन मामभिषिञ्चानि श्रियै यशसे ब्रह्मणे ब्रह्मवर्चसे पा.गृ.सू. २.६.९

था जिनके अनुसार विभिन्न दिशाओं में विभिन्न देवता शासन करते हैं। लोगों के मन में यह विश्वास स्थान गृहण कर चुका था कि पूर्व दिशा प्रकाश और उष्णता जीवन और मुख्य तथा श्री से सम्बन्धित है और पश्चिम अन्धकार शीत तथा मृत्यु और विनाश की दिशा है। पौराणिक धाराओं के अनुसार दक्षिण मृत्यु के देवता यम की दिशा है अतः अशुभ माना जाता था इन विश्वासों ने संस्कारों में मनुष्य के आसन के विषय में विविध प्रचलनों को जन्म दिया। समस्त मंगल संस्कारों में संस्कार्य व्यक्ति पूर्व दिशा की ओर मुँह करके बैठता था और इस प्रकार यह प्रकट करता था कि वह जीवन व प्रकाश की प्राप्ति के लिए प्रस्तुत है। संस्कारों में प्रदक्षिणा करते समय सूर्य के मार्ग का अनुसरण किया जाता था। अशुभ संस्कारों में दिशा ठीक इसके विपरीत होती थी। अन्त्येष्टि संस्कार के समय चिता पर मृतक के पैर दक्षिण की ओर रखा जाता था और यह विश्वास था कि मृतक की आत्मा यम की दिशा की ओर यात्रा कर रही है विशेष अवसरों पर मनुष्य की स्थिति और वस्तुओं की दिशा का निर्धारण सामयिक विश्वासों के आधार पर किया जाता था।

प्रतीकत्व :

संस्कारों में प्रतीकवाद का उल्लेखनीय स्थान रहा है। प्रतीक एक भौतिक पदार्थ होता था। जिसका प्रयोजन मानसिक व अध्यात्मिक गुणों की प्राप्ति था। यह प्रतीकवाद मुख्यतः सादृश्य द्वारा परामृष्ठ था लोगों का विश्वास था कि सदृश वस्तुओं से सदृश वस्तुएँ उत्पन्न होती है इस प्रकार यह धारणा जनसाधारण के हृदय में घर कर चुकी थी कि विविध प्रतीकों के माध्यम से उनमें तदनुरूप गुणों का संचार होता है। पत्थर दृढ़ता का प्रतीक था जो उस पर आरूढ़ होगा उसमें उसी प्रकार दृढ़ता आ जायेगी यह विश्वास था।[१] उपनयन संस्कार में ब्रह्मचारी और विवाह संस्कार में वधू को अपना एक पैर पत्थर पर रखना पड़ता था और यह क्रमशः आचार्य और पति के प्रति दृढ़ शक्ति व निष्ठा का प्रतीक था।[२] ध्रुवतारे की ओर देखना इन्हीं गुणों

१. आरोहेमभश्मानमश्वेवत्वं स्थिरा भव पा. गृ. सू. १/१७/१

२. पा. गृ. सू. १/१७१

की प्राप्ति का प्रतीक था।[१] लाजा और चावल उर्वरता तथा समृद्धि के प्रतीक थे।[२] समञ्जन स्नेह और प्रेम का प्रतीक था।[३] सहभोजन एक्य का प्रतीक था।[४] हृदय स्पर्श अनुचितता का प्रतीक था।[५] और पाणिग्रहण सम्पूर्ण उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेने का प्रतीक था।[६] सूर्य की ओर देखना तेज और बौद्धिक उत्कर्ष का सूचक था।[७] पुरुष नक्षत्र समूह गर्भाधान का निर्धारक समझा जाता था।[८] इसी प्रकार के अन्य अनेक विश्वास थे।

निषेध :

संस्कारों के विविध विषयों में माने जाने वाले निषेधों का अपना एक स्वतन्त्र स्थान है। शुभ और अशुभ दिनों मासों और वर्षों के विषय में अनेक विधि निषेध प्रचलित हो गये[९] लोगों का विश्वास था कि किन्हीं विशेष दिनों महीनों और वर्षों में ही वायुमण्डल में अमुक-अमुक वस्तु के घातक परिणाम होते हैं लम्बे समय तक निरीक्षण द्वारा नक्षत्र सम्बन्धी और आर्थिक अवांछित घटनाओं मृत्यु रोग या पराजय जैसे शुभ अवसरों के आधार पर किसी विशेष दिन मास और वर्ष को अशुभ माना जाने लगा था। इस प्रकार के ऐसे अनेक विश्वास हैं जिनका जन्म सुदूर अतीत के गर्भ में छिपा है। प्राकृतिक प्रकोप राजनीतिक क्रान्ति किसी व्यक्ति की मृत्यु स्त्री के मासिक धर्म आदि के समय संस्कारों का अनुष्ठान करना निषिद्ध था।[१]

---

१. ध्रुवविधपोष्येमयि पा.गृ.सू. १.८.९

२. इमाल्लाजानावपान्यग्नौ समृद्धिकरणं तव आ.गृ.सू. पा.गृ.सू.

३. समापो हृदयानि नौ गो.गृ.सू. २.१.१८

४. अथैनां स्थालीपाकं प्राशयति प्राणैस्ते प्राणान्सन्दधामि अस्तिभिस्थीनि मांसैमसिनित्वचा त्वचम्। पा.गृ.सू. १.११.५

५. मम व्रते ते हृदयं दधामि मम् चितमनुचित्तं तेऽस्तु। पा.गृ.सू. १.८.५.८

६. गो.गृ.सू. २.२.१६

७. तच्छक्षुर्देवहित परस्ताच्छुक्रमच्चरत्। पा.गृ.सू. १.१७.६

८. पा.गृ.सू. १.११.३

९. जन्मर्क्षे जन्ममासे जन्मदिवसे शुभं त्यजेत- पा.गृ.सू. १.४.८. पर गदाधर द्वारा उद्धृत

था।[१] भोजन से सम्बद्ध अनेक विधि निषेध भी प्रचलित थे। किसी विशिष्ट संस्कार में किसी विशेष खाद्य का विधान किया गया है।[२]

विवाह

मनु का आदेश है– "गुरु की अनुमति पाकर और विधि पूर्वक समावर्तन संस्कार करके स्नातक द्विज शुभ लक्षणों से युक्त अपने वर्ण का भार्या के साथ विवाह करे।[३] विवाह सांस्कृतिक विधान में अनिवार्य कर्तव्य के रूप में सम्मिलित है। सामान्यतः सभी स्नातकों को ब्रह्मचर्य के पश्चात् गृहस्थ में जाना चाहिए। संस्कृत व्यक्ति अनाश्रमी नहीं हो सकता यदि वह विवाह नहीं करता और नैष्ठिक ब्रह्मचारी का जीवन व्यतीत करना चाहता है। स्त्री और पुरुष का एक युग्म है। पुरुष स्त्री के बिना, स्त्री पुरुष के बिना पूर्ण नहीं हो सकता दोनों अर्द्धांगी है दो अर्द्धांगी के मिलने से ही पूर्णता की प्रतिष्ठा होती है जिस प्रकार ब्रह्म और उसकी माया मिल कर ही सृष्टि रचना में समर्थ होते हैं उसी प्रकार पुरुष और स्त्री मिलकर प्रजातन्त्र को बढ़ाते हैं।

सृष्टि यज्ञ पुरुष द्वारा उत्पन्न हुई है और इसी हेतु वह यज्ञ रूप है इस यज्ञ की साधना भी एकाकी पुरुष के द्वारा सम्भव नहीं है। यज्ञ सपत्नीक यजमान ही कर सकता है। विवाह जीवन में एक श्रेष्ठ यज्ञ का एक रूप है अतः प्रत्येक स्नातक को इस यज्ञ में भाग लेना चाहिए। श्रुति में कहा है[४]– हम इस लोक में अनृण हो दूसरे लोक में अनृण हो और तीसरे लोक में भी अनृण हों। जन्म के साथ ही हम

---

१. दिग्दाहे दिनमेकश्च गृहे सप्त दिनाति तु भूकम्पे तु समुत्पन्ने त्र्यहमेव तु वर्जयेत उल्कापाते त्रिदिवसं धून्ते पञ्च दिनानि तु वज्रपाते चैकदिनं वर्जयेत् सव्रकर्मसु विवाहव्रतपूजास यस्य भार्या रजस्वला तदा न मंगलं कार्यं शतौ काये शुभेप्सुभि। रत्नकोष, वृद्धमनु

२. त्रिरात्रमक्षर लवणाक्षिनौ स्यातम् पा.गृ.सू. १.८.३१

३. गुरुणानुमतः स्नात्वा समावृत्तो मथाविधि
उद्वहेत द्विजो भार्या सवर्णा लक्षणान्विताम् मनु. ३/४

४. अनृणाः अस्मिन् अनृणाः परस्मिन् तृतीये लोके अनृणाः स्याम्।।

तीन विशेष ऋणों से आबद्ध हो जाते हैं। इन ऋणों से वह विवाह करके पार्थिव अणु तथा मानसिक अणु को सन्तति उत्पन्न करके आग्रे बढ़ा दूँ। सन्तान का अर्थ ही है भली भाँति फैलाना आगे ले जाना पितृ ऋण से उऋण होने का यह प्रमुख साधन है। माता-पिता कीसेवा करना भी उसके ऋण से मुक्ति पाने का सुगम साधन है। विवाह संस्कार का पुत्रोत्पत्ति का लक्ष्य पितृ ऋण से मुक्त करता है अग्निहोत्र जिसका विधान पञ्चमहायज्ञों के अन्तर्गत प्रत्येक गृहस्थ के लिए किया गया है।[१] गृहस्थ के पास जो विपुल वटु समुदाय अध्ययन के लिए आता है वह ऋषि ऋण से मुक्ति दिलाता है। इस प्रकार गृहस्थ में प्रवेश करना ऋण मुक्त होने के लिए अनिवार्य समझा गया है।[२]

विवाह संस्कार की प्रक्रिया बहुत लम्बी है। विवाह के द्वारा दो व्यक्तियों और दो परिवारों का नहीं दो आत्माओं का न केवल इस जन्म के लिए ही अपितु जन्म जन्मान्तरों के लिए मिलन होता है।[३] कन्या का विवाह पुण्य नक्षत्र में करना चाहिए उत्तरायण और शुक्ल पक्ष का समय विवाह के लिए शुभ माना जाता है।[४] कतिपय आचार्यों के अनुसार सम्मति में विवाह सभी समयों में विहित है आवश्यकता है वर वधू के कुल स्थान शरीर के स्वभाव की परीक्षा करना मनु के अनुसार[५]– जो स्त्री माता की ६ पीढ़ी और पिता के गोत्र की न हो वही द्विजों के लिए विवाह करने योग्य है। परन्तु मनु ने ऐसे कुलों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध करना वर्जित माना है जिनमें उत्तम पुरुष विद्वान तथा स्वास्थ्य का अभाव रहा है।

माता-पिता का कर्तव्य है कि वे अपनी कन्या का गुणहीन दृष्ट पुरुष के साथ कभी विवाह न करें। विवाह होने से पूर्व रजस्वला होने

---

१. वैदिक संस्कृति और सभ्यता– डॉ. मुंशीराम शर्मा

२. कल्याण – हिन्दी संस्कृति अंक २४ पृ. ३४१

३. संस्कार प्रकाश डॉ. भंवानी शंकर त्रिवेदी पृ. १००

४. आपूर्थमावपक्षे शुक्लपक्षे पुण्याहे। पा.गृ.सू. १/४ हरिहर भाष्य पृ. ५९

५. असपिण्डा च या मातुरा सगोत्रा च या पितुः
सा प्रशस्ता द्विजातीना दार कर्मणि मैथुने/मनुस्मृति

का उल्लेख है।[१] रजस्वला होने के दिन से तीन वर्ष पश्चात् अर्थात् चतुर्थ वर्ष में विवाह करना श्रेयस्कर है। विधान के अनुसार वर और वधू दोनों को अपने-अपने घर पर सुगन्धित एवं शुद्ध जल से स्नान करना चाहिए। फिर उत्तम वस्त्रांकार[२] धारण करके उत्तम आसन पर पूर्वाभिमुख बैठ कर प्रभु की स्तुति और उपासना करनी चाहिए। इसी के साथ अग्निहोत्र की क्रिया करके तथा वर पक्ष के पुरुष सामान सहित वधू के घर की ओर प्रस्थान करें। जब वधू के घर में वर प्रवेश करे तो वधू तथा कार्यकर्ता वर का आदर सत्कार करें। वधू के द्वार पर वर पूर्वाभिमुख खड़ा रहे और वधू उत्तराभिमुख खड़े होकर निम्नांकित सूचना शब्द कहे–

"आप सुचारु रूप से आसन ग्रहण कीजिए।" हम आपकी अर्चना करेंगे इस अर्चना में सर्वप्रथम वर को विष्टर (आसन) प्रदान किया जाता है विष्टर विछाकर वर कहता है–

जिस प्रकार उद्यतों में ऊपर उठे हुओं में सूर्य प्रमुख हैं। वैसे ही अपने समानधर्मा पुरुषों में मैं शीर्षस्थानीय हूँ।[३] इस मन्त्रार्थ से प्रतीत होता है कि आसन पर बैठना शत्रु दमन का प्रतीक है। जो कोई मुझे गिराने की चेष्टा करेगा उसको मैं दबा दूँगा। इसके पश्चात् पाद्य पद[४]

---

१. अष्टवर्षा भवेदौरी नववर्षा तु रोहिणी दशवर्षा कन्या अत उर्ध्वं रजस्वला दशमे नग्निका वास्याद् द्वादशे हषली स्मृता। अपरा वृषली ज्ञेया कुमारीया रजस्वला
प्राप्ते तु द्वादशे वर्षे मः कन्या न प्रयच्छति
मासि मासि रजस्तस्याः पिता पिवति शोणितम्। पा.गृ.सू. ६१ गदाधर भाष्य

२. वासः परिधापयति जरागच्छं परिधत्स्व वासो भवाकृष्टीनामभिशस्ति पावा। शत च जीव शरदः

३. वर्ष्मोस्मि समानानामुवतामिव सूयः। इमं तमभितिष्ठामि यो मा कश्चाभिदासति इत्येनमभ्यु पविशति। पा.गृ.सू. १/३/९ पृ. ४७

४. सव्यं पादं प्रक्षाल्य दक्षिणं प्रक्षालयति– पा.गृ.सू. १/३/११ पृ. ४७

प्रक्षालन के लिए अर्घ्य[१] मुख प्रक्षालन के लिए दिया जाता है। तीन बार आचमन कराके वर को मधुपर्क दिया जाता है। मधुपर्क में दही घी और शहद सम्मिलित रहता है। मधुपर्क कांस के पात्र में रखा जाता है जिससे धातु विकार उसमें न आ सके। वर मधुपर्क को अपने दाहिने हाथ में लेता है[२] और उसे देखता है फिर वाम हस्त में लेकर मधुपर्क की ओर देखता हुआ दाहिने हाथ की अनामिका और अंगुष्ठ से उसे तीन बार बिलोता है[३] फिर क्रमशः पूर्व दक्षिण पश्चिम तथा उत्तर दिशाओं में उसके छीटे देता है। इसके उपरान्त तीन बार ऊपर की ओर फेंक कर उसके तीन भाग करता है और तीनों में से थोड़ा-थोड़ा रखता है शेष बचे हुए को या तो सेवक को दे देता है या जल में डाल देता है। इसके पश्चात् दो आचमन तथा इन्द्रिय स्पर्श करके गोदान ग्रहण करता है। गोदान के पश्चात् कन्यादान की विधि होती है कन्यादान के पुण्य से मेरी सातों पीढ़ियों का उद्धार हो जायेगा और विष्णु लोक की प्राप्ति होती है।[४] जिसमें वर के हाथ में हथेली ऊपर किये हुए कन्या का दक्षिण हाथ रख दिया जाता है। इसी समय शाखोच्चार भी होता है जिसके अन्तर्गत कन्या पक्ष और वरपक्ष के विद्वानों द्वारा आशीर्वादात्मक मंगलाष्टक के श्लोकों के द्वारा वर वधू को आशीर्वाद देने की प्रथा है। यह समस्त कार्य आर्यों की श्रेष्ठ

---

१. अर्घ्यः समर्वितमर्घ प्रतिगृह्ययाति – हे आपः यूयमापःस्थ श्राप्तिहेतवो भवथ। युष्याभिः कृत्वा सवनि कामानभीष्यर्थान् भवाप्नवमि लभेय।
पा.गृ.सू. १/३ गदाधर भाष्य पृ. ४९

२. मधुपर्क दक्षिणहस्तेन प्रतिगृह्यनाति। पा.गृ.सू. १/३/८ हरिहर भाष्य पृ. ५१

३. तं मधुपर्क वामहस्ते निधाय दक्षिणस्य पाणेः अनामिकाडुल्याद त्रिवारमालोऽयति नमः

४. अनामिकाऽष्ठेन च त्रिनिरूक्षयति अनामिका च अंगुष्ठश्च अनामिकाङ्गुष्ठौ अनयोः समाहारः अनामिकाङ्गुष्ठं तेन त्रिवारे निरुक्षयति पात्राद्वहिर्निगमयति चकारात्प्रतिसयवनं निरुक्षणम्।
वही. १/३/२० संस्कार प्रकाश – भवानी शंकर त्रिवेदी पृ. १२०

संस्कृति की सूचना देती है। समाज में एक मानव दूसरे मानव का और वह भी घर में आये हुए अतिथि का सम्मान करता ही है यदि नहीं करता तो उसे सभ्य मानव का अभिधान नहीं दिया जा सकता। कुशासन ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए अतीव उपयोगी पदार्थ है। मधुपर्क स्वयं शारीरिक न्यूनताओं की पूर्ति करने वाला और पवित्र मन का निर्माता है। सांस्कृतिक दृष्टि से दोनों ही मानव के लिए उपयोगी सिद्ध होते हैं।[१] कन्यादान एक पुनीत आदर्श की प्रतिष्ठा करता है कन्या जिस घर में उत्पन्न हुयी है वह उस घर में न रहकर पराये घर का सर्वस्व बनने जा रही होती है। जिस घर की दुहिता हे उसका हित दूसरे घर में होता है। इसलिए यास्क ने द्वरे हित इति दुहिता किया है। कन्या का हित साधन पिता के लिए दु:साध्य होता है विवाह की प्रथा दो हृदयों को एक करने वाली है।[२] द्वैत को मिलकर अद्वैत की ओर अभिगमन भूसा जैसे संस्कृति के उच्च स्तर का द्योतक है। ऋग्वेद में इसी को स्पष्ट किया गया है।[३] यज्ञशाला में बैठे हुए विद्वज्जन हमें आशीर्वाद दे जिससे हम दोनों के हृदय जल में मिले हुए जल के समान एक हो। इस सद्भावना के मातरिश्वा माता तथा देष्ट्री हमारी सहायता करें जिससे हम दूसरे के लिए दृढ़ प्रेम को धारण करें। प्राण जैसे सबको प्रिय है। धाता जैसे निखिल जगत को धारण करता है और उपदेश देने वाला अपने श्रोताओं से प्रेम करता है उसी प्रकार हम दोनों एक दूसरे को धारण करें। परस्पर प्रियाचरण और प्रेमपूर्वक एक होकर जीवन व्यतीत करें।

इस मन्त्र का पाठ करने के बाद वर अपने दक्षिण हाथ में वधू का दक्षिण हाथ लेकर यज्ञकुण्ड की परिक्रमा करता है और कहता है

---

१. कन्यां कनकसंपन्नां कनकाभरणैर्युताम्। दारयामि विष्णवे तुभ्यं ब्रह्मलोक जिगीषया इमां कन्यां प्रदास्यामि तारणाय च।। पा.गृ.सू. १/८ पृ. ११७

२. निरुक्त

३. समजन्तु विश्वेदेवा: समायोद्वदयानि नो – पा.गृ.सू. १/४/१५
स मातरिश्वा स धाता समुदेष्ट्री दधातु नो। ऋ. म. १०.८

हे वरानने तू अपनी इच्छा से मुझे वैसे ही प्राप्त हुई है जैसे तेजोमय सूर्य को जल दिशायें और वायु प्राप्त होते हैं। परमेश्वर तुझे मेरे मन के अनुकूल करे और मैं भी तेरे मन के अनुकूल बनूँ। वधू भी कहती है तब मेरी जीवन यात्रा का पन्थ मुझे आप जैसे पति की ओर ले जा रहा है। मैं कल्याण रूपा तथा अरिष्टा होकर आपके लोक को प्राप्त करूँ इसके पश्चात् प्रधान होम की क्रिया होती है। वर के दक्षिण स्कन्ध का अपने दक्षिण हाथ से स्पर्श करके वधू आहुतियाँ देती है। इन आहुतियों में बारह आज्याहुतियाँ राष्ट्रभृत् कहलाती है[१] तेरह आज्याहुतियाँ जयाहोम[२] के नाम से प्रख्यात है और अठारह आज्याहुतियाँ अभ्यातन के अन्तर्गत है। राष्ट्रभृत आहुतियाँ ब्रह्म और क्षत्र के रक्षण का निर्देश करती है। हमारा ज्ञान और हमारा कर्म दोनों अव्याहत गति से चलते रहे तो हम अपनी ही नहीं अपने राष्ट्र की भी रक्षा कर सकेंगे ज्योहोम में हे हमारी चित्ति अर्थात् चेतना अथवा ज्ञान शक्ति हमें प्रज्ञा के प्रकाश की ओर ले जाती है हमारा आकृत और आकृत संकल्प और क्रियान्वयन हमारा जाना हुआ और हमारी जानकारी हमारा मन और हमारा सामर्थ्य हमारे पाक्षिक यज्ञ वृहत और रथन्तर जैसे हमारी श्रेष्ठ आन्तरिक सम्पदा है। हमें सावधानता पूर्वक इस प्रकार इस सम्पदा की रक्षा करनी है अभ्यातन होम में अग्नि इन्द्र यम वायु सूर्य इन्द्र वृहस्पति मित्र वरुण समुद्र अन्न सोम सविता रुद्र त्वष्टा विष्णु मरुत और पितर इन सबका स्मरण किया जाता है। वायुमंडल में विराजमान यह दिव्य शक्तियाँ हमारी रक्षा करें।

अग्नि देवताओं में प्रथम पूज्य है वह हम दोनों को मृत्यु पाश से मुक्त करे। हमारी दीर्घायु हो हमें सुन्दर धन की प्राप्ति हो हमारा पन्थ सुगम हो मृत्यु हमसे दूर हो अमरता हमारी संगिनी बने। हमारे

---

१. राष्ट्रभृत इच्छन्। विवाहे वैवाहिके होमकर्नाणि राष्ट्रभृतः राष्ट्रसञ्ज्ञकाः आहुती आवपेदिव्यध्याहारः।। राष्ट्रभृज्जयाभ्यातानानां होमफलं कामयन्।
पा.गृ.सू. १/५/७ पृ. ८३

२. चितञ्च चित्तिश्चाकूतं चाकूतिश्च विज्ञातं च विज्ञातिश्च मनश्च शक्वरीश्च दर्शश्च पौर्णमासं च बृच्च्च स्थन्तरञ्च प्रजापतिर्जयानिन्द्राय कृष्णे प्रायच्छदुग्रः प्रतना जयेषु। तस्मैन्विशः समनमन्त सर्वाः स उग्रः स इहण्यो वभूव स्वाहा इति। पा.गृ.सू. १/५/९

गृहों में कभी कष्टदायक उद्‌बोध या चीत्कार न हो सन्तति हमारे प्रांगण में क्रीड़ा करें और हमारे जीवन को सौमनस्य से भर दे। ऐसी भावनायें उन मन्त्रों में विहित है जिन्हें बोलकर आहुतियाँ दी जाती हैं।

राष्ट्रभृत आहुतियों में राष्ट्र के भरण पोषण, संरक्षण और कल्याण की कामना से यह होम किया जाता है गृहस्थाश्रम में प्रवेश वाले युवक से यह आशा की गयी है कि वह राष्ट्रीय व्यवस्था के प्रति सदा जागरूक रहे साथ ही इन आहुतियों में भी एक आहुति ऋत[१] के लिए भी दी जाती है। सृष्टि के व्यापक नियम का नाम ही ऋत है और विवाह उस ऋत (नियम) के पालन के लिए ही किया जाये। व्यक्ति समाज या राष्ट्र का ही अंग है इसलिए विवाह जैसे नितान्त वैयक्तिक संस्कार या कार्य में भी हमारे ऋषियों ने राष्ट्र और राष्ट्र का धारण एवं संरक्षण करने वाली ब्रह्म या ज्ञानशक्ति तथा विचार अध्यात्मिक शक्ति एवं क्षात्र भौतिक शक्ति के निरन्तर संरक्षित एवं परिवर्धित होते रहने की कामना की है।

राष्ट्र की उन्नति ज्ञान एवं भौतिक बल के विकास से ही होती है। जब "ज्ञानी, विज्ञानी और वीर विक्रान्त राष्ट्र संरक्षण के लिए कटिबद्ध हो जाते हैं तब देश चहुमुखी उन्नति करता है।" यही भाव इन मन्त्रों का है। गौ अर्थात् पृथ्वी तथा अन्य सौर परिवार के ग्रहों को धारण करने वाला यह सूर्य एक ऐसा गन्धर्व[२] है जिसमें इन सबको अपनी आकर्षण शक्ति के बल पर संहित किया हुआ है जिसके आधार पर इन सब सौर मण्डलों के ग्रहों की सम्पूर्ण गति विधि संहित हो रही है तथा जो प्रातः सांय इन दोनों सन्धिवेलाओं में संहित होता है और इस प्रकार दिन रात को जो आपस में जोड़ता है जैसा कि श्रुति में कहा गया है कि "एष अहोरात्रे सन्ध्यावीति" यह सूर्य गन्धर्व सारे विश्व का स्रष्टा है और उसकी प्रकाशशील किरणें ऐसी अप्सरायें हैं जिनसे प्राणी मात्र को आयु अथवा जीवन प्राप्त होता है।

---

१. ऋताषाड्ऋतधामाऽग्नि-गंधर्वः स न इदं ब्रह्मक्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा ष्वाट। इदमृतासाहे ऋतधाम्नेऽग्नये गन्धवार्य न मम।

२. भुज्यः सुपर्णो यज्ञो गन्धर्वः स न इन्द्र ब्रह्मक्षत्रं। पा.गृ.सू. १/५, गाधारयति इति अर्थात् गौ को धारण करने वाला गन्धर्व होता है।

जया होम[1] की १४ आहुतियाँ दी जाती हैं इन मन्त्रों में मन और आत्मा की विशिष्ट शक्तियों का स्मरण एवं आवाहन किया जाता है जैसे कि चित्त और चेतनाशक्ति हमारे मानसिक अभिप्राय है। होम के पश्चात् पाणिग्रहण का विधान है। वर विधान के अनुसार पूर्वाभिमुख बैठी हुई वधू के सम्मुख पश्चिमाभिमुख खड़ा होकर अपने वाम हस्त से वधू के दाहिने हाथ को ऊपर ऊँचा कर अपने दक्षिण हाथ से अंगुष्ठ तथा हस्ताञ्जलि सहित ग्रहण करता है[2] और कहता है– सौभाग्य के लिए मैं तेरे हाथ को ग्रहण करता हूँ तू मुझ पति के साथ वृद्धावस्था पर्यन्त प्रसन्नता तथा अनुकूलता पूर्वक जीवन धारण कर ऐश्वर्य सम्पन्न न्यायकारी सबके प्रेरक और विश्व को धारण करने वाले परमात्मा ने दिव्य शक्तियों ने गृहस्थाश्रम धर्म के अनुष्ठान के लिए तुझको मुझे दिया है। आज से हम दोनों एक दूसरे का प्रियचरण करते हुए साथ-साथ रहेंगे। ऐश्वर्य युक्त मैं तेरे हाथ को पकड़ता हूँ तू धर्म से मेरी भार्या है और मैं तेरा गृहपति हूँ। सबसे बड़े पालन करने वाले परमात्मा ने तुझको मुझे दिया है तू मेरे द्वारा पोषण करने योग्य है मुझ पति के साथ सन्तानवती बनाकर हम सौ वर्ष तक मेरे साथ जीवन व्यतीत करो।[3]

हे कल्याण रूपे हम दोनों सभामण्डप से विद्यमान विद्वान कवियों की आज्ञा से और सबसे महान् परमेश्वर की प्रेरणा से दाम्पत्य सूत्र में आबद्ध होते हैं जैसे सूर्य की किरण अनेक प्रकार की रचना करने में समर्थ होती है। इसी प्रकार तू प्रजोत्पत्ति में समर्थ बने। इन्द्र अग्नि द्यावा पृथिवी मातरिश्वा मित्र वरुण भग अश्विन वृहस्पति मरूत ब्रह्म और सोम जो प्रजनन शक्ति के द्योतक है मेरी पत्नी को सन्तान द्वारा बढ़ावे। हे शुभानने मैं कुल की वृद्धि को देखता हुआ मन से तेरे रूप में व्याप्त होता हूँ। वैसे तू मेरे अन्दर व्याप्त हो मैं मन से तेरे प्रति चोरी का परित्याग करता हूँ मैं कुछ भोग भोगूँगा तेरे साथ रहकर

---

१. जयहीमानां मन्त्राणाह – चितञ्च ---- वभूव स्वहिति – पा.गृ.सू. पृ. ८५

२. अस्याः कुमार्याः दक्षिण साङ्गुष्ठ मङ्गुष्ठ सहितं हस्तं गृह्णाति वरः स्वहस्तेनादत्ते गृभ्यणामि। पा.गृ.सू. १/६/३ गदाधर भाष्य पृ. ९३

३. गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः भगो अर्यमा सविता पुरन्धिमर्ह्यं त्वादुर्गार्हिपत्यायाया देवाः।। पा.गृ.सू. १/म६/३

भोगूँगा। तेरे साथ ही उत्कृष्ट व्यवहार में पुरुषार्थ पूर्वक[१] निवास करूँगा इस पथ में आने वाले पाशो तथा विघ्नों को दूर करूँगा इसी प्रकार तू भी व्यवहार करेगी। वर वधू का हाथ पकड़े हुए कुण्ड की प्रदक्षिणा करता है और कहता है मैं ज्ञानपूर्वक तेरा बनता हूँ तू भी ज्ञानपूर्वक मेरी बन। मैं पूर्ण प्रेम से तुझे अपनी बनाता हूँ तू भी मुझे अपना बना मैं साम हूँ तू ऋक् है मैं द्यौ हूँ तू पृथिवी है। हम दोनों साथ-साथ रहकर शक्ति सम्पन्न बने प्रजा उत्पन्न करें और बहुत पुत्रों को प्राप्त करें जो दीर्घजीवी हो हम दोनों एक दूसरे के प्रिय प्रकाश मान तथा प्रसन्नचित्त रहे सो वर्ष तक देखें जियें और सुनते रहें।

पाणिग्रहण के पश्चात् शिलारोहण और लाजाहोम का विधान है। शिलारोहण के पीछे यह भावना निहित थी कि वधू शिला की भाँति वर के परिवार में स्थिर रूप से प्रतिष्ठित हो जाए और जो कोई इस परिवार का विरोध करे उसका इस शिला की भाँति दृढ़तापूर्वक दमन करने में समर्थ हो, अर्थात् शिला के समान सदा स्वस्थ व सुदृढ़ बनी रहना।[२] इसी समय वधू वर की हस्ताञ्जलि पर अपनी हस्ताञ्जलि रखता है फिर वधू और वर अपनी सम्मिलित हस्ताञ्जलि को झुका कर तीन मन्त्रों से आहुतियाँ देता है।

कन्या जानस्वरूप अर्यमादेव की अर्चना करती है इस कामना से कि देव मुझे इधर से मुक्त करें परन्तु पति से नहीं अर्थात् पति के साथ संयुक्त करें।[३] लाजाओं का वपन करने वाली अर्थात् यह नारी प्रार्थना करती है कि मेरा पति आयुष्मान हो मेरे ज्ञानिजन प्रकाशित हों।[४] इन लाजाओं की आहुति अग्नि में दी जा रही है जो मेरी (वर)

---

१. यशसा मा द्यावा पृथिवी यशसेन्द्रावृहस्पती। यशो भगश्च मा विन्दद्यशो मा प्रतिपद्यताम्। संस्कार प्रकाश – डॉ. भवानी शंकर त्रिवेदी – पृ. ११८

२. अथ पाणिग्रहणान्तरमनो वधूमश्माने हषदमुन्तरतोऽग्नेध्रियमाणं दक्षिणापादेन कृत्वा आहोध्यति आरोहेममित्यादिपृतनायत इति मन्त्रेण। पा.गृ.सू. १/७/१ पृ. ९५

३. इदानीं परिणीयमाना: कन्या: दूत पितृकुलात् प्रमुञ्चतु मा पते: पत्यु: कुलात्सहचरित्वाद्धा मा प्रमोचयतु। पा.गृ.सू. १/६/२ पृ. ९२

४. पा.गृ.सू. १/६ पृ. ९२

और तुम्हारी (वधू) दोनों की समृद्धि का हेतु है। लाजाहोम करने का प्रमुख उद्देश्य या कामना यह होती है कि जाति, परिवार के लोग फलें फूलें यहाँ मात्र पति की दीर्घायु की ही कामना नहीं अपितु सम्पूर्ण परिवार समाज और राष्ट्र के फलने फूलने की उदात्त कामना की जाती है। सभा मण्डप में आकर ग्रन्थिबन्धन का विधान सम्पन्न होता है जिसमें वर एक मन्त्र कहता है वधू के रूप में मुझे इस कन्या को भला किसने और किसलिए दिया है। इसके साथ ही इसका उत्तर भी दे दिया है कि मुझे यह वधू काम के द्वारा प्राप्त हुई है और काम के लिए ही काम हो देने वाला है काम ही ग्रहण करने वाला है। काम के लिए ही सब कुछ हो रहा है"[१] यह काम स्तुति मानव की दृढ़ इच्छा शक्ति की प्रतीक है। मनुष्य काम या हार्दिक कामना अथवा दृढ़ अभिलाषा का संकल्प कर लेता है तभी अपनी पुत्री को योग्य वर के हाथों समर्पित की जाती है। कन्याप्रदाता (कन्या का पिता) वर और वधू को कहे कि आप दोनों एक दूसरे की भलीभाँति देख लें। उस समय अधोरचक्षु[२] आदि चार मन्त्र पढ़े जाते हैं जिसका सांस्कृतिक दृष्टि से तात्पर्य यह है कि वधू की दृष्टि शुभ और मंगलमयी है जो कभी पति के किसी कार्य में बाधक नहीं होती है वह घर, पशु और सेवक तथा अन्य जनों की देखभाल करने में तत्पर रहती है। वधू पतिव्रता और तेजस्विनी बनी रहो तुम्हारे पुत्र पौत्र वीर और पराक्रमी हो तुम सदा देवताओं का भजन पूजन बिना प्रमाद के करो पारिवारिक सदस्यों के लिए यथाशक्ति सेवा करते हुए सुखदायक कल्याणकारी बनने का प्रयत्न करना दूसरे मन्त्र में कहता है सोम गन्धर्व और अग्नि में तीनों के बाद दूसरे क्रमशः कन्या के पति अर्थात् पालक या उसके अंगों को पुष्ट करने वाला हैं। इसलिए कहा गया है कि कन्या को सर्वप्रथम सोम गन्धर्व को और गन्धर्व अग्नि को उसके गुणों के विकास के लिए सौंप देता है इस प्रकार विवाह के योग्य रूप, यौवन लावण्य वाङ्माधुर्य आदि सभी गुणों से कन्या सर्वाङ्ग सुन्दर बनी जाती

---

१. कोऽदात्कस्मा अदात् कामायादात् कामो दाता कामः प्रतिग्रहीता कामैवत्ते।। संस्कार प्रकाश पृ. १२३

२. अघोरचक्षुपतिध्न्येधि शिवा पशुभ्यः सुमनाः सुवर्त्तः वीरसूर्देवकामास्योना शन्नो भव द्विपदे। संस्कार प्रकाश, पृ. १२५

है तो यह मनुष्य को पति के रूप में प्राप्त करने की अधिकारी होती है। यह तो स्पष्ट ही है कि यहाँ 'पति' शब्द पालक इस यौगिक अर्थ में प्रयुक्त हुआ मनुष्य भी पत्नी का पालक या रक्षक है इसलिए वह पति कहलाने का अधिकारी बनता है।[१]

सप्तपदी कर्म के द्वारा विवाह अटूट माना जाता है अतः विद्वानों की सम्मति में विवाह क्रिया में सप्तपदी कर्म सर्वश्रेष्ठ है। सप्तपदों को चलाने का यह कर्म सात श्रेष्ठ लोकों का विजय सूचक है। सात लोक पर्यन्त एक सम्मति के साथ जाने वालों में पूर्ण मित्रभाव की स्थापना होना स्वयं सिद्ध है। इसीलिए महर्षि लोग सख्य को सप्तपदी नाम देते हैं। सातों लोकों के विजय की अभिलाषा रखने वाला पुरुष अपनी सहायता के लिए तथा अपने बर्हिमुख आनन्द की पूर्ति के लिए स्त्री के सम्मुख) सात प्रकार की प्रतिज्ञा से लोकों की विजय के लिए अपने आपको पूर्ण रूप से प्रतिभूत्व (उत्तरदायित्व) का प्रतिज्ञा करता हुआ इस स्त्री के साथ पूर्ण मित्रभाव स्थापित करता है। विवाह संस्कार कर्म में अत्युत्तम तथा अन्तिम क्रिया कितनी सुन्दर एवं आदेशपूर्ण है।[२] इस सप्तपदी में वह के द्वारा के द्वारा की जाने वाली प्राप्त प्रतिज्ञाओं का महत्व इस प्रकार है[३]– प्रथम पद इसे कामना से बढ़ाता है कि वा अन्नं वै प्राणाः अर्थात् प्राणियों का जीवन भोजन पर निर्भर है कि विवाहित जीवन में उसे सुन्दर मधुर स्वाद पुष्टिकारक भोजन सुलभ हो। ब्रह्मचर्य में रहते तो रूखा सूखा भोजन मिल जाता

---

१. अघोरचक्षुरपतिहन्येधिशिवा पशुभ्यः सुमनाः सुवर्त्ताः। वीरसूर्देवकामास्योना शन्नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे। सोमः विविदे गन्धर्वो विविद् उत्तरः तृतीयोऽग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः। सोमोऽददद्गन्धर्वायि गच्छार्वोऽददग्नये। पा.गृ.सू. १/५/१६ पृ. ३१

२. संस्कार प्रकाश – पृ. १४६

३. एकमिषे विष्णुस्त्वा नयतु – पा.गृ.सू. १/८/१
शिवशक्तिमयं विश्व परस्पर सुखाप्तये, विवाहितं विजयते सप्तपद्या प्रतिश्रुतम्

था उसी से संतोष करता था अब गृहस्थाश्रम में बल और पुष्टिकारक भोजन पदार्थ बना कर खिलाती रहे इसके मैं आपकी रुचि के अनुकूल मधुर व्यञ्जन खिलाना अपना सौभाग्य मानती इस प्रकार दोनों मिलकर जीवनरूपी रथ के दो पट्टियों की भाँति आगे बढ़कर भूलोक पर विजय प्राप्त कर लेते हैं। दूसरा पद[१] वर वधू को अपने साथ चलाते हुए कामना करता है बल और पराक्रम की है। बल और पराक्रम केवल एक व्यक्ति का नहीं पूरे परिवार का कहा गया है मेरे परिवार को बलशाली बनाना होगा मेरे परिवार को माता-पिता कुटुम्ब की ही नहीं समागत अतिथियों को भी आतिथ्य सत्कार के द्वारा ही मुझे सच्चा बल प्राप्त होगा इसके उत्तर में वधू भी अपनी चतुरायी और सुघड़ता से मैं उसी भाँति निर्वाह कर लिया करूँगी इस प्रकार वह दूसरे लोक भुव पर भी विजय प्राप्त कर लेंगे। तीसरे पद में समृद्धि धन वैभव के लिए वधू के साथ कदम बढ़ाता है[२] वधू उसमें सहयोग करती है कहती है कि समृद्धि से मात्र अपना भला नहीं अपितु समृद्धि में सारे समाज और राष्ट्र का सहभागी बनाना है। इस प्रकार वर तीसरे लोक स्वर्गलोक पर भी विजय प्राप्त कर लेते हैं। चतुर्थ पद में[३] सुख और कल्याण की भावना से चलता है। जब लोक कल्याण के कार्यों में प्रवृत्त होंगे तो निश्चित ही हमें अनुपम सुख आत्मिक आनन्द यश की प्राप्ति होती है। इसमें भी वधू सहर्ष

---

१. द्वे उर्जे विष्णुस्त्वा नयतु पा.गृ.सू. १/८/२
मदतिथि गुरुपुत्र भातृवर्ग समस्तं, विविधविधिविध्यै: साधितैरन्नपानै: इह हि परिचरन्ती माननीया स्वराष्ट्रे, भवसि जयसि लोकं मद्गृहस्थासुधाशे।
संस्कार प्रकाश पृ. १४७

२. त्रीणि रायस्पोषण विष्णुस्त्वा नयतु। पा.गृ.सू. १/८/३
द्वषे नयान्यहं विष्णुस्त्वां सुन्दरि: सुधाशने। पदमेकमिति प्रोक्ते पत्या प्राह वधूरिदम्।

३. चत्वार मायोभवाय। पा.गृ.सू. १/८/४
तवाजितैरन्नवरै: सुरक्षै:, सुपाचितैस्त्वां परितोषयामि।
तव स्ववर्ग च समस्तमेव, त्वदाज्ञया साधु सभाजयामि। पृ. १४८

स्वीकृति प्रदान की गयी है। इस प्रकार चतुर्थ लोक चौथे लोक मह पर भी विजय प्राप्त कर लेंगे। पांचवाँ पद[१] पशुधन की कामना से चलता है गृहिणी घर के पशुधन की भाँति देखभाल किया करें। इस प्रकार पाँचवे लोक जन लोक पर भी विजय प्राप्त कर लेंगे छठा पद[२] छहों ऋतुओं में होने वाले विविध यज्ञों को करेंगे और इस प्रकार सच्चे अर्थों में ऋत्विक् अर्थात् प्रत्येक ऋतु में विविध पूर्वक यज्ञ करने वाले बन जायेंगे जिससे छहों ऋतुओं का सुख वैभव सुलभ रहेंगे और इस पर वधू अपनी सहमति प्रदान करती है इस प्रकार छठे लोक तपलोक पर भी विजय प्राप्त कर लेंगे सातवां पग[३] चलते समय वर कहता है कि तुम मेरे साथ चलते हुए सखा बन गयी हो ध्रुवदर्शन विधि में वर और वधू दोनों उठकर सूर्य का दर्शन करते हैं और अपने-अपने दक्षिण का हाथ से एक दूसरे के हृदय का स्पर्श करते हैं। वर वधू के सिर पर हाथ रखकर सिंदूर से उसकी मांग भरता है। प्रजापति दोनों के हृदय और चित्त को एक करे ध्रुवदर्शन का भाव है जीवन में दृढ़ता और स्थिरता लाना वधू जाति के कुल में ध्रुव होकर निवास करे। यह पद्धति पति-पत्नी परित्याग का बल पूर्वक खण्डन करती है। अरुन्धती का अर्थ है जिसको कोई रोक न सके। जैसे मूर्ख

---

१. शौचाऽऽचारविचार साहिधतपरीणाहेन सम्पोषितः
रवो वर्गोऽध्मपि पसन्नहृदयः साराङ्ग्यष्टिः सदा
उर्जस्वि प्रभवामि कर्तुमखिल राष्ट्र स्वकीय महत्
तसमाच्चारूदृटाङ्गशोभिनि भुवर्लोकं मया यास्यसि। ५

२. षड् ऋतुभ्यः। पा.गृ.सू. १/८/६
ऊर्जे नयाभ्यहं विष्णुरत्वां चारुदृढ विगृहे, पदद्वयनिति प्रोक्ते पत्या प्राह वधूरिदम्

३. सखे सप्तपदा भव। पा.गृ.सू. १/८/७
यथाबलं त्वद्गृहपारिणाह्यं परीक्ष्य शौचादिविधानतोऽहम्
ऊर्जप्रदं रोगहर त्वदथें, कुटुम्ब पुष्ट्यै परिसाधयामि।। संस्कार प्रकाश पृ. १४८

पृथ्वी और पर्वत अपनी-अपनी स्थिति में दृढ़ है। उसी प्रकार वर और वधू दोनों गृहस्थ धर्म में स्थित रहे।

गर्भाधान

यह संस्कार आर्यों की सुविचारित जीवन प्रणाली का परिचायक है। वंश समाज तथा देश की उत्तरोत्तर अभिवृद्धि के लिए पति-पत्नी सहज काम प्रवृत्ति को नियमित एवं संयमित करके उत्तम सन्तान की उत्पत्ति के लिए मानसिक तत्परता के साथ ही यह संस्कार सम्पन्न कर पाते थे। वर्तमान काल में यह संस्कार नितान्त लुप्त हो गया है।[१]

गर्भाधान संस्कार की समीचीनता भी आगामी जीवन के सभी अंगों को परिष्कृत रूप देने में समर्थ है। संस्कारों का मूल या बीज वपन गर्भाधान से ही प्रारम्भ हो जाता है। यदि माता-पिता संस्कृत है तो संतति भी निश्चित रूप से संस्कारोन्मुख होगी विवाह का एक लक्ष्य प्रजातन्त्र को आगे बढ़ाना है। यह तन्तु विच्छिन्न न हो इसी हेतु हमारे पूर्वजों ने विवाह संस्कार की प्रतिष्ठा की थी। इस तन्तु के रूप में मानों पूर्वज हमारे जीवित रहते हैं। जब तक किसी कुल में सन्तान का प्रवाह चला जाता है तब तक उस कुल का मूल पुरुष जीवित है। जीवन के जो अणु वीर्य में निहित है उनमें मानसिक अणु विद्यमान रहते हैं। शास्त्रकारों ने बीज को वीर्य माना है और स्त्री के रज अथवा शोणित को क्षेत्र संतति का प्रसव एक नहीं बल्कि दोनों के सम्मिलन से होता है सृष्टि का विकास ही इन्हीं दो तत्वों की क्रीड़ा क्षेत्र है संस्कार की आवश्यकता सर्वत्र है एक आचार्य के शब्दों में सन्तान का निर्माण उसके जन्म से बीस वर्ष पूर्व प्रारम्भ हो जाता है।[२]

---

१. भारतीय संस्कृति – प्रेमलता गोयल – पृ. ६९

२. वैदिक सभ्यता और संस्कृति – डॉ. मुंशीराम शर्मा पृ. ५३

गर्भाधान का नाम पुत्रेष्टि भी है।[१] गर्भाधान उसे कहते हैं जिसमें गर्भ का धारण अर्थात् वीर्य का स्थापना गर्भाशय में किया जाता है।[२] क्षेत्ररूप नारी और बीज रूप पुरुष होता है इसीलिए क्षेत्र और बीज दोनों के मिलने से ही सम्पूर्ण प्राणियों की उत्पत्ति होती है।[३] पुरुष में जो वीर्य होता है विवाह के बाद वह निश्चय पूर्वक स्त्री में गर्भाधान की क्रिया से सीचा जाता है और वही वीर्य[४] रज तथा जीव इन तीनों के गर्भाशय में संयुक्त होने का नाम गर्भ है। इससे वीर्य के साथ ही जीव का गर्भाशय में प्रविष्ट होना प्रमाणित है।[५] गर्भवितरण को स्पष्ट करने के लिए भगवान् धनवन्तरे ने कहा है शुक्र एवं शोणित दोनों पञ्चभूतात्मक होते हैं शुक्रशोणित एवं जीव से संयुक्त मिश्रित पदार्थ का नाम 'बीज' है इसी से शरीर का निर्माण होता है स्त्री और पुरुष के संयोग के समय वायु शरीर से तेज (उष्णिता) को उत्पन्न करती है।[६] सन्तान के लिए नारी पति को साधन रूप में प्रयुक्त करता है पिता क्षेत्र में बीज डालकर अलग हो जाता है। गर्भ का पालन पोषण माता ही करती है और उत्पत्ति के अनन्तर दो ढाई साल तक बच्चा उसी की गोद में खेलता है और स्तनपान करता है ऐसी अवस्था में माता का सुसंस्कृत द्वारा होना अनिवार्य हो जाता है। सन्तान कल्याण पथ पर तभी अग्रसर होगी जब उसे सुसंस्कृत माता का दुग्ध पीने की मिलेगा।

---

१. पुत्रेष्टिरीत्या ऋतुप्रदानं च कर्तव्यम् – ऋ. भा. भू. पू. १२०

२. गर्भस्याऽऽधानं वीर्यस्थापनं स्थिरीकरणं यस्मिन् येन् वा कर्मणा तद गर्भाधानम् संस्कार भास्कर स्वामी विद्यानन्द सरस्वती पृ. ६५

३. क्षेत्रभूता रामां नारी बीजभूतः पुमान् क्षेत्रबीज समायोगात् सम्भवः सर्वदेत्लिाम् मनु. ९/३३

४. तद्वै पुत्रस्य वेदनं तत्प्रजापतिरब्रवीत

५. शुक्रशोणित जीवसंयोगे तु खलु कुक्षिगते गर्भसंज्ञा। चरक शा. ४/२

६. तप्तांगार समा नारी घृतकुम्भ समः पुमान्। शुश्रुत संहिता ३/३/४

गर्भाधान के समय जो यज्ञ किया जाता है उसमें पठित मंत्र भी ब्राह्मान्त: संस्कार के अभिव्यञ्जक है सन्तति के लिए संस्कारित स्त्री का होना आवश्यक है उसी प्रकार संस्कृति पुरुष का होना आवश्यक है परन्तु यदि उस ने (पुरुष) कुछ विकृति आ जाती है तो वह उतनी अनर्थकार नहीं होती जितनी नारी की विकृति। विकृति के लिए संशोधन के लिए प्रायश्चित कहा गया है वह देवताओं की भी प्रायश्चित है दिव्यता में आने वाले विकार अग्नेयता की ज्वाला में नष्ट हो जाते हैं। पवित्र मानव में उदारता निवास करती है। पवित्र व्यक्ति के पास पाप नहीं और पति याचना करता है कि पवित्र कारक शक्तियों मैं तुम्हारे समीप आता हूँ। तुम कृपा करके इस स्त्री के शरीर में जो भी पाप की ओर जाने वाली प्रवृत्ति या पाप का लक्ष्य या चिन्ह हो अथवा शरीर में पापीयसी लक्ष्मी सम्पदा हो उसे दूर कर दो स्त्री का शरीर पवित्र हो गया पर यदि वह इस शरीर द्वारा पति की हित साधना नहीं करती विपत्ति हिंसक या मारक बनती है तब भी उसमें असंस्कृति का अंश क्रियाशील रहता है अत: देवों से प्रार्थना की गयी है कि वे स्त्री के पतिघ्नी रूप को भी नष्ट कर दें।

पवित्र शरीर वाली तथा पति परायणा स्त्री यदि पुत्रोत्पत्ति द्वारा पति के वंश को आगे नहीं बढ़ाती तो उसके अन्दर किसी दोष का ही सन्निधान है। ऐसा समझना चाहिए। नारी पुत्रवती हो यह संस्कृति को भविष्य की निधि बनाने के लिए आवश्यक है। चौथी प्रार्थना में स्त्री अपसव्य तनु रूप को नष्ट करने का उल्लेख है।

यज्ञ कर्म में उसे पति की सहधर्मिणी बनना चाहिए वह वामा है परन्तु साथ ही सदक्षिणा भी है वह काम्या है पर साथ ही वैराग्य साधिका भी वह सुन्दर है पर साथ ही शिवस्वरूप भी है उन चारों गुणों का आधान नारी को ही नहीं समस्त कुल जाति देश एव[१] विश्व का पवित्र करने वाला है। संस्कृति संकुचित नहीं होती अग्नि के तीन

---

१. वैदिक संस्कृति और सभ्यता – डॉ. मुंशीराम शर्मा

विशेषण पवमान, आदित्य, अदिति का नाम लिया गया है। संस्कृति आदित्य अदिति की सन्तान अथवा अखण्ड है वह स्वयं पवित्र है दूसरों को पवित्र करने वाली है उसके पवित्र रूप में ही शुचिता अर्थात् प्रदीप्त भी सन्निहित है। प्रदीप्त में प्रभुविष्णुता है अखण्डता में इन सबकी परिणति होती है। संस्कृत व्यक्ति इसलिए खण्ड नहीं भूमा का उपासक होता है उसकी दृष्टि संकीर्ण नहीं व्यापक होती है। गर्भाधान संस्कार संतति को संस्कृति की इसी अखण्डता की ओर ले जाने वाला है।[१]

मृत्यु के पश्चात् जीवात्मा सूक्ष्म शरीर को लेकर चलता है वह पहले पिता के वीर्य में पहुँचकर निवास पाता हे तत्पश्चात् वह माता के गर्भ में प्रवेश करता है दूसरे शब्दों में बच्चा सर्वप्रथम पिता के गर्भ में विकास पाता है फिर माता के गर्भ में पिता के शरीर में वीर्यकोश पुत्र का गर्भाशय है। पिता के हृदय की सम्पूर्ण भावनायें साररूप में वीर्य के उस कण में होती है जिसे जीव ने अपना पहला शरीर बनाया इस प्रकार का संशोधन का सूत्रपात स्त्री संयोग से पहले पिता के शरीर में हो चुका होता है।[२]

गर्भाधान संस्कार बालक का नहीं बालक बनाने का संस्कार है इससे धर्मभाव यथावत् बना रहना चाहिए। गर्भाधान के समय माता-पिता के मन स्वस्थ एवं धर्मान्वित होना आवश्यक है इसी लक्ष्य को सुश्रुत सहिताकार ने कहा है।[३]

गर्भाधान के मन्त्रों में गर्भधारण करने तथा सुरक्षित रखने की भी प्रार्थना की गयी है। संतति नौ महीने में गर्भ में रहकर दसवें महीने में

---

१. वैदिक संस्कृति और सभ्यता – डॉ. मुंशीराम शर्मा – पृ. ५६

२. पुरुषेध्वा अयमादितो गर्भो भवति। यदेत द्र सस्तदेतत् सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यस्तेजः सम्भूत मात्मन्मे वात्मानं विभार्ति। तद्यथा स्त्रियां सिञ्चत्यथैनज्जनपति वदस्य प्रथम जन्म– ऐतरेय उपनिषद २/१

३. आहारचारचेष्टाभियां दृशीभिः समन्वितौ। स्त्री पुरुषौ समुपेयता तयो पुत्रोऽपि तादृश सुश्रुत संहिता

उत्पन्न होती है इस तथ्य का वर्णन है।[१] शिशु का दस मास तक गर्भ में रहने का उल्लेख है।[२] गर्भ में स्त्री की कामनायें शुभ होनी चाहिए। दूषित विचारों एवं भावनाओं का प्रभाव गर्भस्थ शिशु के लिए हानिकारक है। श्रुति के शब्दों में[३] पृथ्वी प्राणियों को धारण करती है वनस्पतियों, पर्वतों, गिरियों तथा जंगम जगत् को धारण करती है इसी प्रकार गर्भ में बच्चे को धारण पालन एवं पोषण होना चाहिए।

गर्भाधान संस्कार का सांस्कृतिक उद्देश्य था समाज में जिस सन्तान की अभिवृद्धि हुयी है वह संस्कार शुद्ध और पवित्र है तो समाज भी शुद्ध और पवित्र होगा साथ ही वैयक्तिक भूमिका के लिए पावन भूमिका प्रस्तुत हो जायेगी। गर्भाधान संस्कार में इसीलिए तिथियाँ तथा सदाचार प्रवण हो ऐसा महत्वपूर्ण उद्देश्य इस संस्कार के अन्दर सन्निहित था। सन्तानोत्पत्ति में पितृऋण से उऋण होने का भाव विद्यमान रहता है। इस ऋण के सम्बन्ध में सभी आचार्य एक मत नहीं है किसी-किसी के मत से पुत्रोत्पत्ति को आवश्यक नहीं समझा गया है शास्त्रों में ऐसा नियम है कि पुरुष चाहे तो गृहस्थी में न जाकर सीधे सन्यास आश्रम में प्रवेश कर सकता है परन्तु यह नियम नहीं अपवाद है संस्कृति का अन्तिम लक्ष्य भूमा है जो सत्यता का विपरीत भाव है अल्पता या संकीर्णता से निकल कर विशाल बनना निखिल ब्रह्माण्ड को अपना समझना ही भूमा की अवस्था है। भूमा का सुदृढ़ आधार जहाँ कहीं का पुरुष और कहीं का स्त्री दोनों मिलकर दाम्पत्य भाव के दृढ़सूत्र में आबद्ध हो जाते हैं सन्तानोत्पत्ति के साथ भूमा का यह आधार भी अधिक सुदृढ़ होता है।[४] विधिपूर्वक संस्कार युक्त गर्भाधान से अच्छी एवं योग्य सन्तान उत्पन्न होती है। इस

---

१. हिरण्यमयी अरणीय निर्मन्थतो अश्विना
ते ते गर्भ हवामहे दश्चामे मासि सूतवे

२. दशमस्यः गर्भः दशमासान् शशयानः

३. यत्ते सुसीमे हृदयं दिवि चन्द्रमसि श्रितम वेदाहं तन्मा ताद्विघात

४. वैदिक सभ्यता और संस्कृति– डॉ. मुंशीराम शर्मा– पृ. ५८

संस्कार से वीर्य संबंधी तथा गर्भ सम्बन्धी दोष दूर होते हैं तथा क्षेत्र का संस्कार होता है गर्भाधान का फल है इसका एक फल यह भी है कि इससे असमय में गर्भ च्युत नहीं होता।[1]

पुंसवन संस्कार

पुंसवन का अर्थ है पुमान् सूयते यस्मात् इति पुंसवनम्–

जिससे संतान स्वस्थ एवं बलिष्ठ हो उसे पुंसवन् कहते हैं तदनुसार जिस संस्कार के द्वारा पुमान् स्वस्थ तथा शक्तिशाली सन्तान उत्पन्न होने में सहायता मिले वह पुंसवन संस्कार होता है। गर्भस्थ शिशु की रक्षा करना तथा उसे उत्तम संस्कारों से युक्त करना ही इस संस्कार का प्रयोजन है।[2]

इसका एक लक्ष्य गर्भ को पौरुष वीर्य सामर्थ्य आदि में संयुक्त करना तथ पुत्री के स्थान पर पुत्रोत्पत्ति भी है। मन्त्र ब्राह्मण में मित्र और वरुण अश्विन अग्नि और वायु को पुमान् कहा गया है यही पुमान स्त्री के गर्भ में है। अथर्व. में पुमान् सन्तति की उत्पत्ति का उपाय बतलाया[3] है यथा पीपल के पेड़ पर शमी का वृक्ष उत्पन्न हो उसका सेवन आयुर्वेद की विधि के अनुसार यदि किया जाये तो गर्भ में अवश्य ही पुत्र की स्थिति होगी। सुलक्ष्मणा व जटा सहदेवी इन सबको वत्सवती गो के दूध के साथ घोट कर इसकी कुछ बूँदे गर्भिणी स्त्री के दाहिने छिद्र से निकलती हुई वायु में उष्णता तथा वामरन्ध्र वाली वायु में शैल्य की प्रधानता मानी गयी है।[4] गर्भस्थ बच्चें के जीवन में उष्मा जन्य उत्साह भरा रहे। यही भाव इससे ध्वनित हो

---

१. निषेकाद् बैजिकं चैनो गार्भिक चापमृज्यते क्षेत्र संस्कारा
सिद्विश्च गर्भाधानं फलं स्मृतम् – स्मृति सगह – कल्याण – पृ. ३६४

२. संस्कार भारस्कर – स्वामी विद्यानन्द सरस्वती, पृ. १०७

३. शमीमश्वत्थ आरुदस्तत्र पुंसवनम् श्रुतम् कृतम्
तद्वै पुत्रस्य वेदनं तत्स्त्रीष्वा भरामसि। अथर्व.

४. सुश्रत संहिता अध्याय ३८

रहा है। शमी वृक्ष में भी अनल का निवास माना गया है पीपल के पेड़ पर उगा हुआ शमी और भी अनल सम्पन्न होगा आग्नेयता पुरुषत्व वाचक है अतः शमी वाली औषधि भी युक्ति संगत जान पड़ती है।

ये औषधि स्त्री के लिए सन्तति को मृत्यु पाश से मुक्त करें और वरुण राजा भी तदनुकूल समर्थन करें[१] सम्पूर्ण संस्कार का गर्भस्थ बच्चे के अन्दर उत्साह वीरता तथा पौरुष के भावों का सन्निवेश करना है। जिस प्रकार वाण तरकस में आता है उसी प्रकार यह पुमान् गर्भ स्त्री की योनि में प्रतिष्ठित् हो और उसके पश्चात् भी तुझे दूसरा पुत्र प्राप्त हो। तू जात और जनिष्यमाण (भविष्य में उत्पन्न होने वाले) पुत्रों की माता हो।

सम्पूर्ण संस्कार का उद्देश्य गर्भस्थ बच्चे के अन्दर उत्साह वीरता तथा पौरुष के भावों का सन्निवेश करना है। इससे बालक संस्कारी पैदा होता औषधियों का प्रयोग गर्भ में पवित्रता का संचार करेगा और मन्त्रोच्चारण मन को निर्मलता प्रदान करेगा।[२] पति अपनी पत्नी के गर्भाशय पर हाथ रखकर कहता है कि हे सुपर्ण तू सुन्दर पंखों वाला है ज्ञान और कर्म अथवा प्राण और अपन के पंखों द्वारा तू उड़ता है तू गुरुत्मन है गम्भीर एवं गौरवशाली है तेरा शिर त्रिवत् है चक्षु गायत्री है तेरे पंख वृहत् और रथन्तर नाम के साम है आत्मा स्टोन है अंग छन्द है और नाम यजु है इस प्रकार तेरा समग्र शरीर सामों से ओतप्रोत है तू गुरुत्मान सुपर्ण के रूप में दिव्यता का आधान कर और स्वर्ग के योग्य बन।

गर्भिणी को अधिक शयन तथा अधिक भाषण नहीं करना चाहिए अधिक खारे खट्टे तीखे कड़ुये रोचक आदि पदार्थों से बचना

---

१. ऊँ आते गर्भो योनियेतु पुमान बाण इवेषुधिम्
आ वीरो अत्र जायताम् पुत्रस्ते दशमास्य: अ. ३/३/२३

२. वैदिक संस्कृति और सभ्यता – डॉ. मुंशीराम पृ. ६१

चाहिए। गर्भिणी स्त्री को अपना चित्त सदैव प्रसन्न रखना चाहिए। इससे सन्तान के सौन्दर्य एवं स्वास्थ्य दोनों पर प्रभाव पड़ता है।

सीमान्तोन्नयन संस्कार[1]

"सीमन्तः केशेषु" अष्टाध्यायी के इस सूत्र के अनुसार केशो को विभक्त करने वाली मध्य रेखा सीमान्त कहलाती है उसका ऊपर की ओर उठाना करना सीमान्तोन्नयन संस्कार है। चरक ने शरीर स्थान में लिखा है कि रज वीर्य तथा जीव का संयोग होकर कुक्षि में प्राप्त होने का नाम गर्भ है।[2]

सीमान्तोन्नयन स्त्री संस्कार है इसका प्रयोजन क्षेत्रभूता नारी को संस्कृत करना है।[3] सीमान्त का अर्थ है मांग, इसमें स्त्रियाँ सिन्दूर डालती हैं जो सौभाग्य का चिह्न समझा जाता है। स्त्रियाँ मांग भरकर अपने कामरूप पति की आयुष्यवृद्धि की कामना करती हैं। यह संस्कार सौभाग्य के उत्कर्ष का ही द्योतक है। नारी मन के शब्दों में पूजनीय है गर्भ धारण करके वह सम्मानास्पद बन जाती है। सीमान्तोन्नयन प्राजापत्य संस्कार है। प्रजापति को धाता भी कहते

---

१. सुपर्णोऽसि गरुत्मा स्त्रि वृत शिरो गायत्रं चक्षुर्बहद्रथन्तरेपक्षौ
स्तोम आत्मा छन्दास्यड गानि यजूषि नाम
साम ते तनूवमिदेव्य यज्ञायज्ञिय पृच्छ छिष्णया: शफा:
सुपर्णोऽसि गरुत्मान्दिवं गच्छ स्व: पत।। य.अ. १२ मं. ४

२. शुक्रशोणित संयोगे तु खलु कुक्षिगते गर्भसंज्ञा भवति।। शरीरस्थान ४/२

३. मातस्तु खलु वसवहानां गर्भनाभिनाड़ी प्रतिवद्धा सा मातुरहाररसवीर्यमभिवहति। तेनो-पस्नेहे नास्याभिवृद्धिर्भवति। असजाताङ्गवा प्रत्यङ्ग प्रविभाग मानिषेकात् प्रभृति सर्वशरीरा-वयवान्-सारिणीनां रसवहान्तंतिर्यग्गमतानं धमनीनामुपस्नेहो जीणयति।
सुश्रतु संहिता शा.अ. ३/३१

हैं।[१] उसकी प्रार्थना की जाती है कि धाता प्रजापति प्रजाओं का धन देने वाला है समग्र सम्पत्ति का वही तो एकमात्र स्वामी है। उसी ने निखिल भुवन को उत्पन्न किया है वह समस्त प्रजा को टकटकी लगाये देख रहा है। हमें उसी धाता के लिए अपनी घृतमयी स्नेहमयी हव्य चढ़ानी चाहिए पूर्णिमा सुन्दर स्तुतियों का भाजन है वह सुभगा है हमारी प्रार्थना सुने और जिसके द्वारा तू दानी वसुओं वासक शक्तियों का दान देती है उन्हीं शक्तियों के साथ तुम आज प्रसन्न होकर यहाँ आ जाओ और हे सुभगे इस गर्भस्थ शिशु को सहस्त्रों पोषक शक्तियों से संयुक्त कर दो।[२]

सुश्रुत के अनुसार खोपड़ी पाँच भागों में विभक्त है उसकी सन्धियों को भी सीमान्त कहते हैं इस प्रकार मानसिक अथवा बौद्धिक शक्तियों का विकास करना ही इसका लक्ष्य माना गया है। मस्तिष्क का विकास चौथे मास से होने लगता है पंचम मास में गर्भस्थ बालक अधिक जागृत व प्रबुद्ध हो जाता है इसलिए आश्वलायन के मतानुसार चतुर्थ मास में सीमान्तोन्नयन होना चाहिए।[३] परन्तु पारस्कर के अनुसार प्रथम गर्भ में सीमान्तोन्नयन आवश्यक है। बालक को संस्कृत करने के लिए संस्कार का होना आवश्यक है।[४] जिस प्रकार माता के शरीर से बालक के पञ्चभौतिक स्थूल शरीर का निर्माण होता है वैसे ही उसके विचारों से उसके सूक्ष्म शरीर अर्थात् संस्कारों का निर्माण होता है जब

---

१. धाता प्रजानामुवरायईशे धातेदं विश्वं भुवनं जजानाधाता कृष्टी रनि मिषाभिः चष्टेधात्रऽइद्धव्यं घृत वज्जु होत।। यास्ते राके सुमतयः सुपेशसो या भिद्रदासि दाशुष्ज्ञे वसूति। तार्भिर्नोअद्य सुमना उपागहि सहस्त्रपोषं सुभगेरराणा। ऋग्. मं. सू. ३२ मं. ५

२. वैदिक सभ्यता और संस्कृति – डॉ. मुंशीराम शर्मा पृ. ६२

३. चतुर्थ गर्भमासे सीमान्तोन्नयनम्। आ.गृ.सू.

४. सकृत संस्कृत सस्कारा: सीमेन्तेन द्विजस्त्रियः यॅ यं गर्भप्रसूयन्ते स सर्वः संस्कृतो भवेत्। पा.गृ.सू. हरिहर भाष्य पृ. ७२

तक सन्तान माता के पेट में बढ़ रही होती है तब तक उसके सम्पूर्ण क्रिया कलाप उसके चित्त में अंकित होकर संचित रहते हैं।

गर्भस्थ बालक के आठवें महीने तक पहुँचते-पहुँचते स्त्री दौहृदया हो जाती है। एक उसका अपना हृदय और एक गर्भस्थ बालक का हृदय। बालक का हृदय रस ले जाने वाली धमनियों से माता के हृदय से जुड़ा होता है उस समय माता की जो इच्छा होती है वही गर्भस्थ बालक की इच्छा होती है। सुश्रुत का कथन है[१] – गर्भिणी स्त्री की इच्छा पूरी होने पर गुणवान् पुत्र उत्पन्न होता है और स्त्री की इच्छा पूरी न होने पर गर्भ अथवा अपने में (स्त्री में) ही विकार आ जाता है। जहाँ गर्भिणी की इच्छा पूर्ति उसके मन पर सुखद प्रभाव डालता है वहीं शिशु की मानसिक निर्मित पर भी अपेक्षित प्रभाव पड़ना अवश्यम्भावी है।[२] पति को गर्भ के छठवें मास के पश्चात् मैथुन आदि से विरत रहना चाहिए उसे ऐसे नवीन निर्माण आदि के ऐसे कार्य नहीं करने चाहिए जो गर्भिणी की देखभाल से उसे परान्मुख कर दे। गर्भिणी स्त्री को गोधूलिं के समय भोजना करना, वृक्ष के नीचे सोना, पहाड़ अथवा उच्चावासों पर चढ़ना रात्रि जागरण रूखा तथा भारी भोजन सभी उसके लिए वर्जित मान गए हैं। सुन्दर सुरभित मालाओं का धारण, पवित्र वस्त्रों का परिधान, मनोनुकूल कथाओं का श्रवण मंगलकारी दृश्यों का दर्शन उसके मानसिक तथा शारीरिक स्वास्थ्य हितप्रद है सीमान्तोन्नयन संस्कार में पठित मन्त्र संस्कार की महत्ता अभिव्यंजित करते हैं,[३] हे स्त्री उर्जस्वी वृक्ष के समान

---

१. येष योष्विन्द्रिपार्थेषु दौहृदे वा विमानना। पजापते सुतस्यापि तस्मिन् तसिमन्तथैन्द्रिये।। या प्राप्त दौहृदा पुत्र जनयत गुणान्वितम्। अलब्ध दौहृदागर्भे लभेतात्मनि वा भयमश्व। सुश्रुत संहिता १९

२. दौहृदस्या प्रदानेन गर्भो दोषमवाप्नुया
वैरुप्यं निधनं वाऽपि तस्मात् कार्य प्रियंस्त्रियः।। याज्ञवल्क्य स्मृति ३/८९

३. ऊँ अयमूर्जावतो वृक्ष उज्जीवं फलिनी भव
पर्ण वनस्पतेऽनुत्वाङ्नुत्वा सूयतां रचिः। पा.गृ.सू. १/१६/६ पृ. ७४
ऊ थेनादितेः सीमान नयति प्रजापतिर्महते सौभागाय
तेनाह मस्यै सीमानं नयामि प्रजामस्यै जरदष्टिं कृष्णोमि।
मन्त्र ब्राह्मण ब्रा. १/५/१-२

ऊर्जास्विनी और फलवती हो जैसे वनस्पति के पत्ते फलरूपी सम्पदा से संयुक्त होते हैं उसी प्रकार तू संततिरूपी सम्पदा से ओतप्रोत हो जैसे प्रजापति अदिति के सीमान्त को सौभाग्य प्रदान करता है उसी प्रकार मैं (पति) तेरे (पत्नी) के सौभाग्य का उन्नयन करता हूँ। तेरी प्रजा वृद्धावस्था तक सुखी और समृद्ध जीवन व्यतीत करे।[1] जिस समय वह जीव माता के गर्भ में निवास करेगा उस समय से माता के संस्कार क्षत्रियत्व की ओर झुकाकर वैसा (वीर) बनाने में सहायक बनेंगे।[2] सीमान्तोन्नयन संस्कार के लिए शुक्लपक्ष में पुरुष नक्षत्रों से युक्त चन्द्रमा की स्थिति का काल उपयुक्त माना गया है। शुक्लपक्ष वृद्धि तथा प्रकाश ज्ञान का प्रतीक है और प्रकाश युक्त होने के कारण किसी भी प्रकार की गतिविधियों में सहायक है। चन्द्रमा स्त्रीसंज्ञक होने से जल की वृद्धि का कारण है। जब चन्द्रमा किसी पुरुष वाची नक्षत्र से युक्ता होता है तो ऋतु में समता होती है क्योंकि पुरुष वाची नक्षत्र अपना प्रभाव चन्द्र के विपरीत शोषण करने के लिए डालता है कोमलता और कठोरता अर्थात् जलशक्ति तथा तेजशक्ति मिलकर वातावरण को विषमता रहित कर देते हैं।

पति द्वारा किया जा रहा पत्नी का शृंगार करना इस बात का द्योतक है कि स्त्री को पद-पद पर पति से सम्मान प्रेम और सहयोग की अपेक्षा होती है। गर्भिणी के सिर पर कंघी करने से गर्भ बालक के बाल भी सुन्दर व कोमल बनते हैं। पास बहने वाली नदी का नाम लेना तथा नदी के आस पास के सुन्दर शान्त दृश्य का मन पर अंकित होना इस बात की ओर संकेत करता है कि हमारा जीवन चन्द्रमा की तरह शान्त और नदी की तरह मर्यादित हो। जिस प्रकार चाँद में पूर्णिमा और अमावस आते हैं उसी प्रकार जीवन में आशा निराश आती है नदी में बाढ़ और सूखे की स्थितियाँ आती हैं तो जीवन में पर्याय से उत्थान पतन आते हैं प्रत्येक स्थिति में हमारा

---

१. वैदिक सभ्यता एवं संस्कृति – पृ. ६३

२. ये ये वापि स्मरन् भाव व्यजत्यन्ते कलेवरम् त तमेवैति कौन्तेय सदतद्भाव भावित:। गीता ८/६

जीवन सन्तुलित बना रहे। गूलर की श्लाका से चीर निकलवाने से यह संकेत देना भी अभिप्रेत हो सकता है कि गर्भस्थ शिशु लड़का है क्योंकि चौथे. मास तक उसके शरीरांग स्पष्ट हो जाते हैं उत्पत्ति आदि के क्रम में मनुष्य की उपमा वृक्षों से की जाती है जब कन्या रजस्वला होती है तो कहा जाता है कि वह पुष्पवती हुयी है जब स्त्री सन्तानवाली होती है कि कहा जाता है कि फलवती हुई ऐसी ही विलक्षणता गूलर में है जो किसी अन्य फल में नहीं पायी जाती है इसलिए गूलर के फल वेणी में गूंथे जाते हैं।

ये संस्कार उत्पन्न होने वाले वत्स का शारीरिक तथा मानसिक स्वस्थता के सम्पादन के लिए उसे संस्कारी बनाने के लिए तथा संस्कृति निष्ठ रूप में उत्पन्न होने के लिए अत्यन्त लाभकारी है।

जातकर्म

गर्भोधान पुंसवन सीमान्तोन्नयन इन तीन गर्भ (जन्म पूर्व) संस्कारों को जन्मोन्तर संस्करों को जोड़ने वाला यह जातकर्म संस्कार है जो जन्म के पश्चात् किये जाने वाले कर्मों का निर्देश करने के साथ-साथ बालक को संस्कृत करने की दिशा में अपेक्षित कर्तव्यों का निर्देश करता है।[१] प्रसव के पश्चात् गर्भस्थ शिशु जब बाहर आता है तो माता-पिता के आनन्द की सीमा नहीं रहती। माता को जो प्रसव कष्ट सहना पड़ता है वह शिशु दर्शन से सब समाप्त हो जाता है। पिता भी आह्लादित होता है और धर्मशास्त्र के लेखानुकूल पुत्र के मुख को देखकर पितृऋण से मुक्त हो जाता है।

पूर्व वर्णित संस्कार पुंसवन में पुमान् पुत्र के प्रसव की जो प्रार्थनाएँ तथा अभिलाषायें व्यक्त हुई हैं। सम्भवतः इसी आधार पर अवलम्बित हैं। पुमानं संतति पुमनामक नरक से त्राण भी करती है इसका एक सहज कारण यही प्रतीत होता है कि पुत्र के अभाव में

---

१. संस्कार भास्कर – पृ. १०८

उसके पूर्वजों का वंश लुप्त हो रहा है जो अपने वंश का विस्तार न कर सके गृहस्थाश्रम वश विस्तार का मुख्य आधार है पुत्र का होना तो कल्याण कारक है ही यदि पुत्री भी उत्पन्न हो तब भी वंश वृद्धि की कामना सफल हो सकती।

जातकर्म के समय माता के समीप अनुभवी सौभाग्यवती युवती तथा वृद्धा स्त्रियाँ रहनी चाहिए जिससे प्रसव में योनि शिशु के बाहर आने में किसी प्रकार का प्रमाद अथवा असावधानी न हो। प्रसव होने के समय 'सोष्यन्ती मद्‌भिरभ्युक्षति' के अनुसार गर्भिणी के शरीर पर जल छिड़का जाता है और प्रार्थना की जाती है[१] हे प्रभो जरायु के साथ दस महीने तक गर्भ में रहने वाला यह बालक बाहर आये जैसे वायु और समुद्र अपनी अभिव्यक्ति करते हैं वैसे ही यह शिशु गर्भ से बाहर आकर अभिव्यक्त हो। पुत्र के उत्पन्न हो जाने पर बालक के शरीर जरायु को पृथक् करके मुख, नासिका, कान, आँख आदि के मल को दूर करके कोमल वस्त्र से पोछकर नाल छेदन करें। नाल छेदन करने के उपरान्त बालक को उष्ण जल से स्नान कराना चाहिए फिर अग्निहोत्र की आवश्यक विधि करके प्रभु का ध्यान करना चाहिए।

जमदाग्नि कश्यप तथा दिव्य शक्तियाँ आयुष्य वाली है वैसी ही तिगुनी आयु इस बच्चे को प्राप्त हो। जमदग्नि आग्नेय शक्ति पर विजय प्राप्त करना है। कश्यप पश्यक दृष्टा है अपनी विशिष्टताओ के कारण ये अधिक आयु भोगे ऐसी कामना इन मन्त्रों में प्रवाह की गयी है। बालक का शरीर दृढ़ हो इसलिए उसे "अस्मा भव" नामक मन्त्र पढ़कर पत्थर का स्पर्श कराया जाता है जिसका तात्पर्य है कि बालक का शरीर इतना सुदृढ़ बने कि वह जिस पर गिरे उसको तोड़ दे और उस पर जो गिरे वह भी टूट जाये। पत्थर पर कोई आँच नहीं आती बच्चे का शरीर इसी पत्थर के समान सुदृढ़ हो परशु तीव्र होता है।

---

१. एजतु दश मास्यो गर्भो जरायुणा सह यथाऽयं वायुरेजति यथा समुद्र एजति एवायं दशमास्यो अस्रज्जरायुणा सह। प.अ. ८ मं. २८

वह जिस पर गिरता है उसे काट देता है। अश्मा और परशू दोनों की विशेषतायें इस बच्चे के अन्दर प्रविष्ट हो। इन दोनों के साथ वह हिरण्य भी बने। हिरण्य का तात्पर्य ज्योति है यह बच्चा किसी से न दबाने वाली शारीरिक आभा तथा मानसिक प्रकाश से सम्पन्न हो। इसका मस्तिष्क भी उज्ज्वल हो और शरीर भी सुदृढ़ हो अपने सर्वांग में यह प्रदीप्त हो उठे।

माता बच्चे को जन्म देती है इसलिए उसे इड़ा और मैत्रावरुणी नाम दिये गये हैं इड़ा बुद्धि है और सबको धारण करने वाली पृथ्वी का नाम भी इड़ा है। मित्र प्रेम देता है तो वरुण रोगों का वारक है। इन गुणों से सम्पन्न स्त्री वीरवती बनकर वीर पुत्रों को जन्म देती रहे इस प्रकार के कथन मन को प्रसन्नता प्रदान करने वाला बनेगा। यह मयोभू है अर्थात् सुख उत्पन्न करने वाला है रत्नधा और वसुवित है अर्थात् बच्चे को ऐश्वर्य के ले जाने वाला है जिसमें वीर्य की पुष्टि होती है। सरस्वती देवी उसे इस बच्चे के अन्दर धारण करे इस प्रकार की भावनाओं से भावित करके माँ अपना दूध बच्चे को पिलाती है।

बच्चा कोमल होता है शरीर से भी और मन से भी उसके ऊपर वायु मण्डल के प्रभाव अतीव शीघ्रता से पड़ते हैं इन्हें दूर करने के लिये मन्त्रपाठ तथा औषधियों का उपचार भी है। शुण्डनं, शौण्डिकेय उलूखल मलिम्लुच द्रोणास कुम्भी शत्रु पात्रपणि नृमणि अन्तर्मुख शर्षपारुण आदि अनिष्टकारी रोगों तथा कीटाणुओं को भगाने के लिए सूतिका गृह के बाहर निरन्तर अग्नि प्रज्जवलित रहती है और जल से भरा यज्ञ कलश भी सूतिका गृह के बाहर रखा जाता है। संस्कार में पठित मंत्र जीवन प्रदायक है।

जीवों के लिए सौ वर्ष की परिधि निश्चित की गयी है इसके पूर्व किसी को भी शरीर त्याग नहीं करना चाहिए। हमारे अन्दर इतनी शक्ति संचित हो कि यदि मृत्यु इस अवधि से पूर्व आ जाये तो उसे पर्वत के नीचे दबा दें।

तत्पश्चात् घी और मधु दोनों को मिलाकर स्वर्ण की श्लाका से बच्चे की जिह्वा पर रखकर ऊँ अक्षर लिख कर उसके दाहिने कान में वेदोऽसि ऐसा शब्द सुनाना चाहिए। घृत और मधु दोनों को थोड़ा-थोड़ा बच्चे को चटाना चाहिए, घृत तेज एवं आयु को देने वाला है मधु पोषणकारी है और स्वर्ण न्यूनताओं को दूर करने वाला है और समृद्धि जनक है तीनों ही दरिद्रय के नाशक तथा अभाव की पूर्ति वाले है उन तीनों के सेवन से शोभा एवं श्री की वृद्धि करने वाला है। स्वर्ण श्लाका से सात बार मधु चटाकर चावल और जौ को संशोधित करके पानी के साथ पीसकर और वस्त्र से छानकर एक पात्र में रख ले और थोड़ा सा अपने अंगुष्ठ तथा अनामिका से एक बिन्दु बालक के मुख में छोड़ दें।[१] चावल और जौ भी सात्विक अन्न में परिगणित है और आयुष्यवर्धक है। इन्हें अन्न आयु और अमृत कहा गया है।

बालक मेधावी हो पुष्ट हो और शरीर से दृढ़ हो इस भाव के बोधक कई मन्त्र इस संस्कार में पढ़े जाते हैं।[२] व्याहृतियों को लेकर शिशु से कहा जाता है कि मैं तेरे अन्दर भू भुवः स्वः को धारण करता हूँ। इन महाव्याहृतियों द्वारा बच्चे की प्राणवती सत्ता चेतन अन्तःकरण तथा आनन्दमय कोष स्वस्थ बनाने की भावना है[३] आयुष्य के सम्बन्ध में कहा गया है कि जैसे अग्नि आयुष्मान है। वनस्पति सोम और औषधियाँ है ब्रह्मदेव ऋषि पितर या और समुद्र आयुष्मान है उसी प्रकार यह शिशु में आयुष्मान् हो औषधि विद्या

---

१. गोभिल गृह्यसूत्र

२. मेधा ते मित्रा वरुणौ मेधामग्निदंधातु ते
मेधां द्वे अश्विन्नौ देवाकधत्तां पुष्करस्त्रजौ। म.ब्रा. १/५/९
मेधान्ते देवः सविता मेधां देवी सरस्वती
मेधान्ते अश्विनौ देवत्वाधत्तां पुष्कर स्त्रजौ। पा.गृ.सू. १/१६

३. इन्द्र श्रेष्णमि द्रविणानि धेहि चिति दक्षस्य सुभगत्व मस्मे
पोष रयीणामरिष्टि तनूना स्वाद्मान वाचासुदिनत्वमह नाम म.बा.

सम्पन्न ब्राह्मण तथा अन्य शक्तियाँ अपने व्रतों के द्वारा सुधा शक्तियों द्वारा दक्षिणाओं के द्वारा तथा अनन्त त्यागमयी धाराओं के द्वारा इस बच्चे को आयु प्रदान करें।[१]

नामकरण

सृष्टि रचना शब्द के साथ स्वीकार की जाती है। जहाँ लोकों भवनों और विविध प्रकार के पदार्थों का अस्तित्व प्रत्यक्ष होता है वहाँ साथ ही इनके नाम भी चलते हैं। शब्द और शब्द के द्वारा ध्वनित अर्थ अथवा पदार्थ का सह अस्तित्व बुद्धिगम्य है। शब्द अर्थ में अभिव्यक्ति पाता है और अर्थ शब्द द्वारा ध्वनित अर्थ अथवा पदार्थ का सह अस्तित्व बुद्धिगम्य है। शब्द अर्थ में अभिव्यक्ति पाता है और अर्थ शब्द द्वारा ध्वनित होता है। रचना के प्रारम्भ में शब्द और अर्थ दोनों शक्ति एक दूसरे में गुम्फित थे। मानव ने अपनी कृतियों को जिन शब्दों द्वारा अभिव्यक्त किये हैं अथवा उन्हें जो नाम दिये हैं वे किसी न किसी आधार पर अवलम्बित है, प्राकृतिक रचनाओं के नाम उनके गुणों के आधार पर हैं। मानव ने भी अपनी कृतियों का उनके गुणों के आधार पर नामकरण किया है।

आर्य जाति का अति स्वर्णिम अतीत है वहाँ प्रचुर आदर्शों की राशि सन्निहित है। हमारे नामकरण संस्कार पर भी उसकी छाया पग-पग पर अनुभूत होती है।

गृह्यसूत्र के अनुसार बालक का नामकरण जन्म से दस दिन छोड़कर ग्यारहवें, ११वें अथवा वर्ष के प्रारम्भ में जिस दिन हुआ हो करना चाहिए और दो अथवा चार अक्षरों का नाम रखना चाहिए। दो अक्षर का नाम रखने के पीछे प्रतिष्ठा की कामना निहित थी ब्रह्मवर्चस की कामना वाले चार अक्षर का नाम रखते थे। व्यवहार में

---

१. त्र्यायुषं जमदग्ने कश्यपस्य त्र्यायुषम्
यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नौ अस्तु त्र्यायुषम् यजु.अ. ३ म. ६२

नाम का ही प्रधान्य है। अतः मानव अपना नाम रखने के लिए प्राणपण से जुट जाता है। इसी हेतु नाम ऐसा रखना चाहिए जो शुभ सूचक हो किसी आदर्श का द्योतक हो तथा कीर्ति एवं प्रतिष्ठा की ओर ले जाने वाला हो।[१]

प्रत्येक कुल की एक परम्परा होती है। उस परम्परा की रक्षा करने के लिए भी नाम का चुनाव किया जाता है। नामकरण के साथ बच्चा समाज का घटक बन जाता है। समाज में उसकी तथा उसके कुल की क्या स्थिति है यह भी हमारी वर्ण व्यवस्था के आधार पर नाम से ही प्रकट हो जाती है। मनु के शब्दों में[२] ब्राह्मण का नाम मांगल्य का द्योतक है। क्षत्रिय का नाम बलपरक हो वैश्य का नाम धन संयुक्त हो और शूद्र का नाम जुगुप्सित तथा हीन भावना का द्योतक होना चाहिए।

नामकरण संस्कार में धार्मिक भावना संलग्न है वह व्यक्ति को श्रृद्धालु तथा निष्ठावान बनाने के लिए उचित है। सूतिका गृह अपवित्र माना जाता है अतः नामकरण संस्कार से पूर्व उसकी पुताई आदि की जाती है माँ तथा शिशु दोनों स्नान करते हैं अग्निहोत्र का विधान प्रत्येक संस्कार का अनिवार्य अंग है वह भी गृह के संशोधन में सहायक है हवन की साधारण विधि के उपरान्त माँ बच्चे को लेकर हवन की वेदी पर उपस्थित होती है और पति के दाहिनी ओर खड़ी होकर बच्चे का शिर उत्तर दिशा की ओर करके उसे पति के हाथों में दे देता है। तिथि एवं नक्षत्र और उनके देवताओं के नाम से आहुतियाँ दी जाती है पिता बच्चे की नासिका से निकलती हुई श्वास प्रश्वास को हाथ रखकर स्पर्श करता है कहता

---

१. वैदिक सभ्यता और संस्कृति – डॉ. मुंशीराम शर्मा पृ. ६९

२. मंगलस्य ब्राह्मणस्य स्यात् क्षत्रियस्य बलान्वितम्
वैश्यस्य धन वायुक्तं शुद्रस्य तु पाशुप्सितम्। मनु. स्मृ. २/३१

है[१]– कः शब्द प्रश्नवाचक है कहाँ आनन्दवाचक है उससे प्रजापति का अर्थ भी निकलता है। बच्चा सानन्द रूप है। आनन्दमयी सत्ताओं में वह अन्यतम है वह आनन्दरूप प्रजापति का है उसका नाम आनन्द ही है। सोम द्वारा जिस तृप्ति का विधान लिखा गया है। वह तृप्ति पवमान सोम की अनन्त धाराओं में विद्यमान है। सूर्य की रश्मियों में सोम की धारायें उपस्थित है वायुमंडल को तृप्ति प्रदान कर सूर्य कुण्ड में जो ऊर्ध्व लोगों के सोम की आहुतियाँ पड़ती है ये सूर्य किरणों द्वारा औषधियों, वनस्पतियों आदि में सोम का आधान करती है। गाय के दूध तथा घृत में सोम की यह मात्रा अधिक रहती है। माता के स्तन में भी प्रचुर रूप में उपस्थित रहता है बच्चे की तृप्ति पूर्ण साधन है।[२]

अन्त में इस प्रकार आशीर्वाद दिया जाता है वत्स आज का यह क्षण तुझे दिन दिखावे तुझे रात्रि को दे दे। रात्रि तुझे अहोरात्र की ओर ले जाये अहोरात्र तुझे पक्षों के लिए पख तुझे मासो के लिए मास तुझे ऋतुओं के लिए ऋतुए तुझे संवतसर संवत्सर तुझे वृद्धावस्था तक की आयु भोगने के लिए प्रदान करे। तू आयुष्मान वर्चस्वी तेजस्वी और श्रीमान् है।

नामकरण संस्कार उसको सद्गुणों का द्योतक होने के कारण उसे संस्कार अथवा संस्कृति की ओर ले जाता है। जब बच्चों के नाम लेकर बुलाया जाता है तो मानव उसका अन्तःकरण ब्राह्मण में उस नाम के साथ लगा चला आता है। बच्चे को इन्हीं दो संस्कार करने चाहिए जिससे परिशोधन उसे उत्कर्ष का पथिक तथा उन्नयन शील बनायेगा।

---

१. कोऽसि कल्मोऽसि कस्यासि को नमासि
यस्य ते नामा मन्महि यं त्वा सोमेनाती तृपान
भूर्भवः स्वः सुप्रजाः प्रजाभिः स्याम्
सुवीरो वीरेः सुपोषः पोषेः। यजु.अ. ७ मं. २९

२. वैदिक सभ्यता और संस्कृति – पृ. ७२

निष्क्रमण

निष्क्रमण संस्कार का अर्थ है बच्चे को घर के वायुमंडल से निकालकर बाहर के वायुमंडल की ओर ले जाना। घर के वायु से बाहर स्वच्छ मैदानों का वायु शुद्ध होता है। घर के वायुमंडल को शुद्ध करने के लिए अग्निहोत्र अधिक सहायक है। वायु अग्नि विद्युत सूर्य चन्द्र आदि संशोधक है। सूर्य की रश्मियों में प्राणमयी धाराओं के साथ दाहक अथवा शोषक अंश भी विद्यमान है। विद्युत वायु के सामान्य रूप में तो संशोधकता है ही उसके प्रभजन रूप में और भी अधिक है। चन्द्र की किरणें सौम्य किरणें प्रशान्त समुद्र को भी उद्वेलित कर देती हैं। जल पलावन भी उस समय संशोधक रूप धारण कर लेता है। अतः बच्चे को भ्रमण कराने का एक अर्थ हुआ उसे ग्रह की अपेक्षा अधिक स्वच्छ वायु मंडल में ले जाना। इसका एक अन्य अर्थ भी है। विधान के अनुसार पारस्कर गृह्यसूत्र में बालक के जन्म के तीसरे शुक्ल पक्ष की तृतीया के दिन रात्रि में बालक को चन्द्र दर्शन कराने की आज्ञा देता है।[१] आ.गृ.सू. के अनुसार चौथे महीने की जिस तिथि को बालक का जन्म हुआ हो उस दिन तच्चक्षुः[२] इस मन्त्र का पाठ करते हुए परिवार से हटाकर विशाल ब्रह्माण्ड रूपी परिवार के सम्पर्क में लाया जाये। सूर्य और चन्द्र सौर परिवार के दो प्रमुख अंग हैं। पृथ्वी के लिए उनका विशेष महत्व है। दिन रात और ऋतुओं का क्रम इन्हीं पर अवलम्बित है। मानव शरीर के लिए दोनों स्वास्थ्यवर्धक हैं। संकुचित सीमा से निकाल कर विशाल क्षेत्र में प्रवेश कराना तन और मन दोनों के लिए हितकर है। बच्चे को दीर्घायुष्य पर भी इसका विशेष प्रभाव पड़ता है। पिता इन मन्त्रों के द्वारा पुत्र के शिर का स्पर्श करता है और कहता है कि हे पुत्र तू मेरे अंग-अंग से उत्पन्न हुआ है। तू मेरे हृदय का टुकड़ा है। तू मेरी आत्मा है। ऐसा तू सौ वर्ष तक जीवन धारण कर प्रजापति के हिंकार से मैं तेरे शिर को सूँघता ह। तू सौ नहीं सहस्त्रों वर्ष तक जीवित रह मैं गौओं के हिकार से तेरे शिर

---

१. जननापस्तृतीयो ज्योत्स्न स्वस्थ तृतीयामाम् - पा.गृ.सू.

२. चतुर्थे मासि निष्क्रमणिका सूर्यमुदीक्षयति वच्चक्षुरिति आ.गृ.सू.

को सूँघता है। दीर्घजीवी बन अन्त में बालक को आशीर्वाद दिया जाता है तब भी त्वम् जीव शरदः शतम् शब्दों का ही प्रयोग होता है।[१]

इस प्रकार यह संस्कार सांस्कृतिक दृष्टि से बच्चे को पवित्र वायुमंडल का सेवन कराता है और उसे दीर्घायुष्यत तक पवित्र रहने की प्रेरणा देता है। संकीर्णता से विशालता की ओर उन्मुख होना संस्कृत जीवन की प्रमुख विशेषता है।

अन्नंप्राशन

मानव के जीवन में वायु जल और उत्पन्न अन्न का आवश्यक उपादान है। प्रारम्भ में बच्चा माँ के दुग्ध पर अवलम्बित रहता है पर वह दुग्ध भी माता के अन्न से बल की ही देन है। बच्चे की उत्पत्ति के समय ही उत्पन्न होता है और कुछ दिनों तक स्थित रहता है। इस दूध के साथ माँ का हृदय लगा हुआ है। माता को कुछ समय तक ही बच्चे को दूध पिलाना चाहिए। जब बच्चे के दाँत निकल आयें तो उसे दूध पिलाना बन्द कर देना चाहिए। इससे माता की शक्ति में दुग्ध क्षरण में जो न्यूनता आती है वह दूर हो जायेगी। माता के दूध का स्थान बाहर के वायुमंडल सामग्री ही ले सकती है। सामग्री से तात्पर्य अन्न जल वायु की प्रधानता है इन तीनों के मूल में तेज है। तेज सूर्य का प्रतीक है। सूर्य के अभाव में मानव की प्राण शक्ति प्रियमाण हो जाती है।

शरीर की सत्ता में मन प्राण और वाणी तीन ही प्रमुख है मन का अन्न से निर्माण होता है प्राण जल से निर्मित होता है और वाणी तेज से निर्मित होती है। जिस प्रकार दूध के विलोने पर मक्खन ऊपर आ जाता है ठीक उसी प्रकार अन्न जल और तेज के मन्थन का परिणाम उसके मन प्राण और वाणी के रूप में प्रगट होता है।

---

१. आङ्गादङ्त्सम्भवसि हृदयादधि जायसे
आत्मा वै पुत्र नामासि सजीव शरद शतम्।।
प्रजापतेष्ट्वा हि कारेणा वजिध्रामि। सहस्त्रायुषाऽसौ जीव शरदः शतम्
पा.गृ.सू. का.। क. १८

जिस अन्न का हम सेवन करते हैं उसका स्थूल भाग मल के रूप में बाहर निकल आता है। जीवन जल से स्थिर रह सकता। मन जल के अभाव में अशक्त हो जाता है। वाणी भी एक अद्भुत शक्ति है। वाणी की विकसित शक्ति लेखों और ग्रन्थों के रूप में न जाने कब मानवत: की ज्ञान निधि के रूप में सुरक्षित है यह सबका पथ प्रदर्शन करती है। अन्नप्राशन संस्कार में अन्न के ये तीनों रूप विद्यमान हैं। आ.गृ.सू. के अनुसार छठे महीने में अन्नप्राशन करना चाहिए जिनको अपना बालक तेजस्वी बनाना है उन्हें इस अवसर पर बच्चे को घृतयुक्त भात खिलाना चाहिए।[१] अग्निहोत्र की सामान्य विधि करके भात की आहुतियाँ दी जाती है। संस्कार की महत्ता इससे ज्ञात होती है कि देवों ने दिव्य वाणी को उत्पन्न किया उसी को विविध रूपों वाले पशु अर्थात् जीव बोलते हैं। यह वाणी धेनु है आनन्दमयी है इसी से अन्न बल का दोहन किया जाता है। निकटता से स्तुति की गयी है कि यह धेनुरूपा वाणी हमें प्राप्त हो।

बाज अर्थात् अन्न आज हमें दान की प्रेरणा करता है। वही देवों को ऋतुओं के द्वारा समर्थ बनाता है। वहीं हमें वीर पुत्र देता है। मैं भी इस बाज का धनी बनकर समस्त दिशाओं में विजय प्राप्त करूँ। मैं प्राण के द्वारा अन्न का भक्षण करता हूँ मैं अपान के द्वारा गंध को ग्रहण करता हूँ। मैं चक्षु के द्वारा रूप की उपलब्धि करता हूँ। अन्न गंध रूप और यश जीवन में प्राप्य पदार्थ है। बच्चा अन्न के द्वारा बलवान बने। गन्ध से आह्लादित मान वाला बने। रूप के द्वारा सुन्दरता और यश के द्वारा समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त करे। संस्कृति के विकास में इन सभी का योगदान अपेक्षित है। बच्चे को भात खिलाते समय मन्त्र पढ़ा

---

१. देवी वाच अजन यन्त देवास्तां विश्व रूपा: पश्वो वदन्ति
सा नो मन्द्रेष मूर्ज्ज दुहाना धेनुर्वागस्मानुष सुष्ट वैतु स्वाहा, इदं वाचे इतभ्रमम। ऋ. म. ८ सू. १००
वाजोऽनो अद्य प्रसुवति दानं वाजो देवां ऋतुभि: कलयति
वाजोहि मा सर्ववीरं जजानविश्वा आशा वाजपतिर्जयेयं स्वाहा। इदं वाचे बाजाय इदं न मम्। य.अ. १८ मं. ३३

जाता है।[१] हे अन्नपते हमें ऐसा अन्न दो जो निरोगता देने वाला और बलवान बनाने वाला हो। अन्न के प्रदाता को आप पार करे और द्विपद और चतुष्पद सभी का बल दे। अन्त में बालक को आशीर्वाद देते हुए कहा जाता है कि हे बालक तुम अन्न के स्वामी अन्न का भक्षण करने वाले और बड़ी आयु वाले बनो।[२]

चूड़ाकर्म

बच्चा गर्भ से जिस रूप में बाहर आता है परिवार और समाज उसे बाह्य परिवेश देकर उसी रूप में नहीं रहने देता है। बच्चे के प्राकृतिक रूप को समाज नागरिक रूप देना चाहता है। मानव समाज का एक घटक है और उसे बहुत कुछ सामाजिक मर्यादाओं में बँध कर रहना पड़ता है। प्राणी सामाजिक घटक के रूप में समाज के साथ मिलकर चले। प्राण शक्ति के बल से बच्चा बढ़ता है। उसके अंग-अंग में वृद्धि होती है और इन अंगों में कुछ ऐसे भी भाग हैं जिनकी वृद्धि को प्राकृतिक रूप में रहने देना अनावश्यक साथ ही हानिकारक भी है इसमें केश एवं नख ऐसे दो भाग हैं। नख का अर्थ है न ख अर्थात् नहीं है। जो इन्द्रिय नहीं है। इन्द्रिय से अतिरिक्त है। बढ़े हुए नाखून और केश स्वास्थ्य एवं सौन्दर्य की दृष्टि से हानिकारक हैं क्योंकि नखों और केशों में विषाक्त होता है। संस्कारों में चूड़ाकर्म, चौलकर्म अथवा मुण्डन इसीलिए विहित समझा गया है।[३] चोटी चूड़ा हिन्दी शब्द से बना है। अतएव इस नाम से ही स्पष्ट है कि मुण्डन संस्कार न होकर शिखा या चोटी रखने का संस्कार है।[४] सांस्कृतिक दृष्टि से शारीरिक वृद्धि के साथ उसका परिमार्जन प्राथमिक अवस्था के परित्याग द्वारा संस्कृति की ओर विकास की ओर प्रगति करना है। आर्य सभ्यता में जो शिखा एवं सूत्र दोनों सांस्कृतिक

---

१. अन्नपतेऽन्नस्य नो देहननमीवस्य शुष्मिणः
प्र प्र दातारं तारिषं उर्ज्ज वो धेहि द्विपदे चतुष्पदे। म.अ.।। म. ८३

२. वैदिक सभ्यता और संस्कृति पृ. ७६

३. वैदिक सभ्यता और संस्कृति पृ. ७०

४. संस्कार प्रकाश डॉ. भवानी शंकर त्रिवेदी पृ. २२०

महत्व रखते हैं। शिखा मुण्डन के समय अथवा द्वितीय बार के मुंडन के अवसर पर जिस स्थान पर रखी जाती है। वह समस्त शिराओं का सन्धि स्थान है। वही रोगों का अवर्त्त है। ऐतरेय उपनिषद् में इसी स्थान को विद्वति नाम या द्वार कहा गया है। आत्मा इसी द्वार से शरीर में प्रविष्ट होती है और मोक्ष के समय इसी को विदीर्ण करके शरीर से निकलती है। यह स्थान गर्भ नाम ब्रह्म रन्ध्र भी है। मुक्ति सांस्कृतिक विकास की चरम बिन्दु है। अतः मुंडन और मुंडन के समय शिखा का धारण हमें संस्कृति के इस विकास की सूचना देने वाला है। सुश्रुत तथा चरक के अनुसार केश कर्तन शोभादायक अयुष्कर तथा उत्साहवर्धक है।[१] केशों नखों तथा सोमों के दूरीकरण से अथवा अपमार्जन से प्रसन्नता स्फूर्ति सुन्दरता तथा उत्साह की वृद्धि होती है। चरक के अनुसार दाढ़ी के बालों और नखों के काटने से शक्ति स्वास्थ्य पवित्र्य तथा सौन्दर्य की वृद्धि होती है। विधि में पठित मन्त्र इस मत का समर्थन करता है।[२]

जिस साधन के द्वारा तू बार-बार रात्रि की ज्योति चन्द्रमा को तथा दिन की ज्योति सूर्य को देखता है उसी के द्वारा मैं आयु यश तथा कल्याण के लिए इस केश वपन रूपी कर्म को करता हूँ। इसी प्रकार आगे भी दीर्घायुष्य की बात कही गयी है।[३] केश कर्तन द्वारा आयु अन्न भद्राण की शक्ति प्रजनन शक्ति पुष्टि सन्तति तथा पराक्रम की वृद्धि होती है।

---

१. पापोशमनं केश नख रोमापमार्जमनम्।
हर्ष लाघव सौभाग्य करमुत्साह वर्धमान्।।
पौष्टिकं वृष्याया युष्यं शुचि रूपं विराजमम्
केशश्मश्रु नखादीनां कर्तनं सम्प्रासाधनम्। चिकित्सा स्थान २४/७२

२. येन भूयश्च रात्रयं ज्योक् च पश्यति सूर्यम्
तेन ते आयुषे वपानि सुश्लोकाय स्वस्तये -आ.गृ.सू. १/१७/१२

३. निर्क्तयाम्या युषेऽन्ना धाय प्रजननाय
रायस्पोषाय सु प्रजास्त्वाय सुवीर्याय। य.अ. ३ मं.. ६३

कर्णवेध

कर्णवेध संस्कार का सम्बन्ध मुख्यरूप से आयुर्वेद के साथ है। कर्ण का छेदन और उनमें बाली का पहनना अन्य आभूषण का धारण करना आयुर्वेद के मतानुसार अण्डकोश अथवा अन्त्रवृद्धि को रोकता है। रक्षा और शोभा दोनों ही इस संस्कार के मूल में कार्य करते हैं। रोग से रक्षा और आभूषण धारण करने से शोभा सम्पन्न होती है। सुश्रुत चिकित्सा के अनुसार अन्त्र वृद्धि को रोकनके के लिए शंख के ऊपर कर्ण के नीचे भाग में शिरा का वेधन करना चाहिए।[१] मन्त्रों का विनियोग प्रत्येक विधान में पाया जाता है। बालक का जब दाहिना कान छेदन के समय 'बक्ष्यन्ती वेदागनियन्ती' आदि मन्त्र का पाठ होता है। बच्चा कष्ट को अनुभव न करे, कर्ण छेदन की पीड़ा की ओर ध्यान न जाए इसलिए माता की गोद में बिठा दिया जाता है।

यद्यपि यह संस्कार प्रमुखतः रोग निवृत्ति तथा शोभाधान से सम्बन्ध रखता है। यद्यपि व्यक्तित्व के विकास में जिन न्यूनताओं के निराकरण किया जाता है उससे सांस्कृतिक विकास के लिए भी यह संस्कार उपयोगी सिद्ध हो सकता है। 'भद्रं कर्णोभिः श्रुणुयाम्' आदि मन्त्र से एक और कार्य किया जाता था वह कर्णवेध कर्म के साथ अक्षराम्भ करना जिस भद्र का कानों द्वारा श्रवण हो वह भद्र शब्द या ध्वनि के रूप में है जो सुना जाता है वह आकाश में अपनी विशिष्ट तरंगों से संयुक्त रहता है। इन तरंगों का ज्ञान प्राप्त करना और तदनुकूल ध्वनि को एक रूप देना है।

अक्षराम्भ का संस्कार इसी आधार पर परवर्ती काल का संस्कार जान पड़ता है। षोडश संस्कारों में आज भी उसकी गणना नहीं होती परन्तु यह आवश्यक संस्कार है। इससे बालक ज्ञान की उस निधि में प्रवेश करने योग्य बन जाता है। इस संस्कार की उपयोगिता को देखते हुए और आयु का ध्यान रखते हुये कर्णवेध संस्कार के साथ ही यह संस्कार किया जाता है। पांचवे वर्ष में बालक को समझ तथा ग्रहण

---

१. राखयोपरि च कर्णान्ते व्यक्त्वा यत्नेन सेवनीय
व्यत्या साद्धा शिरां विध्ये दन्त निवृत्तये। सुश्रुत चिकित्सा स्थाना - १९-२१

शक्ति इतनी तीव्र हो जाती है कि वह ज्ञान विज्ञान की विकसित शाखाओं के अध्ययन की ओर प्रदत्त हो सके। कतिपय आचार्यों ने इस संस्कार को आयु के सातवें वर्ष में भी विहित समझा है। यज्ञोपवतीत से पूर्व ही यह संस्कार सम्पन्न हो जाना चाहिए।

उपनयन

यह संस्कार प्रत्यक्षरूप से मानव को सांस्कृतिक क्षेत्र में प्रविष्ट करा देता है।

उपनयन का अर्थ है समीप ले जाना। उसके समीप जिसे छोड़कर जीवात्मा ने अपने चारों ओर प्राकृतिक आवरणों की समीपता प्राप्त की है। एक से हटना है दूसरे के समीप पहुँचना है। सांस्कृतिक ज्योति की यही ऊर्ध्वतम शिखा है।

प्रभु से प्रार्थना की है कि हे प्रभु मैं आपसे बहुत दूर हो गया हूँ और दूर होकर कष्ट क्लेश के जाल में फँसा हुआ निदारण यातना का अनुभव कर रहा हूँ। मेरा यहाँ अपना कोई भी नहीं है। मेरे तो एक मात्र तुम्ही हो और तुम्हारी ममता से वंचित हूँ प्रभो कृपा करो, अपने वरदायक दक्षिण हस्त को मेरे शिर के ऊपर रख दो जिसकी छत्र छाया में अश्वासन की श्वास लेता हुआ मैं अपने खोये हुए को पुनः प्राप्त कर सकूँ।

वेद कहता है इसके लिए प्रथम आचार्य के समीप पहुँचना चाहिए। आचार्य को वेदों के शब्द अर्थ सम्बन्धी क्रिया को जानने वाला छल कपट रहित अति प्रेम से सबको विद्या का दाता परोपकारी तन मन और धन से सबका मुख बढ़ाने में तत्पर पक्षपात किसी का न करे और सत्योपदेष्टा सबका हितैषी धर्मात्मा जितेन्द्रिय होते।[१] और जो चरित्र सम्पन्न उत्साही तथा जितेन्द्रिय है वही सांस्कृतिक विकास का प्रतीक है। उसी के चरणों में बैठकर उसी को ग्रहण करके शिष्य संस्कृत बन सकता है। और जीवन के अन्तिम लक्ष्य की उपलब्धि कर

---

१. वेदैक निष्ठं धर्मज्ञं कुलीनं श्रोत्रियं शुक्तिम्।
स्व शाखायामनालस्त्रं विप्तं कतरि मीप्पितम्।

सकता है। अपने खोये हुए को जो प्राप्त करा दे वियुक्त संयुक्त करा दे जीवनादर्श की सिद्धि करा दे।[१]

आचार्य ब्रह्मचारी को अपने समीप रखकर जिस व्रत से दीक्षित करता है वह मानो शिष्य का गर्भ में निवास करना है। मन्त्र में तीन रात्रियों का उल्लेख है। ब्रह्मचारी तीन रात्रियों तक आचार्य के उदर में रहता है।[२] गर्भ में तीन रात्रियाँ रहने का सामान्य अर्थ नहीं अपितु विशेष अर्थ है। तीन रात्रियाँ तीन समिधायें प्राण अपान और ग्यान वाणी मन और हृदय घी मेधा और प्रज्ञा ऋक् यजु और साम ज्ञान कर्म की उपासना अथवा भूर्भुवः स्वः का त्रिक ऊँ की तीन मात्राओं ही व्याख्यात रूप है। तीन रात्रियों तक गर्भ में रहकर ज्ञान, ज्ञान कर्म और भक्ति की धारा में स्नात होकर जब वह स्नातक के रूप में देखने के लिए एकत्र हो जाते हैं। जब ब्रह्मचारी इन समिधाओं की अग्नि में होम कर ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य के व्रत का नियमपूर्वक सेवन करने दृढ़ संकल्प से समन्वित होता है। पृथ्वी अन्तरिक्ष तथा द्यौ लोक में भी समिधाओं का रूप देता है।[३] अर्थात् अपने पार्थिव मानसिक तथा बौद्धिक क्षेत्र को समिधाओं के रूप में प्रदीप्त कर लेता है और तब वह प्रदीप्त से कटिबद्धता अथवा सन्नद्धता से अपने श्रम अथवा कर्तत्व शक्ति से और अपने तप से वह तीनों लोकों को तृप्त कर देता है। उसका शरीर स्वस्थ होता है उसका मनउत्साही होता है और उसकी प्रज्ञा ज्योतिष्मती होता है। अपने इसी साधन सम्पादन द्वारा वह बाहर के भी इनसे सम्बन्ध तीनों लोकों को तृप्त करता है। उसका संयम उसका ज्ञान और उसका आचार उसकी उत्तम वाणी पवित्र आत्मा और शुद्ध हृदय प्राणी मात्र के लिए हितकारी सिद्धि होते हैं।

---

१. सत्यवाक धृतिमान् दक्षः सर्वभूत दया परः
आस्तिको वेद निरतः शुचिराचार्य उच्यते।।
वेदाध्ययन सम्पन्नों वृत्तमान् विजितेन्द्रियः।। ऋ.भा.भू.

२. आचार्य उपनयमानपो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भवन्तः तंस्त्रिस्त उदरे विभर्ति एवं जातं दुष्टु नाभि सयन्ति देवाः। श.ब्रा.

३. इयं समिप्पृथिवी द्यौद्वितीयोतान्तरिक्षं समिधाप्राणति।
ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकां स्तपसा पिपर्ति। अथर्व ११/५/१.२

उपनयन आचार्य के समीप रहने और ब्रह्मचर्य में प्रवेश करने का ही नाम है जिससे गुरु भक्ति उसे परम गुरु परमात्मा का ही स्मरण कराये। व्रत यम नियम और वेदाध्ययन उसमें दिव्यता का संचार करे और वह देवताओं के लिए दर्शनीय बने। आचार्यों ने इस संस्कार में द्वितीय जन्म का भी रूप देखा प्रथम जन्म माता-पिता से है। इस द्वितीय जन्म में गायत्री माता है और आचार्य पिता है। जिस गर्भ का उल्लेख किया है वह आचार्य के समीप ब्रह्मचर्यपूर्वक जीवन व्यतीत करने का समय है। मनु ने इसे मौजीवन्धन भी लिखा है व्रतबन्ध में इसको व्रती कहा गया है। व्रती और ब्रह्मचारी बनकर ही मानव अपनी लक्ष्य की सिद्धि करता है।[१] गुरु शिष्य को महा व्याहतियों के साथ वेद का अध्यापन कराता है। तथा पवित्रता और सदाचार को उसके जीवन का अंग बना देता है। प्रायः सभी आचार्यों ने इस संस्कार की महत्ता को स्वीकार किया है। संस्कृत व्यक्ति ऐहिक एवं आमुष्मिक जीवन को पवित्र बनाता है तथा ऋषियों और देवों का सानिध्य प्राप्त करता है इस प्रकार उपनयन संस्कार प्रत्यक्षतः जीवन की संस्कृति से सम्बद्ध है जीवन को कठोर अनुशासन में रखना दृढ़तापूर्वक लक्ष्य की प्राप्ति में जुटाना और पुरातन स्त्रियमाण जीवन के स्थान पर नवीन अध्यात्मिक जीवन की ज्योति जगाना इस संस्कारी सांस्कृतिक विभूति का निदर्शनमात्र है।

समाज में सभी व्यक्ति एक ही स्तर के नहीं है कोई मन्द बुद्धि है तो प्रखर बुद्धि सम्पन्न है। हमारे ऋषियों ने इसी प्रकार की वैयक्तिक विशेषताओं के कारण समाज को चार भागों में विभाजित किया है। मन्दबुद्धि वाला किसी बुद्धिमान के संकेत से शारीरिक श्रम कर सकता है उनमें स्वतः सोचने विचारने की शक्ति नहीं होती। ऐसे व्यक्ति पवित्रता से भी कोई विशेष लगाव नहीं रखते इन्हें शूद्र कहा जाता है। ऐसे व्यक्ति अभी सांस्कृतिक विकास के द्वार में भी प्रवेश करने के अधिकारी नहीं बन पाये परन्तु इनमें भी जो अपने विशिष्ट विकास के द्वार में भी प्रवेश करने के अधिकारी नहीं बन पाये परन्तु इनमें भी जो अपने विशिष्ट शारीरिक कार्य में कौशल प्राप्त करने के

---

१. उपनयी गुरु. शिष्य महाव्याहृति पूर्वकम्।
वेद मध्यापयेदिमं शौचां चाराश्च शिक्षयेत्।। या.स्मृति १.१५

लिए थोड़ा सा भी और मनन करते हैं। अतः शुद्र वर्ग के कतिपय श्रमजीवी विभागों को संस्कार सम्पन्न किया जाता है। दीन संत्राण में मनु के साथ हृदय का भी योग रहता है और संस्कृति के उच्च स्तर की अभिव्यक्ति करता है। इनसे भी वह बुद्धिजीवी वर्ग है जो चिन्तन के उर्ध्व स्तरों में विचरण करता है। प्रत्यक्ष की अपेक्षा परोक्ष से प्रेम करता है और इसी हेतु सांसारिक आशक्ति से पराङ्मुख रहता है। ये दोनों ही वर्ग सांस्कृतिक भवन में प्रविष्ट हो जाते हैं। संस्कार और दीक्षा आगे बढ़ने में इनके लिए विशेष सहायक सिद्ध होते हैं। उपनयन का अधिकारी द्विज को ही माना गया है। व्यक्ति की द्विज संज्ञा भी उपनयन के साथ ही प्रारम्भ होती है। माता-पिता से जन्म लेकर भी जब तक कोई व्यक्ति उपनीत नहीं हो जाता तब तक उसे द्विज की संज्ञा नहीं दी जाती।

बुद्धि के विभिन्न स्तरों के कारण उपनयन का समय भी भिन्न-भिन्न है। गृह्यसूत्रकारों ने ब्राह्मण को अष्ट्म वर्ष की आयु में और वसन्त ऋतु में क्षत्रिय बालक के लिए जन्म से ११वें वर्ष में तथा ग्रीष्म ऋतु में और वैश्य के बालक का १२वें वर्ष में तथा शरद ऋतु में यज्ञोपवीत करना लिखा गया है। इसके उपरान्त विकास का अवसर कम है और इस बात की सम्भावना है कि संस्कृति के जिस स्तर तक वे पहुँच चुके हैं वहाँ से पतित हो जाते। मनु ने नियत अवधि में भी कुछ परिवर्तन किया है और लिखा है[१] ब्रह्मवर्चस्व की कामना वाले ब्राह्मण बालक का पांचवे वर्ष में बलवान होने की कामना वाले क्षत्रिय का छठे वर्ष में और अलौकिक समृद्धि की कामनावाले वैश्य बालक आठवें वर्ष में यज्ञोपवीत कर देना चाहिए। यदि माता और पिता ने ब्रह्मचर्यपूर्वक संस्कृत जीवन व्यतीत किया है तो उनके बालक भी मनु प्रोक्त आयु में ही दीक्षित होकर श्रेष्ठ बुद्धि श्रेष्ठ बल और श्रेष्ठ धन के धनी बन जाते हैं।

उपनयन समय आचार्य ब्रह्मचारी से कहता है वृहस्पति ने जिस रूप में इन्द्र को अमृत वस्त्र पहनाये थे उसी प्रकार मैं तुझे दीर्घायु

---

१. ब्रह्मवर्चस कामस्य कार्य विप्रस्य पंचमें।
राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्ये हभिनोष्टमें। मनुस्मृति० ।

बल और वर्चस्व के लिए वस्त्र पहनाता हूँ। ऐसा कहकर आचार्य यज्ञोपवीत हाथ में लेकर मन्त्र पढ़ा जाता है।[१] जो व्यक्ति यज्ञ के लिए समर्पित यज्ञ हो गया उसी का जीवन है। माता-पिता से जो जन्म होता है उसका होना न होना इस जीवन के सामने नगण्य है।[२] यज्ञ के लिए दीक्षित हो जाना यज्ञोपवीती होना है। अर्थात वास्तविक जीवन में प्रवेश पाना है। देव कर्म में द्विज उपवीती होता है अर्थात् यज्ञोपवीत को बाये स्कन्ध के ऊपर कंठ के पास से निकाल कर दाहिने हाथ के नीचे कटि तक धारण करता है। पितृ कर्म में द्विज प्राचीनवीती होता है जिसमें यज्ञोपवीत का यह क्रम उलट जाता है। अशौच के समय यज्ञोपवीत कान में लटका लिया जाता है इस अवस्था को निवीती कहा जाता है। आचार्य बालक के हाथ को पकड़ता है ओर सपने का सविता तथा अग्नि के रूप में उपस्थित करता है। इसका भाव यह है कि जैसे सविता प्रकाशपद है प्रेरक है उसी प्रकार मैं बालक को प्रेरणातर्थ प्रकाश देता रहूँगा। आचार्य का ज्ञान तथा आचरण दोनों ही ऐसे हो जिनसे बालक सदाचार की प्रेरणा प्राप्त करे और ज्ञान के कोण को अपने मस्तिष्क में भरे। आचार्य को अग्नि का भी दिया जाता है। अग्नि में भी वही तत्व है जो सविता में बालक को सूर्य दर्शन कराया जाता है। कहा जाता है हे देव सविता यह बालक वेश ही ब्रह्मचारी है तू इसकी रक्षा कर बालक को सूर्य के व्रत का अनुसरण करने की आज्ञा दी जाती है।

आचार्य और ब्रह्मचारी दोनों के हृदय चित्त मन और अनुसरण करने की आज्ञा दी जाती है अर्थात् ज्ञान और वाणी के स्वामी प्रभु ने दोनों को इसलिए नियुक्त किया है। हमारी प्राचीन परम्परा आचार्य को बहुत ऊँचा आसन देती है। आचार्य का हृदय शुद्ध होता है। उसका चित्त शुभ संस्कारों से ओत-प्रोत रहता है। और उसका मन शिवसंकल्प मय होता है। और वाणी सुनृत एवं मधुर होती है।

---

१. यज्ञोपवतीतं परमं पवित्रं प्रजापते यत्सहजं पुरस्तात्
आयुष्यमग्यं प्रतिमुचं शुभंयज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः
यज्ञोपवीत मसि यज्ञस्य त्वा यज्ञोपवतीतेनो पनह्यामि पार.का. २

२. देवस्य त्वा सवितुः द्रसवेऽश्विनौ बहभ्यां पूर्ष्णो हस्ताभ्यां बस्त गृहणाभ्य सौ। य.अ. ५ मं. २६

ब्रह्मचारी को यह सम्पदा प्राप्त करनी है। उसका बाह्य एवं आन्तरिक विकास इसी पद्धति पर चलने से होगा। ब्रह्मचारी के सामने प्राण प्रजापति देव सविता जल ओषधि द्यावा पृथिवी विश्वेदेव तथा समस्त प्राणि वर्ग समुपस्थित है। वे ब्रह्मचारी के लिए और ब्रह्मचारी उनके लिए है। वाह्य वायुमंडल में जो कुछ है उसके साथ उसे तादात्म्य स्थापित करना है क्योंकि वह इनका सूक्ष्म रूप अपने साथ लिये हैं। यह संस्कार मानों उसी का संस्कार है। इसकी उपलब्धि ब्रह्मचारी की आत्मोपलब्धि है। इसी की सन्धिनी शक्ति उस परात्पर शक्ति के साथ एक करेगी।

उपनयन की विधि समाप्त होने पर ब्रह्मचारी को तीन दिन तक संयम का जीवन व्यतीत करना पड़ता है। वह भूमि पर शयन करता है। क्षार रहित भोजन करता है। मांस और मद्य से पृथक् रहता है। दिन का शयन उसके लिए वर्जित है। यह उपनयन के पश्चात् एक प्रकार से सरस्वती माता के गर्भ में प्रवेश करने की तैयारी है जो संस्कार की उस दिशा की ओर संकेत करती है जिसमें अध्यात्मिक संस्कृति का आलोक विकीर्ण हो रहा है।

वेदारम्भः

उपनयन का मुख्य प्रयोजन है। ब्रह्मचारी को आचार्य के पास ले जाना अथवा परम प्रभु की समीपता प्राप्त कराना। इसके लिए पूर्व काल में सुगम साधन था। वेद अध्ययन करना जो आचार्य के समीप रहकर ही किया जा सकता था। हमारे पूर्वजों ने वेद का स्वतः प्रमाण माना है। उनकी दृष्टि में वेद प्रभु की वाणी हैं। धर्म का मूल हैं। मनु ने वेद को पितृ देव और मनुष्यों को सनातन चक्षु कहा है जो द्विज के कर्तव्य कर्मों का विधान करता है। इसे छोड़कर जो स्वेच्छा से कर्मनिरत होता है उसे सद्गति प्राप्त नहीं हो सकती अतः उपनयन के साथ ही वेद का अध्ययन प्रारम्भ हो जाता था। ऋक् भू हे यजु भुवः है और साम स्वः है। पृथिवी स्थानीय अग्नि भुवः स्थानीय वायु और स्वः स्थानीय सूर्य है। वेदारम्भ के समय इन्हीं देवों की आहुतियाँ दी जाती है। इसके लिए सामवेद के नाम पर चन्द्र की आहुति दी जाती है। जो अध्यात्मिक प्रवेश की भूमिका का सूचक है।

वेद का प्रारम्भ गायत्री मंत्र के उपदेश के साथ प्रारम्भ होता है। गायत्री मंत्र को वेदत्रयी का सार कहा जाता है। ॐ मूल अक्षर है उसकी तीन मात्राएँ अ उम् तीन व्याहतियों भू भुवः स्वः में विकसित हुई है और इन्हीं तीनों की परिणति गायत्री के तीन चरणों में हुई है। गायत्री के तीन अक्षर ऋक् यजु साम् के प्रतीक हैं। बालक आचार्य के सामने वेदी की उत्तर दिशा में घुटने के बल पूर्वाभिमुख बैठता है और आचार्य बालक के सम्मुख पश्चिमाभि मुख बैठकर उसे गायत्री मंत्र का उपदेश देता है।

ॐ परमेश्वर का मुख्य नाम है। प्राण निरन्तर। इसका जाप किया करता है। गायत्री का अर्थ है ॐ के गान करने वाले का त्राण करने वाली। प्राण ॐ का गान करता रहता है। अतः गायत्री प्राणों की रक्षा करने वाली है तीन महाव्याहतियों में भूः प्राण का भी प्राण है। भुवः चित् है जो क्लेशों से छुड़ाने वाला है। स्वः आनन्द है हम जगत के उत्पादक प्रकाशको के भी प्रकाशक समग्र ऐश्वर्य के प्रेरक देवादेव परमात्मा के कारण करने योग्य मर्म का क्लेशों को भस्म करने वाले प्रभु के विशुद्ध तेज का ध्यान और धारण करते हैं। प्रभु हमारी बुद्धियों को उत्तम गुण कर्म स्वभाव में प्रेरित करें।

इसके पश्चात् आचार्य और बालक दोनों समाधि तथा एकव्रत रहने की प्रतिज्ञा करते हैं। आचार्य बालक की कटि में मेखला बाँधता है। कमर में मेखला बाँधने का प्रयोजन यही है कि वह जागरूक तथा सतर्क रहे[१] आलस्य और प्रमाद छोड़कर अपने नियत कर्तव्य कर्म के लिए मनुष्य को सदा उत्साह एवं प्रसन्नता के साथ तत्पर रहना चाहिए। मेखला के पश्चात् बालक को आचार्य कोपीन दो अंगौछे एक उत्तरीय और दो कटिवस्त्र देता है। उत्तरीय में मृगचर्म का भी प्रयोग होता था। जो अत्यन्त पवित्र समझा जाता था इसके पश्चात् आचार्य बालक के हाथ में एक दण्ड देता था। दण्ड ब्राह्मण का ललाट से लेकर पैरों तक क्षत्रिय का दण्ड खादिर का पैरों तक क्षत्रिय का दण्ड खादिर का पैरों से लेकर भू पर्यन्त, वैश्य का दण्ड पीलू या गूलर वृक्ष का और

---

१. इय दुरूक्तं परिवाधमाना, वर्ष पवित्रं पुनतीमऽआगात्
प्राणापानाभ्यां बलमादधानां स्वसादेवी सुभगा मेखलेयम् पा.गृ.सू. २.२.८

लम्बायी पैरों से नासिका के अग्रभाग का स्पर्श करने वाला हो।[१] वेदाध्ययन में एक वेद के लिए बारह वर्ष तक ब्रह्मचर्य का धारण यम धर्माचरण, क्रोध एवं मिथ्या भाषण का वर्जन आठ प्रकार के मैथुन का परित्याग जिसमें स्त्री का ध्यान कथा, स्पर्श, क्रीड़ा आलिंगन एकान्तवास और समागम की गणना है। अति स्नान भोजन अति भोजन अति निंद्रा अति जागरण निन्दा लोभ मोह काम शोकादि से विरत रहना रात्रि के चतुर्थ प्रहर में जग कर शौच स्नान सन्ध्योपासना तथा योगाभ्यास करना क्षीर मांस मद्य आदि से बचना घोड़ा हाथी की सवारी न करना वेलादि के उबटन तथा खट्टे तीखे कसैले रेचक आदि द्रव्यों का सेवन न करना आचार्य का प्रिय आचरण करते रहना आदि सत्कर्म सम्मिलित है। इसके पश्चात ब्रह्मचारी यज्ञ कुण्ड की प्रदक्षिणा करता है और बर्गानुसार भिक्षा माँगने में भी वर्णानुसार बालक कहता है।[२] इसके पश्चात् अग्नि कुण्ड में गायत्री आदि मंत्रों में आहुतियाँ दी जाती है। अन्तमें बालक आचार्य का अभिनन्दन करता है और आचार्य उसे आशीर्वाद देते हैं। इस प्रकार उपनयन के साथ सांस्कृतिक जीवन में जिस प्रत्यक्ष प्रवेश का प्रारम्भ हुआ था वह वेदारम्भ में अपने मूल को सुदृढ़ करता है।

समावर्तन :

समावर्तन के समय वेद तथा ब्रह्मचर्य दोनों की समाप्ति समझी जाती है। स्नातक कल्याण के साथ इनके संयोग का अधिकारी हो जाता है। ब्रह्मचर्य अवस्था में वह आचार्य कुल में रहा है और तपश्चर्या का जीवन व्यतीत करता रहा है। इस तप से जो तेज उसे प्राप्त हुआ है वह उसके रोम-रोम से अंग-अंग से अभिव्यक्त हो रहा है। जो ब्रह्मचारी समुद्र के सामान गम्भीर तथा श्रेष्ठ ब्रह्मचर्य के व्रत में प्रतिष्ठित होकर तपश्चर्यापूर्वक वेद का स्वाध्याय वीर्य विग्रह तथा आचार्य के प्रिय आचरण आदेश पालन आदि कार्यों को पूरा करता

---

१. यो मे दण्डः परापतद् वैधयसोऽअधि भूम्याम्
तमहं पुनराददऽआयुषे, ब्रह्मणे ब्रह्मवचसाय - पा.गृ.सू. २.२.१२

२. भवान् वा भवती भिक्षान् ददातु - ब्राह्मण बालक
भिक्षांम भवान वा भवती ददातु क्षत्रिय बालक
भिक्षाम् ददातु भवान वा भवति वैश्य बालक – पा.गृ.सू. २.२

हुआ पूर्ण विद्या से युक्त होता है और सुन्दर वर्ण दीप्ति से युक्त होकर अपने गुण कर्म और स्वभाव से इस धराधाम पर प्रकाशित होता है।[१] वह समर्थ ब्रह्मचारी है और समाज के लिए अतीत हितकारी है।

समावर्तन के दिन ईश्वरोपासना स्वस्तिवाचन और शान्तिकरण के द्वारा एकाग्रचित्त होकर यज्ञ का विधान पूर्ण किया जाता है। इस समय आठ घोड़े वेदी के उत्तर भाग में शुद्ध जल से भरकर रखे जाते हैं। इन्हीं घोड़ों के जल से ब्रह्मचारी को स्नान कराया जाता है। प्रथम एक घड़े से दूसरे घड़े तीन घड़ों से और अन्त में बचे हुये तीन घड़ों जल से स्नान किया जाता है।[२]

अभी तक ब्रह्मचारी तपश्चर्या की अग्नि में जलता रहा है। अब उसे समाजशीतलता की ओर ला रहा है। अग्निसूर्य में भी है परन्तु वह जल के अन्दर भी प्रविष्ट है। सौरग्नि जलाती है परन्तु जलीय अग्नि उसे जल स्नान द्वारा लोक कल्याण के लिए जनहित साधक पद्धतियों में भाग लेने के उद्यत कर रही है इसके लिए उसे समस्त लौकिक शृंगार प्रसाधनों से संयुक्त होना है। तप और तेज के अंजन के स्थान पर उसे अपनी अर्जित सम्पदा सामाजिक हित में व्यय करनी है। गृहण और त्याग अर्जन और सम्भूति और विनाश दोनों आर्य संस्कृति में साथ-साथ चलते हैं और जीवन को परिपूर्णता की ओर ले जाते हैं। स्नातक इस दिव्य पथ का पथिक है। आचार्य कुल से विद्या और व्रत का धन लेकर अब वह अपने पितृ कुल की ओर लौट रहा है। जहाँ इनके प्रयोग का उसे पूर्ण अवसर मिलेगा।

आचार्य कुल से विदा लेने पर उसे आचार्य को दक्षिणा भी देनी पड़ती है। जिस गुरु ने इतने दिनों तक अपने पास रखकर ब्रह्मचारी को जो पालन पोषण तथा शिक्षण किया है उसे संस्कृत शिष्ट और लोक-व्यवहार के योग्य बनाया है। उस ब्रह्मचारी के पास ऐसा कुछ

---

१. तानि कल्पद् ब्रह्मचारी सलिलस्य पृष्ठे तपोऽतिष्क्तस्य मान:
समुद्र सस्नाता वभु: पिगल: पृथिव्यां बहु रोचते।। अथर्व।।
प्रपा. २४ अ. १६ म. ६

२. ओउम् ये आप्स्वन्तरन्मय: प्रविष्टा गोष्उपगोह्तो मयूषो मनोहनस्खलो
विरूजस्तनू दुष रिन्द्रियहाशन् विजहामि यो रोचनस्तमिह गृहणामि।
पा.गृ.सू. का. कण्डिम ६

नहीं होता जिसे देकर वह गुरु के ऋण से उऋण हो सके। फिर भी स्नातक कतिपय देता ही था और आचार्य लेता था इसका तात्पर्य यह नहीं है कि आचार्य लोभवश स्नातक से कुछ लेता है। आचार्य और स्नातक दोनों का सम्बद्ध स्नेह और श्रद्धा का सम्बन्ध था। आत्मा का आत्मा से यह सम्बद्ध स्नातक को ऊँचा उठाता ही था आचार्य को भी विकास के उर्ध्वतम शिखर पर प्रतिष्ठित कर देता था।

समावर्तन संस्कार में स्नातक से प्रतिज्ञा करायी जाती थी।[१] हे स्नातक तू ऋण को नैतिक नियमों को अपने अन्दर धारण कर वेद का स्वाध्याय और अध्यापन तत्परता से करता रहे। तू सत्य अर्थात् सृष्टि की व्यवस्था और नियमों का पालन कर साथ ही स्वाध्यायशील बन और दूसरों को भी बना। तप दम और शम तेरे स्वाध्याय और प्रवचन के साथ निरन्तर तेरे साथी रहे। अग्नि विद्या तुझे पार्थिव अर्न्तरक्षीय तथा द्यौ स्थानीय अग्नि विद्युत और सूर्य का स्मरण करती रहे। अग्निहोत्र तेरे घर में निरन्तर होता रहे। रथीतर के पुत्र सत्य वचा ने सत्य को इन सबमें मूर्धन्य स्थान दिया है। इस तप को तू अपने जीवन का अंग बना। ऋत् तप है सत्य तप है। श्रुत अर्थात् वेद शास्त्रादि का श्रवण तप है। शान्त रहना और अधर्माचरण में अपने को न देना और अर्थात् इन्द्रियों को दुष्टाचार से रोकना। इस तप से अपने को संयुक्त करना तुम्हारा परम धर्म है।

आचार्य के जो भी प्रशसनीय कर्म है उन्हीं का स्नातक को सेवन करना है अन्यों की नहीं। आचार्य के सुचारित ही अनुकरणीय है। दोनों के मध्य में धर्मात्मा श्रेष्ठ ब्रह्वेता विद्वान है उन्हीं का आदर करना है।

इस प्रकार की शिक्षा जिस स्नातक के जीवन का अंग बन सके वही समावर्तन है।

---

१. ऋतच स्वाध्याय प्रवचने च स्त्यं च स्वाध्याय प्रवचने च। तपश्च स्वाध्याय दमश्व स्वाध्या. शमश्च स्वाध्याय अग्क्यश्च स्वाध्याय. अग्निहोत्रं च स्वाध्याय सत्यमिति संत्य वचाराधीतर:। तप ·इतिं तपो नित्य: पौरूशिष्टि:। स्वाध्याय प्रवचने एवेति नाको मौदगल्य: तद्धि तपसृद्धि तप: तैतिरी. प्रपा. ६ अनु. ९

उदक कर्म : और्ध्वदेहिक संस्कार :

जीवन एक यज्ञ है इसके मूल में भी यज्ञ है। मध्य में भी यज्ञ है और अन्त में भी यज्ञ है। संस्कृति सम्पन्न संस्कारों से विशुद्ध निष्पाप जीवन को व्यतीत करने वाला सन्यासी जिस जीवन में प्रवेश करता है वह अमृत जीवन है।

अन्त्येष्टि क्रिया में आर्यजन प्रायः हवन द्वारा शरीर का दाह करते रहे हैं। यह प्रथा पुरातल काल से आज तक चली आ रही है। शिशु सन्यासी विशिष्ट रोग से ग्रस्त व्यक्ति आदि का दाह संस्कार नहीं किया जाता है। इसके पश्चात् जिन मंत्रों आहुतियाँ दी जाती है उनमें शरीर के अवयव तथा ब्रह्माण्ड के अंगों का सम्बन्ध वर्णित हुआ है जैसे चक्षु और सूर्य का सम्बन्ध है। अग्नि को सम्बोधन करके उससे प्रार्थना की जाती है कि उसका शिवस्वरूप है उसके द्वारा वह इस मृतक के पुण्यवानों के लोक में ले जाये। युवक मृतक प्राणी नवीन शरीर के साथ संयुक्त हो। अग्नि अपने वर्ग द्वारा उसकी रक्षा करे ज़िस मार्ग में पूर्व पितर गये हैं। उसी मार्ग का यह भी अनुसरण करे अग्नि वह दूत है जो इसे यमालय में ले जाते हैं। यमालय वायु का स्थान है जिसे अन्तरिक्ष भी कहते हैं जीवात्मा यमालय से सूर्य की ओर जाता हुआ चन्द्र में प्रवेश करता है फिर अपनी कृतियों के अनुसार वर्षा के साथ औषधि तथा वनस्पतियों में आता है। यहाँ से वह पुरुष के वीर्य में प्रवेश करता है और स्त्री के गर्भ में जाकर दसवे महीने में पुनः उत्पन्न हो जाता है। बन्धग्रस्त जीव या तो मुख से चक्षु से या नासिका द्वारा निष्क्रमण करते हैं।

आहुतियाँ में प्राण पृथ्वी अग्नि अन्तरिक्ष वायु द्यौ सूर्य चन्द्र नक्षत्र जल वरूण नाभि वाणी लोभ श्रोत चक्षु त्वचा मद मांस स्नायु अस्थि मज्जा रेत वायु प्रायश्चिति भेषज अन्तक मृत्यु ब्रह्म आदि की लेकर हवि का विधान है। पृथिवी मृतक के लिए सुखदायिनी बने। यम जो इस पृथ्वी और समस्त जगत को धारण कर रहा है और जिसके संकेत पर यह निखिल ब्रह्माण्ड संचालित हो रहा है। वह यम सबको नियंत्रण में रखने वाला परमदेव इसे सुगति प्रदान करे। इसके पाप नष्ट हो।

शव दाह के उपरान्त घर को मार्जन लेपन प्रक्षालन आदि द्वारा करना चाहिए। तीन स्वास्तिवाचन तथा शान्तिकरण के मंत्रों का पाठ

और हवन करना चाहिए। तीसरे दिन चिता से अस्थियाँ उठाकर कहीं श्मशान भूमि में रख दे अथवा जल प्रवाह कर दे अपने सामर्थ्य के अनुकूल दान दक्षिणा भी दे परन्तु उसमें पात्र और अपात्र का ध्यान रखे। ऐसे अवसर पर अपने सम्बन्धी तथा परिचित व्यक्ति एकत्र होते हैं उनका भी सम्मान करे और सभी एकत्र होकर दिवंगत आत्मा की सुगति के लिए प्रभु से प्रार्थना करें।

इस प्रकार जिस जीवन यज्ञ का प्रारम्भ हुआ था उसका अंत होता है। हमारे संस्कार अध्यात्मिक पवित्रता के ही नहीं भौतिक पवित्रता के भी संदेशवाहक हैं उनमें आयु प्राण शक्ति शिक्षा आदि की तो पूर्ति होती ही है। सांस्कृतिक विकास योग का भी रहता है। जीवन को नियमित दिशा की ओर मोड़ते हुए वे उसे सुखी एवं समृद्ध बनाने में सहायता देते हैं और विकास की उच्च भूमिका तक पहुँचा कर आत्मा का परमात्मा से मिलन करा देते हैं। संस्कारों का इस प्रकार सांस्कृतिक विकास के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस समय उनका एवं कुछ विकृत हो गया है।

धार्मिक विश्वासों विधि विधानों और तत्सम्बन्धी नियमों के साथ-साथ संस्कारों में सामाजिक प्रथाओं और चलनों तथा प्रजनन विद्या आचार स्वास्थ्य औषध आदि विषयक नियमों का समावेश या प्राचीन काल में जीवन के विभिन्न क्षेत्र एक दूसरे में पृथक् नहीं थे। सम्पूर्ण जीवन एक अविभाज्य इकाई समझा जाता था और उसने पूर्वरूप से सर्वातिशायी धार्मिक भावना व्याप्त था। क्योंकि व्यक्ति का सारा जीवन संस्कारों से व्याप्त था। अतः उसका शारीरिक मानसिक और अध्यात्मिक प्रशिक्षण भी संस्कारों के माध्यम से किया जाता था। विवाह आदि सम्बन्ध सामाजिक प्रथाओं और नियमों के आधार पर निश्चित किये जाते हैं। वर और वधू के चुनाव के सहवास गर्भावस्था और बच्चों के पालन पोषण के समय विषय में प्रजनन विद्या तथा जातीय शुद्धि के नियमों का पालन किया जाता था। बालक ब्रह्मचारी स्नातक और गार्हस्थ था जीवन की रक्षा केवल भूत प्रेतों और पिशाचों से ही नहीं अपितु रोगों तथा ऐसी ही अन्य दुर्घटनाओं से भी स्वास्थ्य भोजन और औषध के सम्बन्ध में निर्धारित नियमों द्वारा की जाती थी स्त्रियों के मासिक धर्म प्रसव और उसके पश्चात् निर्दिष्ट दिनों तक

सूतिका ग्रह में रहने परिवार के किसी की मृत्यु तथा अन्य अवसरों पर स्वास्थ्य सम्बन्धी नियमों की कठोरता से पालन किया जाता था।

संस्कारों का स्थान और उपयोगिता :

सम्पूर्ण जीवन से सम्बद्ध सभ्यता के आरम्भ में जीवन आज की अपेक्षा नितान्त साधारण और वह विविध खंडों में विभक्त नहीं हुआ था। प्राचीनकाल में धर्म एक सर्वस्पर्शी तत्व था तथा कर्मकाण्ड जीवन में सभी सम्भव घटनाओं को शुद्धि तथा स्थायित्व प्रदान करते थे इस प्रयोजन के लिए उन्होंने समस्त नैतिक तथा भौतिक साधनों का उपयोग किया। जिन संस्कारों का उद्देश्य व्यक्ति के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विकास करना था वह अपने को मानवीय तथा अतिमानव शक्तियों से पूर्व संसार के अनुरूप बना सके।

संस्कार मानव जीवन के लिए परिष्कार और बुद्धि में सहायता पहुँचाते हैं। व्यक्तित्व के विकास को सुविधाजनक करते मनुष्य देह के पवित्रता तथा महत्व प्रदान करते मनुष्य की समस्त भौतिक तथा आध्यात्मिक महत्वाकांक्षाओं को गति देने तथा अन्त में उसे जटिलताओं और समस्याओं के संसार से सरल तथा सानन्द मुक्ति के लिए प्रस्तुत करते थे अनेक सामाजिक महत्व की समस्याओं के समाधान में भी सहायक हो उदा. गर्भाधान तथा अन्य प्रागृजन्य संस्कार प्रजनन शास्त्र से सम्बद्ध थे इसी प्रकार विद्यारम्भ तथा उपनयन में समावर्तन पर्यन्त सभी संस्कार शिक्षा की दृष्टि से अत्यन्त महत्व के हैं। शारीरिक तथा मानसिक दृष्टि से अयोग्य न होने पर प्रत्येक बालक को शिक्षा के अनिवार्य पाठ्यक्रम से होकर गुजरना होता था जिसके अध्ययन तथा कठोर अनुशासन का समावेशन था। विवाह संस्कार अनेक यौन तथा सामाजिक समस्याओं का नियमन करता था। निःसन्देह इन नियमों की प्रवृत्ति समाज को स्थिर तथा गतिहीन बना देने की ओर थी। अन्त्येष्टि संस्कार मृतक तथा जीवित के प्रति गृहस्थ के कर्तव्यों में सामञ्जस्य स्थापित करता था यह पारिवारिक और सामाजिक स्वास्थ्य विज्ञान का एक विस्मय जनक समन्वय था। इस प्रकार संस्कार व्यवहार में मानव जीवन तथा उसके विकास की क्रमबद्ध योजना का कार्य करते थे।[१]

---

१. हिन्दू संस्कार – डॉ. राजबली पाण्डेय – पृ. ४२५

अष्टम अध्याय

गृह्यनुष्ठान और वैदिक यज्ञ संस्था

भारतीय संस्कृति में यज्ञों की अपार महिमा निरूपित है। यज्ञों के द्वारा विश्वात्मा प्रभु को संतृप्त किया जाता है। आर्य जन्म मरण के जीवन से मुक्त होना चाहते थे इसलिए प्रत्येक अवसर पर यज्ञ किया करते थे। मानव और यज्ञ का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध प्रारम्भ काल से चला आ रहा है वस्तुतः देखा जाये तो मानव जाति के प्रारम्भ ही यज्ञ से होता है। इसका स्पष्टीकरण गीता में किया गया है:- प्रजापति के सृष्टि रचना के समय यज्ञ के साथ मानव जाति को उत्पन्न करके उनसे कहा– इस यज्ञ के द्वारा तुम्हारी उन्नति होगी और यह यज्ञ तुम्हारे लिए मनोऽभिलाषित फल देने वाला होगा। तुम इस यज्ञ के द्वारा देवताओं को संतुष्ट करो और देवता तुम लोगों को यज्ञ फल-प्रदान के द्वारा संतुष्ट करेंगे। इस प्रकार तुम दोनों अत्यन्त कल्याण पद को प्राप्त करो।[१] पद्मपुराण में मानव की उत्पत्ति ही यज्ञ कर्म के सम्पादन के लिए बतायी गयी है।[२] यज्ञ के सम्बन्ध में कहा गया है कि यज्ञ ही समस्त भूवनों का केन्द्र है[३] और पृथ्वी को धारण किये हुए है। कर्ममीमांसा के प्रवृत्त होने पर मानव देह धारण करते ही द्विज ऋषि ऋण, देवऋण और पितृ ऋण इन तीन प्रकार के ऋणों से

---

१. सहयज्ञाः प्रजाः स्त्रष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः
अनिनं प्रसविष्यध्यध्वमेश वोऽरित्वष्टकामधुक्
देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परम वाप्स्यथ।। गीता – ३/१०/-११

२. यज्ञनिष्पतये सर्वमेतद् ब्रह्मा चकार ह,
चातुर्वण्ये महाभाग यज्ञसाधनमुत्तमम्। पद्मपुराण, सृष्टिखण्ड ३/१२३

३. अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः। शुक्ल यजुर्वेद २३/११
यज्ञो विश्वस्य भुवनस्य नाभिः। अथर्व. ९/१०/१४

ऋणी बन जाता है।[१] भगवान मनु ने भी ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य[२] इत्यादि वाक्यों द्वारा ऋणत्रय के अपाकरण को ही मनुष्य प्रधान कर्म बतलाया है।

प्राणीमात्र की स्वाभाविक अभिवाञ्छा रहती थी कि मैं जीवन पर्यन्त सुखी रह सकूँ और मुझे इस लोक में धन धान्य पत्नी पुत्र गृह उपवन आदि परम ऐश्वर्य पद प्राप्त हो तथा शरीर त्याग के अनन्तर मुझे परलोक में सहृदय हृदय के द्वारा परिज्ञात अनिवर्चनीय परम पुरुषार्थ की प्राप्ति हो। कर्ममय संसार में समस्त मनुष्यों को कर्मठ बनाने के लिए उनका कल्याण करने के लिए गीता भी माता की तरह यशप्रेमी पुत्रों का उपदेश करती है।[३] मुण्डकोपनिषद में यज्ञ को संसार सागर से पार (मुक्ति) होने के लिए 'प्लव' अर्थात् नौका कहा जाता गया है।[४]

मानव जाति के जीवन का प्रारम्भ ही यज्ञ से होता है इस विषय का स्पष्टीकरण गीता में किया गया है।[५] पद्मपुराण में भी मानव की उत्पत्ति ही यज्ञ में कर्म के सम्पादन के लिए बतायी गयी है।[६]

यज्ञ देवपूजासंगति करणदानेषु अर्थात् देवपूजा संगति करण एवं दान के अर्थ में पठित 'यज' धातु से यज्ञयाचयतविच्छ प्रच्छरक्षो नङ्

---

१. जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणै ऋणवान् जायते ब्रह्मचर्येण
ऋषिभ्यो यज्ञेन देवभ्य: प्रजया पितृत्या:। तै.स. ३/१०/५

२. मनु. ६/३५

३. अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भव:
यज्ञाद्भवति वर्जन्यो यज्ञ: कर्मसमुद्भव:। गीता ३/१४

४. प्लवा घोते अहृढा यज्ञरूपा:। मुण्डकोपनिषद्। १/२/७

५. स्हयज्ञा: प्रजा: सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापति:।
अनेनन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टाकामधुक्।
देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु व:।
परस्परं भावयन्त: श्रेय: परमवाप्स्यथ।। गीता ३/१०/-११

६. यज्ञ निष्पत्तये सर्वमेतद् ब्रह्मा चकार
चातुर्वर्ण्य महाभागं यज्ञसाधनमुत्तमम्। पद्मपुराण सुष्टिखण्ड ३/१२२

इस पाणिनीय 'नङ्' प्रत्यय करने पर 'यज्ञ' शब्द निष्पन्न होता है। वह यज्ञ विष्णु आदि देवताओं के पूजन ऋषि-महर्षि एवं सज्जन पुरुषों के सत्संग और सुवर्ण रजत आदि उत्तम द्रव्यों के प्रदान द्वारा सम्पादित होता है।[१] गृह्यानुष्ठान यज्ञ का दूसरा भाग है। आर्यों का जीवन यज्ञमय था। गृह्यानुष्ठान के मूल में कोई परम्परा या स्मृति निहित है। अतः इन्हें स्मार्त भी कहा जाता है। वैदिक यज्ञों का उदात्तीकृत विधान ही इसका प्रतिपाद्य विषय है। इनमें द्विज के संस्कारों और अन्याय कर्मों का विधान है।

इसमें मुख्यरूप से आर्यों के दैनिक धार्मिक जीवन से संबंधी उन कृत्यों का वर्णन है जो गृह्याग्नि के माध्यम से गृह्य में ही सम्पन्न होते हैं। आर्यों का सामाजिक और गृह्य जीवन भी उनके धार्मिक विचारों और क्रियाकलापों से इतना ओतप्रोत था कि एक-दूसरे से पृथक् करना असम्भव है उनके जीवन की प्रत्येक घटना और क्रिया में धार्मिक विचारधारा थी। इनके समस्त जीवन का अधिकार भित्ति उनके धार्मिक विश्वासों और श्रद्धा पर निर्भर थीं।

गृह्यकर्म अत्यन्त प्राचीन काल से आर्यों के जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हैं। आर्यों के रीति रिवाजों में से कुछ एक में सम्पर्क जन्म परिवर्तन हुये और कुछ एक अन्य आर्येत्तर रीति रिवाजों ने आर्यों के सामाजिक तथा धार्मिक जीवन में इस प्रकार प्रवेश हो गये हैं कि उन्हें पृथक् रूप से देखना अत्यन्त दुष्कर हो गया।[२]

यज्ञों का कर्मकाण्ड वेदकालीन धार्मिक जीवन का एक विशेष अंग था। वैदिक आर्य यज्ञों से बहुत प्रेम करते थे।[३] यज्ञ ईश्वर रूप है उसकी ही कृति प्राकृतिक यज्ञ है। यज्ञ का साक्षात् सम्बन्ध उससे है।[४] विश्व में जो प्राकृतिक यज्ञ हो रहा है उस यज्ञ में घी वसन्त ऋतु समिधा ग्रीष्म ऋतु है और सामग्री शरद ऋतु है।[५] यज्ञ का लक्षण

---

१. कल्याण वेदांग – पृ. ३३८

२. कल्पसूत्र – वेदाङ्ग – कुन्दनलाल शर्मा– पृ. ३८१

३. वेदकालीन समाज – पृ. २७८

४. स यज्ञः तस्य यज्ञः अ. १३.४.४.४०

५. वसन्तो अस्यासीद आज्य ग्रीष्म इश्मः शरदः हविः। अ. –१९.६.१०

बताते हुए कहा गया है कि जिस कर्म विशेष में देवता हवनीय दृश्य वेदमन्त्र ऋत्विज और दक्षिणा इन पाँचों का संयोग हो वह यज्ञ कहलाता है।[1] देवों और वसन्त आदि ऋतुओं ने यज्ञ को जन्म दिया और यज्ञ के लिए घी आदि हवि पुरोडश आदि सामग्री स्रुवा तथा अन्य यज्ञ के पात्रों को तैयार किया। यज्ञ उत्कृष्ट धर्म है विद्वान् लोग पृथिवी पर यज्ञ करते हैं। यज्ञ से पृथिवी की समृद्धि होती है।

आर्य दैनिक पाक्षिक मासिक चातुर्मासिक तथा वार्षिक यज्ञ किया करते थे। इनके अतिरिक्त सब महत्वपूर्ण अवसरों पर तथा जीवन की मुख्य घटनाओं के समय जन्म दाँत निकालना चूड़ाकर्म तथा विवाह आदि विशेष यज्ञ किये जाते थे। इस प्रकार वैदिक आर्यों का जीवन यज्ञमय था। यज्ञों को सम्पादित किया जाना आवश्यक था देवताओं को जो कुछ अर्पित करने का रहता था व अग्नि में डाल दिया जाता था जिसके द्वारा वह देवताओं तक पहुँचा दिया जाता था। इस प्रकार यज्ञ में त्याग की भावना निहित है। प्राचीन काल में यह भावना व्याप्त थी कि अग्नि द्वारा सब वस्तुएँ देवताओं तक पहुँचाई जा सकती है। इसी मान्यता ने यज्ञों के कर्मकाण्ड को जन्म दिया।

यज्ञ की प्राचीनता

आर्य जाति का प्राचीन धर्मग्रन्थ वेद है। वेदों में कर्मकाण्ड उपासना काण्ड, ज्ञानकाण्ड इन तीन विषयों का मुख्यतः वर्णन मिलता है। किन्तु इन तीनों में प्रधान स्थान कर्मकाण्ड को ही प्राप्त है। इसलिए वेदों में यागादि विविध क्रिया-कलाप का विशेष रूप से वर्णन मिलता है।

जिस प्रकार वेद अत्यन्त दुरूह है उसी प्रकार वेदांगभूत यज्ञ भी अत्यन्त दुरूह है। यज्ञ से देवगण और पितृगण जीवित रहते हैं। देवताओं के अधीन समस्त प्रजा रहती है और यज्ञ के आधीन समस्त

---

१. देवानां द्रव्यहविषां ऋक्सामयजुषां तथा
ऋत्विजो दक्षिणानां च संयोगो यज्ञ उच्यते। मत्स्य पुराण १४४, ४४

देवता रहते हैं यज्ञ के निमित्त देवताओं तथा औषधियों की सृष्टि की जाती है।[१]

यज्ञ की आवश्यकता

मानव देह धारण करते ही द्विज ऋषि ऋण, देव ऋण और पितृ ऋण तीन प्रकार के ऋणों से ऋणी बन जाता है। श्रीमद्भागवत[२] में आया है कि द्विजाति देवता ऋषि और पितर इन तीनों का ऋण लेकर ही उत्पन्न होता है इन ऋणों से मुक्त होने के लिए यज्ञ अध्ययन और सन्तानोत्पत्ति करना आवश्यक है।

यज्ञ की प्रक्रिया

यज्ञ के लिए वेदी बनायी जाती है। यज्ञ की वेदी को स्वच्छ करके उस पर कुशा आदि बिछाई जाती है। गोबर और जल से लीपी हुई जगह पर बनायी जाती थी।[३] उस स्थान पर खड्गाकृति किसी काष्ठखण्ड या स्त्रुव मूल से तीन रेखायें[४] खींचकर उनकी धूलि उठाकर जल से खींचकर कांसे या ताँबे के पात्र में अग्नि लेकर वेदी पर स्थापना कर[५] अग्नि से दाहिने ब्रह्मा का आसन बिछाकर[६] प्रणीतापात्र में जल लाकर[७] अग्नि के चारों ओर कुश फैलाकर आज्यस्थाली आदि अनुष्ठान की दृष्टि से उपयोगी वस्तुएँ लाकर कुश

---

१. यज्ञ रहस्य मीमांसा – वेणीराम शर्मा पृ. २१०

२. ऋणैस्त्रिभिर्द्विजो जातो देवर्षि पितृणा प्रभो
यज्ञाध्ययन पुत्रैस्त्वान्यनिस्तीर्य व्यजन पतेत्। श्रीमदभागवत्। १०/८४/३६

३. त्रिभिद्र्भैः पांसूनपसार्य उपलिप्य गोमयोदकेन त्रिः हस्तमात्रेण खड्गाकृति ना। पा.गृ.सू.-२१ हरिहर भाष्य – पृ. १

४. स्थंडिलपरिमाणास्तिस्तो रेखाः कृत्वा उद्धृत्य। पा.गृ.सू.-१ हरिहर भाष्य पृ. १

५. मणिकाद्भिरभ्युक्ष्याभिषिच्य (अग्निमुपसमाधाय, स्मति श्रौतं वाग्निम् आत्मभिमुखं स्थापयित्वा। वही।

६. दक्षिणतो ब्रह्मासमास्तीर्य। वही

७. प्रणीय प्रयायनञ्चापां सर्वार्थ।

के दो पवित्र बनाकर प्रोक्षणीपात्र का संस्कार[१] कर अनुष्ठानोंपयोगी वस्तुएँ जल से प्रोक्षित कर आज्यस्थाली में घी डालकर उसे अग्नि पर रखकर उसके चारों ओर जलती हुई लकड़ी को घुमाएँ।[२] यज्ञवेदी पर बैठने वाले व्यक्ति को दुर्भावों से मुक्त होने चाहिए। यज्ञ तीन समय होता है प्रात:, दोपहर और सायंकाल। प्रात: सवन का देवता अश्विनी है द्वितीय सवन का इन्द्र और अग्नि तृतीय सवन का ऋभु। देवों ने जो यज्ञ किया उसमें यज्ञ की सात परिधियाँ बनायी जाती है और उसमें २१ समिधाएँ रखी जाती हैं। यज्ञ की सात परिधियों से तात्पर्य गायत्री अनुष्टुप आदि सात छन्द लेने चाहिए। यज्ञ सम्बन्धी सभी मन्त्र इन सात छन्दों से बने हुए हैं। २१ समिधाओं से यहाँ अभिप्राय– ६ तत्व अर्थात् पाँच महाभूत, तन्मात्रा और अहंकार। इन सात को तीन गुणों से अर्थात् सत्व, रजस और तमस से गुण करने पर २१ तत्व समिधा माने गए हैं।

यज्ञ में भूल चूक से जो त्रुटियाँ हो जाती हैं उनके लिए प्रायश्चित आहुतियाँ दी जाती हैं और त्रुटियों के लिए क्षमा याचना की जाती है। यज्ञ की समाप्ति पर पुराहितों को दक्षिणा दी जाती है, इसके लिए कहा गया है कि दक्षिणा में ब्रह्म आदि को ग्राम और भूमि दें। नवीन वस्त्र सुवर्ण और ब्राह्मणों को मुख्य रूप से गाय देने का विधान है।[३]

यज्ञ यजुर्वेद के मन्त्रों से होता है और यज्ञ में विधिवत् आहुति डाली जाती है।[४] आर्यों ने यज्ञविधि को अपनाया और यज्ञ को बुद्धि की वृद्धि का साधन बनाया।[५] यज्ञ एक प्रकार का तीर्थ है इसके द्वारा

---

१. प्रोक्षणी संस्कृत्य प्रादेशमात्रे वारणे पात्रो प्राणीतोदकानासिच्य पवित्राभ्यामुत्पूय सन्यहस्ते तत्पात्रं कृत्वा। वही. गदाधर भाष्य–पृ ५

२. पर्याग्नि कुर्यात् अग्नेरुल्मुकं गृहीत्वा आज्यस्य पतितो भ्रामयेत् चरुष्चेत्तमपि पर्याग्निं कुर्यात्। वही. ।

३. पा.गृ.सू. १/४ पृ. ६७

४. यजुषि यज्ञे समिधा।

५. आर्या अग्निं होतारम् मध धीरजायत। अ.– १८.१.२१

विद्वान और पवित्रात्मा अपनी सम्पूर्ण विपत्तियों को पार कर जाते हैं।[१] यज्ञ का सारांश ब्रह्म बताया है। इससे लक्षित होता है कि यज्ञ के द्वारा ब्रह्मप्राप्ति संभव थी।[२] यज्ञ का उद्देश्य इन शक्तियों को प्राप्त करना है। मानसिक शक्ति हृदय की शक्ति बुद्धि संकल्प स्मृति गति ज्ञान और सूक्ष्म दृष्टि।[३] यज्ञ के दो पक्ष है अग्नि और सोम की प्राप्ति– अग्नि का तात्पर्य -तेजस्विता और श्रीवृद्धि सोम का अभिप्राय है– जीवन में सोम्य गुणों का आना। यज्ञ का उद्देश्य है। जीवन में नि:स्वार्थ भावना को उत्पन्न करना और आत्मसमर्पण की शिक्षा लेना। प्रत्येक गृहस्थ का कर्तव्य बताया गया है कि वह यज्ञ करने के पश्चात् ही भोजन ग्रहण करें।

यज्ञ का महत्व

अथर्वा ऋषि ने सर्वप्रथम यज्ञ का प्रचार किया।[४] अंगिरसों ने सर्वप्रथम अन्न प्राप्त किया और यज्ञ करना प्रारम्भ किया। कवि के पुत्र उशनस् ऋषि ने यज्ञ के साथ घी दूध का सम्बन्ध किया इससे ज्ञात होता है कि उशनस ने यज्ञ में घी आदि डालना प्रारम्भ किया।[५] यज्ञ सृष्टि कल्याण के लिए है।[६] यज्ञ की शक्तियाँ अनन्त है। यज्ञ के देवों को जागृत करता है अर्थात् यज्ञ विद्वानों को जागरूक होने की शिक्षा देता है! अन्न की सफलता यज्ञ के द्वारा मानी गयी है। यज्ञ दैवी अंश का प्रतीक है। मनुष्य यज्ञ के द्वारा दैवी अंश प्राप्त करता है। वह आत्मतत्व को जानकर मुक्ति प्राप्त करता है जो यज्ञ नहीं करते हैं उनका तेज क्षीण हो जाता है और वे निस्तेज हो जाते हैं।[७]

---

१. तीर्थैस्तरन्ति .... यज्ञकृत: सुकृतो येन यन्ति। अ. १८.४.७

२. ब्रह्मयज्ञस्य तत्वम् – अ. १९.४२.२

३. मनसे चेतसेधिये। वही पृ. १२०

४. यज्ञैरथर्वा प्रथम: प्रपथस्तते – अ. २०.२५.५

५. अथर्ववेद का सांस्कृतिक अध्ययन – कपिल द्विवेदी पृ. १२०

६. समानजन्मा क्रतुरस्ति व: शिव:। अ. ८.९.२२

७. अयज्ञियो हतवर्चा भवति। अ. – १२.२.३७

यज्ञ मानव विचारधारा के विकास में एक महत्वपूर्ण योगदान है वैदिक यज्ञ मानव विचारधारा के विकास में महत्वपूर्ण विश्राम स्थल है। इस कर्मकाण्ड में सामाजिक धार्मिक तथा सांस्कृतिक महत्व के कारण ही इसका विकास द्रुतगति से हुआ वैदिक मन्त्रों का मूल उद्देश्य ही कर्म का प्रतिपादन है यदि मन्त्र किसी धर्म विशेष का प्रतिपादन नहीं करता तो उसकी सत्ता ही व्यर्थ हो जाती है। कर्मकाण्ड के भीतर अमृतमय ज्ञान कलश है। यज्ञ के अनुष्ठान दो प्रकार के हैं :-

१. श्रौतयज्ञ

२. गृह्ययज्ञ

श्रौत यज्ञों में तीन से पाँच तक अग्नियों का प्रयोग किया जाता है जिनमें देवता विशेष को आहुतियाँ प्रदान की जाती है। तथा सोलह या सत्रह की संख्या तक के ऋत्विजों की सहायता से किया जाता है। गृह्ययज्ञों के अनुष्ठानार्थ एक गृह्याग्नि का ही दैनिक कर्म एवं संस्कारों के लिए प्रयोग किया जाता है तथा गृह्यकर्मों का सम्पादन अकेले यजमान या उसकी पत्नी पुत्री अथवा पुरोहित द्वारा किया जाता है।[१]

पारस्कर ने प्रत्येक कर्म के आरम्भ तथा अन्त में ब्राह्मण भोजन का विधान किया है। सम्पूर्ण गृह्यसूत्र में गिने चुने कुछ ही ऐसे कर्म हैं जिनमें ब्राह्मण भोजन का विधान नहीं है। प्राय: प्रत्येक कण्डिका के अन्त में तत: ब्राह्मण भोजनम् कहा गया है। स्वभावत: उन्हें देखकर पढ़कर जनसामान्य के मन में ब्राह्मणों के प्रति अतिरिक्त पक्षपात का आभास मिलता है। महामहोपाध्याय काणे का विचार उद्धृत है- ऐसी बात नहीं है कि ब्राह्मणों ने जानबूझकर अपनी महत्ता बढ़ाने के लिए तथा अन्य वर्णों से श्रेष्ठ होने के लिए धर्मशास्त्रों एवं अन्य साहित्यिक ग्रन्थों में अपनी स्तुतियाँ कर डाली है। क्योंकि जब तक उन्हें वर्गों द्वारा सम्मान न प्राप्त होता और वह शताब्दियों तक अक्षुण्या न बना होता तब तक उन्हें इतनी महत्ता नहीं प्राप्त हो सकती थी। ब्राह्मण ही आर्य साहित्य के विशाल समुद्र को भरने वाले एवं अक्षुण्ण रखने

---

१. कल्पसूत्र - वेदांग कुन्दनलाल शर्मा - ३९०

वाले थे। सभी ब्राह्मण तो नहीं परन्तु अधिकांश ऐसे थे जिन पर आर्य जाति की सम्पूर्ण संस्कृति का भार रखा जा सका और उन्होंने उसका विकास संरक्षण एवं संवर्द्धन करने में अपनी ओर से कुछ भी कसर उठा नहीं रखी इसी से आर्य जाति ब्राह्मणों के सामने सदैव नतमस्तक रही है।[१]

प्रत्येक कर्म में ब्राह्मणों को भोजन कराने के उपरान्त ही वह कृत्य सफल होता है। इसलिए प्रत्येक कर्म के अन्त में ब्राह्मणों को भोजन कराने का विधान है।

गर्भाधान में कम से कम दस ब्राह्मणों को विवाह में सौ ब्राह्मणों को, उपनयन में पचास ब्राह्मणों को, आवसथ्य में तैंतीस ब्राह्मणों को श्रोताधान में सौ से अधिक ब्राह्मणों को और प्रत्येक संस्कार की निर्विघ्न पूर्ति के लिए आठ-आठ ब्राह्मणों को भोजन कराना चाहिए। सोमयाग में एक हजार ब्राह्मणों को, पशुयाग में सौ ब्राह्मणों को, चातुर्मास्य याग में चार सौ ब्राह्मणों को, वाजपेय में दस हजार आदि अश्वमेध में चालीस हजार ब्राह्मण को भोजन कराना चाहिए।[२] सोमयाग में एक हजार ब्राह्मणों को पशुयाग में सौ ब्राह्मणों को चातुर्मास्य याग में चार सौ ब्राह्मणों को देवराधनादि विशेष कर्म में पाँच सौ ब्राह्मणों को वाजपये में दस हजार और अश्वमेध में चालीस हजार ब्राह्मण को भोजन कराना चाहिए।[३]

---

१. पा.गृ.सू.

२. गर्भाधानादिसंस्कारे ब्राह्मणान् भोजनयेद्दश शतं विवाह संस्कारे पञ्चशन्मेखलाविधौ आवसभ्ये त्र्यस्त्रिशच्चैताऽऽधाने शतात्परम् अष्टकं भोजयेद् भक्त्या क्तसंस्कार सिद्धये।
सहस्त्र भोजयेत सोमे ब्राह्मणानां शतं पशो चातुर्मास्येषु चत्वारि शतं पञ्च सुरागृहे अयुतं वाजपेये च अश्वमेधे चतुर्गुर्णम्। यज्ञपार्श्वें।

३. सहस्त्रं भोजयेत् सोमे ब्राह्मणां शत पशो
चातुर्मास्येषु चत्वारि शतं पञ्च सुरागृहे
अयुतं वाजपेये च हक्श्वमेधे चतुगुर्णम्। यज्ञयपार्श्वे।

आहुति शब्द का अर्थ[१] –

आङ्‌पूर्वक हु दानादानयोः इस धातु से क्तिन् प्रत्यय करने पर आहुति शब्द बनता है। देवताओं के उद्देश्य से वेदमन्त्रोच्चारण पूर्वक अग्नि में एक बार हविद्रव्य का जितना अंश देतोद्देश्यपूर्वक त्याग वाचक स्वाहा शब्द प्रयोगेण विषयी कृतत्वं – स्वाहा कृतत्वम् स्वाहा कहकर समर्पण किया जाए उसे आहुति कहते हैं। जिससे देवताओं को बुलाया जाए अथवा जिससे हविद्रव्य का अग्नि में प्रक्षेप किया जाए उसे आहुति कहते हैं।[२] आहुति को आहुतित्व इसलिए है कि इसके द्वारा यजमान देवताओं को बुलाता है।[३]

होम शब्द का अर्थ[४] –

देवतोद्देश्य पूर्वक, मुख्यरूप से हविद्रव्य के प्रक्षेपात्मक त्याग को होम कहते हैं। होम का लक्षण कात्यायन श्रौतसूत्र में इस प्रकार प्राप्त होता है– उपविष्टाहोमाः स्वाहाकारप्रदानाः जुहोतयः।[५] जिस कर्म विशेष में बैठकर स्वाहापूर्वक हविद्रव्य का त्याग किया जाये उसे होम कहते हैं।

आ.गृ.सू.[६] के अनुसार तो पाणिग्रहण के उपरान्त गृहस्थ या उसकी पत्नी या पुत्र, पुत्री या शिष्य को गृह्याग्नि की पूजा करनी ही चाहिये। यह गृह्याग्नि वैवाहिक अग्नि ही होती थी जिसे वर अपने साथ अपने घर ले जाता था इसे ही औपासन आवसथ्य, औपासद, वैवाहिक स्मार्त या गृह्य नामों से पुकारा जाता था। लौकिक गृह्य सभ्य तथा त्रेता (तीन श्रौत अग्नियाँ) मिलकर छह अग्नियाँ होती है इन

---

१. स्वाहाकारान्वैः प्रतिमन्त्रं पञ्चाहुती र्जुहोति। पा.गृ.सू. २/१६/२ पृ. ३६१

२. द्रवयति देवाननया सा आहुतिः जुहोति प्रक्षिपाति हविरनया इति वा। आहूतयो वै नमैता यदाहुतयः एताभिर्देवान् यजमानो ह्वयति तदाद्रतीनामह्वतित्वम्। ऐ.ब्रा. १/१/१२

३. कात्यायन श्रौतसूत्र १/२/७

४. पा.गृ.सू. १/१ पृ. स्वेऽग्नावन्यहोमः,
शक्मिकपौष्टिकव्रतांग होमादिकं स्मार्त तत्सर्वमावसथ्येऽग्ने भवतीति।

५. यज्ञमीमांसा – पृ. २८७

६. आ.गृ.सू. १.९.१-३

अग्नियों को प्रज्वलित रखने वाले षड्ग्नि द्वयाग्नि तथा एकाग्नि उपासकों की संज्ञाये रखी गयी है।[१]

गृह्याग्नि के सम्बन्ध में गृह्यसूत्रों में अपनी अपनी शाखा के अनुसार नियमों का विधान किया गया है। पा.गृ.सू.[२] के अनुसार तो गृह्याग्नि कुटुम्ब से बाहर भी रखी जा सकती है। परन्तु शा.गृ.सू.[३] ने इस विषय में चार विकल्पों का प्रतिपादन किया है इस सूत्र के अनुसार शिष्य गुरुकुल से विदा लेते समय जिस अग्नि में समिधा डालता है उसमें से लेकर अग्नि घर जा सकता है। संयुक्त परिवार में पिता की मृत्यु पर ज्येष्ठ पुत्र या ज्येष्ठ भ्राता अग्नि प्रज्वलित कर सकता है। बौ.गृ.सू.[४] के अनुसार वही गृह्याग्नि दे जिसके द्वारा उपनयन संस्कार किया गया हो उपनयन से समावर्तन तक होम केवल व्याहृतियों का उच्चारण करके समिधाओं से किया जाता है। समावर्तन से विवाह तक घृत तथा व्याहृतियों का उच्चारण करके समिधाओं से किया जाता है। ये आहुतियाँ अग्नि तथा प्रजापति अथवा प्रातः काल सूर्य एवं प्रजापति को प्रदान की जाती हैं।[५]

होम की सामान्य प्रक्रिया के अनुसार स्थण्डिल का निर्माण करके परिसमूहन उपलेपन, उल्लेखन उद्धरण अभ्युक्षण करके उसमें अग्नि की स्थापना करके दक्षिण की ओर ब्रह्मा का आसन बिछाकर जल रखकर[६] अग्नि के चारों ओर दर्भ बिठाकर सभी उपकरणों को यथास्थान स्थापित करके कुशा के दो पवित्र बनाकर प्रोक्षणी पात्र में डालकर पवित्रों से पवित्र करके उस जल से सभी पात्रों को पवित्र

---

१. स्मृर्त्यसार – पृ. १०

२. पा.गृ.सू. – १.२

३. शा.गृ.सू. – १.१.२-५

४. बौ.गृ.सू. २.१.६, १७

५. बौ.गृ.सू. २.७.२१ हि.गृ.सू. २.२६.९, भार.गृ.सू. ३.२ आद.गृ.सू. ७,२१

६. परिसगृह्योपलिप्योल्लिख्योद्धृत्याभ्युक्ष्यामुप समाधाय दक्षिणतो ब्रह्मासनमास्तीर्य प्रणीय। पा.गृ.सू. १/१.२

करके आज्य स्थाली में डालकर गरम[१] करके अग्नि से गृहीत उत्मुक से आज्य तथा स्थालीपाक के चारों ओर घुमाकर स्त्रुव को गरम करके दर्भों से पोंछ कर प्रणीतोदक से अभ्युक्षण करके पुनः तपाकर रख दें।[२] आज्य को अग्नि से हटाकर इसक उत्तर में उद्धासन करके पवित्रों से उत्पवन करके उस आज्य का अवलोकन करके पवित्रों से प्रोक्षणी जल को पवित्र करके उसमें ही पवित्रों को रख दे। उपनयन संज्ञक कुशों को दक्षिण हस्त से सत्य में ग्रहण करके खड़ा होकर यजमान प्रदेश परिमिति सत्रह या पन्द्रह समिधाओं को अग्नि में डालकर पवित्र सहित प्रोक्षणी जल से अग्नि का प्रोक्षण करके, एक आधार तथा दो आज्य भाग आदि आहुतियाँ दी जाती है यह सर्वमान्य होम की प्रक्रिया है।[३]

आधार और आज्यभाग के अनन्तर ही विशेष यज्ञों की विशिष्ट आहुतियाँ दी जाती है। पा.गृ.सू.[४] में महाव्याहतियाँ सर्वप्रायश्चित आहुतियाँ प्राजापत्य आहुतियाँ तथा स्विष्टकृत आहुति सभी यज्ञों के लिए विहित है। गो.गृ.सू.[५] के अनुसार स्विष्टकृत आहुति से पूर्व आवाप अर्थात् दर्शपूर्णमास का विवाह आदि का प्रकृत होम करना चाहिये। जबकि पा.गृ.सू.[६] के मत में आवाप को सर्वप्रायश्चित तथा प्राजापत्य आहुतियों के पश्चात् करना चाहिये। काठ.गृ.सू.[७] के अनुसार आवाप का स्थान आज्य भाग और स्विष्टकृत के मध्य में है।

---

१. परिस्तीर्यार्थवादासाद्य पवित्रे कृत्वा प्रोक्षणीः संस्कृत्यार्थवत्प्रोक्ष्य निरूप्याज्यमधिश्रित्य पर्यग्नि कुर्यात्। पा.गृ.सू. १/२

२. स्त्रुवं प्रतप्य समृज्याभ्युक्ष्य पुनः प्रतप्य निदध्यात्। वही १/३

३. पा.गृ.सू. १.१.१-५, भार.गृ.सू. १.३, बौ.गृ.सू. १.३.१३ हि.गृ.सू. १.२.१-४

४. पा.गृ.सू. १.५.३-५

५. गो.गृ.सू. १.८.१६

६. पा.गृ.सू. १.५.६

७. काठ.गृ.सू. ४.७.१०
शा.गृ.सू. १.१६.३-४

यजुर्वेदीय गृह्यसूत्रों में स्विष्टकृत से पूर्व जमा, अभ्यातान तथा राष्ट्रभत आहुतियों का विधान किया गया है।[१] पा.गृ.सू. में इन आहुतियों को वैकल्पिक कहा गया है।[२]

ऋषि, देवता छन्द और विनियोग

जो मनुष्य ऋषि छन्द देवता और विनियोग को जाने बिना वेद का अध्ययन, अध्यापन, जप, हवन, यजन याजन आदि करते हैं उनका अध्ययन निष्फल तथा दोषयुक्त होता है और वे मनुष्य अश्वगर्त नामक नरक में पड़ते हैं अथवा मरने पर शुष्क वृक्ष होते हैं।[३] याज्ञवल्क्य ने कहा है कि मन्त्रों के ऋषि छन्द देवता विनियोग आदि ब्राह्मण को अवश्य जानना चाहिए जो ब्राह्मण ऋष्यादि को जाने बिना याजन अध्यापन जप होम आदि करते हैं उनके कर्मों का फल अल्प होता है। इसी बात का समर्थन व्यास ने भी किया है।[४]

ऋषि शब्द की व्युत्पत्ति बताते हुए निरुक्त में कहा गया है कि मन्त्रसमूह को देखने वाले अर्थात् साक्षात्कार करने वाले ऋषि कहलाते

---

१. आप.गृ.सू. १.२.७, बौ.गृ.सू. १.४.३२-३४
भार.गृ.सू. १.६, हि.गृ.सू. १.३.८-१४

२. पा.गृ.सू. १.५.७-१०

३. याज्ञवल्क्य स्मृति

४. एवान्यविदित्वा योऽधीतेऽनुब्रूते जपति यजते याजयेत तस्य ब्रह्म निर्वीय यातयामम्भवव्यथान्तराश्वगर्त वा पद्यते स्थाणुं वर्च्छति प्रमीयते वा पापीयान् भवति, अनुक्रमणी-श्भौनक १/१

हैं। इसका समर्थन श्रुतियों, स्मृतियों में भी किया गया है।[१] मन्त्रादि में ऋषि ज्ञान आवश्यक है ऐसा श्रुति में प्रतिपादित है।[२]

देवता पद का निर्वाचन पाणिनीय व्याकरण के अनुसार दिव् धातु से 'हलश्च्' सूत्र से 'घञ्' प्रत्यय करके तथा टाप् करके देवता शब्द बनता है। निरुक्तकार यास्क ने भी दानार्थक 'दा' धातु से से या 'द्युत' धातु से अथवा द्वीप धातु से 'व' प्रत्यय करके वर्ण का विकार तथा लोप करके 'देव' शब्द बनाया है। देवो दानाद द्योतनाद् दीपानाद् देव और देवता का अर्थ एक ही है क्योंकि स्वार्थ में तल् प्रत्यय किया गया है। जो तीनों लोकों में भ्रमण करे प्रकाशित हो अथवा पृष्टयादि द्वारा भक्ष्य भोज्यादि चतुर्विध पदार्थ मनुष्यों को दें उनका नाम देवता है।[३]

आह्लादार्थक चौरादिक 'चदि' धातु से चन्देरादेश्च छः' सूत्र से 'असुन' प्रत्यय करके तथा पकार को छकारादेश करके छन्द शब्द बनता है। जो मुनष्यों को प्रसन्न करे उसका नाम छन्द है।[४] निरुक्तकार यास्क ने छन्द शब्द का अर्थ बताते हुए कहा है कि मनन करने से

---

१. आर्ष छन्दश्चय दैवव्यं विनियोगस्तथैव च
वेदितव्यः प्रयवेन ब्राह्मणेन विशेषतः।।
अविदित्वा तु यः कुर्याधाजनाध्यापने जपम्।
होममन्तर्जलादीनि तस्य चाल्यफलम्भवेत्।। याज्ञवल्क्य स्मृति
ओविदित्वा ऋषिश्छन्दो दैवतं योगमेव च
योऽध्यापयेद याजयेद वा पापीयान् जायते तु सः।।

२. होत्रमृषिर्षीदनृषिदर्शानात्; स्तोमान् ददर्शेत्यौपमन्यवः
तद्यदेनांस्तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भवभ्यानर्ष्ज्ञत् त ऋषयोऽभवस्त
हषीणामृषित्वमिति विज्ञायते।। निरुक्त २/११

३. प्रजापतिः प्रथमां चितिमपश्यत् प्रजापतिरेव तस्या आर्षेयम्
देवां द्वितीयां चित्तमपश्यन् प्रजापतिरेव तस्या इन्द्राग्नी
विश्वकर्मा च तृतीयां चित्तिमपश्यस्तं एव तस्या आर्षेयम्
ऋषयश्चतुर्थी चितिम पश्यन्नृपय एव तस्या आषेयम्।

४. मन्त्रा मननात्। छन्दासि छदनात्
(स्तोमः स्तवनात् यजुर्यजते रित्यादि निरुक्त – ७/३/१२

त्राण करने वाले शब्द समूह को मन्त्र कहते हैं जिससे यज्ञादि छादित हो (रक्षित हो) उसे छन्द कहते हैं।

जिस काम के लिए मन्त्रों का प्रयोग किया जाता है उसे विनियोग कहते हैं। प्रत्येक मन्त्र का विनियोग तथा ऋष्यादि भी तत्-तत् वेद के ब्राह्मण तथा कल्पसूत्र से जानना चाहिए। विनियोग सबसे अधिक प्रयोजक है। मन्त्र में अर्थान्तर अथवा विषयान्तर होने पर भी विनियोग द्वारा उसका किसी अन्य कार्य में विनियोग करना कर्मपारवश्यसे पूर्वाचार्योने माना है अर्थात् विनियोग के सामने शब्दार्थ का कुछ अधिपत्य नहीं इसलिए मंत्रों में मुख्य विनियोग है जो कि मन्त्रदृष्टा ऋषियों के द्वारा समय-समय पर विनियुक्त हुआ था।[१]

यज्ञ पद्धति के प्रमुख तत्व

यज्ञानुष्ठान में दीक्षा, ऋत्विकगण, वेदि, अहिंसा, दक्षिणा, प्रायश्चित सुचिता आदि तत्वों का अपना महत्वपूर्ण स्थान है–

दीक्षा :

याग प्रारम्भ करने से पूर्व यजमान को कतिपय पवित्र करने वाली क्रियाएँ करनी होती है। यह क्रिया दीक्षा कहलाती है यजमान अपनी धर्मपत्नी के साथ ही यज्ञ करने का अधिकारी होता है।[२] बिना पत्नी के यजमान को भी यज्ञ करने का पात्र नहीं माना गया है।[३] दीक्षा संस्कार में यजमान का एक प्रकार से सुसंस्कृत नया जन्म होता है जो उसे पवित्र कर अध्यात्मिक क्षेत्र में ऊँचा उठा देता है।

---

१. पुराकल्पे समुत्पन्ना मन्त्राः कर्मार्थमेव च
अनेनेदं तु कर्तव्यं विनियोगः स उच्यते। याज्ञवल्क्य स्मृति

२. अर्धो वा एव आत्मनः यत्पत्नी। तै.ब्रा. ३.३.३.१
अर्धो हवा एष आत्मनो यज्जया। श.ब्रा. ५.१.६.१०

३. तदाहुः अपत्नीक अपि अग्निहोत्रमाहरेत् नाहरेत् इति।
अग्निहोत्रं कथं जुहोति श्रद्धा सत्यं तदिति उत्तमं मिथुनम्
श्रद्धया सत्येन मिथुनेन सर्वान् लोकान् जयतीति।। ऐ.ब्रा. ३२.९-२०

दीक्षा के परिणाम स्वरूप यजमान को पत्नी सहित मौन तथा दीक्षा के माध्यम से यजमान स्वयं को समर्पित कर देता है।[१] यज्ञ क्रिया के अतिरिक्त कृत्यों से पराङ्मुख रहना पड़ता है। यह इसलिए आवश्यक माना जाता है कि जिससे किस दीक्षित यजमान एवं धर्मपत्नी एकाग्रचित्त होकर पवित्र निष्ठा से देवताओं के निमित्त समस्त यागादि क्रियाएँ निर्विघ्न रूप से करें।[२]

ऋत्विज :

यज्ञीय कर्मानुष्ठान सम्पादन कराने के लिए कुछ वैदिक विद्वानों की आवश्यकता होती है उन्हें ऋत्विज या ऋत्विग् नाम से अभिहित किया जाता है। छोटे-बड़े यज्ञों के अनुसार यज्ञ कराने वाले ऋत्विजों की संख्या भी नयून अधिक होती है। मनु के अनुसार यज्ञ वाला ऋत्विक ब्राह्मण जातीय वेदज्ञ ही हो सकता है। क्षत्रिय आदि कोई दूसरा यज्ञ ही हवि को नहीं भोग सकता। या भोज में वेदज्ञ ब्राह्मण ही भाग ले सकता था।

यज्ञ सम्पादन कराने वाले ऋत्विज् साधारणत: सात होते थे उन्हें याज्ञिक भी कहते थे। इन्हें होतृ पोतृ नोण्ड अग्नीत्र प्रशास्तृ अध्वर्यु तथा ब्राह्मान् (ब्रह्मा) नाम से अभिहित करते हैं। इन्हें सप्तहोतृ भी कहते थे। परन्तु पा.गृ.सू. में सातों का उल्लेख प्राप्त नहीं होता है मात्र ब्रह्मा आध्वर्यु का वर्णन ही प्राप्त होता है। परन्तु अपरोक्ष रूप से यज्ञ में सातों ऋत्विको की भूमिका निहित है।[३]

ब्रह्मा :

यज्ञीय कार्य सम्पादन के निमित्त कर्मकाण्ड में नैष्ठिक पवित्र ब्राह्मण को ब्रह्मा[४] कहा गया है। सभी कर्मों ने निष्णात ब्रह्मा का वरण किया जाता है। गृह्यसूत्रों में ऐसा विधान है कि यदि ब्रह्मा का अभाव

---

१. सर्वाभ्यो वा एव देवताभ्य आत्मानं आलभते यो दीक्षते। ऐ.ब्रा. ७.३

२. अथवाच यच्छति। वाग्पै यज्ञेऽविक्षुब्धो यज्ञं तनवा इत्यथ प्रतपति। श.ब्रा. १.१.२.२

३. ब्राह्मण ग्रन्थ एक अनुशीलन – डॉ. रञ्जना – पृ. ९९

४. ब्राह्मण त्वां – ब्रह्मा भवेति। पा.गृ.सू. पृ. ३ १/१/२ हरिहर भाष्य

हो तो पचास कुशो से निर्मित ब्रह्मा का ही वरण कर लेना चाहिए।[१] शतपथ ब्राह्मण के अनुसार जो ऋत्विक व्यक्तियों को जानता है वह ब्रह्मा होने का पात्र है। सम्पूर्ण यज्ञ का रक्षक होने के नाते वह समस्त कर्मकाण्ड पर कड़ी दृष्टि रखता है।[२] सामान्यतया ब्राह्मणों के अनुसार ब्रह्मा को तीनों वेदों का ज्ञानी होना चाहिए।[३] वेदि के एक कोने में ऐसी जगह बैठने हेतु उसका स्थान नियत रहता है जहाँ कि वह सम्पूर्ण यज्ञशाला पर दृष्टिपात कर सके। वह त्रुटि हेतु प्रायश्चित करता है।

अध्वर्यु :

यज्ञ क्रिया में प्रमुख ऋत्विक होता है। यह यजुर्वेद का ज्ञाता होता है तथा यजुर्वेद से सम्बन्धित कार्य सम्पादित करता है। यज्ञशाला में अपने कृत्य बाहुल्य एवं महत्वपूर्ण अन्य व्यवहारिक कार्यों के कारण वह प्रमुख स्थान प्राप्त करता है। श.ब्रा. में अध्वर्यु को मस्तिष्क कहा गया है। उसके मुख्य कार्य यज्ञकर्ता के लिए गृहों को ले जाना हवनादि सामग्रियों को ले जाना तथा याज्ञिय घृत का प्रेक्षण करना आदि है।

आचार्य :

पा.गृ.सू. में आचार्य का उल्लेख हुआ है। आचार्य अनेक प्रकार के कर्मों को स्वयं करने वाला और दूसरों को कराने वाला तथा सम्पूर्ण धर्म एवं विधि को जानने वाला ब्राह्मण आचार्य कहलाता है।[४]

वेदोक्त मार्ग से यज्ञकर्म को कराना और यज्ञ मण्डप में उपस्थित समस्त ऋत्विज को यथायोग्य कार्यों में लगाना तथा उनके कार्यों का भलीभाँति निरीक्षण करना आचार्य का कार्य है। आचार्य को न किसी

---

१. पा.गृ.सू. १/१/२ ब्राह्मण तदभावें पञ्चाशत्कुशनिर्मितम्। हरिहर भाष्य पृ. ३

२. अथ अध्वर्युः प्रोक्षणीरादाय उपोन्तिष्ठन, आह ब्रह्मन प्रचरिष्याम् ब्रह्म वै यज्ञस्य दक्षिणत आस्ते अभिगोप्ता तमेवैतदाह अप्रमत्त आस्स्यइति। श.ब्रा. १४.१.३.२

३. गो.ब्रा. १.२.१९, १.५.२४

४. नानाविधानि कर्माणि कर्ता कारयिता च यः
सर्वधर्मविधिज्ञश्च स वै आचार्य उच्चते। यज्ञमीमांसा पृ. १८७

से मित्रता न शत्रुता करने वाला, ब्रह्माविष्णु महेश त्रिदेव के समान स्नेह भोजन वास्तुशास्त्र का पूर्ण परिज्ञाता सर्वदोषो से नित्य ही रहित हो उसे आचार्य कहते हैं।[१] उपनयन संस्कार में माणवक के सम्पूर्ण कार्य आचार्य करता है।[२]

सन्ध्या वन्दन :

गृह्यसूत्रकालीन जीवन में संध्या वन्दन का विशिष्ट महत्व था। आश्व.गृ.सू. आप.गृ.सू. गौतम, मनु एवं याज्ञवल्क्य के अनुसार सन्ध्या दो बार की जाती थी प्रथम प्रातः सूर्योदय के पूर्व से ही प्रातः सन्ध्या प्रारम्भ हो जाना चाहिये और जब तक सूर्य का बिम्ब न दीख पड़े तब तक चलती रहनी चाहिये और सांयकाल सूर्य के डूब जाने तथा तारों के निकल आने तक सन्ध्या होनी चाहिये यही सर्वश्रेष्ठ सन्ध्या करने का समय बतलाया गया है। अधिकांश ग्रन्थकारों के अनुसार गायत्री का जप तथा अन्यवत मन्त्र सन्ध्या में प्रमुख है तथा मार्जन आदि गौण है किन्तु मनु की व्याख्या में मेघातिथि ने जप को गौण तथा मन्त्र एवं आसन को प्रमुख स्थान दिया है। प्रातः कालीन सन्ध्या खड़े होकर तथा सन्ध्याकालीन सन्ध्या उत्तर पश्चिम की ओर करनी चाहिए। सन्ध्या करने वाले को स्नान करना चाहिये पवित्र स्थान पर कुश आसन पर बैठना चाहिये यज्ञोपवीत धारण करना चाहिये एवं मौन

---

१. सर्वावयवसम्पूर्णो वेदमन्त्रविशारदः
पुराणवेत तत्वेज्ञो लोभ मोहविवर्जितः
कृष्णसारमये देश्चो उत्पन्नश्च शुभाकृतिः।
शौचाचारपरो नित्यं पाषाणकुलानिः स्पृहः
समः शप्रो च मित्रे च ब्रह्मोपेन्द्रारप्रियः
उहापोहार्थतत्वज्ञो वास्तु शास्त्रस्य पारगः।
आचार्यश्च भवेन्नित्यं सर्वदोष विवर्जितः। मत्स्य पुराण २६५/२-५
सत्यवाक् धृतिमान् दक्षः सर्वभू दयापरः
आस्तिको वेदनिरतः शुचिराचार्य उच्यते
वेदाध्ययन सम्पन्नो वृत्तिमान्विजितेन्द्रियः
न याजयेद वृत्तिहीनं वृणुयाच्च न त गुरुम्। पा.गृ.सू. पर यम का कथन
सुधाकर मालवीय – पृ. ३५ पर

२. शिरसमलङ्कृत मानयन्ति आचार्यपुरुषाः आचार्य समीपम्। वही।

रहना चाहिये। सन्ध्योपासन की प्रमुख क्रियायें ये हैं– आचमन, प्राणायाम, मार्जन, (मन्त्रों द्वारा अपने ऊपर तीन बर जल छिड़कना) अघ्रमर्षण, अर्ध्य (सूर्य को जल देना) गायत्री जप एवं उपस्थान (प्रात: काल सूर्य की और सन्ध्याकाल सामान्यत: वरुण की प्रार्थना मन्त्रों के साथ करना) है।[१]

आचमन :

आचमन बैठकर उत्तर या पूर्व दिशा में करना चाहिये इसके लिये पवित्र स्थान होना चाहिये। जल को अधरो से तीन बार स्पर्श करना चाहिये। गीले दाहिने हाथ से आँख कान नाक उर एवं सिर छूना चाहिये। आचमन का जल ब्राह्मणों के लिये हृदय तक क्षत्रियों के लिये कण्ठ तक एवं वैश्यों के लिये तालु तक होना चाहिये। आचमन की क्रिया सामान्यत: सभी धार्मिक क्रियाओं में देखी जाती है। भोजन करने से पूर्व एवं पश्चात् भी आचमन किया जाता है।[२]

प्राणायाम :

प्राणायाम के समय गायत्री का शिर: ओम् के साथ समन्वित तीनों व्याहृतियों एवं गायत्री मन्त्र मन ही मन दुहराये जाते हैं। प्राणायाम के तीन अंक हैं पूरक (बाहरी वायु भीतर लेना) कुम्भक (लिये हुए श्वास को रोके रखना) एवं रोचक फेफड़ों से वायु बाहर निकालना)। मनु ने भी प्राणायाम की बहुत प्रशंसा की है।[३]

अर्घ्य (सम्मान के साथ सूर्य को जलार्पण :

इसमें दोनों जुड़े हुए हाथों से जल लेकर गायत्री मन्त्र करते हुये सूर्य की ओर उन्मुख होकर तीन बार जल गिराना होता है।

---

१. वैदिक वाङ्मय का विवेचनात्मक इतिहास सप्तम खण्ड कल्पसूत्र– कुन्दन लाल शर्मा पृ. ३९१

२. अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा, अमृतापिधानमसि स्वाहा
सत्यं यश: श्रीर्मयि श्री: श्रयतां स्वाहा। आश्व.गृ.सू. १.२४ मा.गृ.सू. १.९

३. पा.गृ.सू. २/५

जप :

याज्ञवल्क्य आदि ने गायत्री एवं अन्य मन्त्रों के जप को सन्ध्या पूजन का एक भाग माना है। जप तीन प्रकार का होता है। वाचिक (स्पष्ट उच्चारित) उपांशु (अस्पष्ट) एवं मानस (मन में कहना) जिनमें अन्तिम सर्वोत्तम माना जाता है। जप करने से पाप कट जाता है।

न्यास :

न्यास का प्रयोजन शरीर के अति महत्वपूर्ण अंगों में पवित्रता की भावना भरना, उनकी दिव्य चेतना को एकाग्र करना। अनुष्ठान काल में उनके जाग्रत देवत्व से सारे कृत्य पूरे करना तथा इसके अनन्तर ही इन अवयवों को इन्द्रियों को सशक्त एवं संयत बनाये रखना। इस कृत्य में बायें हाथ में हथेली पर जल लेकर दाहिने हाथ की पाँचों अँगुलियों को इकट्ठा करना उन एकत्रित अँगुलियों को हथेली वाले जल में डुबोकर मुख नासिका नेत्र कर्ण भुजाये तथा जंघाओं का स्पर्श करना चाहिये।[१]

गृहस्थ के पञ्च महायज्ञ का विवरण[२]

कर्म तीन प्रकार के होते हैं नित्य नैमित्तिक और काम्य जिन कर्मों के करने से किसी फल की प्राप्ति न होती हो और न करने से पाप लगे उन्हें नित्य कहते हैं।[३]

---

१. वाङ्मे आस्येऽस्तु
नर्सोमे प्राणोऽस्तु
अक्ष्णोर्मे चक्षुरस्तु
कर्णयोर्मे श्रोत्रमस्तु
बाह्वोर्मे बलमस्तु
उर्वोमे ओजोऽस्तु
अरिष्टानि मेऽङ्गानि तनूस्तन्वा मे सह सन्तु। पा.गृ.सू. १.३.२५
कर्मकारण भास्कर – श्री राम शर्मा पृ. ३८

२. पञ्चमहायज्ञा इति श्रुतेः। पा.गृ.सू. १/२२६ पृ. १८

३. सर्वे गृहस्थैः पञ्चमहायज्ञा अहरहः कर्तव्याः।

पञ्चमहायज्ञ करने से आत्मोन्नति आदि अवान्तर फल की प्राप्ति होने पर भी 'पञ्चसूना' दोष से छुटकारा पाने के लिए शास्त्रकारों की आज्ञा है।[१] गृहस्थमात्र को प्रतिदिन पञ्चमहायज्ञ करने चाहिए। इससे यह स्पष्ट है कि पञ्चमहायज्ञ करने से पुण्य प्राप्ति नहीं होती किन्तु न करने से पाप का प्रादुर्भाव अवश्य होता है।

जीवनयात्रा में सहज ही हजारों जन्तुओं का प्रतिदिन हिंसा होती है। जैसे चलने फिरने में भोजन के प्रत्येक ग्रास में तथा श्वास प्रश्वास में जीव की हिंसा अवश्य होती है। प्राणधारी मनुष्य के लिए इन पापों से बचना कदापि सम्भव नहीं है। अतः इन पापों से मुक्त होने के लिए महामहिमशाली महर्षियों ने पञ्चमहायज्ञ का विधान बताया है।[२]

प्रत्येक गृहस्थ के यहाँ चूल्हा चक्की बुहारी (झाडू) ऊखल और जलपान से पाँच प्रकार के हिंसा के स्थान है। इनसे होने वाली हिंसा की निष्कृति के लिए महर्षियों ने गृहस्थों के लिए प्रतिदिन पञ्चचमहायज्ञ करने का विधान कहा है।[३] इनका सर्वप्राचीन उल्लेख श. ब्रा. में किया है।[४]

उत्तरकाल में मनुस्मृति में इन्हें क्रमशः प्रहुत, ब्रह्मयहुत, प्राशित, हुव तथा आहुत संज्ञाये दी गयी है।[५] शा.गृ.सू. ने इन संज्ञाओं को अन्य अर्थों में प्रयुक्त किया है उसके अनुसार पाकयज्ञ चार प्रकार के होते हैं– हुत, अहुत, प्रहुत तथा प्राशित जिनकी व्याख्या में कहा गया

---

१. पञ्चसूना गृहस्थ चुल्ली पेषष्युपस्कर:
कण्डनी चोदकुम्भस्य बाध्यते यास्तु वाध्यन्
तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थ महर्षिभि:
पञ्च कलृप्ता महायज्ञाः गृहमेधिनाम् मनु. ३/६८/६९

२. यज्ञ मीमांसा – वेणीराम शर्मा पृ. ३१

३. भूतयज्ञो मनुष्ययज्ञः पितृयज्ञो देवयज्ञो ब्रह्मयज्ञो– श.ब्रा. ११.५.५१

४. पञ्च वा एते महायज्ञाः सतति प्रतायन्ते सतति सन्तिष्ठन्ते देवयज्ञः
पितृयज्ञो, मनुष्ययज्ञो भूतयज्ञो ब्रह्मयज्ञ – तै.अ. २.१०

५. मनुस्मृति

है[१]– हुत तो अग्निहोत्र प्रभृति यज्ञ है। बलिहरण अहुत है प्रहुत पितृयज्ञ है तथा ब्राह्मण भोजन को कहते हैं।

(१) देवयज्ञ :

पञ्चमहायज्ञों में सर्वप्रथम देवयज्ञ है। देव शब्द से जिस प्रकाश का तात्पर्य है वह प्रकाश आत्मिक प्रकाश है जिसकी आत्मा परिष्कृत हे उसके मुख पर एक प्रकार का दिव्य तेज दृष्टिगोचर होता है। इसलिए कहा जाता है कि देवयज्ञ गृहस्थ मनुष्य के आत्मिक विकास के मार्ग में सहायक होता है तथा उसे आत्म साक्षात्कार होता है।

गृहपति सायंप्रातः याज्ञिक पक्वान्न अग्नि में विभिन्न देवताओं को स्वाहा शब्द से समर्पित करता है।[२] यथा अग्नये स्वाहा इन देवताओं के विषय में गृह्यसूत्रों में पर्याप्त मतभेद पाया जाता है तो भी ये देवता बहुत उल्लिखित हैं– अग्नि सोम प्रजापति धन्वन्तरि विश्वेदेवा, स्विष्टकृत तथा ब्रह्मा।[३] प्रातःकाल में सूर्य के साथ प्रजापति को भी आहुति देने का विधान है तथा सायंकाल में अग्नि के साथ भी प्रजापति को आहुति दी जाती है।[४] ये आहुतियाँ धान यव अथवा तिलो की भी हो सकती है।[५] अग्नि में एक समिधा बिना मन्त्र के डाल कर अनुपर्युक्षण करके अग्नि की प्रदक्षिणा करके जल को चारों ओर

---

१. चात्वारः पाकयज्ञाः हुतोहुतः प्रहुतः प्राशित इति। तत्र हुतः होममात्रं यथा सायं प्रातर्होमः। अहुतः होमबलि रहितं कर्म यथा स्तस्तरारोहणम्। प्रहुतो यत्र होमोबलिकर्म भक्षणं च। प्राशितः यत्र प्राशनमात्रं न होमो न बलिः। पा.गृ.सू. १/४/१ हरि भाष्य पृ. २७

२. शा.गृ.सू. १.१०.७ आश्व.गृ.सू. १.१.२–३
अग्नये स्वाहा सोमाय स्वाहा प्रजापतये स्वाहा।

३. शा.गृ.सू. २.१४.१४ आ.गृ.सू. १.२.१–३, वैश्वदेवादन्नात पर्युदय स्वाहाकारैर्जुहुयात, ब्रह्मणसऐ, प्रजापतये, गृहाभ्यः कश्यपामानुमतय इति पा.गृ.सू. २/९/२ पृ. ३११ बौ.गृ.सू. २,८,९ गो.गृ.सू. १.४.४

४. भार.गृ.सू. १.१८, मा.गृ.सू. २.३.१८ आप.गृ.सू. ३.७, १–२१ हि.गृ.सू. १.२३ ८–९ पा.गृ.सू. १.९.१–४

५. आ.गृ.सू. १.९.५.८

छिड़क कर जलपात्र को पुनः भर लिया जाता है।[1] इसका सम्पादन केवल एक काष्ठ के टुकड़े से भी हो सकता है[2] इसे वैश्वदेव की संज्ञा दी गयी है क्योंकि इस यज्ञ में घर के समस्त देवताओं की आहुति दी जाती है।[3]

देवयज्ञ में आहुति आवसथ्याग्नि के अतिरिक्त लौकिक अग्नि में भी दी जाती है। उसी में देवताओं को आहुति देने का नियम है।[4] परन्तु यदि घर में कोई भी अग्नि, अर्थात् गार्हपत्य आह्वनीय या दक्षिणाग्नि या लौकिक अग्नि न हो तो उस स्थिति में जल अथवा पृथ्वी पर आहुति छोड़ देनी चाहिए।[5] वैश्वदेव या देवयज्ञ में देवताओं को पक्वान्न अर्पित किया जाता है यह पवित्र अन्न के हविष्य एवं हविष्य के बने हुए व्यञ्जनों से मुक्त होता है।

वैश्वदेव में अग्नि में आहुति के अतिरिक्त पृथ्वी पर भी कतिपय देवताओं को हवि देने का विधान बताया है। अतः पृथ्वी को स्वच्छ करके वासुदेव संकीर्षण आदि देवताओं को बलि देनी चाहिए।[6] यह

---

१. गो.गृ.सू. १.३.१२

२. अहरहर्देवेभ्यः स्वाहा कुर्याक्षकाष्ठस्तथैनं देवयज्ञं समाप्नोति।
बौ.ध.सू. २.६.११.२

३. विश्वे सर्वे देवता यस्येति वेश्वदेवमन्नम्। पा.गृ.सू. २/९/२ गदधरभाष्य पृ. ३१०
गृहदेवताभ्यो बलिं हरेत्। बौ.ध.सू. ११-३, गृ.र.-पृ. २१४

४. लौकिक वैदिक वापि हुतोत्सृष्टे जले द्वितौ
वैश्वदेवश्च कुर्वति पञ्चसूनापनुत्तये। ज्ञाता. गृ. रत्नाकर पृ. २१२

५. अगिरा गृ.र. पृ. २१२

६. पा.गृ.सू. २९.२-८ गौ.ध.सू. १.५.९-१५
एवं सम्यक नक्तञ्चरेभ्य एव च। मनु. २.८७.९० वि.स्मृ. ६७.१.२.२
वि.पु. ३.११.४१-४६ सम्पूजयेत्ततो दद्याच्चोतरतस्ततः।
मार्क.पु . ३४.९४-१००

कर्म जीवन पर्यन्त अश्वमेघादि महायाग में अवभृथ स्नान पर्यन्त प्रतिदिन करने का निर्देश है यदि चाहे तो पत्नी भी कर सकती है।[१]

उपर्युक्त विवरण से ज्ञात होता है कि देवयज्ञ में देवताओं के निमित्त अग्नि में होम किया जाता है यह एक प्रकार का अग्निहोत्र कर्म है इसके द्वारा देवताओं को प्रसन्न किया जाता है एवं उनकी प्रसन्नता से गृहस्थ व्यक्ति को मंगलमय अभीष्ट वस्तुओं की प्राप्ति होती है। हवन में प्रयुक्त होने वाली अन्य सामग्री में भी ऐसे ही द्रव्य मिश्रित रहते हैं जो वैद्यक शास्त्र के अनुसार रोग कीटाणुओं को नष्ट कर वातावरण को निर्मल एवं शुद्ध बनाते हैं। उर्ध्वमुख अग्नि शिखा जीवन को ऊपर ले जाने की प्रेरणा देती है। वेदीं के चारों ओर जल का छिड़काव मर्यादित जीवन की ओर इंगित करता है।

आत्मिक बल प्राप्त करने के लिए जीवन को यज्ञमय बनाने के लिए देवयज्ञ को दैनिक दिनचर्या का एक आवश्यक अंग माना गया है। यह हित एवं निःस्वार्थ भावना का सर्वोत्तम उज्ज्वल रूप है जिसमें सभी मिलकर इदं न मम की आहुतियाँ डालते हैं। यज्ञ को देव तक ले जाने वाला एवं पवित्र कहा गया है।

पितृयज्ञ

दूसरा यज्ञ पितृयज्ञ कहा जाता है। इस यज्ञ का विधान पितरों की तृप्ति के लिए किया जाता है इसी कारण मनु ने पितरों के तर्पण को पितृयज्ञ कहा है।[२] इसी को श्राद्ध संज्ञा भी दी गयी है। इसका सम्पादन तीन प्रकार से हो सकता है यथा तर्पण प्रतिदिन श्राद्ध एवं बलिहरण से। तर्पण के अन्तर्गत पितरों को स्वधा कहकर जल से तृप्त करके पितृश्राद्ध कर्म के फल की प्राप्ति होती है।[३]

---

१. गो.गृ.सू. १.३.१३-१५

२. पितृयज्ञस्तु तर्पणम् मनु. ३.७०

३. अहरहः स्वधा कुर्यादोयामात्रातथैनं, पितृयज्ञं समाप्योति– बौ.ध.सू. २.६.११.३
स्वाधाकारः पितृणांच। स्वधाकारेण निर्वतेत पित्र्यं बलिमतः परम।
का.स्मृ. १३.१२.१३
पितृभ्य इदमुक्त्वेति स्वधाकारञ्च कारयेत्। का.स्मृ. २.९.९

प्रतिदिन के श्राद्ध में कम से कम ब्राह्मण को भोजन खिलाना चाहिए बलिहरण के अन्तर्गत बचे हुए समस्त अन्न को दक्षिण दिशा में पितरों के लिए स्वधा एवं नमस्कार के साथ अर्पित किया जाता है।[1]

संक्षेप में कहा जा सकता है कि पितरों की तृप्ति के लिए उनके सम्मान के लिए अपनी कृतज्ञता के प्रदर्शन और उनसे उऋण होने के लिए पितृयज्ञ करना नितान्त आवश्यक है।

ब्रह्मयज्ञ

वेदाध्ययन या स्वाध्याय को ही ब्रह्मयज्ञ की संज्ञा दी गयी है।[2] बौ.गृ.सू. के अनुसार गार्हपत्य या औपासन अग्नि के पश्चिम में बैठकर तीन प्राणायाम करके सावित्री का कम से कम दस बार जप करें। तदन्तर प्रत्येक वेद के प्रथम मन्त्रों कुछ अन्य मन्त्रों कुष्माण्ठ मन्त्रों का पाठ करें।[3] आश्व.गृ.सू. के अनुसार ग्राम से बाहर पूर्व अथवा उत्तर दिशा में जाकर स्नानादि करके पद्मासन लगाकर व्याहृतियों सावित्री ऋचाओं ब्राह्मणों कल्पों आदि का स्वाध्याय करें।[4] ब्रह्मयज्ञ करने वाले को स्नानोपरान्त पानी से बाहर निकल कर धुली हुई धोती और दुपट्टा धारण करना चाहिए।[5]

---

१. दक्षिण प्रदेशे पितृतीर्थेन पितृभ्यः स्वधा नम इति बलि दद्यात्।
पा.गृ.सू. पदार्थक्रम पृ. ३१७
पितृभ्यः स्वधा नम इति दक्षिणतः। पा.गृ.सू. २.९.९
पितृभ्यः बलिशेषं तु सर्व दक्षिणतो हरेत्। मनु. ३.९१
स्वधया नम इत्युक्त्वा च पितृभ्यश्चापि दक्षिणे–मार्क. ३४

२. अहरहः स्वाध्यायं कुर्यादाप्रणवस्तथैन ब्रह्म यज्ञ समाप्नोति। बौ.ध.सू.– .६.१६

३. तै.आर. १०.३–५ वा.स.– २०.१४.१६ बौ.गृ.सू. २.९.४५

४. कल्पसूत्र – कुन्दनलाल शर्मा – पृ. ३९८

५. उत्तीर्य धौते वाससी परिधाय – पा.गृ.सू. परिशिष्टानि पृ. ४८३
मदोरु करौ प्रक्षाल्याचम्य। मृदा उदकेन च उरु च क्रमेण। वही

मिट्टी लगाकर हाथ पैर को पुनः धोकर प्राणायाम[१] तीन बार करना चाहिए तत्पश्चात् अञ्जलि में जल फूल लेकर अर्पण विधि से सूर्य दर्शन करने के बाद हाथ से उस फूल व जल को धरती पर गिरा देना चाहिए।[२] पुनः दोनों बाहें उठाकर सूर्य देव को देखते हुए उद्वयन्त उदुत्यम. चित्रं द्यावा, वच्चक्षु. इत्यादि चार ऋचाओं का पाठ करना चाहिए। इसके पश्चात् गायत्री मंत्र का जप करना चाहिए।[३] इसके बाद विभ्राड् अनुवाक पुरुष सूक्त शिवसंकल्प सूक्त तथा यदेवन्मण्डलं तपति प्रभृति मन्त्रोच्चार करते हुए सूर्य की स्तुति करे। फिर सूर्य की प्रदक्षिणा कर उन्हें प्रणाम करें। तत्पश्चात् पूर्व या उत्तर की ओर मुँह करके कुश की चटाई पर बैठ जाये तथा हाथ में कुश की अँगूठी पहन कर वेदाध्ययन से निज स्वाध्याय अर्थात् ब्रह्मयज्ञ करना चाहिए।[४]

अतिथि यज्ञ

गृहस्थ के लिए चतुर्थ यज्ञ अतिथि सत्कार है। इसे मनुष्य यज्ञ या नृयज्ञ की भी संज्ञा दी गयी है। बौ.गृ.सू. के अनुसार अतिथि अथवा ब्राह्मण को भोजन कराना ही मनुष्य यज्ञ है।[५] शा.गृ.सू.[६] में स्पष्ट कहा गया है कि गृहस्थ को कुछ अन्न दूसरों के लिए बिना कभी नहीं खाना चाहिए न ही अकेले खाना चाहिए न दूसरों से पूर्व, क्योंकि श्रुति का वचन है "केवलाघो भवति केवलादी वा।"[७]

---

१. प्राणायामप्रकारश्च – गायत्री शिरसा सार्ध जपेद व्याहृतिशर्विकाम। वही

२. पुष्पाव्यम्बुमिश्राण्यूर्ध्व क्षिप्त्वा। वही

३. अञ्जलिनाऽऽदाय उत्थाय उर्ध्वमुपरि सूर्याभिमुखं क्षिप्त्वा उत्सृज्य प्रणव व्यांहृतिपूर्तिकया गायत्र्या। वही पृ. ४८२

४. गायत्र्या यथाशक्ति विभ्रक्त्यिनुवाषत्केन पुरुषसूक्तेन एहसृशीर्षेत्यादिषोऽशर्वेन शिवसंकल्पेन यज्जागृत द्वत्यादिना षडृचेन मण्डलब्राह्मणेन यदेतन्मण्डलं तपतीत्यादिनोपस्थाय सूर्य स्तुत्वा। तमेव प्रदक्षिणीकृत्य नमस्कृत्योपविशेत् दर्भेषु दर्भपाणिः स्वाध्यायं च यथाशक्त्यादासारम्य वेदम्। पा.गृ.सू. परिशिष्ट पृ. २०५

५. बौ.गृ.सू. २.१.९-३ भार.गृ.सू. ३.१.४

६. पा.गृ.सू. २,९,११-१३, शा.गृ.सू. २,१४,२-२०

७. ऋ. १०,११७-६

दूसरे ग्राम एवं एक रात्रि निवास करने वाला श्रोत्रिय अन्न की अपेक्षा धर्म का पुरस्कृत करके बिना विचार किये और बिना निमन्त्रण के आने वाला व्यक्ति अतिथि कहलाता है।[1] घर पर आए हुए अतिथि के स्वागत के लिए सर्वप्रथम उसे बैठने के लिए आसन[2] एवं पैर धोने के लिए जल देना चाहिए।[3] तदुपरान्त अपनी सामर्थ्यानुसार स्वादिष्ट भोजन खिलाना चाहिए। यदि गृहस्थ के घर में अन्नादि का अभाव हो तो उस स्थिति में तिनके भूमि और जल मधुर वाणी से अतिथि का स्वागत करना चाहिए।[4] इस प्रकार अतिथि यज्ञ एक ऐसा यज्ञ है जिसका पुण्य अग्नि से हवन करने से भी अधिक होता है। अतिथि के घर में आने वाले पर उसको जो-जो पदार्थ दिये जाते हैं वे मानो यज्ञ के अन्दर प्रयुक्त होने वाले पदार्थों के समान ही है। यथा जो अतिथि की ओर देखता है वह मानों देवयज्ञ को ही देखता है जो अतिथि ये बात करता है वह यज्ञ दीक्षा लेने के समान है जो जल माँगने पर जल देता है वह यज्ञ में ले जाने वाला जल है।

भूतयज्ञ

बलियज्ञ या भूतयज्ञ अनन्यागार के भीतर या बाहर किसी भी स्थान में भूमि को शुद्ध करके उस पर एक बार जल छिड़ककर बलि के चार भाग पृथक् पृथक् रख कर उन पर जल छिड़के। इनमें प्रथम बलि देवता की द्वितीय वायु देवता को, तृतीय विश्वदेवा देवता को और चतुर्थ बलि प्रजापति को दी जाती है। तदन्तर परिचरणीय जल को रखने के बाद प्रकोष्ठ के द्वार पर तीन बलि रखें।[5] प्रथम जल देवता को द्वितीय औषधि वनस्पति की तृतीय आकाश की होती है। तदुपरान्त शयन कक्ष अथवा शौचालय में कामदेव के लिए कूड़ा आदि फेंकने के स्थान में राक्षसों के लिए बलि प्रदान करें। अन्त में पात्र के

---

१. असमाव ग्रामीणो तिथिरेकाताश्रिक: गौ.ध.सू. १.५.३६

२. आसन महार्थाह साधु। पा.गृ.सू. १/३/४

३. आहरन्ति विष्टरं पाद्यं पदार्थमुदकमर्धमाचनीयं।। पा.गृ.सू. १/३/४

४. गौ.ध.सू. १.५.३०

५. त्रीन् बलीन् दघात्। पर्जन्य: अद्भयो नम: पृथिव्यै नम:। पा.गृ.सू. २/९/३ हरिहर भाष्य पृ. ३११

शेष अन्न को धोकर पितृतीर्थ से दक्षिण दिशा में पितृगण के लिए फेंक देना चाहिए।

विविध देवताओं के लिए बलि अर्पित करते समय अन्त में नमः शब्द का उच्चारण करना चाहिए। शा.गृ.सू.[1] बलिहरण की विधि भिन्न है। जिसके अनुसार जिन देवतओं को अग्नि में आहुतियाँ दी गयी है उन्हीं को गृह्यद्वार के मध्य में बलि देकर "ब्राह्मणे नमः" से एक आहुति देनी चाहिए।[2] भूतयज्ञ द्वारा गृहस्थ व्यक्ति निर्धन तिरस्कृत अनाथ रोगीजनों तथा पशु पक्षी कृमि कीटाणुओं को खिला पिलाकर उनकी सहायता करता है।

उपर्युक्त यज्ञों के प्रसंग में यही कहा जा सकता है कि ब्रह्मयज्ञ द्वारा गृहस्थ के ज्ञान में वृद्धि होती है और वह ज्ञानपद महर्षिगण का उऋणी और कृतज्ञ बनता है। पितृयज्ञ द्वारा समस्त लोगों की तृप्ति एवं पितरों की त्रुष्टि होती है। देवयज्ञ द्वारा अग्नि वायु आदित्यादि देवों अचेतन दिव्य भौतिक शक्तियों का पूजन और होम द्वारा त्याग की भावना प्रबल होती है। भूतयज्ञ द्वारा सौ आदि पशुओं पक्षियों तथा अन्य प्राणियों का उपकार करने का अभ्यास होता है। अतिथियज्ञ करके गृहस्थ परोपकार में नित्य भ्रमण करने वाले साधु सन्यासी की अन्न वस्त्र मान से यथावत् सेवा करके उनके आशीर्वाद प्राप्त करता है। इस प्रकार से पंचमहायज्ञों को सम्पन्न करते हुए गृहस्थ ऋषि पितृ, देव और मनुष्य ऋण से मुक्त होता है। इनका नित्य अनुष्ठान करने से मनुष्य के जीवन में यज्ञीय भावना का विकास होता है जिससे यह शरीर ब्रह्म प्राप्ति के योग्य बनता है। इन यज्ञों में वह सबको भोग लगाकर अर्थात् खिलाकर पश्चात स्वयं भोग करने का अधिकारी बनता है। इस प्रकार स्वार्थ और परार्थ साधन जैसा सुन्दर समन्वय इन यज्ञों द्वारा स्पष्ट होता है। वैसा अन्यत्र नहीं। अतः इन्हें यज्ञ न कहकर महायज्ञ की संज्ञा देना सर्वथा उचित है।[3]

---

१. शा.गृ.सू. २.१४.४

२. कल्पसूत्र कुन्दनलाल शर्मा– पृ. ३९७

३. वही पृ. ३८५

श्रौतयज्ञ एक परिचय

सम्पूर्ण मानव जीवन यज्ञमय बतलाया गया है। वह श्रेष्ठतम कर्म है।[१] एक स्थल पर सभी मानवीय अवयवों का निरूपण यज्ञांङ्ग के रूप में किया गया है तदनुसार यज्ञ की आत्मा यजमान है श्रद्धा पत्नी है शरीर यज्ञ का ईंधन है हृदय यज्ञवेदी है। कुशमुष्टि (वेद) यज्ञ की शिखा है। कामना आज्य है क्रोध पशु रूप है, तपस्या अग्नि है, दक्षिणा वाणी है, चक्षु अध्वर्यु है, मन ब्रह्मा है और अग्नीत् और अवस्थाओं का प्रतिपादन भी श्रौत यज्ञों के रूप में किया गया है। प्रमुख रूप से यज्ञ द्विविध है– श्रौतयाग और गृह्ययाग।

यद्यपि गृह्ययाग ही मुख्य रूप से गृह्यानुष्ठानों के प्रतिपाद्य है पारन्तु श्रौतयागों का भी उनमें प्रयोग हुआ है इससे स्पष्ट होता है कि श्रौतयागों की यज्ञविधि का अनुसरण गृह्ययज्ञों में किया गया है। श्रौतयज्ञों के अनुष्ठान में तीन से पाँच तक अग्नियों में सम्पन्न होते हैं। इनमें १६ या १७ ऋत्विजों की आवश्यकता होती है। सामान्यतः श्रौतयागो के अनुष्ठानार्थ आहवनीय दक्षिण तथा गार्हपत्याग्नियों की स्थापना की जाती है। विशेष यागों में सभ्य और आवसथ्य संज्ञक दो अग्नियों की स्थापना और की जाती है प्रमुख रूप से यज्ञों के दो प्रकार हैं हर्वियाग और सोमयाग।

हविर्यागो का ही अवान्तर विभाजन इष्टियों और पशुबन्धों के रूप में किया जाता है। हविर्याग सात प्रकार के हैं– अग्न्याधान अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य आग्रायण निरुढ़ पशुबन्ध और सौत्रामणि। इनमें दर्शपूर्णमास सभी हविर्यागो की प्रकृति है। सोमयाग की सात संस्थाए मानी जाती हैं– अनिष्टोम समस्त सोमयागों की प्रकृति है। इष्टियागों की भी सात संस्थाए मानी जाती हैं– अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य षोडशी, वाजपेय अतिरात्र तथा आप्तोर्याम। इष्टियागों में दुग्ध, घृत, चरु तथा पुरोडाश प्रभृति की आहुतियाँ प्रदान की जाती है।

---

१. वैदिक वाङ्मय का वृहद इति. वेदांङ्ग पृ. १६३

गृह्ययागों का परिचय

गृह्यसूत्रों का प्रतिपाद्य गृह्ययाग है। अतः शुक्लयजुर्वेदीय गृह्ययागों का वर्णन यहाँ अपेक्षित संक्षिप्ततया उनका यहाँ वर्णन किया जा रहा है—

अग्निहोत्र :

अग्निहोत्र सायंकाल प्रातःकाल अग्नि के उद्देश्य से क्रियमाण विशेष कर्म है। इसे न करने से पाप लगता है। इस याग में प्रातःकाल समय का मुख्य देवता सूर्य होता है और सायंकाल का मुख्य देवता अग्नि। प्रजापति दोनों समय अंगदेवता होता है। इस याग की महत्ता व्यक्त करता हुआ कथन दृष्टव्य है जिस प्रकार क्षुधातुर बालक सर्वथा माता के समीप आते हैं वैसे ही प्राणी अग्निहोत्र की उपासना करते हैं।[१] इसमें दुग्ध मुख्य द्रव्य है और यवागू तथा तण्डुलादि काम्य प्रयोजनानुवर्तित द्रव्य है।

आग्रहायणी कर्म (यज्ञ) :

नवान्न उत्पत्ति के अनन्तर इसका अनुष्ठान करना चाहिए। इसका अनुष्ठान मार्गशीर्ष का पौर्णमासी को करना चाहिए।[२] इसमें घी की दो आहुतियाँ सर्वप्रथम अपश्वेतपदा जहि[३] इत्यादि मन्त्र पढ़कर डालनी चाहिए इसके पश्चात् यां जनाः[४] इत्यादि चार आहुतियाँ घी की और

---

१. स योऽनुदिते जुहोति यथा कुमाराय व वत्साय वा जातायं स्तनं प्रति दध्यात् तावृक्तत् तस्मादुदिते होतव्यम्। ऐ.ब्रा. २.२.७
योऽस्तमिते सायं जुहोति उदिते प्रातः – सत्यं हास्य वदतः। ऐ.ब्रा. २.१

२. मार्गशीष्यमि् आगृहायष्यां पौर्णमास्यामगृहायणीसञ्ज्ञं कर्म भवति। पा.गृ.सू. २३/२३/१ पृ. १८०

३. अपश्वेतपदाजहि पूर्वेण चापरेण च। सप्त च वारुणीरिमाः प्रजाः सर्वाश्च राजाबान्धवैः पा.गृ.सू. २/१४/१९ पृ. १६२

४. यां जनाः प्रतिनन्दति वात्रीं धेनुमिवायतीम्। सतत्सरस्य या पत्नी सा नो अस्तु सुमंगलीस्वाहा। संवत्सरस्य प्रतिमा या तां रात्रीमुपास्हे प्रजां सुवीर्यां कृत्वा दीर्घमायुर्व्यश्नवैस्वाहा। संवत्सराय परिवत्सरायेदावत्सरायेदुव्सराय

डाली जाती हैं।[1] तत्पश्चात् उनसे प्रार्थना की जाती है कि हमें सुबल पुत्र पौत्रादि और दीर्घायु प्रदान करे, हमारी बुद्धि सुन्दर हो, हम अजेय बने रहे तथा ग्रीष्म, वर्षा, हेमन्त वसन्त और शरद ॠतुएँ हमारे लिए कल्याणकारी बनें। हमें अभय बनायें। फिर श्रवणाकर्म के अवसर पर तैयार किये गये सतुओं में से कुछ का भक्षण करके शेष को सूप में लेकर दरवाजे पर श्रवणाकर्म की तरह उपनिष्क्रमण से मार्जन तक की क्रिया का सम्पादन करता है।[2] इसके बाद होमाग्नि के पश्चिम में कुश का आसन फैलाकर उस पर एक बार का धुला वस्त्र बिछाकर स्नान के बाद नवीन वस्त्र धारण करके गृहपति उस आसन पर बैठ जाये, गृहपति के उत्तर में उसकी पत्नी और उसके उत्तर में घर के अन्य छोटे लोगों को बैठना चाहिए।[3] होमाग्नि के दाहिने ब्रह्मा को बैठाकर उत्तर की ओर जलपूर्ण कलश, शमी वृक्ष की डाल, हल जोतने से निकली हुई मिट्‌टी का ढेला और पत्थर का टुकड़ा रखना चाहिए।[4] फिर गृहपति को होमाग्नि की ओर देखते हुए अयम् -------नाविति[5] का जाप करना चाहिए। इसके पश्चात् गृहपति ब्रह्मा से पूछे– हे

वत्सराय कृणुते वृहन्नमः। तेषां वयं सुमतो यज्ञियानां ज्योग्जीता अहता स्याम स्ववाहा ग्रीष्मो हेमन्तः उतनो वसन्तः शिवा वर्षा अभया शरन्नः। तेषामृतूना शवशारदानां निवात एषामभयेवसेम स्वाहेति।। पा.गृ.सू. ३/२/२ पृ. १९

१. चतुर्भिमन्त्रैः स्वाहान्वैश्चतस्त आज्याहुतीर्जुहोति इति। वही – हरि.भा. पृ. १८१

२. प्राशनान्ते सक्तुशेषठं शूर्पे कृत्वा उपनिष्क्रमणादि अग्यार्जनात् द्वारदेशे मार्जनं यावत् श्रवणाकर्मवत्कुर्यात्। वही पृ. १८१

३. अहतं च वसनं सकृत्प्रक्षालिते प्रत्येकं वस्त्रं तदुपरि आस्तीर्येति सम्बन्धः। वही

दक्षिणतः स्वामी गृहपतिर्भवति, तस्योत्तरा जाया पत्नी तरू उत्तरतः अपत्यानीति शेषः। वही

४. दक्षिणतो ब्राह्मणमुपवेश्योत्तरत उदपात्रढं शमीशाखसीतलोष्ठामनो निधायाग्निमीक्षमाणो जपत्ययमग्नि वीरतेम इति – वही ३/२२७

५. अयमग्नि र्वीरतमोऽयं भगवत्तमः सहस्रसातमाः सुवीर्योऽयं श्रेष्ठयैदधातु नाविति। वही – ३/२/७ पृ. १९१

ब्रह्मन्! मैं प्रत्यवरोहण करूँ।[१] ब्रह्मा से आदेश प्राप्त करने के बाद स्त्री पुरुष सभी को मिलकर पूरब की ओर[२] सिर करके भूमि पर बिछे हुए बिस्तर पर शयन करना चाहिए।[३]

उदायुषा[४] ----- यह मन्त्र पढ़ते हुए बिछावन से उठना चाहिए। इसके बाद चार महीने तक धरती पर सोने का विधान किया गया है। आग्राह्यणी यज्ञ के विषय में गृह्यसूत्रों में परस्पर विभेद पाया जाता है।

आग्रायण अथवा नवान्नप्राशन

आग्रायण या नवान्नप्राशन नवीन अन्न के तैयार होकर घर लाने पर यह यज्ञ किया जाता है। शा.गृ.सू., पा.गृ.सू. तथा आप.गृ.सू. में इसका विधान मुख्य रूप से अनहिताग्नि के लिए किया गया है।[५]

यद्यपि आश्व.गृ.सू. में नवान्नप्राशन का विधान अहिताग्नि तथा अनाहिताग्नि दोनों के लिए किया गया है। इसमें यजमान नवान्न से स्थालीपाक तैयार करके दो भाग प्रदान करके दो आज्याहुतियाँ प्रदान करता है।[६] आग्रायण देवताओं में इन्द्र अग्नि विश्वेदेव तथा द्यावा पृथिवी को स्थालीपाक प्रदान करके अग्निस्विष्टकृत को एक आहुति दी जाती है। तदन्तर मन्त्र सहित नवान्नभक्षण किया जाता है।[७] जो व्यक्ति अनहिताग्नि हो उसे नवान्न भक्षण से पूर्व शरद और वसन्तकाल में उत्पन्न नवान्न का स्थालीपाक बनाकर अग्नि और सोम की आहुतियाँ

---

१. ब्राह्मणमामन्त्रयते – ब्राह्मान् प्रत्यवरोहानेति। पा.गृ.सू. ३/२/१०

२. ब्रह्मानुशाताः प्रत्यवरोहन्त्यायुः

३. प्राक् पूर्वस्यां दिशि शिरो येषां ते प्राक्शिरसः दक्षिणापार्श्वैः उदङ्मुखा सविशन्ति। पा.गृ.सू. ३/२/१३

४. उदायुषा स्वायुषोत्पर्जन्यरय वृष्टया पृथिव्याः सप्तधामभिरिति। वही १३/१२/१४ पृ. ३८१

५. अनहिताग्निर्नवप्राशनम्। ३/१/१ पृ. ३७४

६. स्थालीपाकं चरु पक्त्वाऽऽज्यभागायोनरन्ते शतायुधायेति प्रतिमन्त्रं द्वे आज्याहुति जुहेति। १२/१/२-२

७. स्थालीपाकस्य आग्रयण देवताभ्य इन्द्राग्नी, विश्वेदेवा घावापृथिवी इत्येताभ्यः प्रत्येकमेकै- कानाहूति हुत्वा स्विष्टमग्न इत्यनेत मन्त्रेण। वही। ३/१/३

देने के बाद "शतायुधाय[१] -------- इन मंत्रों का उच्चारण करते हुए घी की दो आहुतियाँ डालनी चाहिए। इसके बाद स्थालीपाक से आग्रायण देवताओं, इन्द्राग्नि, विश्वेदव और घावपृथिवी में से प्रत्येक को एक एक आहुति प्रदान कर "स्विष्टमग्ने[२] ------- इत्यादि पढ़कर घी की एक आहुति दें। फिर स्विष्टकृत अग्नि को स्थालीपाक से "स्विष्टकृते स्वाहा" कहकर एक आहुति देकर पुनः "स्विष्टमग्ने -----" इत्यादि मन्त्र से घी की आहुति डालें।[३] शेष नौ आहुतियों से होम कर "होम कर "अग्नि प्रथमः" अथवा अन्नपते ----- इत्यादि ऋचाओं को पढ़ते हुए स्रंसव प्राशन करें। तत्पश्चात् "एतमुत्य" ---- इस मन्त्र का जाप करना चाहिए।[४] फिर ब्राह्मणों को यथाशक्ति भोजन करना चाहिए।

कौशिक सूत्र का कथन है कि आग्रायण के अवसर पर शरद ऋतु में जल या दूध के साथ चावल का स्थालीपाक बनाकर सोम को आहुति समर्पित करनी चाहिए। अनुष्ठानकर्ता को अपनी सामर्थ्य के अनुसार ग्रीष्मकाल में एक नवजात बछड़ा तथा शरदकाल में एक वस्त्र अनुष्ठान की दक्षिणा स्वरूप ब्राह्मणों को प्रदान करनी चाहिए।[५]

चातुर्मास्य यज्ञ

चातुर्मास्य यज्ञों का सम्बन्ध ऋतुओं से है। इनका सम्पादन ऋतुओं के सन्धिकाल में किया जाता है। इसका विस्तृत वर्णन गृह्यसूत्रों

---

१. शतायुधाय शतवीर्याय शतोतये अभिमतिपाहे। शतं मो नः शरदोऽजीजान्द्रिनेषदति दुरितानि विश्वा स्वाहा।
ये चत्वारः पथयो देवयाना अन्तरा द्यावापृथिवी वियन्ति। तेषां योऽजानिभ जीजिमावहास्तमै नो देवाः परिधत्तेह सर्वे स्वाहेति। वही ३/१/१ पृ. २७४

२. स्विष्टमग्ने अभितृप्पृवीहि विश्वांश्च देवः पृतना अविष्यत्
सुगन्नु पन्थां प्रदिशन्न एहि ज्योतिग्मद्वयेहतजरन्न आयुः स्वाहेति।
वही पृ. ३७५

३. पा.गृ.सू. ३/१/३

४. वही ३/१/४-५

५. पा.गृ.सू. ३/१/६

में प्राप्त नहीं होता है। इसका नामोल्लेख एक स्थान पर स्पष्ट है चार मासों के उपरान्त नवीन ऋतु के आने पर यह यज्ञ किया जाता था ये संख्या में चार होते हैं– (१) वैश्वदेवयज्ञ (२) प्रघासयज्ञ (३) साकमेधयज्ञ (४) शुनासीरीव यज्ञ इनका फल आरोग्य प्रदान करना माना गया है। ऋतु परिवर्तन के समय अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं। इन रोगों से मुक्ति पाने के लिए ऋतु सन्धि पर इन यज्ञों को किया जाता था। अतः इन्हें भेषज्य यज्ञ कहा है।[१]

(क) वैश्वदेवयज्ञ :

इस यज्ञ का संपादन बसन्त ऋतु में फाल्गुन मास की पूर्णिमा के दिन किया जाता था। फाल्गुन मास की पूर्णिमा को संवत्सर का मुख कहा गया है।[२] वैश्वदेव में अग्नि सोम सविता सरस्वती पूषा मरुत विश्वेदेव और द्यावापृथिवी इन आठ देवताओं की आहुति दी जाती थी। इस यज्ञ को प्रथम कर्म कहा गया है। तथा इस यज्ञ में प्रथम उतान्न गौ को दक्षिणा में दिया जाता था। इस यज्ञ में अश्वों के लिए भी यज्ञ किया जाता था जिससे अश्व सहित देवता प्रसन्न हाते थे।[३]

पा.गृ.सू. के अनुसार इन्द्र को वैश्वदेव में रखा जाता है। पारस्कर के अनुसार भादों के मास की पूर्णिमा को इन्द्र यज्ञ का अनुष्ठान करना चाहिये।[४] इसके लिये खीर और पुये पकाकर अग्नि और सोम की आहुतियाँ डालकर इन्द्राय ----- प्रभृति ५ मंत्र पढ़कर घृताहुतियाँ डालें[५] तदनन्तर इन्द्र के लिये एक पायस आहुति होम कर स्विष्ट कृदादि होम करना चाहिये। संस्रवप्राशन के अनन्तर मरुद्गण के लिये बलि प्रदान करना चाहिये क्योंकि वेदों का कथन हे कि मरुद्

---

१. ऋग्वेदीय ब्राह्मणो का सांस्कृतिक अध्ययन आचार्य वलवीर पृ. २४२

२. मुख वा एतत्संवत्सरस्य यत्फाल्गुनी पौर्णमासी – कौ. ब्रा. ५.२

३. देवाः साश्वा प्रीता भवन्ति। कौ. ब्रा. ५.२

४. प्रौष्ठपदी भापदी पौर्णमासी इन्द्रयज्ञ नामधेयं कर्म भवति। पा.गृ.सू. २/१५/१

५. पायसमैन्द्र ँ श्रपयित्वाऽयुपांश्चायूपैस्तीर्त्वाऽऽज्य भागविष्ट्वाऽऽज्या-हुतीर्जुहोतीन्द्रायेन्द्राव्या अजायैकपदेऽहिर्बुधाय प्रौष्ठप्रदाभ्यश्चेति। वही २/१५/२

गण अहुत का भक्षण करते हैं।[१] मरुतों के लिये बलिहरण पीपल या पलाश के पत्ते पर ही किया जाता है क्योंकि मरुद्गण प्रायः पीपल के पत्ते पर ही रहते हैं।[२] बलि प्रदान के पश्चात् इन्द्र देवों ---- इत्यादि ऋचा का जाप करना चाहिये[३] शुक्रज्योति और चित ज्योति मरुतो के नाम है इसलिए शुक्रज्योति इत्यादि छः मन्त्र पढ़कर आहुतियाँ देनी चाहिए।[४]

वरुण प्रघास यज्ञ :

इस यज्ञ को वैश्वदेव यज्ञ के चार मास उपरान्त ग्रीष्म और वर्षा ऋतु के सन्धिकाल में अषाढ़ मास की पूर्णिमा को किया जाता था।[५] यम इस यज्ञ को वरुणदेव के पाशो और पापों से मुक्ति के लिये किया जाता था।[६] वरुण प्रघास शब्द की उत्पत्ति के विषय में कहा गया है कि वरुण के यवो को खाने के कारण इस यज्ञ का नाम वरुण प्रघास पड़ा। इस यज्ञ का प्रयोजन वरुणं देव को प्रसन्न करना माना गया है।[७]

साकमेध यज्ञ :

यह यज्ञ वरुणप्रघास यज्ञ के चार मास उपरान्त वर्षा और शरद् ऋतु के सन्धिकाल में कार्तिक मास की पूर्णिमा को किया जाता था।[८] इस यज्ञ के अनुष्ठान में दो दिन का समय अपेक्षित है तीन सवों में

---

१. प्राशानान्ते मरुद्भ्यो बलि९-हरव्यहुतादो मरुत इति श्रुतेः। वही

२. आश्वत्थेषु पलाशेषु मरुतोऽश्वत्थे तस्थुरिति वचनात्। वही २/१५/४

३. इन्द्रं दैवीविशो मरुतोऽनुष्र्मानोऽभवन् यथेन्दं दैवीविशो मरुतोऽनुवर्त्मानोऽभवन्। एवमिमं यजमाने दैवीश्च विशो मानुषीश्चानुवर्त्मानो भवन्तु। य.स. १७/८६

४. पा.गृ.सू. २/१५ के अन्तर्गत यजु. संहिता के मन्त्र

५. धर्मशास्त्र का इति. प्रथम भाग – पृ. ५३७

६. ये ते शतं वरुण ये सहस्रं यज्ञियाः पाशाः वितता महान्तः
वेभिर्नो अद्य सवितोऽतविष्णुर्विश्वे मुञ्चन्तु मरुतः स्वर्क्काः।। पा.गृ.सू. १/१२

७. यदासु वरुणं यजति एवैनं तदायतने प्रीणाति। कौ.ब्रा. ५.४
सर्वस्मात्पाप्मनः सप्रमुच्यन्ते य एवं विद्वान् वरुणप्रघासैर्यजते। कौ.ब्रा. ५.३

८. का.श्रौ. ५.६

तीन इष्टियाँ प्रदान की जाती हैं। जो अनीकवान् अग्नि सन्तसन मरुत एवं गृहमेधी मरुत के लिए प्रदान की जाती है।[१] अन्य कृत्यों के साथ महाकवि का कृत्य किया जाता है जिसमें अग्नि, सोम, सविता, सरस्वती, पूषा, इन्द्राग्नि महेन्द्र और विश्वकर्मा इन आठ देवों को चरु और पुरोडश की आहुतियाँ प्रदान की जाती है[२] तदन्तर दक्षिण दिशा में पितृयज्ञ किया जाता है। इस यज्ञ की अन्तिम क्रिया त्र्यम्बक याग है जो रुद्र देवता के लिए किया जाता है। यज्ञ के उपरान्त दक्षिणा में बैल दिया जाता है।

शरद ऋतु की सन्धि पर किये जाने से ऐसा प्रतीत होता है कि वर्तमान प्रचलित श्राद्ध का मूल यही या रहा होगा। सम्भवत: कीथ ने इस यज्ञ की तुलना पितृश्राद्ध से की है।

श्रवणाकर्म या सर्पबलि यज्ञ

श्रवणाकर्म के मूल में सर्पों के भय को नष्ट करने की भावना मूल रूप से निहित है। इसका अनुष्ठान श्रावण की पूर्णिमा को किये जाने के कारण इसे श्रवणा या श्रवणाकर्म कहते हैं। बौ.गृ.सू.[३] में इस कृत्य को सर्पबलि कहा गया है इसका अनुष्ठान प्रतिवर्ष अथवा प्रत्येक छः माह पश्चात् अथवा प्रत्येक चतुर्थ मास अथवा प्रत्येक ऋतु में अथवा वर्षा ऋतु के सभी महीनों में करने को कहा गया है। सर्पों से भय की भावना के विषय में मा.गृ.सू.[४] को यह प्रमाण है। सर्पेभ्यो विभयत श्रज्ञवण्या तुष्णी भौममेककपाले सपयित्वान्नक्षत सक्तूनयिष्ट्वा ------ जुहोति। सर्पों से प्रार्थना की गयी है कि सर्प दंश से मनुष्यों की रक्षा करें। पा.गृ.सू.[५] के अनुसार श्रवणाकर्म के अनुष्ठान के लिये गृहस्वामी स्थालीपाक[६] पकाकर अक्षत धान को भूलकर एक कपाल

१. कौ.ब्रा. ५.५

२. श.ब्रा. ५.७

३. बौ.गृ.सू. ३/१०/१

४. मा.गृ.सू. २/१६/१

५. पा.गृ.सू. २/१४/४-५

६. स्थालीपाक श्रपयित्वाद्वहात धानाश्चैककपालं पुरोडाशम्। वही २/१४/३

पुरोडाश पकाकर धानों का अधिकांश पीसकर अग्नि और सोम के लिये "अपश्वेतपदा जहि पूर्वेण च परेण च। सप्त च वास्थीरिमाः प्रजाः सर्वाश्च राजबान्धवे, स्वाहा तथावैश्वेतस्या ध्याचारेऽद्विदर्श कंचन। श्वेताय वेदव्यमि नमः स्वाहेति" इन दो मन्त्रों को पढ़ते हुए घी की आहुतियाँ देते हैं।[1] तत्पश्चात् विष्णु श्रवण नक्षत्र श्रावणी पौर्णमासी तथा वर्षा ऋतु के निमित्त विष्णवे प्रभृति चार मन्त्रों को पढ़कर स्थालीपाक की आहुतियाँ दी जाती हैं।[2] सर्पों के लिये घृतवान् सक्तुओं की तीन आहुतियाँ आग्नेयपाण्डु[3] इत्यादि तीन मन्त्रों को पढ़कर दी जाती है और एक कपाल पुरोडोश का ध्रुवमौम के लिये होम किया जाता है। भाष्याकार गदाधर के अनुसार संस्रव प्राशन के पश्चात् थोड़ा सत्तू सूप में लेकर फिर यज्ञशाला के बाहर निकल आये। बाहर आंगन की धरती को अपने हाथ से गोबर लीप दें।[4] लीपी हुई धरती पर अग्नि के

स्थालीपाक –यथार्थ स्थाली (वटलोई) में पकाया हुआ चरु अथवा खीर अष्टकाश्राद्ध अथवा अन्य पशुयाज्ञों में स्थालीपाक का प्रतिनिधि होता था। सामाजिक रूप से स्थालीपाक शब्द का अर्थ है एक धार्मिक कृत्य जिसका प्रत्येक हिन्दू के घर में होता है। इसका सन्दर्भगत अर्थ है– आज्या निःश्रवण पुरोडाश निर्माण धाना तथा सत्तू प्रभृति।

१. स्थालीपाकं चरुम अक्षतधानां सुतुषाणं ताश्च शृपयित्वा एककपालमेकस्मिन्कपाले श्रप्यत तु पुरोडाशं श्रपयित्वेनुषजाते अन्यथा तद्भूतोपादानं स्यात्। पा.गृ.सू. २/१४/३

२. पा.गृ.सू. २/१४/४-५ पृ. ३४४

३. स्थालीपाकस्य जुहोति-विष्णवे श्रवणाय श्रावण्यै पौणमास्ये वर्षाभ्यश्चेति। वही २/१४/६

घृताक्तान् सक्तून सर्वभ्यो जुहोति, आग्नेय पाण्डुपार्थिवाना ँ सर्पाणामधिपतये स्वाहा श्वेतवायवान्तरिक्षाणां ँ सर्पणामधि पतये स्वाहा अभिभूःसौर्यदिव्यानां ँ।। वही २/१४/८-९

४. संस्रवप्राशनान्ते पूर्वकृतसक्तूनामेकदेशं बलित्रयपर्याप्तं नऽवेणुशरेषीकान्यतमये शूर्पेन्युप्य कृत्वा उपनिष्क्रम्य शालायाः सकाशान्निर्गत्य बहिः प्राङ्गणे स्थण्डिलभूमि गोमनोपलिप्योल्कायां ध्रियमाणायां ज्वलत्काष्ठे अन्येन ध्रियमाणे माऽन्तरागमतेत्य भिधाय वाग्यतः आग्नेयपाण्डु पार्थिवानामिति। पा.गृ.सू. २/१४/११-१२ गदाधरभाष्य पृ. ३४७

अंगारे रखकर आग्नेय[१] ---- इत्यादि तीन मन्त्रों से सापों को आचमन कराया जाता है फिर लकड़ी के चम्मच से सर्पो को सत्तुओं की बलि प्रदान की जाती है। तदन्तर सर्पों को स्नान कराकर उनकी कंघी[२] अनुलेपन तथा मालायें अर्पित करता है, शेष सत्तुओं को स्थण्डिल पर बिखेर देता है[३] फिर जल पात्र से जल प्रदान करके नमोस्तु सर्वेभय:[४] इत्यादि तीन मन्त्रों से सर्पों अर्चना करता है। वह गृहस्वामी जितने हिस्से में सर्प का आवागमन न चाहे घर के उस भाग को तीन बार जल से सीचे और अपश्वेतपदाजहि ------ पूर्वोक्त मन्त्रद्वय का पाठ करते हुए तीन बार परिक्रमा करें।[५] बचे हुए सत्तू को किसी बर्तन में सुरक्षित रखकर श्रवणाकर्म से लेकर प्रतिदिन सूर्यास्त होने पर आवसथ्याग्नि की परिचर्या करें।[६] लकड़ी के चम्मच से सत्तू को सूप में निकालकर अगहन पूर्णिमा तक सर्पों को बलिदी जाती है इसके बाद ब्रह्मा यजमान तथा उल्काघारी तीनों भुने हुये जो को बिना चबाये ही खाये अन्त में ब्राह्मणों को भोजन कराना चाहिए।[७]

---

१. आग्नेय पाण्डुपार्थिवानां ॐ सर्पाणामधिपत एष ते बलि:
श्वेत वायबान्तरिक्षाणां ॐ सर्पाणामधिपत एष ते बलि:।।
अभिभू: सौर्यदिव्यानां ॐ सर्पाणामधिपत एष ते बलिरिति। वही २/१४/१३-१४

२. पा.गृ.सू. २/१४/१५-१६

३. वही २/१४/१५-१६

४. नमोऽस्तु सर्पेभ्यो ये के च पृथिवीमनु
ये अन्तरिक्षे ये दिति तेभ्य: सर्पेभ्यो नम:
या इषवो यातुधानानां ये वा वनस्पतीᳬ-रनु
ये वाऽवटेषु शेरते तेभ्य: सर्पोभ्यो नम:।
ये वामी रोचने दिवो ये वा सूर्यस्य रश्मिषु
येषामप्सु सदस्कृतं तेभ्य: सर्पेभ्यो नम:। य.स. १३-६-८

५. सं यावत् कामयेत् न सर्पा अभ्युपेयुरिति तावत् सन्तयोदधारया निर्वशनं त्रि: परिषिञ्चन् परीयादपश्वेत पदा जहीति द्वाभ्याम्। वही २/१४/१९

६. अनुगुपत्मेत सक्तुशेषं निधाय ततोऽस्तमितेऽग्नि परिचर्य तुष्योपद्यात सक्तून सर्पेभ्यो बलि हरे दाग्रहायव्या:। वही २/१४/२२

७. धाना: प्राश्नन्त्यस सयूता:। २/१४/२५ पृ. ३५१

शूलगव

पशु, धन, पुत्र, यश की समृद्धि तथा दीर्घायु एवं स्वर्ग की प्राप्ति हेतु सूत्रकालीन ग्रामीणों के लिए गृह्यसूत्रों में "शूलगव" नामक कर्म का अनुष्ठान करने का विधान किया गया[१] है। आश्व.गृ.सू.[२] के अनुसार "रुद्र" से सम्बन्ध होने के कारण इसे शूलगव कहते हैं और इसका अनुष्ठान शरद या वसन्त ऋतु में आर्दा नक्षत्र में किया जाता था किन्तु बौ.गृ.सू. के अनुसार[३] यह कृत्य मार्गशीर्ष की पूर्णिमा को आर्दा में सम्पादित होता था। शां.गृ.सू.[४] के मत में इसे कृष्ण पक्ष के किसी शुभ नक्षत्र में करना चाहिए।

इस अनुष्ठान में ग्राम से दूर एकान्त में अर्द्धरात्रि को सद्यःछिन्न शाखा के यूप में कुशा की एक रस्सी तथा साण्ड के सींग में दूसरी रस्सी बाँधकर साण्ड का संज्ञान करके रुद्र के लिए यजन किया जाता था। तत्पश्चात् चारों दिशाओं में कूर्चो पर ही बलि प्रदान की जाती थी। धान्य के तुष तथा पशु की पूँछ, सिर तथा पाद का अग्नि में होम किया जाता था। अग्नि के उत्तर में दर्भ अथवा कुशों पर पशु के रक्त को सर्पों के निमित्त अर्पित किया जाता था। इसकी कोई वस्तु न तो भक्ष्य होती थी और न ही ग्राम्य में लायी जाती थी। उसके अनन्तर एक और बछड़े को भावी शूलगव के लिए छोड़ दिया जाता था।[५]

मा.गृ.सू. के अनुसार रुद्र के अनुरंजन के लिए शरद ऋतु में शूलगव कृत्य किया जाता है। रात्रि में ग्राम के उत्तर पूर्व दिशा में कुछ दूर पर बैलों के बीच में एक यूप गाड़ दिया जाता है। स्विष्टकृत अग्नि के होम के पूर्व बलियों की आठ दोनियो (दोने) में रक्त भरकर दिक्पालों को दिये जाते हैं बिना पका हुआ उपहार ग्राम में नही लाया जाता। पशु के अवशेष चिह्न पृथिवी में गाड़ देने चाहिए।

---

१. स्वर्ग्यः पशव्यः पुत्र्यो धन्यो यशस्य आयुष्यः। पा.गृ.सू. ३/८/२

२. आश्व.गृ.सू. ४/९/३६

३. बौ.गृ.सू. २/७/१-३

४. शा.गृ.सू. ४/१७/३

५. पा.गृ.सू. ३/९/९ अनन्तराम डोगरा शास्त्रिणा, पृ. ४४

पा.गृ.सू. के अनुसार औपासन अर्थात् आवसथ्याग्नि को जंगल में ले जाकर वहाँ यज्ञीय तम्बू तानकर शुल्वशास्त्रोक्त विधि से पशु की वपा को रुद्र देवता के निमित्त वसा (चरबी) को अन्तरिक्षाय वसान[१] ---- इत्यादि मन्त्र पढ़कर अन्तरिक्ष के निमित्त और उनके खण्डों (अवदानानि) को स्थालीपाक में मिश्रित करके अग्नये स्वाहा रुद्राय स्वाहा, शर्वाय स्वाहा, पशुपतये स्वाहा, उग्राय स्वाहा, अग्नये स्वाहा भावाय स्वाहा, महादेवाय स्वाहा, ईशानाय स्वाहा इन नौ आहुतियों को क्रमशः अग्नि रुद्र, शव, पशुपति उग्र उशानि भव महादेव और ईशान के निमित्त अर्जित किया जाता है। पृषदाज्यवनस्पति को तथा स्थालीपाक मिश्रित पशु के अंगों को अग्निस्विष्टकृत को अर्पण करने का विधान है, अन्त में शूलगव पशु की तरह पशु ब्राह्मण को दक्षिणा में देना चाहिए।[२]

पृषातक कर्म

'पृषातक' नामक कर्म का अनुष्ठान सूत्रकालीन ग्रामीण गो समृद्धि हेतु करते थे। पा.गृ.सू. के अनुसार अश्विन मास की पूर्णिमा को इस कार्य का अनुष्ठान करना चाहिए।[३] इसमें इन्द्र के निमित्त खीर पकाकर उसमें दही, मधु और घी मिलाकर "इन्द्राय ---- प्रभृति" पाँच मन्त्र पढ़कर क्रम से पाँच आहुतियाँ दी जाती थी।[४] सस्त्रव प्राशन के पश्चात् दही और घी मिली हुई आहुति का उनमें पूर्णता पूर्ण में भाव्यगातश्वाहेति यह मन्त्र पढ़कर अंजलि से होम करना चाहिए।[५] उस अश्विन पूर्णिमा की रात और अगहन पूर्णिमा की रात में बछड़ो को

---

१. अन्तरिक्षाय वसा ॐ स्थालीपाक मिश्राव्यवदानानि जुहोत्यग्नये रुद्राय शर्वाय पशुपतये उग्रायाशनये भवाय महादेवाये शानायेति च। पा.गृ.सू. ३/८/६ पृ. ४१२

२. तस्य तुल्यवया गौदक्षिणा। वही ३/८/१७

३. आश्वयुजां अश्विनी पूर्णिमा। पा.गृ.सू. २/१६/१

४. पायसमैन्द्र ॐ श्रपयित्वा दधिमधुघृतमिश्रं जुहोतीन्द्रायेन्द्राव्या अश्विभ्यामाश्वयुजौ पौर्णमास्यै शरदै चेति। वही २/१६/२

५. प्राशनान्ते दधिपृषातकमञ्जलिना जुहोति ऊनं मे पूर्यतां पूर्ण में मा व्यगात् स्वाहेति। वही २/१६/२

उनकी माताओं के साथ ही रहने देना चाहिए।[1] इसके बाद यथाशक्ति ब्राह्मणों को भोजन कराना चाहिए।[2]

काठ.गृ.सू. "आश्वयुजी नाम से पृषातक कर्म का अत्यन्त ही रोचक वर्णन प्रस्तुत करता है। इसके अनुसार यह सम्पूर्ण ग्राम का उत्सव होता था। अश्विन पूर्णिमा के दिन लोग घोड़े और अन्य पशुओं जो सवारी के लिए प्रयुक्त होते थे जैसे– हाथी, ऊँट आदि की पूजा करते थे। भाष्यकार देवपाल के अनुसार पशुओं की पूजा से अभिप्राय यह है कि उन्हें साफ सुथरा करके सुसज्जित किया जाता था। ग्राम के उत्तर में एक स्थान पर वेदी तैयार करके उसे वृक्ष की शाखाओं से सभी ओर से घेर दिया जाता था। सभी प्रकार के रसों से भरे हुए पात्र वेदी की मुख्य दिशाओं पूर्व, पश्चिम, दक्षिण व उत्तर में रखे जाते थे। विभिन्न प्रकार के अनाजों से भरे हुए पात्र वेदी की मध्यवर्ती दिशाओं में रखे जाते थे। वेदी के पश्चिमी भाग में पवित्र अग्नि प्रज्वलित करके उसने वरुण, अग्नि, अश्विन, अश्विन पूर्णिमा की आहुति अर्पित की जाती है। फिर घोड़े और अन्य पशुओं पर कवच (अंगत्राण) बाँधकर उन पर आरूढ़ होकर वेदी की तीन बार परिक्रमा करते हैं। जब अनुष्ठान पूर्ण हो जाता है तब वे अपने इच्छित गन्तव्य की ओर प्रस्थान करते हैं, अनुष्ठान के पुरोहित को एक गाय, वस्त्र पीपल के बर्तन व स्वर्ग दक्षिणा स्वरूप दिया जाता था इस प्रकार यह कृत्य पूर्ण माना जाता था। आश्व.गृ.सू. के अनुसार आश्वयुजी अर्थात् पृषातका अश्विन मास की पूर्णिमा को घर को अलंकृत करके, स्नानोपरान्त स्वच्छ श्वेत वस्त्र धारण करके पका हुआ भोजन "पशुपतये शिवाय शंकराय पृषातकाय स्वाहा मन्त्र के साथ पशुपति को देना चाहिए।[3]

चावल और घृत मिलाकर उसे अंजलि में उनमें पूर्यता पूर्ण में नोपसदत् पृषातकाय स्वाहेति" मन्त्र के साथ देना चाहिए। शा.गृ.सू. का कहना है कि कृत्य में घृत की आहुतियों अश्विनी सूक्त के पाठ के

---

१. मातृभिर्वत्सान् स९-सृज्य ता ँ रात्रिमाग्रहायणीं च। वही २/१६/५

२. कृतैत्कर्माज्ञातया ब्राह्मणमेकं भोजयिष्ये। वही, २/१६/६

३. धर्मशास्त्र का इतिहास – पी.वी. काणे – पृ. ४४३

साथ सूर्य की पूजा का भी विधान किया गया है।[१] पा.गृ.सू. के अनुसार नवान्नप्राशन का अनुष्ठान इस प्रकार किया जाता था जो व्यक्ति अनाहिताग्नि हो उसे नवीन अन्न भक्षण से पूर्व शरद और वसन्तकाल में उत्पन्न नवान्न का स्थालीपाक बना कर अग्नि और सोम की आहुतियाँ देने के बाद "शतायुधाय शतवीर्याय शतोतये अभिमातिषाहे। शतं यो नः शरदोऽजीजनिन्द्रो नेषदति दुरितानि विश्वा स्वाहा" और सत्वारः पथयो देवमाना अन्तरा द्यावापृथिवी बियन्ति। तेषां योऽज्यानिमजीजिनावहात्वस्मै नो देवाः। परिधत्वेह सर्वे स्वाहेति।[२] इन मन्त्रों का उच्चारण करते हुए घी की दो आहुतियाँ प्रदान करनी चाहिए। इसके बाद स्थालीपाक से आग्रायण देवताओं इन्द्राग्नि विश्वेदेव और द्यावापृथिवी में से प्रत्येक को एक-एक आहुति प्रदान कर स्विष्टमग्ने ------" इत्यादि मंत्र से घी की आहुति देकर शेष नौ आहुतियों से होम कर अग्नि प्रथमः अथवा अन्नपते इत्यादि, ऋचाओं को पढ़ते हुए संस्रवप्राशन करे। तत्पश्चात् एतमुत्य मधुना संयुतम यव सरस्वत्या अधिवनाय चकृषुः। इन्द्र आसीत सीरपतिः शत्क्रतुः की नाशा आसन्मस्तः सुदानव इति। इस मन्त्र का जाप करना चाहिए। फिर ब्राह्मणों को यथाशक्ति भोजन कराना चाहिए।

आप.गृ.सू.[३] में शूलगव कर्म के अन्तर्गत गोवध का विधान न करके पायस का स्थालीपाक पकाकर अग्नि के पश्चिम में दो कुटिया

---

१. वैदिक वाङ्मय का इतिहास – कल्पसूत्र, कुन्दन लाल शर्मा

२. पारस्कर गृह्यसूत्र तृतीय काण्ड– प्रथमा कण्डिका

मन्त्रार्थ : यह आहुति उस इन्द्र देव के लिए है जिनके पास अनगिनत हथियार हैं जिसकी शक्ति निस्सीम है। असंख्यरक्षा साधन जिनके पास हैं जो शत्रुओं को पराजित करने वाले हैं वे देवराज इन्द्र हमारे सारे दुर्व्यसनो को दूर करें, वे हमें सौ वर्ष की लम्बी आयु प्रदान करें।

२. हे अशेष देवताओं! आकाश की तरह निर्मल जो चार देवमार्ग धरती और आकाश के बीच में हैं, जिन मार्गों से देवगण विविध दिशाओं में विचरण करते हैं उनमें जो ग्लानि और हानि रहित है तथा प्रजेय बनने वाली हैं। आप सभी मुझे उसी मार्ग का निर्देश करें।

३. आपस्तम्ब गृह्यसूत्र – सप्तम पटल एकोनविशः खण्ड पृष्ठ २८६-२८७

बनाकर दक्षिण में स्थित कुटिया में शूलगव का समन्त्रक तथा उत्तरीय कुटिया में उसी पत्नी मीढुषी का आह्वान करके उनके पुत्र जयन्त को दोनों कुटीरों के मध्य में आह्वान किया जाता है और उन्हें इसी क्रम में जल प्रदान किया जाता है। तत्पश्चात् स्थालीपाक के तीन भागों के ऊपर नीचे आज्य डालकर न देवताओं से स्पर्श कराकर व्याहृति होम करके स्थालीपाक में से भव, भवानी तथा जयन्त के निमित्त समन्त्र आहुतियाँ प्रदान की जाती है। स्विष्टकृत आहुतियों तक कर्म करके यजमान की गौओं को अग्नि के पास चारों ओर खड़ा किया जाता है। अन्त में यजमान इन सभी पदार्थों की तीन बार प्रदक्षिणा करता है।

मा.गृ.सू. और हि.गृ.सू. में भी शूलगव की इसी विधि का विधान किया गया है। शूलगव के अनुष्ठान के समय के विषय में गृह्यसूत्रों में शरद् वसन्त ऋतु का समय उचित माना गया है। फाल्गुन महीने के पूर्व में अष्टमी को आर्दा नक्षत्र में इस कर्म को करने का मुख्य समय होता है।[1]

वृषोत्कर्म

वृषोत्कर्म यज्ञ के पीछे गोसन्तति की वृद्धि की भावना निहित थी। गोसन्तति की वृद्धि के लिये साण्ड (बैल) को खुला छोड़ देने के लिये क्रियमाण कर्म का नाम वृषोत्सर्ग है। यह कार्तिक या रेवती नक्षत्र में पड़ने वाली आश्वयुजी की पूर्णिमा को किया जाता है।[2] इसमें गौओं के मध्य में अग्नि प्रज्वलित करके उसमें पायस स्थालीपाक पकाकर पूषन को अर्पित किया जाता है।[3] रुद्र सम्बन्धी मन्त्रों को

इसमें शूलगव को ही ईशनबलि की संज्ञा दी गयी है।

१. धर्मशास्त्र का इतिहास – पी.वी. काणे – पृ. ११९३

२. कार्त्तिक्यां पौर्णमास्या रेवत्यां वाऽऽश्वयुजस्य। पा.गृ.सू. ३/९/३

३. मध्येगवा सुसमद्धिमग्नि कृत्वाऽऽज्य संस्कृत्येहरतिरिति। पूषा गा अन्वेतु नः पूषा रक्षत्वर्वतः। पूषा वाज सनोतु नः स्वाहा इति पौष्णस्य जुहोति। वही ३.९.५

उच्चारण करके[१] अतिबलिष्ठ तथा सुन्दर साण्ड तथा चार श्रेष्ठ अल्पायु गौओं का पूषन् करके उसका समन्त्र उत्सर्जन किया जाता है। गौओं के मध्य का पूजन करके उनका समन्त्र उत्सर्जन किया जाता है। गौओं के मध्य में स्थित साण्ड को ऋग. के मन्त्रों को सम्बोधित किया जाता है।

काठक गृह्यसूत्र में आगे कहा गया है कि याजक बैल के दाहिने कान में तुम बछड़ों के पिता (जन्मदाता) हो यह मन्त्र गुनगुनाता है। फिर बैल को युवा गायों के साथ पूर्वी अथवा उत्तरी दिशा की ओर हाँकता ले जाता है और ब्राह्मणों को नवनीत मिश्रित भोजन अर्पित करता है।[२]

शाखा पशुविधि

यह कृत्य भी वृषोत्सर्ग से ही सम्बन्धित है। भाष्यकार हरिहर के अनुसार यदि स्मार्त पशु कर्म का अनुष्ठान करना हो तो गाय को छोड़कर अन्य पशु को स्नान कराकर आगे से अग्नि की प्रदक्षिणा कर पलाश वृक्ष की डाल में बाँध दे।[३] इसके अनन्तर तिगुनी रस्सी से शाखा का आवेष्टम तिनके से पशु का स्पर्श करना इसी रस्सी से सींगो के मध्य से बँधे पशु को पलाश शाखा में बाँधना, प्रोक्षणी का जल छिड़कना ये क्रियायें और अन्य पशु संस्कार भी पशु प्रकरण में विहित विधान से मंत्ररहित ही किये जायें। इसके अनन्तर पश्वालम्भन की दो आहुतियाँ देकर मंत्र रहित अन्य पाँच आहुतियाँ दें।[४] तत्पश्चात्

---

१. रुद्राञ्जपित्वैकवर्ण द्विवर्णं वा यो वा यूथं छादयति यं वा यूथं छादयेद्रोहितो वैव स्यात्। सर्वाङ्गैरूपेतो जीववत्साया: पयस्विन्या: पुत्रो यूथे च रूपस्वित्तम: स्यातमलङ्कृत्य यूथे मुख्याश्चतस्रो वत्सतर्यस्ताश्चाङ्कृत्य एतं युवानं पति वो ददामि तेन क्रीडन्तीश्चरथ प्रियेण। मा न: साप्तजनुषाऽसुभगा रायस्योषेण समिषा मेदेमेत्येवयैवोत्सृजरेन्। वही ३/९/६

२. काठक गृह्यसूत्र

३. पशुश्चदाप्लाव्यागामगेणाग्नीन्परीत्य पलाशशाखां मिहन्ति। वही ३/११/१

४. परिपश्व्ये हुत्वा तूष्णीमपरा: पञ्च। पा.गृ.सू. ३/११/३

पशु के नाभि की चर्बी हाथ में लेकर उसे घृतसिक्त करें।[१] उपाकर नियोजन तथा प्रोक्षण के समय देवता को आदिष्ट करके[२] चरु में भी "अमुष्मैं त्वा उपाकरोमि" इत्यादि कहकर देवता को अर्पित करें।[३] सर्वप्रथम चर्बी से होम करके पशु के शेष अंगों में से तीन पाँच सभी अंग काट देने चाहिये[४] तथा इन्हें स्थालीपाक में मिलकर हवन करे। होम की दक्षिणा में पशुअंग ही देना चाहिये।[५] जिस देवता को तृप्त करने के लिये पशुकर्म किया गया हो उसका याजन करे इन्द्रमनुप्राप्त कहकर अर्ध्यादि दे इस कर्म का अनुष्ठान नदी के मध्य द्वीप में करे यह कृत्य वैकल्पिक है इसे करना अनिवार्य नहीं है।[६]

तर्पण विधि

स्नान के पश्चात् तर्पण क्रिया की जाती है। इसे सन्ध्या एवं जप से पूर्व तथा स्नान के पश्चात् करना चाहिए क्योंकि तर्पण के बाद किया गया स्नान निष्फल माना जाता है।[७]

तर्पण क्रिया गृहस्थ के लिए आवश्यक कर्म माना गया है क्योंकि स्थावर एवं चर समस्त प्राणी ब्राह्मण से जल की अभिलाषा करते हैं। इससे सम्पूर्ण विश्व का भरण पोषण होता है।[८] स्नान करके गीले वस्त्रों में से जल में खड़े होकर पितरों देवताओं और ऋषियों को

---

१. वपोद्धरण चाभिधारयेत्। वही ३/म११/३

२. देवता चादिशेदुपाकरणनियोजन प्रोक्षणेषु। वही ३/११/५

३. स्थालीपाके चरौ च एवं देवतामदिशेत चरोरूपाकरणनियोजना भावात्तष्दुलप्रोक्षणे अमुष्मै त्वा जुष्टं प्रोक्षामीति देवतोद्देशः। वही ३/११/६ हरिहर भाष्य पृ. ४४७

४. वपा ॐ हुत्वाऽवदानान्यवद्यति सर्वाणि त्रीणि पञ्च वा। वही ३/११/७

५. स्थालीपाकमिश्राव्यवदनानि जहोति पश्वङ्ग दक्षिणा। वही ३/११/८-९

६. यद्देवते तद्देवतं यजेत्तस्मै च भागं कुर्यात्तं च श्रूयादिममनुप्रापयेति, नद्यन्तरे नावं कारयेन्न वा। वही ३/११/१०-११ पृ. ४४८

७. आप्लेवने च ----- भवेत्। गो.गृ.सू. पृ. २०१

८. छायां --------- विभृति – हि – का.स्मृ. १,२,३,४,५

उन्हीं के नामांकन तीर्थ पर तर्पण देना चाहिए।[१] पारस्कर के अनुसार जल में रहते तर्पण जल में स्थल में रहते हुए तर्पण स्थल में अर्पित किया जाता है क्योंकि पारस्कर का कथन है कि जल में रहते हुए भूमि पर दिया गया तर्पण व्यर्थ जाता है उससे किसी पुण्य की प्राप्ति नहीं होती है।[२]

तर्पण विधि :

योगि याज्ञवल्क्य के अनुसार तर्पण जल दायें हाथ से अर्पित किया जाता है तथा उसी हाथ से पितृ तीर्थ ग्रहण किया जाता है। बायें हाथ से तिल लेकर दाहिने हाथ में डालकर पितरों को जलाञ्जलि देनी चाहिए।[३]

पितृ तर्पण विधि :

पितरों को सर्वदा प्राचीनावीती होकर हाथ में कुश लेकर तर्पण देना चाहिए। तर्पण देते समय गाय के सींग के समान ऊपर को हाथ ऊँचा करके जल में देनी चाहिए।[४] पितरों को तर्पण देने वाले पिता को अपने पुत्र से भी दिव्य पितरों को तर्पण करवाना चाहिए अर्थात् पिता

---

१. स्नातश्चार्द्र वासा देवऋषि पितृतर्पणमग्भास्थ एवं कुर्यात्। वि.स्मृ. ६७,३४

२. भूमौ यदायो दीयन्ते दाता चैव जले स्थितः
वृथा तद्दीयते वोयं नोपतिष्ठति कस्यचित्। पारस्कर
(ख) जलसमीपस्थने जल एव पक्ष्झिपेत् उद्यत जलेन तु स्थले तर्पण जल प्रक्षेपः प्रकाश
(ग) काष्णजिनि ने अपने मत का प्रतिपादन करते हुए यह भी कहा है कि जल में बहते हुए जल में जलाञ्जलि देवताओं एवं पितरों को और स्थल पर रहते हुए स्थल में जलांजलि संस्कार के बिना मरे हुए व्यक्तियों को देनी चाहिए।

३. दक्षिणे पितृतीर्थेन जलं सिञ्चेयथाविधि दक्षिणे नैव गृहणीयात् पितृतीर्थ समीपतः। यो. ७.७४

४. यदि स्याज्जीवपितृक एतान ----- पिबन्ति देह निःस्राव पितरोऽस्य जलार्थिनः। यो यज्ञ. ७.७९-८९

के जीवित रहने पर भी पुत्र भी पितामहादि तथा अन्य कण्यवाल यमादि को तर्पण दे सकता है। परन्तु पिता न जीवित हो तो पुत्र को दिव्य कण्यवाल आदि और वसु एवं रुद्र को तर्पण देना चाहिए, क्योंकि समस्त पितर एवं मनुष्य किसी न किसी के अधीन माने गये हैं। अतः पितरों के साथ प्रीति बढ़ाने वाले व्यक्ति को पितरों का ध्यान करते हुए उदीरतानङ्गिरस-----इत्यादि नौ मंत्रों का जाप करते हुए तीन जलांजलि पितरों को अर्पित करनी चाहिए। तर्पण के समय नास्तिक भाव कभीर नहीं रखना चाहिए क्योंकि जल के इच्छुक पितर गुरु शिष्य एवं बान्धवादि का तर्पण न करने से नहीं व्यक्ति उसके शरीर से रक्तपान करते हैं।[१] अतः इन सभी को श्रद्धा के साथ तर्पण देना चाहिए।[२]

देवतर्पण विधि :

देवतर्पण में अक्षत (यव) की प्रधानता है।[३] देवताओं को जल तर्पण गायत्री मंत्र का जाप करके उत्तर या पूर्व की ओर मुख करके घुटनों के अन्दर हाथ करके देवतीर्थ से देना चाहिए।[४] देवताओं के अन्तर्गत ब्रह्मा, विष्णु रुद्र प्रजापति वेद गान्धर्व सागर आकाश में गमन करने वाले निराहार जीव जलचर एवं भूमि पर प्राणियों को उपवीती[५] होकर तर्पण देना चाहिए। जब वह दाहिने हाथ को उठाकर सिर को

---

१. पितृणां प्रीणनाथयि ----- मित्र स्निग्धाय भूभूजे- वि.पु. ३.११.२८.२९ मातानहाश्च सततं गृहदयातपयेद्बुधः – पृ. ४८७

२. नमोदः पितरोरसायेत्यादीन्यष्टौ यजुषि उक्त्वा पढित्वा मातामहानांमातुः पितृपितामह-प्रतितामहानां च एवम् एकैकस्य तिलैनिश्रमञ्जलित्रयेण तर्पण कृत्वा। पा.गृ.सू. परिशिष्ट पृ. ४८७

३. तर्पयेदक्षतोदकैरित्यत्राक्षतपदं पवपर यवादिभस्तर्पयोदिति। गृ.र.कृ. पृ. १९७

४. ब्राह्मण वै. श्च रौद्रश्च सावित्रश्च मेत्रावरुणास्ते तथा। पा.गृ.सू. पृ. ४८८

५. उपवीती– विशेष प्रकार से यज्ञोपवीत धारण करने वाला व्यक्ति उपवीती कहलाता है।

(उपवीत के) बीच में डालकर सूत्र को बायें कंधे पर इस प्रकार लटकाता है कि वह दाहिनी ओर लटकता रहता है।[१]

ऋषि तर्पण :

पितृ एवं देवतर्पण के उपरान्त ऋषियों की नीवीती[२] होकर तर्पण देना चाहिए। ऋषियों के अन्तर्गत ऋषि पुत्रों को ऋषियों में सनक सनन्द सनातन कपिल असुरि वोदु पञ्चशित्व आदि की वृत्ति के लिए जल की अंजलि अर्पित करनी चाहिए।[३]

---

१. उद्धृते दक्षिणे पाणावुपतीत्युत्यजे द्विजः। मनु. २.६३

२. नीवीत यज्ञोपवीत पहनने का एक विशेष रंग इसमें व्यक्ति माला की तरह यज्ञोपवीत को कंठ में धारण करता है। नीवीती कण्ठछ सज्जने। मनु. २.६३

नीवीति की पुष्टि के लिए चण्डेश्वर ने बौधायन एवं विष्णु स्मृति का प्रमाण देते हुए कहा है कि ऋषि तर्पण में प्राचीनावीतीं का कहीं पर भी विधान नहीं है। प्राचीनावीती केवल पितृतर्पण में होता है।

अथ नीवीती ऋषिस्तर्पयानीति बौधायनदर्शनात् मरीच्यादि तर्पणेऽपि नीवीती मेवाहुः। गृ.र. पृ. ११७

अपि च यद्यपि विष्णुपुराणे ऋषि तर्पणे न प्राचीनावीतीत्वं विहितं तथापि वाणायण्यादितर्पणे गोभिलमते प्राचीनावीतित्वरूप पितृ धर्म्म एवं प्रतिभाति । गृ.र. पृ. २.१

नीवीति के साथ-साथ उपवीती का भी उल्लेख प्राप्त होता है। लेकिन जहाँ पर उपवीती एवं नीवीती में से किसी का भी नियम न कहा गया है वही विकल्प माना गया है।

ऋषि तर्पणे तु कुत्रचित्प्रयोगे निवीतित कुत्रचिदुपवीतित्वम्। तत्व तत्रत्प्रयोगे वक्ष्यन्ते। यत्र च प्रयोगे ऋषि तर्पणे विशेषो नोक्तरतत्रो पवीतित्वनिवीति त्वयो विकल्पः। वीरमित्रोदय – द्वितीय खण्ड पृ. ३४८

३. सनक सनन्दनं तृतीयञ्च सनातनम्। कपिल मासुरिञ्चैव तोदु पञ्चशिखं तथा। पा.गृ.सू. पृ. ४८५

यज्ञपात्रों का परिचय

यज्ञादि धार्मिक अनुष्ठानों में यज्ञपात्रों की विशेष रूप से आवश्यकता होती है। यज्ञादि में प्रयुक्त होने वाले प्रत्येक यज्ञपात्र की अलग लकड़ी और भिन्न-भिन्न माप शास्त्रों में निर्देश किया गया है। अतः यज्ञादि में शास्त्रनिर्दिष्ट यज्ञपात्रों का उपयोग करना आवश्यक है।

स्त्रुव[१] :

स्त्रुव का प्रयोग यज्ञ में हमेशा होता है। यह एक हाथ का लम्बा (चौबीस अंगुल का) खैर की लकड़ी का बना होता है।[२] इसके अतिरिक्त शर्म पलाश, अश्वत्थ, तट, उदुम्बर, विल्व चन्दन सरल, शाल देवदारु वेतस आदि यज्ञि वृक्षों में किसी का भी बन सकता है।[३] इसकी आकृति अंगुष्ठ के पर्व के सादृश होती है। जो समस्त कामना की सिद्धि के लिए कहा गया है।[४]

प्रणीता[५]

काष्ठ का बारह अंगुल का प्रणीता पात्र होता है।[६] यह हथेली के सदृश खुदा हुआ कमल के पत्र की तरह होता है। इसे प्रोक्षणी पात्र के पहले रखा जाता है।[७]

---

१. स्त्रुवं प्रतप्य – पा.गृ.सू. १/२ पृ. १

२. खादिरस्य स्त्रुवः कार्यो हस्तमात्रप्रमाणतः
अंगुष्ठ पर्वखातं स्यात सर्वकामार्थ सिद्धये।। यज्ञ रहस्ये मीमांसा पृ. २०

३. खादिरादेः स्त्रुवः कार्यो हस्तमात्रप्रमाणतः
अङ्गुष्ठपर्वखातं तत् त्रिभागं दीर्धयुष्करम्-संस्कार भास्कर भवानी शंकर त्रिवेदी– पृ. २१

४. संस्कार भास्कर– पृ. २०, भवानी शंकर त्रिवेदी

५. यज्ञ मीमांसा

६. प्रणीय अप इति शेषः। पा.गृ.सू. १/२ हरिहर भाष्य पृ. ३

७. द्वादशाङ्गुलदीर्घेण चतुरस्तः सर्गतकः प्रस्थामात्रोदक ग्राही प्रणीता चमसे भवेत।
प्रणीता वारणा ग्राहता द्वादर्श गुलसक्मिता स्त्रातेन हसततलवदकृत्या पद्मपत्रवतं।। कर्मप्रदीप

प्रोक्षणी

वारण काष्ठ का हथेली के सदृश बारह अंगुल चौड़ा और कमल के पत्र के आकार का प्रोक्षणी पात्र कहा गया है। इसे यजमान के बायें हाथ के सामने रखा जाता है।[१] हुतशेष या स्रंसव की बूँदे प्रोक्षणी पात्र में ही टपकायी जाती हैं।[२]

स्पयन[३]

तलवार के आकार का अरत्निमात्र चौबीस अंगुल का खैर की लकड़ी का स्पय कहा गया है। जो असुरो के विनाश के लिए वज्ररूप में या उपयुक्त होता है।

सूची[४]

हथेली के सदृश मुख को हंस के मुख की तरह नाली हो, छिद्र से मुक्त हो मूलदण्ड वाली अर्थात् अग्रमुख वाली और बाहुमात्र २६ अंगुल की सूची शुभ्रपद कही गयी है।

पूर्णपात्र[५]

ब्रह्मादि को संस्कारादि सम्पन्न कराने के पश्चात् दक्षिणा के रूप में पूर्णपात्र और वर प्रदान किया जाता है। यह 'वर' तो ब्रह्मणादि

---

१. संस्कार भास्कर– भवानीशंकर त्रिवेदी।
प्रोक्षणीश्च – पा.गृ.सू. १/४ पृ. १

२. संस्कार प्रकाश – भवानी शंकर त्रिवेदी, पृ. २१

३. स्पयेन – पा.गृ.सू. १/१ हरिहर भाष्य पृ. १

४. पाणि प्रमाणवदना सास्यैक प्रणालिका
विलान्विता सूलदण्डा बाहुमात्रा शुभप्रदा।। यज्ञ मीमांसा– वेणीराम शर्मा पृ. ४२१

५. अष्टमुष्टिर्मवेटिकञ्चिचदण्टौ तु पुष्फलम्
पुष्कलानि पचश्रते संस्कार प्रकाश – पृ. २१

विभिन्न वर्णों के यजमानों के लिए गौ आदि पशु या उनके खरीदे जाने योग्य अथवा यथाशक्ति द्रव्य है। किन्तु पूर्णपात्र सबके लिए एक सा ही बताया गया है। परार्ध्य (१५६ मुट्ठ) या अपरार्ध्य (उसके आधे) चावलों से भरा ताँबे का पात्र पूर्ण पात्र कहलाता है।

कुशा और तन्निर्मित वस्तुएँ

यज्ञ पूजन हवन आदि सभी धार्मिक अनुष्ठानों में कुश का प्रमुख स्थान है। सभी धार्मिक विधियाँ, कुश के आसन पर बैठकर सम्पन्न की जाती हैं। इसके अतिरिक्त पवित्र विष्टर[१] परिस्तरण कुश सम्मार्जन[२] कुश पयमान कुशा[३] आचमन तथा ब्रह्मा का निर्माण भी कुशाओं[४] से ही किया जाता है। यज्ञ में जड़ सहित कुशा का प्रयोग किया जाता है। पवित्रके विषय में कहा गया है कि एक प्रदशे मात्र नापकर उसके ऊपर तीन कुशाओं से बने हुए फन्दे में डालकर उसे दूसरे हाथ से पकड़कर झटके से तोड़ दिया जाता है। इसी को पवित्र कहते हैं। अनामिका में पहनी जाने वाली दो पत्तियों की कुशा की अँगूठी को भी पवित्र कहते हैं।[५] ५० या अपरिगणित कुशाओं के अग्रभाग को दायें घुमाकर एक ब्रह्मग्रन्थि लगा देने से ब्रह्मवान जाता है। इसे ही कुशाण्ड भी कहते हैं। किसी पात्र में इसी प्रकार २५

---

१. आहरन्ति विष्टरं पञ्चविशतिदर्भतरुणमयं कूर्चम्। पा.गृ.सू. १/३/५ हरि.भा. पृ. ५१

२. सम्मार्जन कुशा – सम्+मृज+ल्युट् वेदी की भूमि को झाड़ने के लिए कुश वही– पा.गृ.सू. १/१ पृ. ६ सन्मार्गकुशास्त्रय:

३. उपनयन कुशा – यज्ञीय कार्य में प्रयुक्त होने वाले कुशो का संग्रह। वही पृ. ७

४. उपयमन कुशास्त्रिप्रभृतय: हरि. भाष्य – पृ. ४
यदा ब्रह्मा न भवति तदा कौश: कार्य इति हरिहर:। पा.गृ.सू. हरि.भा. पृ. ५

५. अनन्तगर्भिणं साग्रं कौशं द्विदलमेव च
प्रादेशमात्रं विोय पवित्रं यत्रकुत्रचित।। छान्दोग्य परिशिष्ट। च
कुशतरुणं अविषमे अविच्छलभाग्रे अनन्तगर्भे प्रादेशमात्रं मापयित्वा कुशैश्छिच्छ नति इति।।

कुशाओं को बायें घुमाकर उनके सिर पर गाँठ बाँध दी जाती है उसे विष्टर कहते हैं।[१]

समित्रधात्रय की आहुति के समय तीन पाँच या सात कुशायें बायें हाथ में लिए रहते हैं उसे उपयमन कुशा तथा अग्नि पर तपाने के बाद स्रुव की राख झाड़ने वाले ५ कुशाओं के गुच्छे को सन्मार्जन कुशा कहते हैं। यज्ञकुण्ड या वेदी के चारों ओर बिछायी जाने वाली कुशा को परिस्तरण कुशा कहते हैं।

हवनीय द्रव्य :

घृत[२] शाकल्य (हवन सामग्री) या चरु[३] (स्थालीपाक) से यथावसर किया जाता है। शुद्ध घृत (यथासम्भव) गौ घृत सिल और जौ अथवा तिल जौ चावल में घृत शकरी और सूखा मेवा मिलाकर शाकल्य बनाया जाता है।[४]

यज्ञ समिधा :

पा.गृ.सू. में या समिधा के विषय में ब्रह्मपुराण के कथन का समर्थन किया है। उनके अनुसार पलाश, पीपल, खैर, बरगद, गूलर बेल, चन्दन, चीर, साल और देवदारु की लकड़ी से होमाग्नि प्रज्वलित करना चाहिए। मरीचि के मत से विशीर्ण, विदल बहुत छोटी, टेढ़ी-मेढ़ी, सड़ी-गली, बहुत पतली लम्बी या बहुत मोटी चुनी हुई लकड़ी होमाग्नि में नहीं डालना चाहिए। ऐसी समिधा डालने से मनोरथ की सिद्धि नहीं होती है।

---

१. पञ्चचाझद ब्रह्मा तदर्धेन तु विष्टरः
उर्ध्वकेशो भवेद् ब्रह्मा लम्बकेशस्तु विष्टरः
दक्षिणावर्तको ब्रह्मा दानविर्तस्तु विष्टरः –संस्कार प्रकाश – पृ. ३२

२. दधिमधघृतौ मिश्रितं – पा.गृ.सू. २/१६/१

३. चरुं श्रपयित्वा

४. प्रजां धान्य चतुः षष्टिराहुतेः परकीतितम् विलानां तु तदर्ध स्यात्तदर्ध तु घृतस्य च व्रीहिणां च यवानां च शतमाहुतिरिष्यते तिलाधस्ति यवाः प्रोक्ताः। अनुष्ठान प्रकाश पा.गृ.सू. २/४ हिन्दी टिप्पणी पृ. २५७

स्थालीपाक – चरु :

पा.गृ.सू. में स्थालीपाक और चरु का वर्णन सभी गृह्ययागो में उपलब्ध है। प्रायः शाकल्य और चरु पर्यायवाचक समझ लिये जाते हैं। किन्तु चरु शाकल्य को नहीं कहते हैं। स्थालीपाक के लिए छान्दोग्य परिशिष्ट में लिखा है।[१] यज्ञवेदी की अग्नि पर चावल या कटे छटे तुषरहित जौ को स्थाली में ऐसे पकाया जाता है कि उनके दाने कुछ खड़े रहे, पकते समय उससे गोघृत तथा उसके बाद गो दुग्ध मिला दिया जाता है। सीमान्तोन्नयन में चावलों के साथ मूंग और तिल को मिलाकर स्थालीपाक बनाया जाता है। स्थाली शब्द का अर्थ है पकाने का बर्तन अर्थात् मिट्टी की हांडी सामासिक स्थालीपाक शब्द का अर्थ है– एक धार्मिक कृत्य जिसका अनुष्ठान प्रत्येक हिन्दू घर में होता है।[२]

मण्डप[३] तथा वेदी[४] :

पारस्कर के आदेशानुसार विवाहादि प्रमुख संस्कार घर के अन्दर या छत के नीचे सम्पन्न नहीं किये जाते अपितु बहिः या मण्डप में ही किये जाते हैं। इसके लिये चार खम्भों से युक्त खुला मण्डप बनाया

---

१. श्रपयेत सवत्सायास्तरुव्या गोः पयस्यनु अनु इति ओदनचरोः पश्चात्। ततश्च संस्कृते वह्रौ गोक्षीरेणे चरुः पच्यते – शारदां तिलक
वीहिन्यवाक्ता – यथान्तरुष्मणा सम्यक पाको भवति गालनं न भवति दाहश्च न भवति। सम्यक् पाके भूते मध्ये तत्वाग्ने स्तर तः कुशोपरि स्थापयित्वा पुर्नमध्ये घृतस्त्रुवं दद्यान्। स्थाल्यां पच्यते इति स्थालीपाकः।।

२. स्थालीपाकास्ते गृहस्थालीपाकः, स्थाली पाकशब्द आज्य पुरोडाशद्युवलक्षणार्थ येनः स्थालीपाक मुपक्रम्याज्यामुपंसहरति निरुज्याज्वमित्यादि। पा.गृ.सू. प्रथमकाण्ड प्रथम कण्डिका गदाधर भाष्य पूरी कण्डिका स्थालीपाक कर्म के नाम से अभिहित है।

३. गृह्यज्ञाङ्गत्वेन मण्डपकरणपक्षे तु शतपदं वास्तु बलिदानमण्डप प्रतिष्ठादिकमर्प्याधकम्। पा.गृ.सू. परिशिष्ट पृ. २९४

४. पञ्चसु बहिः शालयां विवाह चूड़ाकरण उपनयने केशान्ते सीमान्तोनयन इति।

जाता है। इस मण्डप को केले के खम्भों तथा पत्र पुष्पादि से अलंकृत या सुसज्जित किया जाता है।[१]

यज्ञवेदी :

यह मण्डप के ठीक बीचो बीच यजमान वर या वधू के (हस्तमान) एक हाथ या चौबीस अंगुल लम्बी और उतनी ही चौड़ी वर्गाकार तथा चार अंगुल ऊँची मिट्टी बिछाकर बनायी जाती थी उस पर हल्दी कुंकुम (रोली) और आटे आदि से सुन्दर रंगीन कमल पुष्प या सर्वतोभद्र चक्र बनाकर उसे अलंकृत कर दिया जाता है।[२] विवाह आदि में जिस स्थान पर गणपत्यादि देवताओं तथा कलश आदि की स्थापना की जाती है उसके लिए कौतुकागर वेदी शब्द का प्रयोग किया जाता है। सूत्रग्रन्थों के अनुसार वरार्चन से लेकर यज्ञ या हवन के आरमा से पूर्व तक की सम्पर्णू विधि कौतुकागार में ही सम्पादित की जाये।[३]

ऋत्विक गण[४] :

ऋत्विक का शब्दार्थ है प्रत्येक ऋतु के अनुसार यज्ञ या यजन करने वाला। ऋतु+यज्-ऋत्विज प्रत्येक यज्ञ-याग और संस्कारदि में

---

१. विवाहोत्सतयोषु मण्डपं कल्पयेत्सुधीः
सर्वविघ्नक्तिाशनाय सर्वेषां चित्त तुष्टये
मण्डपेषु च सर्वेषु मण्डपो गृहमानतः
कार्यः षोऽशहस्तो वा न्यूनहस्तो वशावधिः इति
सप्तर्षि तेन मण्डपं गृहमानतो (वामतो वा) विधेयम्।
चतु स्तम्भसमायुक्तं कूजविभर्वातियोगतः
मनोहरदिभिः सर्वेषां प्रेक्षकाणां समन्ततः (ब्रह्मपुराण)

२. उपलिप्ते महीपृष्ठे चतुर्विंशाङ्गुलमुरिछ्रता (गृहसंग्रह)
नित्य नैनित्यिकं काम्यं स्थण्डिले वा समाचरेत्
हस्तमात्रेण तत्कुर्याद् बालुकाभिः सुशोभनम्।। शरदतिलक

३. यज्ञोत्सवविवाहेषु विधायदौ च मण्डपम्
धर्मादिक पश्चिमे भागे कौतुकुमार मुत्तमम्।। संस्कार प्रकाश – पृ. ३५

४. नवगृहेमखे कुर्याद् विधिना ब्राह्मणा सह
ऋत्विजोऽष्टौ च चत्वारो द्वावप्येकस्तथैव च।। सकन्दपुराण।।

चार ऋत्विज रहते हैं जैसा कि स्कन्द पुराण में कहा गया है[1] याज्ञादि में समसंख्यक (२,४,६,८) या एक ही ऋत्विज रह सकता है जबकि पितृकर्म में विषय संख्या (३,५,७) के बारह ब्राह्मण निमन्त्रित किये जाते हैं इससे यह भी स्पष्ट है कि ऋग्वेद के मन्त्र पढ़ने वाले तथा ज्ञाता 'होता' यजुर्वेद के ज्ञाता अध्वर्यु, सामवेद के ज्ञाता 'उदगाता' तथा चारों वेदों के ज्ञात और मौन भाव से सारे कर्मों की न्यूनाधिकता का निरीक्षण तथा त्रुटियों आदि से सावधान करने वाले 'ब्रह्मा' इन चारों को ही 'ऋत्विज' कहा जाता है।

कंकण बन्धन :

वैवाहिक यज्ञ में वर वधू का कंकण बन्धन किया जाता है इसमें दूब, जौ अथवा यवाड्कर खस हल्दी आम्बाहल्दी सफेद सरसों मोरपंख आम्रपल्लव साँप की केचुली और लाख व लोहे का छल्ला इन सबको एक लाल कपड़े की छोटी-सी पोटली में बाँध कर उसे त्रिगुणित बँटी हुयी मौली के साथ वर के दाये हाथ तथा वधू के बायें हाथ में गणपति स्थापना वाले दिन बाँधा जाता है और विवाह के पश्चात् चतुर्थी कर्म वाले दिन वर वधू को परात में दूध की लस्सी डालकर उसमें से कौड़ी ढूँढकर निकालने आदि लोकाचारों के बाद खोल दिया जाता है। यज्ञोपवीत के समय बटुक के तथा इन दोनों अवसरों पर परिवार की अन्य सभी सधवा महिलाओं में हाथ में भी कंकन बाँधा जाता है।[2]

अहत वस्त्र :

सभी धार्मिक कृत्यों के सम्पादन के समय वस्त्र धारण करने का विधान है। यदि रेशमी या ऊनी वस्त्र हो तो बिना पहने सर्वथा नये व बिना धुले वस्त्र को और सूती हो तो धोबी से नहीं अपितु घर में धुले

---

१. जो दक्षिणां लेकर श्रौत स्मार्त कर्मो को करता है उसे 'ऋत्विज्' कहते हैं।
यो दक्षिणादिना परिक्रीतः श्रौत स्मार्तादीनि कर्माणि करोति स ऋत्विक्।
पा.गृ.सू. विवृत्ति टीका

२. दूर्वायवाङ्कुशश्चैवं बालकं चूलपल्लवाः
हरिद्राद्वय सिद्धार्थ शिखिपत्रोरगत्वचः।।
ककौणौधधयश्चैताः कौतुकाख्या नय स्मृताः।। भविष्य पुराण

वस्त्र को अहतवस्त्र कहते हैं।[१] जिसके किनारे पर क्षीर (बिना बुनी हुयी छोटी सी धारा) होनी चाहिये।

वामाङ्ग दक्षिणाङ्ग :

सामान्य अवस्था में पत्नी सदा पति के वामाङ्ग में रहती है। किन्तु पूजा यज्ञादि देवकार्यों में उसे पति के दायें बैठाया जाता है क्योंकि दाया हाथ पवित्र माना जाता है।

स्वस्ति वाचन आदि संस्कार के पूर्व कर्तव्य :

प्रत्येक संस्कार अथवा किसी भी शुभ कर्म के आरम्भ में स्वास्तिवाचन शान्तिपाठ श्रीगणपति एवं कर्माङ्ग देवताओं के स्मरण आवाहन अर्चन एवं हवन आदि के द्वारा सम्पूर्ण वातावरण को दिव्य (देवतामय एवं दैविक गुणों से सम्पन्न) बनाया जाता है। देवताओं की उपस्थिति से दिव्य पवित्र सात्विक एवं श्रद्धामय स्थिति बन जाने से न केवल संस्कार्य व्यक्ति के ही अपितु उपस्थित सम्पूर्ण समाज के भी अन्वाह्नि भाव पवित्र सात्विक बन जाते हैं। अतः प्रत्येक शुभ कार्य का प्रारम्भ स्वस्ति वचनादि से किया जाता है। स्वस्ति वाचन से पूर्व यजमान आदि को बद्ध शिख तिलक आदि धारण किये हुये तथा यज्ञेपवीती होना चाहिए।[२] विधिपूर्वक मण्डप के बीचोबीच हवन वेदी बनाकर उसके पश्चिम में स्नान सन्ध्या आदि सम्पन्न कर यजमान उसके दक्षिण में यजमान की पत्नी तथा उसके दक्षिण में संस्कार्य बालक बालिका स्वच्छ पवित्र आसन पर पूर्वाभिमुख बैठ जाए।[३] वेद

---

१. अधौतो कारुधौते वा परिदध्यान्न वाससी
अहत तु परिदध्यात् सर्वकर्माणि सयतः
दूषद्वौवं नवं श्वेतं सदृश यन्नधारितम्
अहतं तद विजानीपात्सर्वकर्मसु पावनम्।। संस्कार प्रकाश – डॉ. भवानी शंकर त्रिवेदी पृ. ३०

२. व्रतबन्धे विवाहे च चतुर्थ्यां सहभोजने व्रते दाने मखे श्राद्धे तिष्ठति दक्षिणे आशीर्वादेऽभिषेके च पाद प्रक्षालने तथा शयने भोजने चैव पत्नी तूत्तरतो भवेत– स्मृति संग्रह

३. सदोपवीतिना भाष्यं सदा बदशिखेन च
विशिखो व्युपजीवश्च यत्करोति न तत्कृतम् कात्यायनीय छान्दोग्यपनिषद परिशिष्ट

के उत्तर में आचार्य एवं उनके सहयोगी अन्य ऋत्विक गण दक्षिणाग्नि मुख एवं वेदी दक्षिण में ब्रह्मा उत्तराभिमुख बैठना चाहिए। वेदी के पूर्व में कर्णिकायुक्त अष्टदल कमल बनाकर उस पर सप्तधान्य या चावलों की ढेरी पर प्रधान कलश (वरुण) रख दिया जाता है तथा ऊँकार सहित गणेश नवागृह एवं षोड़श मातृकाओ की यथास्थान स्थापना कर दी जाती है। यजमान के सम्मुख बायें हाथ प्रणीतापात्र तथा वेदी और प्रणीता के बीच प्रोक्षणी पात्र रख दिया जाता है। यजमान के दायें हाथ पर कुशा पर कर्मकलश, अर्घा आचमनी पञ्चपात्र षोडशोपचार के लिए सामग्री एवं घृतपात्र आदि यथास्थान रख दिये जाते हैं।[1]

पञ्चगव्य :

पञ्चगव्य का विधान यह है कि गोमय और गोघृत समान भाग तथा गोमय से दुगुना गोमूत्र और उससे त्रिगुणित दही तथा उसे द्विगुणित दूध उतना ही गंगाजल या कुशजल मिलाया जाता है। पहले गोमय और गोमूत्र को मिलाकर कपड़े से छान लिया जाता है और उन्हें दही आदि में मिला दिया जाता है।

अरिण मन्था आदि यज्ञपात्रों का परिचय

श्रेष्ठ भूमि में उत्पन्न होने वाले शमीगर्भ में शमीवृद्धा के मध्य में जो पीपल उगा हो, उस पीपल की पूर्व अथवा उत्तर अथवा ऊपर की ओर जाने वाली शाखा की अरणि बनती है[2] और उसी लकड़ी के मध्य भाग की लकड़ी की उत्तरारणि बनती है। सारवाले काष्ठ की ओखली बनती है। शमी के मूल में उत्पन्न पीपल के काष्ठ को

---

१. पञ्चगव्यः समुत्पन्न मध्यमाने महोदधौ – पा.गृ.सू. परिशिष्ट पृ. २९२

२. अथातः सम्प्रवक्ष्यामि पञ्चगव्यं यथाविधि
पावनार्थे हिजातीनामिहलोके परत्र च
गोमूत्र गोमयं क्षीरं दधि सर्पि कुशोदकम्
निर्दिष्टं पञ्चगव्यञ्च पवित्रं कायशोधनम्
मूत्रवै कपलं दधात्तदर्ध गोमयं स्मृतम्
क्षीरं सप्तपलं दद्यात्त दधि त्रिपलमुच्यते
आज्यस्येकपलं दधात्पलमेकं कुशोदकम् – पराशरस्मृति अ. ११, श्लोक २८.३४, ३५

शमीगर्भ कहते हैं। यदि शमीगर्भ पीपल प्राप्त न हो तो साधारण पीपल के ही काष्ठ से अरणिका निर्माण करे। अरणि चौबीस अंगुल लम्बी छः अंगुल चौड़ी और चार अंगुल ऊँची होती हैं प्रमन्थ अठारह अंगुल लम्बा होता है। पात्र बारह अंगुल का होता है। ओखली बारह अंगुल की होती है। इस प्रकर मन्थन यन्त्र बनता है।[1]

जहाँ-जहाँ अंगुष्ठ का मान प्रमाण कहा गया है। वहाँ-वहाँ बड़े पोखे की ग्रन्थि का प्रमाण समझना चाहिए। गोवाल (गौ का बाल) और सन इन दोनों को मिलाकर तीन लड़ की रस्सी बनानी चाहिए। यह रस्सी व्याममात्र दोनों भुजाओं को मिलाकर जो घेरा बनाती है उसे ब्यान कहते हैं। यह बड़ी होनी चाहिए इस रस्सी से अग्नि मन्थन होता है। शिर, नेत्र, कान, मुख और कन्धा यह सब एक अंगुष्ठ का छाता दो अंगुल की दस्ती, दो अंगुष्ठ की गुह्य दो अंगुष्ठ का उरु चार अंगुष्ठ का जघा तीन अंगुष्ठ का पैर। इस प्रकार अरणि के समस्त अवयव यज्ञ के ज्ञाताओं ने कहे हैं अरणि का जो गुह्य है वही देवयोनि हैं देवयोनि जो अग्नि उत्पन्न करता है। यह कल्याण कारक कहा गया है।[2]

---

१. अश्वत्थो यः शमीगर्भः प्रशस्तोर्वीसमुद्भचः
तस्या या प्रांङमुखी शाखा उदीपी चाहर्यगायि वा
अरणिस्वन्मयी प्रोक्ता तन्मध्ये धोत्तशराणिः
साखद्दाखं चात्तमोविली च प्रशस्यते
संस्क्तमूलो यः शम्या स शमीगर्भ उच्यते
अलाभेत्वसमीगर्भादाहरेदविलम्बितः
चतुर्विशति रङ्गष्ठदैर्ध्य षडपि पर्थिवम्
चत्वार उच्छ ये मानमरणयोः परिकीर्तितम्
अष्टागुलः प्रमन्थः स्याच्चात्रं स्याद् द्वादशांगुलम
ओखिली द्वादशैव स्योदतन्मन्थन यन्त्रकम्।
पा.गृ.सू. १/२/५ गदाधर भाष्य में यज्ञपार्शव संग्रह कारिका में पृ. १६ पर उद्धृत।

२. अंगुष्ठागुलमानं तु यत्र यत्रोपदिश्यते
तत्र तत्र वृहत्पर्वग्रन्थिमिभर्मिनुयात सदा
गोवालेः शणसम्मिश्रैस्त्रिवृत्तममलात्मकम्

यज्ञादि में दक्षिणा :

दक्षिणा यज्ञ का एक प्रधान अंग है। दक्षिणा के बिना यज्ञ का फल यज्ञकर्ता यजमान प्राप्त नहीं कर सकता। दक्षिणा के यजमान को सारी अभिलाषायें पूर्ण हो जाती हैं। अतः दक्षिणा को फलप्रदा कहा है।

दक्षिणा के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण बात यह है कि यज्ञादि कर्म में यदि यजमान से प्रमादवश किसी प्रकार की त्रुटि रह जाती है तो उस त्रुटि का सर्वतोभावेन परिहार दक्षिणा देने के होता है।[१] दान कर्म और विवाह में विशेष करके देवता पूजन में या तीर्थ और अभिषेक में दक्षिणा सदा शुद्ध होती है। इसलिए कर्म की समृद्धिकरिणी दक्षिणा देनी चाहिए। जब तक दक्षिणा नहीं होती है तब तक कर्मफल नहीं होता। अच्छी (प्रचुर) दक्षिणा सर्वत्र सदा आयुष्य, आरोग्य कल्याण ऐहिक मंगल और पारलौकिक भद्र होती है। इसलिए पा.गृ.सू. के प्रत्येक गृह्ययज्ञ में दक्षिणा का विधान है।[२]

व्यामप्रमाणं नेत्रं स्यात् प्रमश्यसतेन पावकः
मुर्द्धा क्षिकर्णवकत्राणि कन्धरा चापि पञ्चमी
अंगुष्ठमात्रं हृदयं त्र्यगुष्ठमुदरं स्मृतम्
एकागुष्ठा कटिर्ज्ञेया द्वौ वस्ती द्वौ च गुह्यकम्
उरु जङ्घे च पावौ च चतुस्त्र्येकैयथाक्रमम
अरण्यावयवा ह्येते याज्ञिकेः परिकीर्तिताः
यस्तद् यो जायते बह्नि सकल्याण कृदुच्यते।।

१. दक्षिणाः दक्षतेः समर्धयति कमर्णः वृद्धि समर्धय तीति। नि. १.३.७

२. दानकर्म विवाहेषु देवार्चने विशेषतः
यज्ञे तीर्थेऽभिषेके च दक्षिणा शुदध्यते सदा
तस्माच्च दक्षिणा देया कर्म समाप्त कारिका
यावद् दक्षिणा हीनेव तावत्कर्मफलं नहि
यथा-यथा बहुं दद्यात्तथा तथा फलं लभेत।
आयुरोग्य कल्याणं शुभ च सुख सम्पादम्
सर्वत्र सर्वदा भद्रंददाति दक्षिणा शुभा। स्वयंभू पुराण।

गृह्यसूत्रीय शौच विधि

कोई भी श्रौत अथवा स्मार्त अनुष्ठान अपवित्र स्थिति में नहीं किया जाता। इसलिए मनुष्य को पवित्र होना आवश्यक है। इसके लिए शौच विधि का वर्णन किया गया है। घर से अधिक दूर जाकर यज्ञोपवतीत को शिर अथवा दाहिने कान पर चढ़ाकर; तृण इत्यादि वनस्पतियों की आड़ में होकर दिन में उत्तर की ओर रात्रि में दक्षिण की ओर, दोनों के सन्धिकाल में उत्तर की ओर जाकर ऐसे स्थान पर जिसके समीप अग्नि न हो गायें न हों जल न हो वहाँ बैठकर मल मूत्र का उत्सर्जन करना चाहिए। किन्तु इन स्थानों को छोड़कर (मलमूत्र का उत्सर्ग करना चाहिए) जैसे– नाग, वृक्ष की जड़, चौराहा, गायों के बैठने या चरने का स्थान, देवता और ब्राह्मण की सन्निधि, श्मशान भूमि, भसमावृत्त सथान और हल के फाल से जुती भूमि इन स्थानों पर मल मूत्र का कभी त्याग नहीं करना चाहिए।[१] इसके पश्चात् शिशन को हाथ से पकड़कर उठकर जल से शुद्ध स्वच्छ लिंग पर एक बार मिट्टी लगायें, गुदा में तीन बार बायें हाथ से १० बार और दोनों हाथों को मिलाकर सात बार मिट्टी लगानी चाहिए। दोनों हाथों और पैरों में एक-एक बार मिट्टी लगानी या मलनी चाहिए।[२] शौच की यह प्रक्रिया गृहस्थों की है इसकी दो गुनी ब्रह्मचारियों को, तिगुनी वानप्रस्थियों को चौगुनी सन्यासियों की है।[३] दिन में विहित शौच प्रक्रिया की आधी रात्रि में मार्ग में रात्रि की भी आधी और रुग्णावस्था में जितनी हो सके, उतनी ही कर लेनी

---

१. दूर गत्वा दूरतरं गत्वा यज्ञेपवीतर्ठशिरसि दक्षिणकर्णे वा धृत्वा तृणमन्तधान कृत्योपविश्याघ्नीव्युतरतो निशंयां दक्षिणतो उभ्योः सध्योः सध्ययोरुदङ्मुखो नाम्नौ न गौसमीपे नाप्सु नागे वृक्षमूले चतुष्पथे गवाङ्गोष्ठे देवब्राह्मणसंनिधो दहनभूमि भसमाच्छन्नं देश फालकृष्टभूमि च वर्जयित्वा मूत्रपुरीषे कुर्यात्। पा.गृ.सू. परिशिष्ट पृ. २९६

२. ततः शिश्नं गृहीत्वोत्थायाद्भिः शौचं गन्धलेपहरं विदध्यात्। लिङ्गे देया सकृन्मृद्धे त्रिवारं गुदे दशधा वामपाणाउभयो सप्तवारं मृत्तिकां दद्यात्। वही

३. करयोः पादयोः अकृत्सकृदेव मृत्तिका देयेति शौचं गृहस्थानां द्विगुणं ब्रह्मचारिणां त्रिगुणं वनस्थानां चतुर्गुणं यतीनामिति। पा.गृ.सू. परिशिष्ट पृ. २९६

चाहिए।[१] द्विजातियों में उत्पन्न व्यक्ति प्रतिदिन हाथ पैरों को प्रक्षालित करने के अनन्तर पवित्र स्थान पर बैठकर बाँधकर, यज्ञोपवीत ठीक कर पूर्वाभिमुख या उत्तराभिमुख होकर दोनों घुटनों के मध्य हाथ करके शुद्रेतर व्यक्ति के द्वारा लाये गये जल से क्रमशः हृदय कण्ठ और तालु में डालकर आचमन करें।[२] फेन और बुलबुलों से युक्त जल से आचमन न करें और न अलग-अलग होठों से विरल अंगुलियों से, न खड़े-खड़े और न हँसते हुए आचमन करना चाहिए। ब्रह्मतीर्थ (अंगुष्ठ मूल) से तीन बार जल पिये और दो बार परिमार्जन करें।[३] ब्राह्मण के दाहिने हाथ में पाँच तीर्थ होते हैं। अंगुष्ठ मूल में ब्रह्मतीर्थ, कनिष्ठका के मूल में प्रजापति तीर्थ, तर्जनी और अंगुष्ठ के मध्यवर्ती मूल में पितृतीर्थ, अंगुली के अग्रभाग में देवतीर्थ और मध्य में अग्नितीर्थ ये पाँच तीर्थ होते हैं।[४] प्रथम से जो जल पीता है उससे ऋग्वेद प्रसन्न होते हैं, दूसरे से जो जल पीता है उसे यजुर्वेद प्रसन्न होते हैं, तीसरे से सामवेद और चौथे से अथर्ववेद, इतिहास पुराणों को प्रसन्न करता है।[५] अंगुलियों से जल स्राव करने पर नाग, यक्ष, कुबेर और सभी वेद प्रसन्न होते हैं। पादों के अभ्युक्षण से पितर प्रसन्न होते हैं मुख के अपस्पर्श से अग्निदेव प्रसन्न होते हैं। नासिका रन्ध्रों के

---

१. यद्दिवां विहितं शौचं तदर्ध निशाया भवति मार्गे चेत्तत्तर्धमार्तश्चेद्यथाशक्ति कुर्यात्। वही

२. प्रक्षालित पाणिपादः शुचौ देश उपविश्य नित्यं बद्धशिखी यज्ञोपवीती प्रागुङ्मुखो वा भूत्वा जान्वोर्मध्ये करौ कृत्वा शूद्रानीतोदकैर्द्विजातयो यथा क्रमम् हत्कण्ठतालुगैराचामन्ति। वही

३. न तद्भिन्नोष्ठेन न विरलाङ्गुलिभिर्न तिष्ठनैव हसन्नापि फेनबुद्बृदयुतम्। ब्रह्मतीर्थेन त्रिः पिबेत द्विः परिमृजेत्। वही

४. ब्राणस्य दक्षिणहस्ते पञ्चतीर्थानि भवन्ति। अंगुष्ठमूले ब्रह्मतीर्थ कनिष्ठकांगुलिमूले प्रजापतितार्थ तर्जन्यङ्गुष्ठमध्यमूले पितृतीर्थमङ्गुल्यग्रे देवतीर्थं मध्येऽग्नितीर्थमित्येतानि तीर्थानि भवन्ति। वही

५. प्रथमं यत्पिबति तेन ऋग्वेदं प्रीणाति, द्वितीयं यत्पिबति तेन यजुर्वेदं प्रीणाति तृतीयं यत्पिबति तेन प्रीणाति चतुर्थ यदि पितेत्तेनार्थर्ववेदेतिहासपुराणानि प्रीणाति। वही

उपस्पर्श से वायुदेव प्रसन्न होते हैं।[१] मंत्रों के उपस्पर्श से सूर्यदेव प्रसन्न होते हैं कानों के उपस्पर्श से दिशायें प्रसन्न होती हैं, नाभि के उपस्पर्श से ब्रह्मा प्रसन्न होते हैं। हृदय के उपस्पर्श से परमात्मा प्रसन्न होते हैं। बाहुओं के उपस्पर्श से विष्णुदेव प्रसन्न होते हैं। मध्यमा और अनामिका के मुख का, तर्जनी और अंगूठे से नासिका का मध्यमा और अंगूठे से आँखों का, अनामिका और अंगूठे से शिर का उपस्पर्श करना चाहिए क्योंकि सभी देहधारियों में ब्राह्मण को सर्वदेवमय कहा गया है। भगवान् कात्यायन का कथन है कि ब्राह्मण इस प्रकार शौच विधि का पालन करके ब्रह्मलोक में महिमान्वित होता है।[२]

गृह्यसूत्रों में स्नान विधि

श्रौत या स्मार्त कर्म में पवित्रीकरण आवश्यक है। शौच क्रिया के बाद स्नान आवश्यक है। इसलिए पारस्कर स्नानविधि बतला रहे हैं:- नदी आदि में स्नान करने का इच्छुक मिट्टी गोबर, कुश तिल और पुष्प लेकर घर से नहीं आदि जल के समीप जाकर स्वच्छ स्थान पर मृत्तकादि को रखकर पैरों और हाथों को धोकर बायें हाथ में कुश से निर्मित पवित्रादि लेकर शिखा बाँधकर यज्ञोपवीत ठीक कर

---

१. यदङ्गुलिभयः स्रवति तेन नागयक्ष कुबेराः सर्वे वेदाः प्रीणन्ति यत्पादाभ्युक्षणं पितरस्तेन प्रीणन्ति यन्मुखमुपस्पृशत्यग्निस्तेन ''णाति यन्नासिके उपस्पृशाति वायुसतेन प्रणाति। पा.गृ.सू. परिशिष्ट पृ. २९६

२. यच्च्क्षुरूप स्पृशाति सूर्यस्तेन प्रीणाति यच्छहोत्रमुपस्पृशाति दिशस्तेन प्रीणन्ति यन्नाभिमुपस्पृशति ब्रह्मा तेन प्रीणाति यद्धृदयमुपस्पृशति तेन परमात्मा प्रीणाति यच्छि रउपस्पृशति रुद्रस्तेन प्रीणाति यद्बाहू उपस्पृशति विष्णुस्तेन प्रीणाति मध्यमानमिकया मुख तर्जन्यङ्गुष्ठेन नासिकां मध्यमाङ्गुष्ठेन चक्षुषी अनामिकाङ्गुष्ठेन श्रोत्रं कनिष्ठिकाङ्गुष्ठेननाा॥ हस्तेन हृदयं संवङ्गुलिभिः शिर इत्यसौ सर्वदेवमयी ब्राह्मणो देहिनामित्याह इत्येवं शौचविधि कृत्वा ब्रह्मलोके सहीयते ब्रह्मलोके महीपते। इत्याह पा.गृ.सू. परिशिष्ट पृ. २९६

यथाशास्त्र[१] 'उरु' हि राजा इस ऋचा के साथ जल का अभिमुखी कारण करके[२] 'ये ते शतम.'[३] इस सऋचा को पढ़कर जल को दाहिने हाथ से बार प्रदक्षिणा विधि से आलोदित करें। सुमित्रियान आपः- इस यजुष मन्त्र से जल के दोनों हाथों की अञ्जलि में लेकर दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु.[४]- इस यजुष मन्त्र से शत्रु के प्रति निषिञ्चन करे अर्थात् मन में शत्रु का विचार कर भूमि पर जल को फेंक दे कटि भाग-बसित भाग, जानु भाग दोनों जंघाओं चरणों और हाथों को मिट्टी और जल से तीन-तीन बार प्रक्षालित करके आचमन कर उदाकाय नमः[५] कहकर जल को नमस्कार करके इदं[६] विष्णु इस ऋचा को पढ़कर दाहिने हाथ में ली गयी मिट्टी का नाभि से चरणों तक सभीं अंगों में लेप करें तदन्तर धीरे से जलाशय में प्रवेश कर सूर्याभिमुख होकर शिर से जल डाले[७] आपो असमान्.[८] इस मन्त्र से स्नान कर उदिदाभ्यः[९] इस मन्त्र के समाप्त होने पर जल से निकले फिर चुपचाप मन्त्र रहित स्नान करके पुनः उसी प्रकार जल से ऊपर निकल करके आचमन करके दाहिने

---

१. नद्यादौ मृद्गोमयतिलकुशविल सुमनस आहृत्योदकान्तं गत्वा शुचौ देशे स्थाप्य प्रक्षाल्य पाणिपादं कुलोपग्रहो बद्धशिखी यज्ञोपवीत्या। परिशिष्ट पा.गृ.सू. पृ. २९९

२. एकवासा आचमनं कृत्वा उरु हि राजा इतयादिकम। पा.गृ.सू. परिशिष्ट हरि. पृ. ३०२

३. ये ते शतमित्येतयर्चा तृतीयं दक्षिणहस्तेन सकृदावर्तयेत आलोडयेत्। वही

४. सुमित्रियान इत्यपोऽजललिनादाय दुर्मित्रिया इति द्वेष्य प्रति निषिञ्चेत।

५. द्वेष्याभावे कामाद्यरिशडवर्गान्मनसाऽभिध्याय निषिञ्चेत् कटि बस्त्यूरु जङ्घे चरणौ करौ मृदा त्रिस्त्रिः प्रक्षाल्यं। वही

६. आचम्यं नामस्योदकमालभेदङ्गानि मृदेदं विष्णुरिति कटयाद्यधाङ्गप्रक्षालन सभवात्प्रायश्चित। वही।

७. शनैर्जलाशयं प्रविश्य नाभिमात्रे स्थितः सूर्यस्याभिमुखः सन्निमज्जेत। शिरसा जलमवगाहेत। वही

८. आपो असमा ----- चम्य आपो असमान्मातर इतिमन्त्रेण स्नात्वा। वही

९. उदिाभ्य इति मन्त्रायते उनमज्जय उत्कम्य उत्कम्य निमज्जय पुनः तूष्णीं स्नात्वा। वही

हाथ में लिये हुये गोबर से शिर से नाभि तक के अंगों को पुनः बायें हाथ में लिये हुए गोबर से चरणान्त भाग को लिप्त करें।[१]

तदन्तर इमं में वरुण.[२] इस ऋचा से चुल्लु में लिये गये जल से शिर को अभिषिञ्चित करें। इसी प्रकारतत्वायामि।[३] त्वन्नो अग्ने सत्वं नो अग्ने इन तीन ऋग्मन्त्रों से मा पो मौषधीहिसीः "उदुत्तमम और मुञ्चन्तु मा. इन ऋचाओं तथा अवभृथनिचुम्पुण यंजुष मन्त्र से अभिषिञ्चन करना चाहिए। इस प्रकार स्नान करके जल से ऊपर निकल करके पुनः चुपचाप स्नान करके तथा स्नान के अनन्तर आचमन करके, तीन कुश गुच्छकों से नाभि से नीचे और तत्पश्चात् नाभि से ऊपर अपने को पवित्र करें, मन्त्र पढ़े आपोहिष्ठा से लेकर चित्पदिर्मा. तक तथा ऊंकार और तीन व्याहतियों से युक्त तत्सवितुः...प्रभृति गायत्री मन्त्र को उसके आदि अर्थात् आपो हिष्ठा...से पहले और अन्त अर्थात् चित्पदिर्मा. इस सूक्त की तीन आवृत्तियाँ करें अथवा दुपदादिव. इस ऋचा को अथवा आयङ्गो. इस ऋचा को पढ़े या शिर सहित प्राणायाम करे अथवा तीन बार ऊंकार का ही जप करे अथवा भगवान विष्णु का स्मरण करें।[४]

श्राद्ध सूत्रम

श्राद्ध शब्द की व्युत्पत्ति श्रद्धा शब्द से होती है। श्रध्यां कृत सम्पादितमिदम् श्रद्वया दीयते यस्मात् वच्छ्राद्धम, श्रद्धार्थमिदं श्राद्धमः, श्रद्धाया इदं श्राद्धम् इत्यादि अर्थों में अण् प्रत्यय करने पर 'श्राद्ध' शब्द की निष्पत्ति होती है। इसका तात्पर्य यह है कि अपने मृत पितृगण के उद्देश्य से श्रद्धापूर्वक किये जाने वाले कर्म विशेष को श्राद्ध कहते हैं। महर्षि वृहस्पति श्राद्ध का लक्षण बताते हुए कहते हैं कि जिस कर्म

---

१. दक्षिणकर गृहीतेन शोमयेन मूर्द्धप्रभृतिनाभिपर्यन्तं वामहस्तगृहीतेन नाम्यादि पादपर्यन्तं शरीर विलिम्पेत्। वही।

२. इमं मे वरुण – पा.गृ.सू. परिशिष्ट पृ. ३०२

३. तत्वयामि – वही

४. पा.गृ.सू. परिशिष्ट पृ. २९८

विशेष में अच्छी प्रकार से पकाये हुए उत्तम व्यञ्जन को दुग्ध घृत और शहद के साथ श्रद्धापूर्वक पितृगण के उद्देश्य से ब्राह्मणादि को प्रदान किया जाये उसे श्राद्ध कहते हैं।[१]

शास्त्रों में श्राद्ध के अनेक भेद कहे गये हैं। मत्स्यपुराण में तीन प्रकार के श्राद्ध लिखे हैं– (१) नित्य, नैमित्तिक और काम्य भेद से श्राद्ध तीन प्रकार के होते हैं।[२]

मनुस्मृति में पाँच प्रकार के श्राद्ध प्राप्त होते हैं।[३]

प्रतिदिन किये जाने वाले श्राद्ध को नित्य श्राद्ध कहते हैं।

एकोदिष्ट प्रभृति श्राद्ध को नैमित्तिक श्राद्ध कहते हैं। स्वाभिलषित कार्य सिद्धार्थ किये जाने वाले श्राद्ध को काम्य श्राद्ध कहते हैं। वृद्धिकाल में अर्थात् पुत्रजन्म विवाह आदि में जो श्राद्ध किया जाता है वह वृद्धि श्राद्ध कहलाता है। तिथि में अथवा पर्व के समय में जो श्राद्ध किया जाता है उसे पार्वण श्राद्ध कहते हैं। वृद्धिकाल में अर्थात् पुत्रजन्म विवाह आदि में जो श्राद्ध किया जाता है उसे पर्वाण श्राद्ध कहते हैं। उपर्युक्त पाँच प्रकार के श्राद्धों का उल्लेख कर्मपुराण और वृहस्पति संहिता में भी किया गया है।[४] कृष्णपक्ष में प्रतिपदा से लेकर अमावस्या तक प्रतिदिन श्राद्ध करना चाहिए।[५] या चतुर्थी के अनन्तर अर्थात् पञ्चमी से अथवा चतुर्दशी को छोड़कर अन्य सभी तिथियों में

---

१. संस्कृतं व्यञ्जनाद्यं च पयोमधुघृतान्वितम्
श्रद्धदयादीयते यस्माच्छ्रदतद्धं तेन निगद्यते। इस का समर्थन पराशर ने ब्रह्मपुराण में किया है।

२. नित्यं नैमित्तिकं काम्यं त्रिविध श्राद्धमुच्यते। मत्स्यपुराण

३. नित्यं नैमित्तिकं काम्यं वृद्धिश्राद्धमथापरम्
पार्वणं चेति विज्ञयें श्राद्धं पञ्चविधं बुधैः।। यमस्मृति

४. नित्यं नैमित्तिकं काम्यं वृद्धिश्राद्धं सपिण्डनन्
पार्वर्ण चेति विज्ञेय गोष्ठयां शुद्धयर्थमष्टमम्।।
कर्माङ्ग नवमं प्रोक्तं दैविकं दशमं स्मृतम्
यात्रास्वेकादशं प्रोक्तं पुष्टयर्थ द्वादशं स्मृतम्।। कर्मपुराण, वृहस्पति संहिता

५. अपरपक्षे श्राद्धं कुर्वीतोर्ध्वं। वही पृ. ३१८

जिस दिन द्रव्य और ब्राह्मण सुलभ हो जाए।[१] उसी दिन ब्राह्मणों को आमन्त्रित कर श्राद्ध कर लेना चाहिए अथवा जिस दिन मृतक की तिथि पड़ती हो उस दिन या उससे पहले दिन श्राद्ध कर लेना चाहिए अथवा जिस दिन मृतक की तिथि पड़ती हो उस दिन या उससे पहले दिन श्राद्ध किया जा सकता है। श्राद्ध पर स्नातको को, कुछ आचार्यो के मत से यतियों को या निर्दोष गृहस्थों को ज्ञान तथा तप में वृद्ध अनिन्दित तथा स्वकर्मानुष्ठान निरत श्रेणियों को श्राद्ध में निमन्त्रित करना चाहिए।[२] पूर्व कथित ब्राह्मणों के अभाव में अग्नि परिचर्या और गुरु शुश्रुषा प्रभृति अपने आचारों के पालन में निरत शिष्यों को भी निमन्त्रित कर श्राद्ध कर्म सम्पन्न किया जा सकता है।[३]

पारस्कर ने द्विर्नग्न, अत्यधिक गौरवर्ण वाले को बड़े-बड़े दाँतों वाले, फटे हुए लिंग धर्म वाले, व्याधिग्रस्त को हीनांग, श्वितयुक्त की, गलित कुष्ठवाले तथा कुत्सित नाखूनों वाले ब्राह्मणों को छोड़कर निर्दोष व्यक्ति द्वारा नियन्त्रित ब्राह्मण को नहीं करना चाहिए और न ही अन्य का अन्न ग्रहण करना चाहिए।

स्नान किये हुये शुद्ध पवित्र आचमन कर चुके ब्राह्मणों को वैश्वदेव के निमित्त युग्म चार छः आदि को पहले आगे के कुशों पर पूर्वाभिमुख बैठाकर यथाशक्ति अयुग्म को पितरों के निमित्त बैठाकर श्राद्ध करना चाहिए पित्र कर्म में प्रत्येक के लिये एक पितामह को निमित्त और एक प्रपितामह के निमित्त इसी के अनुसार अयुग्म ब्राह्मणों को उदङ्मुख बैठाकर दूसरा विकल्प दोनों कर्मों में एक-एक ब्राह्मण को बैठाकर श्राद्ध करे और शेष को धन के सामर्थ्य के अनुसार अन्य आगार में भोजन करा दे। मातामह आदि के श्राद्ध कर्म में भी ये ही पक्ष हो सकते हैं। वैश्वदेविक श्राद्ध प्रक्रिया दोनों (प्रतिपतामह और मातामहादि) दोनों के लिए एक ही प्रकार की होती

---

१. चतुर्थ्या यदहः संपथेत तदहर्ब्राह्मणासामन्त्र्य। वही

२. स्नातकानेके यतीन गृहस्थान् साधून्वा श्रोत्रियान। वही

३. वृद्धाननवद्यान्त्स्व कर्मस्थान भावेऽपि शिष्यान्त्स्वाचारान्। वही।

है।[१] श्रद्धा से युक्त होकर श्राद्ध करना चाहिए। यदि अन्न प्राप्त न हो सके तो केवल शाक से भी श्राद्ध किया जा सकता है किन्तु ऐसा न हो कि बिना श्राद्ध के कृष्ण पक्ष पार हो समाप्त हो जाये क्योंकि प्रजापति ने पितरो से कह रखा है कि प्रत्येक मास में तुम्हारे लिये आहार नियत किया गया है– इस प्रकार का श्रुति वाक्य प्राप्त होता है। श्राद्ध के दिन आभ्यन्तर और बाह्य रूप से शुद्ध होकर क्रोध और शीघ्रता न करते हुए सावधान और सत्यवादी रहना चाहिए उस दिन मार्ग गमन, मैथुन परिश्रम के कार्य और स्वाध्याय वर्जित है।[२] श्राद्ध करने वाला आवाहन से लेकर चुलुक दान पर्यन्त समस्त कार्य चुपचाप मन्त्र रहित करे।[३] श्राद्ध में निमन्त्रण से लेकर आचमन पर्यन्त जो कुछ भी कर्म किया जाता है वह वैश्वदेवपूर्वक ही करना चाहिए।[४] पितृ कर्म में पिण्डपितृयज्ञ की भाँति ही अनुष्ठान होता है।[५]

इसके पश्चात् दक्षिणामुख वामजानुपातादि कर्मों का अतिदेश किया गया है।[६] इसी अतिदेश के कारण पितृ कर्म में नीती बन्धन से लेकर पिडोत्थापन पर्यन्त पिंडपितृयज्ञोक्त धर्म होता है।[७]

---

१. द्विर्नग्नशुक्लविक्लघश्यावदन्त विद्वप्रजनन व्याधितव्याङ्गि श्वित्रिकुष्ठिकुन स्विपर्जमानिन्ध्ये नामन्त्रितो नापक्रामदामन्त्रितो वाऽन्यदन्नं न प्रतिगृहीगीयात्स्नाताञ्छु चीना चान्तान्प्राङ्मुखानापवेश्य देवै युग्मान युग्मान्यथा शक्तिपित्र्ये एकैकसचीदङ्मुखान्द्वौ वा दैवे त्रीन् पित्र्य एकैकमुभुयत्र वा मातामहानान्चैव तन्त्रं वा वैश्वदेविकम्। पा.गृ.सू. परिशिष्ट – पृ. ३१८

२. श्रद्धान्पितः श्राद्धं कुर्वीत शाकेनापि नापरपक्षमतिक्रामेन्मासि मासि दोशनमिति श्रुतस्तवः शुचिरक्रोधनोऽप्रमत्तः सत्यवादी स्मादहवमैथुन श्रमस्वाध्याय। वही

३. आवाहनादि वाग्यत् ओपस्पर्शनदामिन्त्रताश्चैवम्। पा.गृ.सू. परिशिष्ट पृ. ३१८

४. निमन्त्रणादि आचमनापर्यन्त श्राद्धेयत्किञ्चितिक्रयते तत्सर्व देवपूर्वकं कर्तव्यनित्यर्थः। वही. देवपूर्व श्राद्ध।

५. पिण्ड पितृयज्ञवदुपचारः पित्र्ये। पितृकर्मणि पिण्डपितृयज्ञवत्करणंभवतीत्यर्थः। वही

६. अनेनापसव्यदक्षिणा मुखवामजानुपातद्यतिदिष्टम्। वही

७. अतश्च नीवीबन्धमादिपिण्डोत्थापनपर्यन्तं पिण्डपितृयज्ञोक्तधर्मो भवतीति। वही

पितृकर्म में दो गुने दर्भ होते हैं[१] सर्वत्र दैवकर्म और पित्त कर्म में जो कुछ भी दिया जाता है वह सब हाथों में कुश निर्मित पवित्र लेकर तथा बैठे हुए ही दिया जाता है[२] आसनों पर कुशों को बिछाकर ब्राह्मणों ये यह पूछना चाहिए कि हम सभी देवताओं के साथ आवाहन करेंगे,[३] जब ब्राह्मण अनुज्ञा दे कि आवाहन करो तब विश्वेदेवमागतः इस ऋचा से आवाहन करके वैश्वदेव ब्राह्मणों के समक्ष प्रदक्षिणा विधि से जो को बिखेर देना चाहिए।[४] पुनः कर्ता ब्राह्मणों से "विश्वेदैवा श्रणुतेमम" इस मंत्र को पढ़ते हुए हम पितरों का आवाहन करेंगे।[५] जब ब्राह्मण कहे 'आवाहन करो' तब उनका आदेश लेकर उशन्तस्त्वा इस मन्त्र से पितरो का आवाहन करें, फिर पितृ और ब्राह्मणों के समक्ष प्रदक्षिणा विधि से जौ को बिखेर देना चाहिए।[६]

आभ्युदयिक श्राद्ध

आभ्युदयिक श्राद्ध में पूर्व की ओर या उत्तर की ओर मुख कर बैठना चाहिए।[७] उस दिन प्रथम प्रहर में पितृ मन्त्र की तेरह ऋचाओं को छोड़कर अयन्तु नः इत्यादि मन्त्र का जप होगा।[८]

---

१. द्विगुणास्तु दर्भाः। वही

२. पवित्र णार्दिघादासीन। वही

३. सर्वत्र प्रश्नेशुपङ्क्तिमूर्द्धन्यं पृच्छति सर्वान्वासनेषु दर्भानास्तीर्य विश्वान्देवा। वाहयिष्य इति पृच्छ त्यावाह। वही

४. अनुज्ञातो विश्वेदेवास आगतेत्यनयाऽऽवाह्य वकीयं विश्वेदेवा श्रुणुते। वही

५. विश्वेदेवास आगतेत्यनया ऋचा आवाहन वैश्वदेवब्राह्मणपुरतो मवान्प्रादक्षिणयेना पकीर्ये विश्वेदेवाः श्रणुतेमंभितीनं मन्त्रं पतित्वा पितृनाणहयिष्य इति प्रच्छति। वही

६. आवाहयेति ब्रह्मणैराज्ञपित उशन्तरन्त्वेति मन्त्रेण पितृावाह्य पितृब्राह्मणानाम ग्रतस्तिलान प्रादक्षिव्येनावकीर्यायन्तु नः पितरः इति पठेत। वही पृ. ५०३

७. आभ्युदयिके प्रदक्षिणमुपचारः। पा.गृ.सू. परिशिष्ट पृ. ५२९
अनिष्ट्वा पितृयज्ञेन वैदिकङ्किञ्चिदाचरेत्। शातातपः। पा.गृ.सू. पृ. ५३० पर

८. पित्र्यमन्त्रवर्जञ्जपः। वही
उदीरतामिति त्रयोदर्श च पित्र्यमिति पित्रमन्त्रसंज्ञा। वही गदा. भाष्य

तृप्ति प्रश्न पूर्व की तरह न होकर 'सम्पन्नम्' होगा[१] श्राद्ध में निमन्त्रित अन्य ब्राह्मणों को कहना चाहिए– 'सुसम्पन्नम्'।[२] दही वेर ओर अक्षतो से युक्त पिण्डदान होना चाहिए।[३] जब यजमान पूछे नान्दीमुख पितरो का आवाहन करेंगे,[४] जब उन्हें यह आदेश मिल जाये कि आवाहन करो तो 'अक्षय्योदक' के स्थान पर नान्दीमुख 'पितर प्रसन्न हो' ऐसा प्रयोग होता है। पुनः यजमान पूछे हम नान्दीमुख पितर का वाचन करेंगे। जब उसे वाचन करो ऐसा आदेश मिलने पर नान्दीमुखा पितरः इस ऋचा का पाठ करना चाहिए स्वधा का उच्चारण नहीं करना चाहिए।[५] इस आभ्युदयिक श्राद्ध में दो ब्राह्मणों को भोजन कराना चाहिए।[६]

पितरों की वृद्धि एक महीने तक ग्राम्य औषधियों और फल और जल से होती है।[७] ग्राम्य औषधि का तात्पर्य जौ, चावल और तिल से है।[८] यदि ग्राम्य औषधियों का अभाव हो तो जंगली कंद मूल और फलों से अथवा औषधियों से उन्हें तृप्त किया जा सकता है।[९]

---

१. यवैस्तिलार्थाः। अत्र तिलार्थाः सर्वे यवैः कार्याः। वही

२. सम्पन्नमिति तृप्तिप्रश्नः तृप्ताः स्थेत्यस्य स्थाने सम्पन्नमित्ययं प्रश्नो भवति। वही

३. दहना बदरीकलैरक्षतैश्च मिश्राः पिण्डा अत्र देयाः। वही

४. नान्दी – पृच्छति क्व पितृना क्व पितृना वाहयिष्य इत्यस्य स्थाने नान्दीमुखान्पितृनावाहयिष्य इत्यय्यं प्रश्नो भवति। वही।

५. नान्दीमुखान पितृनाताहयिष्य इति पृच्छत्या वाध्येत्यनुज्ञातो नान्दीमुखा पितरः प्रीयन्तामित्य क्षय्यस्थाने नान्दीमुखान पितृन्वाचयिष्य इति पृच्छति वाच्यतामित्यनुज्ञातो नान्दीमुखाः पितरः पितामहाः प्रपितामहा मातामहाः प्रमातामहा वृद्ध प्रमातामहाश्च प्रीपन्तमिति न स्वधां प्रयुञ्जीत युग्मानशयेदत्र। पा.गृ.सू. परिशिष्ट पृ. ५३०

६. अत्रास्मिन्नाभ्युदयिके युग्मान्ब्राह्मणान्भोजयेत्। वही गदा.भाष्य

७. अथ तृप्तिगृम्यिाभिरोषधीभिमसिं तृप्तिस्तदभावं आख्या भिमूर्लफलैरोषधीभिर्वा। पा.गृ.सू. पृ. ५३३

८. यवव्रीहिमाषतिलाद्याः। वही गदा.भाष्य पृ. ५३३

९. ग्राम्यानामभावे आख्याभिः श्यानाकनीवाराद्याभिः। वही

औषधियों के साथ छगादि पदार्थ अन्न फल मूल प्रदान किये जाते हैं। वे भी तृष्टि कारक होते हैं।[१]

सींग सहित छाग या भेड़ खरीद कर या बिना मूल्य दिये पाकर पितरों के उद्देश्य से पकाना चाहिए परन्तु यह ध्यान रहे कि इस पशु को स्वयं न मारे अथवा वह अपनी स्वाभाविक मौत से न मरा हो ऐसा माना जाता है कि मछली या मांस से दो महीने तक, हिरण्य के मांस से पाँच महीने तक, जंगली भेड़ के मांस से चार महीने तक, कछुए के मांस से सात महीने तक सूकर के मांस से आठ महीने तक, ग्राम्य भेड़ के मांस से नौ महीने तक भैंसे के मांस से दस महीने तक, चित्रमृग के मांस से ग्यारह महीने तक, दूध से या दूध के बने पदार्थ से बारह महीने तक और बारह वर्ष तक लाल रंग के छाग के मांस से पितरों की तृप्ति होती है। इससे प्रतीत होता है कि श्राद्ध मे मांस का प्रयोग होता था।[२]

इसके अतिरिक्त ऋतुओं का भी श्राद्ध में अत्यधिक ध्यान रखना पड़ता है।[३] सींग वाले पशु का मांस काला सांग, लाल छाग, मधु, महाशल्कं (मछली) आदि से वर्षा ऋतु में और मघा नक्षत्र में तथा हस्ति छाया में[४] किया गया श्राद्ध तृप्तिकारक होता है। श्राद्धकर्म में

---

१. तृप्तिर्ग्राम्याभिरोषधीभिमसिं तृप्तिस्तदभाव आरण्याभिर्मूलफले रोधषीभिर्वा। पा.गृ.सू. पृ. ५३३

२. सहान्नेनोतयस्तपर्यन्ति छागो स्त्रमेषानालभ्य ग्रीत्वा लब्धवा वा स्वयम्मृतानाहत्य पत्तेन्मासद्वयं तु मत्स्यैमसित्रयं तु हारिणेन चतुरऽऔर भ्रेण। पञ्च शाकुनेनं षत् छागेनसप्त कौर्मेणाष्टौ वाराहेण नवमेषमा सेन दश महिषणैकादश वार्षतेन सवत्सरं तु गव्येन यमसा पायसेन वा वार्ध्रीणसमा सेन द्वादश वर्षाणि। पा.गृ.सू. पृ. ५३३

३. खड्गमा सं कालशक लोहत्छामा से मधु महाशल्को वर्षासु श्राद्ध हस्तिच्छायायच्च। वही पृ. ५३५

४. सौहेकेयी यदा भानुं ग्रसते पर्वसन्धिषु
हस्तित्छाया तु सा प्रोक्ता तत्र श्राद्धप्रक्त्पयेत्

वेदमन्त्रों के अध्येता पंक्ति पावन किसी शाखा का अध्ययन करने वाले षड्ग वेद के ज्ञाता, ज्येष्ठ नामक साम विशेष का गायन करने वाले गायत्री जप में निरन्तर अग्निहोत्री स्नातक वृषचिकेत, अग्निचयन करने वाले विद्या, जन्म और कर्म से प्रसिद्ध अनुवाको के अध्येता धर्मशास्त्र के विद्वान, ब्रह्मविधि से विवाहित दम्पत्ति की सन्तान व्याकरणवेत्ता और याज्ञिक ब्राह्मणों की नियुक्ति श्राद्धकर्म में करनी चाहिए परन्तु ऐसे ब्राह्मण उपलब्ध न हो तो एक वेद के अर्थ ज्ञाता को प्रथम पंक्ति के प्रारम्भ में बैठा देना चाहिए क्योंकि ऐसी मान्यता है कि हजारों की संख्या में ब्राह्मणों की पंक्ति को केवल वेद के अर्थ को जानने वाला एक ब्राह्मण पवित्र कर देता है।[१]

काम्य श्राद्ध

श्राद्ध करने से किस तिथि से क्या प्राप्त होता है इसको पारस्कर ने इस प्रकार बताया है। क्योंकि काम्य शब्द का तात्पर्य ही अभीसिप्त कार्य सिद्धि करना है।[२] प्रतिपदा में श्राद्ध करने से अद्वितीय सौन्दर्य वाली पत्नी व द्वितीया में कन्या,[३] तृतीया में अश्व,[४] चतुर्थी में छोटे-छोटे पशु[५] पंचमी में पुत्र,[६] षष्ठी में द्यूतजन्य समृद्धि[७] सप्तमी में

हंसे हस्तस्थिते या स्यावमांवास्या कराम्विता
सा ज्ञेया कुञ्जरत्छाया इति बोधायनी स्मृतिः।
वनस्पतिगते सोमे छाया या प्राङ्मुखी भवेत्। बौधायन का कथन
गजच्छायां तु सापोक्ता। पा.गृ.सू. पृ. ५३५

१. मन्त्राध्यायिनः पूताः शाखाध्यायी षडगविज्ज्येष्ठसामगो गायत्री ज्ञार मन्त्रोऽपि पञ्चाग्निः स्नातकस्त्रिणाचिकेतस्त्रिसुर्पणी द्रोणपाठको, ब्रह्योदायुगो वागीश्वरो याज्ञिकश्च नियोज्या अभावेऽप्येकं वेदविदं पङ्क्तिमूर्धनि निपुञ्ज्यात् आसहस्तात्पङ्क्ति पुनतीति वचनात्।। पा.गृ.सू. परिशिष्ट पृ. ५३४

२. पा.गृ.सू. हिन्दी व्याख्या – डॉ. जगदीश मिश्रा – पृ. ५३६

३. स्त्रियोऽतिरूपाः प्रतिपदि। वही पृ. ५३५

४. द्वितीयाचा स्त्रीजन्म न्योदयः। वही

५. अश्वास्तृतीयायां। वही

६. चतुर्थ्यां क्षुद्रपशवः। वही

७. पुत्राः पञ्चग्यां। वही

कृषि फल[१] अष्टमी में वाणिज्य[२] नवमी में एक खुर वाले पशु[३] दशमी में गायें,[४] एकादशी में श्रव्य,[५] द्वादशी में धनधान्य[६] तथा विरादरी में श्रेष्ठता प्राप्त होती है।[७] युवावस्था में मरे लोगों को या शास्त्राघात से मेरे लोगों का यह काम्य श्राद्ध चतुदर्शी[८] को करने का विधान है।[९] अमावस्या के दिन श्राद्ध करने से सभी प्रकार की कामनाओं की सम्पुष्टि होती है।[१०]

गृह्यसूत्रोक्त भोजनविधि

आर्यों का सम्पूर्ण जीवन यज्ञमय था इसलिए वे प्रत्येक कार्य को पद्धति के अनुसार करते थे। वह शौच क्रिया से लेकर भोजन कृत्य सभी पद्धतिनुसार करते थे। भोजन करते समय सर्वप्रथम जल से आचमन करने के उपरान्त देह पर कोई चादर दुपट्टा या अंगौछा रखकर[११] श्रीखण्ड चन्दन या सुगन्धित सम्प्रदाय द्योतक कोई तिल के साथ भोजनालय में आकर पवित्र भूमि को गोबर से लीपकर उस पवित्र स्थान में निर्धारित पवित्र स्थान पर बैठ जाये[१२] नियमित ढंग से पूर्वदिशा की ओर मुँह करके बैठना चाहिए। पश्चिमाभिमुखं दो दिशाओं के मध्यवर्ती बिन्दु की ओर मुँह करके भी नहीं बैठना

---

१. द्यतर्दि: षष्ठयां। वही
२. कृषि: कृषिफलम् सप्तम्यां। वही
३. वाणिज्यमष्टम्या। वही
४. एकमेकशकं नवम्यां। पा.गृ.सू. परिशिष्ट पृ. ५३५
५. दशम्यां गाव:। वही
६. परिचारिका एकादश्यां। वही
७. धनधान्यानि द्वादश्यां। वही
८. कुप्य हिरण्यं ज्ञातिश्रैष्ठयं च त्रयोदश्ययां। वही
९. मुवानस्तत्र म्रियन्ते शस्त्रहतस्थ चतुर्थदश्याममावास्याया। वही
१०. सर्वमित्यमावास्याया सर्वमिति। वही
११. आचन्तो घृतोत्तरीयवस्त्रो घृत। वही पृ. ५३७
१२. गन्धपुण्ड्रो भोजनशालामागत्य गोमयेनोपलिप्यशुचौ देशे विध्रिपीठाधिष्ठितो। वही

चाहिए।[१] परन्तु यदि लक्ष्मी की कामना हो तो पश्चिम मुख बैठें।[२] सत्य की कामना से उत्तर दिशा की ओर मुँह करके बैठना चाहिए।[३] यश की कामना से उत्तर दिशा की ओर मुँह करके बैठने का विधान है।[४] सजीव मातृकारेखा को छोड़कर हाथ, पैर, मुँह प्रभृति अर्थात् दो हाथ, दो पैर एवं मुँह इन पाँचों अंगों को प्रक्षालित कर अर्थात् गीला कर विन्नी के चूरे से कंडे की राख से या जल से गोल या वृत्ताकार मण्डल बनायें।[५] ब्राह्मणों का चतुष्कोण, क्षत्रियों का त्रिकोण और वैश्यों का गोल मण्डल बनाना चाहिए।[६] शूद्रों का केवल जल से ही अभिषेक होता है।[७] जैसे चक्रायुध भगवान विष्णु अपने हथियार चक्र से त्रिलोक की रक्षा करते हैं। उसी प्रकारये मण्डल भस्म सभी प्राणियों की रक्षा करें।[८] वही धरती पर रखी थाली के अन्न की "पितुन्नुस्तोषमित्यन्न इत्यादि मन्त्र पढ़कर स्तुति करें।[९] पुनः मासस्तोके नमोवः किरिकेभ्यो नमः शम्भवाय इस मन्त्र से उस परोसे हुए अन्न को अभिमन्त्रित कर उस पर जल छिड़क दें।[१०] सत्यन्त्वर्तेन परिष्ज्ञिञ्चामि यह मन्त्र पढ़कर पूर्वाह्न में तथा ऋत त्वा सत्येन परिषिञ्चामि पढ़कर उस भोजनार्थ रखे अन्न को जल से अभिषिञ्चत करें।[११] फिर अग्निदेव का ध्यान करें। दैनिक पंच महायज्ञों में से एक बलि वैश्वदेव यज्ञ

---

१. नित्य प्राङ्मुखो न दक्षिणमुखो न प्रत्यङ्मुखो न विदङ्मुखः। वही
२. श्री कामश्धेत्प्रत्यङ्मुखः। पा.गृ.सू. परिशिष्ट डॉ. जगदीश मिश्रा पृ. ५३७
३. सत्यकामदुदङ्मुखो। वही
४. यशस्कामश्चेदक्षिणमुखो। वही
५. जीवन्मातृकवर्ज हसतपादास्येषु पञ्चस्वार्द्रो नीवार चूर्णैर्गोमृदा मस्नासोदकेन वा मण्डलं कुर्यात्। वही
६. चतुष्कोणं ब्राह्मणस्य त्रिकोणं क्षत्रियस्य मण्डलाकृति। वही
७. अभ्युक्षण शुद्रस्य। पा.गृ.सू. परिशिष्ट पृ. ५३७
८. यथा चक्रायुधो विष्णुस्त्रै लोक्यं परिरक्षति। एव मण्डलभस्मैतत्सर्वभूतानि रक्षत्विति। वही
९. भूमौ निहितवात्रोऽन्ने परिविष्टे पितुन्नुस्तेषमित्यन्न स्तुत्वा। वही
१०. मानास्तोके नमोवः किरिकेभ्यो नमः शम्भवायेत्यभिमन्त्र प्रोक्षयेत्। वही
११. सत्यन्त्वर्तेन परिषिञ्चामीति प्रातर्ऋतं त्वा सत्येन परिषिञ्चामीति सायम्। वही

करें। भोजन से पूर्व आहार का कुछ अंश निम्नलिखित प्रत्येक मंत्र के साथ बलि दें ऊँ भूपतये स्वाहा नमः ऊँ भुवनपतये स्वाहा नमः। ऊँ भताना पतये स्वाहा नमः ऊँ चित्राय नमः स्वाहा, ऊँ चित्रगुप्ताय नमः स्वाहा।[१]

तत्पश्चात् विष्णु मन्त्र पढ़ते हुए भगवान् विष्णु का ध्यान करते हुए आचमन करें।[२] तत्पश्चात् परोसे हुए भोजन में अमृत का ध्यान करते हुए स्थिर हाथ से मौन होकर मुख में पाँच प्राणाहुतियाँ डालें।[३] इन प्राणाहुतियों को दाँत से न चबाकर जीभ से चाट कर ही गृहण करना चाहिए। अंगुष्ठभर का ग्रास मध्यमा से ग्राह्य है। प्रथम ग्रास अंगुष्ठ अनामिका और माध्यम के सहयोग से ग्रहण करना चाहिए द्वितीय अंगुष्ठ अनामिका और कनिष्ठा के सहयोग से, तीसरा ग्रास कनिष्ठा और तर्जनी के सहयोग से, चतुर्थ ग्रास अंगुष्ठ को छोड़कर चारों अंगुलियों के सहयोग से ग्रहण करना चाहिए।[४] मौन छोड़कर पहले गीले पदार्थ खाना चाहिए। भोजन के बीच कड़ा पदार्थ खाना चाहिए। अन्त में पुनः गीले पदार्थ खाकर ही भोजन समाप्त करना चाहिए। प्रथम मधु वस्तु खाना चाहिए फिर नमकीन, और खट्टे या

---

१. तेजोऽसि शुक्रमस्यमृतमसीति यजुषाऽन्नमिभिमृश्याग्नि रस्मीत्यात्मानमग्नि ध्यात्वा भपतये भुवनपतये भूतानांपतय इति चित्राय चित्रगुप्ताय सर्वेभ्यो भूतेभ्यो नम इति प्रववादिकैः स्वाहानमोन्तैमन्त्रैः प्रतिमन्त्रं बलीन् हरेत्। वही

२. अन्तश्चरसि भूतेषू गुहायां विश्वतोमुखः। त्वं ब्रह्म त्वं यज्ञत्वं वषटकारस्त्व मोङ्करस्त्वं विष्णो परममं पदम्। अमृतो पस्तरणमसि स्वाहेति विष्णु मन्त्रम भिध्यायन्नाचम्पान्नममृतं ध्यापन् मौनी हस्तचापल्यादि रहितो मुखे पञ्च प्राणाहुतीर्जुहोति। वही

३. प्राणाय स्वाहाऽपानायस्वाहा व्यानाय स्ववाहा समानाय स्वाहोदानाय स्वाहोति क्रमं याज्ञवल्क्यो मन्यत, उदानाय स्वाहेति शौनक बौधायनौ – याज्ञवल्क्योदितंक्रमोवजसनेयि दन्तैर्नोस्पृशेत्। जिह्वया ग्रसेदङ्गुष्ठप्रदेशिनमिध्यनाभिः।। वही

४. प्रथमामङ्गुष्ठध्यमानामिकाभिद्वितीयामङ्गुष्ठानामिकाकनिष्ठकाभिस्तृतीयां कनिष्ठिकातर्जन्यङ्गुष्ठैश्चतुर्थी सर्वाभिरङ्गुलीभिः साङ्गुष्ठाभिः पञ्चमीम्। वही

तीखे पदार्थ खाना चाहिए। भोजन करते समय बायें हाथ से अन्न को नहीं छूना चाहिए। पैर से, सिर से, पेडू से या विपरीत दिशा में रखे भोजन को स्पर्श नहीं करना चाहिए। इस प्रकार यथारुचि खाकर भोजनोपरान्त बचे अन्न को लेकर–मद्धुक्तोच्छिष्टशोषं ये भुञ्जते पितरोऽधमा तेषामन्नं मायादन्तमयाक्षय्यमुजतिष्णतु" यही पढ़ते हुये अंगुठे और तर्जनी के मध्य से गिरा देना चाहिए।[1] फिर हाथ में जल लेकर "अमृतो पिधानमसि स्वाहा" पढ़कर हाथ का आधा जल पीकर शेष आधे को धरती पर गिरा दे। पुनः अर्थिनांऽर्वभूतानामक्षय्यमुपतिष्ठत्विति" यह मन्त्र पढ़कर भोजन स्थान से कुछ अलग हटकर, तर्जनी अंगुलि को छोड़कर भरकुल्ला जल और सींक (खरका) से मुँह को स्वच्छ करें।[2]

भोजन पत्नी के सम्मुख, पत्नी के साथ, शाम को दोपहर में दिन में आधी रात में, जनेऊ के बिना, भीगे सिर, गीले कपड़े पहने, एक ही वस्त्र पहने तथा लेटकर भोजन नहीं करना चाहिए। चाँदी सोने शंख स्फटिक और कांसे के बर्तन को छोड़कर अन्य किसी पात्र में नहीं खाना चाहिए।[3] लोहे, मिट्टी या जोड़े गये किसी पात्र में भोजन नहीं करना चाहिए। धरती पर या हाथ में लेकर भी भोजन नहीं करना चाहिए। थाली पोंछकर सब नहीं खा जाना चाहिए कुछ भोज्य पदार्थ अवश्य छोड़ देना चाहिए जिनमें दूसरी जगह घी खीर दही सत्तू मांस

---

१. मौनं व्यक्त्वा प्राग्द्रवरुपमश्नीयान्मध्ये कठिनमन्तेपुनद्रर्वाशी स्यान्मधुर्रपूर्व लवणाम्लै मध्ये कटुतिक्तादिकान् पश्चाद्यथासुखं भुञ्जीत भुञ्जान्ये वामहस्तेनान्नं न स्पृशेन्न पदौ न शिरो वस्ति न पराभोजन स्पृशेदेवं यथा रुचि भुक्त्वा भुक्तशेषमन्नमादाय मद्धुक्तोच्छिष्टशेषं ये भुञ्जते पितरोऽधमाः तेषामन्नं मया क्षतमक्षम्य– मुपतिष्ठतु।। "इति पितृतीर्थेन दत्वाऽमृताविधानमसि स्वाहेति। हस्तगृ पा.गृ.सू. परिशिष्ट पृ. ५३८

२. हस्तगृहीवानामपामर्ध पीत्वाऽर्ध भूमौ निक्षिपेत। रौखे पूमनिलये पद्मार्कदनिवासिनाम्।। अर्थिना सर्वभूतानामक्षय्यमुपतिष्ठत्विति तस्माद्देशादपसृत्य गव्इष शालाकादिभिस्तर्जनी वर्जमास्य शोधयेत्। वही

३. न भार्यादर्शनेऽश्नीयान्न भार्यमा सह न सन्ध्ययोर्न मध्याह्ने नार्धरात्रे न यज्ञोपवीती नाऽऽर्द्रशिरा नार्द्रवासा न शयानो न ताम्रभाजने न भिन्ने न राजतसौवर्णशङ्ख स्पाटिककास्यभाजन वर्ज। वही पृ. ५३९

और मधु से भुक्तशेष छोड़ना चाहिए। पुनः अच्छी तरह कुल्ला व आचमन कर दाहिने पैर के अंगूठे में अंगुष्ठमात्र पुरुष की भावना से मन्त्र पढ़ते हुए हाथ से जलधारा गिरायें।[१]

गृह्यसूत्रकालीन जीवन का अध्ययन करने पर दृष्टव्य होता है कि आर्यों का जीवन यज्ञमय था। यद्यपि यज्ञों गृह्यसूत्र श्रौतयज्ञों के प्रतिपादन का विषय नहीं है उनका वर्णन ब्राह्मण ग्रन्थों में स्पष्ट होता है। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि गृह्यसूत्रों पर ब्राह्मण ग्रन्थों का प्रभाव पड़ा है जिससे आर्य प्रत्यक्ष रूप से तो नहीं परन्तु परोक्ष रूप से श्रौतयज्ञों के माध्यम से स्मार्तयज्ञ करते थे। ये यज्ञ को श्रेष्ठ कर्म[२] प्रतिपादित करते हुए विभिन्न सांसारिक कामनाओं की पूर्ति का मुख्य साधन मानते थे।[३] दीर्घायु, तेज ब्रह्मवर्चस स्वर्ग, श्री यश पराक्रम भोजन पशु अन्न कल्याण प्रजा आदि कामनाओं की पूर्ति यज्ञ से सम्भव थी। यज्ञों के माध्यम से पाप मोचन की कामना का उल्लेख हुआ है।[४] यज्ञ परम शक्ति का द्योतक है। प्रजापति के सम्पूर्ण कार्य का निर्वाह या के माध्यम से प्रतिपादित है। प्रत्येक जीव सुख की प्राप्ति हेतु सचेष्ट है वह स्वर्गयज्ञीय कर्मों से प्राप्त किया जा सकता है। फलतः साक्ष्य साधन के भेद को दृष्टिगोचर न रखते हुए यज्ञ को ही स्वर्ग कहा गया है। जो सम्बन्ध इस यज्ञ और यजमान का है वही सम्बन्ध ब्रह्माण्ड और प्रजापति का है। यज्ञ के माध्यम से सृष्टि के गम्भीर रहस्य को प्रतीकात्मक रूप से स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। प्रजापति ने सृष्टि सृजन रूप या किया उसमें अग्न्याधान से रेतस् उससो देव मनुष्य और असुर आदि की उत्पत्ति हुयी तथा

---

१. लोहे न मृन्मयेन सन्धि स स्थिते न श्रुयि न पाणौ न सर्वभोजी स्यात्किञ्चिद्भोज्यं परित्यजेदन्यत्र घृतपायसदधिसक्तुपललमधुभ्यः साध्वाचान्तो दक्षिणापादाङ्गुष्ठे पणि निः स्त्रावयेदङ्गुष्ठनात्रः पुरुषो अङ्गुष्ठं च समाश्रितः। पा.गृ.सू. परिशिष्ट पृ. ५३९

२. यज्ञौ वै भुवनेषु ज्येष्ठः। कौ.ब्रा. २५/११

३. कौ.ब्रा. १३.१, ४.११, २.१ ऐ.ब्रा. २५.२

४. कौ.ब्रा. १८.७

चातुर्मास्य आदि पर्वों से युक्त चौबीस संवत्सर वाला प्रजापति सबको सब ओर से व्याप्त किये हुये है।[१]

पुरुष को यज्ञ पुरुष मानकर उसका विवेचन किया गया है। पुरुष ही यज्ञ है। हविर्धान उसका शिर है आहवनीय मुख है। अन्न उदर है। उक्थ्य बाहु है। मार्जलीय अन्नीघ्र अर्न्तदेवता है। अन्तसदस, प्रतिष्ठा है। गार्हपत्य श्रवण है। ब्रह्मा मन है उदगाता प्राण है, प्रस्तोता अपान है प्रतिहर्ता व्यान है। वाक् होता है, अध्वर्यु चक्षु है, प्रजापति सदस्य है यजमान आत्मा है।[२]

इस प्रकार यज्ञानुष्ठान में वह दिव्य प्रणाली अथवा व्यवस्था है जो इन मन्त्रों के पवित्रोच्चारण द्वारा विभिन्न अधिष्ठात्री देवताओं के आवाहन तथा उनके द्वारा आकर आहुति स्वीकार करने हेतु प्रयुक्त होती है उसकी समता प्रजापति से की गयी है और प्रजापति के लिए यज्ञ का अभिधान किया गया है। इस प्रकार स्पष्ट है कि संसार में भूमन आर्वतन प्रत्यावर्तन का यज्ञीय क्रियाओं के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है।

---

१. कौ.ब्रा. ६.१५

२. कौ.ब्रा. १७.७

गृह्यनुष्ठानों की वैज्ञानिकता

गृह्यनुष्ठानों में सोलह संस्कारों का महत्व सुप्रसिद्ध है। यह मान्यता है कि एक बार माता के गर्भ से जन्म होता है और दूसरा जन्म इन संस्कारों से होता है। इसी आधार पर संस्कार जिस व्यक्ति के हो गये हैं उसे द्विज अर्थात् दो बार जन्म लेने वाला कहा जाता है। संस्कारों में दो प्रकार की वस्तुयें देखने में आती हैं एक प्राकृत और द्वितीय संस्कृत।

प्रकृति ने जिस रूप में जिस वस्तु को पैदा किया वह उसी रूप में बनी रहे तो उसे प्राकृत वस्तु कहेंगे। किन्तु प्रकृति के द्वारा पैदा की हुयी वस्तु का अपने उपयोग में लाने के लिये जब उसमें परिवर्तन (सुधार) किया जाता है उस सुधार को संस्कृत कहा जाता है। इसे ही संस्कार कहा गया है। ये सुधार तीन प्रकार से होता है (१) दोषमार्जन (२) अतिशयाधान (३) हीनांगपूर्ति।

प्रथम दोषमार्जन संस्कार वह कहलाता है जब प्रकृति द्वारा पैदा किये पदार्थ में यदि कोई दोष हो अर्थात् हमारे उपयोग में लेते समय उसमें आई हुयी बाधा को दूर करना।

उपयोगी बनाने के लिये उसमें कुछ विशेषता उत्पन्न कर देना अतिशयाधान संस्कार कहलाता है। फिर भी उपयुक्तता में कोई त्रुटि हो तो अन्य किसी पदार्थ का सम्मिश्रण कर उसे त्रुटि की पूर्ति कर देना हीनांग पूर्ति नाम का तृतीय संस्कार कहलाता है।

मानव के संस्कार उक्त तीनों प्रकरणों में विभाजित किये जाते है। जिस प्रकार अन्न, कपास लौहा आदि अपने उत्पत्ति स्थानों के दोष अपने साथ लाते हैं उसी प्रकार मनुष्य भी अपनी उत्पादक सामग्री उत्पत्ति स्थान के दोषों से अत्यन्त दूषित रहता है। इन दोषों को हटाना पहले आवश्यक है उसी के लिये गर्भ में आते ही संस्कारों का

आरम्भ हो जाता है। स्मृतिकारों ने स्पष्ट लिखा है इन संस्कारों के द्वारा बीज और गर्भ के दोष दूर किये जाते हैं।[१] भगवान् व्यास ने अपनी स्मृति में इस युग के उपयोगी सोलह संस्कार लिखे हैं जो सबके सब आज समाज के बहुत अल्प अंश में प्रचलित है किन्तु कुछ संस्कार सभी द्विजों में प्रचलित हैं। धर्मग्रन्थों में ये संस्कार आडम्बर शून्य वैज्ञानिक विधियों के रूप में हैं किन्तु जो संस्कार आज प्रचलित हैं उनमें वाह्याडम्बर ने अधिक स्थान ले लिया है। वैज्ञानिक विधियों पर ध्यान नहीं दिया जाता है। इन संस्कारों की शास्त्रीय पद्धति पर ध्यान दिया जाय तो स्पष्ट होगा कि ये विधियाँ वैज्ञानिक है उनमें अधिकांश का सम्बन्ध मनोविज्ञान से है। भौतिक विज्ञान के आधार पर तो एक बड़े ग्रन्थ की आवश्यकता हो जाती है।

बालक को सामने बैठाकर माता-पिता को वेद मन्त्रों की सहायता से मन में यह भाव रखना चाहिए कि इसका दोषमार्जन या अतिशयाधान कर रहे हैं तो उस मनोवृत्ति का प्रभाव उस शिशु के कोमल अन्तः करण पर अवश्य पड़ता है यह मनोविज्ञान की बात है जो कि सभी संस्कारों में अनुवर्तमान रहती है। इसके अतिरिक्त जैसे पुंसवन और सीमान्तोन्नयन इन गर्भावस्था के संस्कारों में गर्भिणी के समक्ष वीणावादन और सुललित गायन का विधान सूत्रों में देखा जाता है उससे भी गर्भिणी के अन्तःकरण में एक प्रकार का प्रमोद या हर्ष होना स्वाभाविक है और उसका प्रभाव गर्भस्थिति बालक पर पड़ना मनोविज्ञान की बात है। बालक के उत्पन्न होने पर सबसे पहले जातकर्म संस्कार में सुवर्ण का अंश घृत और मधु उसे चटाने की विधि है। भौतिक विज्ञान द्वारा सिद्ध है कि ये तीनों ही पदार्थ शोधक है। ये दोष दूर कर एक प्रकार की शुद्धता या पवित्रता देते हैं। इसी कारण व्रत देवपूजा आदि में सब जगह इनका प्रयोग विशेष रूप से आवृत्त हुआ है। जातमात्र बालक के अन्दर पहले ही इन पदार्थों को

---

१. बैजिकं गार्भिक चैनो द्विजानामपि मृज्यते। मनुस्मृति
एवमेनः शमं याति वीजगर्भसमुद्भवन्। याज्ञवल्क्य स्मृति
वीजगर्भ समुद्भवैनोनिर्वहण द्वारा परमेश्व प्रीत्यर्थ मित्यादि।।

प्रविष्ट कराना जहाँ शोधन की योजना करेगा वहाँ उसके कोमल अवयवों को पुष्ट और सुदृढ़ बनाने में सहायता देगा। शास्त्रों ने विधान किया है सामाजिक व्यवस्था भी वर्ण व्यवस्था के अनुसार होगी। कार्य के अनुसार नाम रखना चाहिए क्योंकि उन गुणों के ऊपर उसका चित्त निरन्तर आकृष्ट होता रहेगा और उसका प्रभाव बार-बार चित्त पर पड़ने से उन गुणों की समृद्धि या उज्जवलता उसमें होती रहेगी यह मनोविज्ञान की बात है।[१]

अन्नप्राशन में स्वभाव के अनुसार अन्न खिलाने का विधान है जो स्पष्ट ही पदार्थ विज्ञान से सम्बन्ध रखता है। चूड़ाकरण तथा मुण्डन संस्कार का समय आते है हमारे शरीर के समस्त अवयवों में एक प्रकार की शरीराग्नि निरन्तर भ्रमण करती रहती है और वही उन अंगो का शोधन करती है किन्तु केश और नख उस अग्नि की व्याप्ति से बाहर मिल जाते है। इसका स्पष्ट प्रमाण है कि केशों वा नखों का छेदन करने पर भी कोई व्रण नहीं होता। इसी कारण उनके दोषों का शोधन शरीराग्नि नहीं करती उनके दोष तो तभी दूर हो सकते हैं जब उनका छेदन कर दिया जाय अथवा उससे अंग पर से उसे हटा दिया जाये। यही दोषमार्जन मुण्डन संस्कार का लक्ष्य है।

मन्त्रपूर्वक हवन भी इस संस्कार से ही आरम्भ हो जाता है जो कि वाह्य शुद्धि और भीतर की शुद्धि का भी एकमात्र उपाय है। इस संस्कार में अन्य केशों को हटाकर एक शिखा रख दी जाती है। यह शिखा हिन्दू जाति का एक विशेष चिह्न माना गया है। इसका वैज्ञानिक तत्व यह है कि ब्रह्म रन्ध्र के ठीक ऊपर शिखा रखी जाती है सूर्य की रश्मियाँ ब्रह्म रन्ध्र के द्वारा ही हमारे अन्दर आती रहती हैं और भीतर के प्राण उसी रन्ध्र से सूर्य की ओर जाते रहते हैं। कर्म और उपासना के द्वारा अन्तःकरण में जो अतिशय उत्पन्न होता है यदि वह

---

१. वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति – म.म. गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी पृ. २०९

सूर्य के आकर्षण में चला जायेगा तो केश विद्युत शक्ति को रोकने में समर्थ नहीं हो सकते हैं।

यज्ञोपवीत संस्कार दोषमार्जन भी करता है और अतिशयाधान भी। विद्या पढ़ने का आरम्भ इसी संस्कार के अनन्तर होता है। इसी लिये बुद्धि को पहले से सात्विक विद्या के प्रवेश के लिये विकसित करना, स्मरण शक्ति को बढ़ा देना या दृढ़ करना आवश्यक है। यह कार्य इस संस्कार के द्वारा किया जाता है इसमें सूर्य के उपस्थान अर्थात् आराधना की प्रधानता रखी गयी है। शास्त्रों का सिद्धान्त है कि बुद्धि सूर्य का ही एक अंश है इसकी पुष्टि (विकास) सूर्य की आराधना से ही हो सकती है। अग्नि हवन आदि तो इस संस्कार में प्रधान है जो कि बुद्धि को विशद रूप से परिमार्जित करते हैं किन्तु उनके अतिरिक्त पलाश का दण्ड हाथ में रहता है। पलाश की समिधाओं का हवन, भोज्यादि पदार्थ रखने के लिये पलाश के ही पत्ते है।

वस्तु विज्ञान के आधार पर शास्त्रों का निश्चय है कि पलाश स्मरण शक्ति बढ़ाने व दृढ़ करने में बहुत सहायता देता है। पलाश की शाखा का बार-बार सेवन करना यज्ञोपवीत के समय तथा उसके अनन्तर आवश्यक माना गया है। साथ ही ब्रह्मचर्य की रक्षा के उपयोगी मूंज आदि का भी विधान इस संस्कार में है। ये सब पदार्थ विज्ञान से सम्बन्ध रखने वाली बातें है जिस प्रकार यज्ञ सूत्र व यज्ञोपवीत जिस वटु को पहनाया जाता है उसका सम्बन्ध ईश्वर सृष्टि से किया है। ईश्वर ने तेज अप् (जल) और अन्न (पृथ्वी) इन तीनों तत्वों को सूक्ष्म रूप में उत्पन्न किया किन्तु ये पृथक्-पृथक् रहकर जब आगे सृष्टि बनाने में समर्थ न हो सके तब तीनों को आपस मिलाकर प्रत्येक को त्रिवृत्त तीन लड़ कर दिया, और उनमें शक्ति रूप से स्वयं प्रविष्ट हुआ। तीनों धागों को इकट्ठा करके उसमें ईश्वर की स्थिति का संकेत देने की एक ब्रह्मग्रन्थि लगा देते हैं। इसको सदैव गले में डालने से वटु का ध्यान ईश्वर की सृष्टि रचना पर जाता रहेगा और उससे वेद विद्या के सीखने में शीघ्र कृतकार्य होगा।

विवाह संस्कार भी अतिशयाधान रूप है। वह स्त्री में दूसरे कुल से सम्बन्ध होने का अतिशय उत्पन्न करता, स्त्री और पुरुष दोनों को मिलाकर एकरूप बना देने के कारण वह हीनांग पूर्ति भी करता है जिससे एकरूपता प्राप्त कर दोनों पति पत्नी गृहस्थाश्रम चलाने योग्य संस्थान उत्पन्न करने और यज्ञ यागादि सम्पादित करने के उपयोगी बन जाते हैं। पत्नी के देह प्राण मन आदि का हठ सम्बन्ध पति के देह प्राण मन से जोड़ देना ही इस संस्कार का लक्ष्य है। जिसकी विधियाँ भी बहुत वैज्ञानिक है। एक दूसरे से परस्पर हाँथ मिलाने से परस्पर की विद्युत का संयोग होता है। यह भी विज्ञान सिद्ध है। अतः वर वधू का पाणि ग्रहण करता है और वधू का पिता उस समय उन दोनों के मिले हुये हाथों पर जल प्रक्षेप करता है। इससे विद्युतों का संश्लेषण कर अग्नि हवन के द्वारा उसे दृढ़ कर दिया जाता है। विवाह संस्कार में जो मन्त्र पढ़े जाते है उनका भी यही अर्थ है कि इन दोनों के मन प्राण बुद्धि आदि सम्मिलित होकर एक हो जाये। यह मन की भावना भी अन्तः करण के परस्पर संश्लेषण में बहुत बड़ा सहयोग देती है। इसी आधार पर मन्त्रों में माना गया है कि वधू का संश्लेषण अपने गोत्र से हटकर वर के साथ जुड़ जाता है और उस दिन वह वर के गोत्र की ही बन जाती है। इन तथ्यों से सिद्ध है कि अन्य जातियों की तरह आर्यों का विवाह केवल मनमाना संबंध नहीं किन्तु एक वैज्ञानिक दृढ़ सम्बन्ध है जो जन्म जन्मान्तर तक भी बना रहता है।[१]

गर्भाधान संस्कार

गर्भाधान उसको कहते हैं जो गर्भ का धारण अर्थात् वीर्य का स्थापन गर्भाशय में स्थिर करना जिस क्रिया से होता है।[२] जिस प्रकार

---

१. वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति – म.म. गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी पृ. २१५

२. गर्भस्थाऽऽधानं वीर्यस्थापनं स्थिरीकरणं यस्मिन् येन वपा कर्मणा तद् गर्भाधानम्।।
संस्कार भास्कर – स्वामी विद्यानन्द सरस्वती – पृ. २५

बीज और क्षेत्र के उत्तम होने से अन्नादि पदार्थ भी उत्तम होते हैं वैसे ही उत्तम बलवान् स्त्री पुरुष के सन्तान भी उत्तम होते है।

सृष्टि के मूल में ऋत् एवं सत्य तथा सोम एवं अग्नि नाम के तत्वों के सहयोग में मन भी क्रियाशील रहते है इसका नाम वीर्य और रज है। वीर्य और रज जितने ही शुद्ध होंगे सन्तति भी उतनी ही शुद्ध होगी। संस्कारी माता पिता के विशुद्ध वीर्य एवं रज से संस्कृत सन्तान का जन्म होता है। अतः संस्कारों का प्रारम्भ गर्भाधान से ही होता है। पुरुष स्त्री के रजो वीर्य के मिथुन भाव से गर्भाधान होता है। पुरुष के वीर्य और स्त्री के रज में अनादि रूप से जीव पूर्व से ही विद्यमान रहता है किन्तु अनेकानेक प्राकृतिक एवं आगन्तुक दोषों के कारण उसकी शुद्धावस्था में विकार उत्पन्न हो जाता है। इन विकारों के परिमार्जन के लिये गर्भाधान संस्कार का विधान किया गया है।[१] सृष्टि के मूल में ऋत एवं सत्य तथा सोम एवं अग्नि नाम के तत्वों का सहयोग है।[२] ये द्विविध तत्व मानव जन्म के मूल में भी क्रियाशील रहते हैं।[३] रज तथा वीर्य के मिश्रण से सन्तान होती है। इसकी वैज्ञानिकता चरकसंहिता में कही गयी है।[४] चरक संहिता में कहा गया है शुक्र एवं शोणित दोनों पञ्चभूतात्मक होते हैं। शुक्र शोणित एवं जीव से संयुक्त मिश्रित पदार्थ का नाम बीज है। इसी से शरीर का निर्माण होता है। स्त्री तथा पुरुष के संयोग के समय वायु शरीर से तेज (उष्णिमा) को उत्पन्न करती है।[५] यह तेज वायु के साथ मिलकर शुक्र को क्षरित करता है। क्षरित शुक्र शरीर के सब अवयवों को साथ लेकर योनि में पहुँचता है। वहाँ वह आर्तप के साथ मिल जाता है।

---

१. षोडश संस्कार एक वैज्ञानिक विवेचन – डॉ. गेय कुमार झा, डॉ. बोध कुमार झा, पृ. १

२. योबा वा आपः वृषाग्निः – मा.शा.प्र.ब्रा. २.१.४

३. अग्नीषोमात्मकं जगत – वृहज्जावालोपनिषद, २–४

४. शुक्र शोणित जीवसंयोगे तु खलु कुक्षिगते गर्भसंज्ञा भवति। चरक शा. ४/२ सुश्रुत संहिता २/२–४

५. ता।प्तांगारसमा नारी घृतकुम्भसमः पुमान्

इसके पश्चात् आग्नेय तथा सोम गुण के संबंध से बनता हुआ गर्भाशय में पहुँचता है। शुक्र सिर से नख तक के सम्पूर्ण अवयवों का सार हैं। इसमें सम्पूर्ण शरीर के अवयव मिले रहते हैं। इस शुक्र के साथ ही जीवात्मा भी अवतरण करता है। आत्मा के साथ पूर्वजन्म के कर्म भी शरीर में अवतरित होते हैं। इस शुक्र को नियमित करने वाले केन्द्र सुषुम्णा तथा मस्तिष्क है। शुक्र के साथ पौरुष ग्रन्थि तथा अन्य ग्रन्थियों के स्राव मिले रहते हैं। यह शुक्र डिम्ब के साथ मिलकर गर्भ को बनाता है।[१]

मृत्यु के पश्चात् जीवात्मा जिस सूक्ष्म शरीर को लेकर चलता है वह सर्वप्रथम पिता के वीर्य में पहुँचकर निवास पाता है। तत्पश्चात् माता के गर्भ में। पिता के शरीर में वीर्य कोश पुत्र का गर्भाशय है। यही भावी सन्तान का प्रथम शरीर है। इस भौतिक शरीर पर पिता के मन का भी प्रभाव पड़ेगा। अतः पिता के प्रत्येक विचार और कार्य की प्रतिच्छाया बालक के मन पर पड़ेगी अतः पिता को सन्तान की इच्छा के अनुरूप कार्य करना चाहिये।[२]

पिता की हृदय की सारी भावनायें सार रूप में वीर्य के उस कण में होती है। जिससे जीव ने अपना प्रथम शरीर पाया है। इसी को आधुनिक चिकित्साशास्त्र में स्पेर्मटोजा कहते हैं।

इस प्रकार गर्भाधान का सूत्रपात स्त्री संयोग से पहले पिता के शरीर में हो चुका होता है।[३] बालक में किशोर अवस्था का आरम्भ तब होता है जब उसमें वीर्य बनना प्रारम्भ हो जाता है। बालिका में किशोरी अवस्था का आरम्भ तब होता है, जब उसमें मासिक धर्म

---

१. सौम्यं शुक्रमातर्वमाग्नेयमितरेषामण्यत्र भूतानां सान्निध्यमस्त्य गुना विशेषेण परस्परोपकरात्। (परम्परानुग्रहत्) परस्परानुवेशात्त्र। सुश्रुत संहिता।

२. संस्कार भास्कर – विद्यानन्द सरस्वती पृ. ६५

३. पुरुषे हवा अयमादितो गर्भो भवति। यदेत् दसस्तदेतत् सर्वेभ्योऽगेभ्यस्तेजः सम्भूतात्मन्मेवात्मानं विभर्ति। तद्यथा स्त्रियाँ सिञ्चत्यधैनज्जनयति तदस्य प्रथमं जन्म। ऐतरेय उपनिषद्

शुरू होने लगता है। इस दृष्टि से विवाह की अवस्था प्राणिशास्त्र के अनुसार प्रजनन हो सकता है।

वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर ये वर्ज्य तिथि एवं दिन तर्क संगत प्रतीत होता है। आरम्भ के जो चार दिन प्रतिषिद्ध माने गये वे तो सर्वजनसर्ववेद्य है। इसमें किसी को कोई आपत्ति नहीं आनी चाहिये। पूर्णिमा और अमावस में क्रमशः सोमतत्व का आधिक्य और अल्पता वातावरण में निहित होती है। अतः ये दोनों तिथियाँ जातक सम्बन्धी स्वास्थ्य (भौतिक भूगोल के अनुसार चन्द्रमा के आकर्षण और जल तत्वों की वृद्धि के कारण पृथ्वी की भौतिक दशा पूर्व तिथियों पर विकृत हो जाती है और प्राणिजगत् का स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता।) जहाँ तक ११वीं १३वीं रात्रि का प्रश्न है वह भी शारीरिक विज्ञान सम्मत प्रतीक होता है। इन दोनों ही समयों में स्त्री का गर्भाशय जीवाणु को सर्वथा स्वीकार करने हेतु तैयार नहीं होता फलतः विरुद्ध आचरण करने पर जातक से विकलांग होने की अधिक संभावना रहती है। व्यास स्मृति में एकादश और त्रयोदश रात्रियाँ वर्जित मानी गयी है। मनुस्मृति में पुत्र के लिये और पुत्री के लिये युग्म और अयुग्म रात्रि की व्यवस्था की गयी है।[१] पति पत्नी दोनों इस संस्कार के द्वारा अनुष्ठाता के दिन एवं रात में किये जाने वाले कर्म व्यवस्थित होते हैं जिससे व्यक्ति व्यवस्थित चित्तवाला होता है तथा अतिथि सत्कार में दूसरों की भलाई किसी महिमा मण्डित व्यक्ति को सम्मान प्रदान कर तृप्त होना तथा सञ्चित धन को विभाजित कर खाने का भाव दृष्टिगोचर होता है।[२]

गर्भाधान के लिये १० दिनों का नहीं दश रात्रियों का विधान किया गया है। क्योंकि दिन में स्त्री प्रसव स्त्री, पुरुष और कालान्तर में भावी सन्तान के शरीर और मन दोनों के लिये हानिकारक है।

---

१. एकादश्याम धर्म्या, त्रयोदश्याँ सुता च स्मात् – पा.गृ.सू. – में व्यास स्मृति का कथन – सुधाकर मालवीय – पृ. ९५

२. युग्मासु पुत्रा जायन्ते, स्त्रियोऽयुग्मासु रात्रिषु तस्माद् युग्मासु पुत्रार्थी सविशेदार्तवे स्त्रियाम् – वही मनुस्मृति २/४८

प्रश्नोपनिषद में कहा है[१] – दिन और रात्रि का जोड़ा ही प्रजापति है। उसका दिन ही प्राण है तथा रात्रि ही रयि है अतः जो दिन में सहवास करते है तो वह अपने प्राणों को ही क्षीण करते है तथा जो रात्रि में सहवास करते है उनका सहवास भी ब्रह्मचर्य ही है। दिन में सूर्यमूलक उष्मा होने से किया हुआ गर्भाधान प्राणों की वल की हीन करने वाला होता है। दिन के समय गर्भाधान के कारण उष्णता में अत्यधिक वृद्धि हो जाने से कोई भी रोग हो जाता है। सायं तथा प्रातः प्रदोषवेला में गर्भाधान के लिए करना सर्वथा निषद्ध है। उस समय ऐसा करने से नेत्र ज्योति क्षीण होती है और बल घटता है इसलिये गर्भाधान के लिये भोजन के लगभग ढाई घण्टे बाद रात्रि के १० बजे से लेकर प्रातः ४ बजे तक का समय उचित बताया गया है। यदि दो ऋतुकाल व्यर्थ जाए अर्थात् दो बार दो महीनों में गर्भाधान किया निष्फल हो गर्भ स्थिति ने हो तो तीसरे महीने में ऋतुकाल दिवस में पुष्य नक्षत्रयुक्त प्रातः काल उपस्थित होवे तब प्रथम प्रसूता गाय का दही दो मासा और यव के दानों को भूनकर पीसकर दो मासा लेकर इन दोनों को एकत्र करके पत्नी के हाँथ में देकर पूछे कि पिबसि? इस प्रकार तीन बार पूछें और स्त्री भी अपने पति को पुंसवन इस वाक्य को तीन बार बोले उत्तर दे और उसका प्राशन करे इसी रीति से पुनः पुनः तीन बार विधि करना चाहिए। तत्पश्चात् सङ्खइली तथा भटकटाई औषधि के जल में महीन पीस के उसका रस कपड़े में छानके पति पत्नी के दाहिने नाक के छिद्र में सिंचन करें और पति को इयमोषधी ------ इत्यादि मन्त्र पढ़ना चाहिए।[२]

गर्भाधान के समय स्त्री को अपना शरीर उतान होकर सीधा रखना चाहिए क्योंकि ऐसा करने पर बात, कफ और पित्त

---

१. अहौरात्रौ तै प्रजापतिः। तस्य अहरेव आपो रात्रिरेव रयिः प्राणं वा एते प्रस्कन्दति ये दिवा रत्या संयुष्यन्ते ब्रह्मचर्यमेव तद् यद् रात्रौ रत्या सयुज्यन्ते। प्रश्नोपनिषद्

२. ओम इयमोषधी त्रायमाणा सहमाना सरस्वती अस्या अह वृहत्याः पुत्रः पितुरिव नाम जग्रभम्। पार.गृ. १/१३/१

अपने-अपने स्थान पर स्थिर रहते हैं। चरक संहिता में कहा गया है कि कुबड़ी लेटी हुयी स्त्री से संग करने पर वायु कुपित होकर योनि को पीड़ित करता है। दाहिनी ओर करवट से सोयी स्त्री से संग करने पर उसका कफ गिरकर गर्भाशय को ढ़क देता है। बायीं ओर करवट से सोई हुयी स्त्री से संग करने पर उसका पित्त पीड़ित होकर रुधिर और वीर्य को दूषित कर देता है।[१]

यजुर्वेद में गर्भाशय की स्थिति का वर्णन इस प्रकार किया गया है स्त्री पुरुष गर्भाधान के समय में परस्पर मिल, प्रेम से पूरित होकर मुख के साथ मुख, आँख के साथ आँख, मन के साथ मन शरीर के साथ शरीर का अनुसंधान करके गर्भ का धारण करें जिससे कुरुप या सन्वक्राम सन्तान न हो।[२] यथावातः पुष्करिणीम् – इन सात मंत्रों का वैज्ञानिक दृष्टिकोण यह है कि जिस प्रकार वायु का झोका उठने पर समुद्र में लहरें उठती हैं। वन में वृक्ष वनस्पति झूलने लगती है ऐसा ही अनुभव गर्भिणी को होता है। इस अनुभव को इन मन्त्रों में एजतु कहा है। इन मन्त्रों में प्रार्थना की गयी है कि माता के पेट में दस मास तक सोने वाला जीव जरायु के साथ सुरक्षित एवं अविकलांग सहज भाव से बाहर आ जाये उसे किसी प्रकार का कष्ट न हो।[३]

---

१. न न्युब्जां पार्श्वगतां वा संसेवेत न्युब्जाया वातो बलवान् रन योनि पीडयति। पार्श्वगताया दक्षिणे श्लेष्मा सच्युतोऽपि दधाति गर्भाशयम्। वामे पार्श्वे पित्तं तदस्या पीड़ितं विदहति। रक्त शुक्रं तस्मादुतानां सती बीजं गृह्णीयात्। तस्या ही यथास्थामवतिष्ठन्ते दोषा। चरक संहिता (शा. ८/७)

२. मुख सदस्य शिर इत्सतेन जिह्वा पवित्रमश्विानसन्त्यसरस्वती।
चप्यं न वायुभिर्षगस्य वालो वस्तिर्न शेपो हरसा तपस्वी – गुज. १९/८८
प्राणैस्ते प्राणान् सन्दधाम्यस्थिभिरस्थीनि मासैमासानि त्वचा त्वचामिति। पार.गृ.सू. १/११/५

३. एजतु दशमास्यो गर्भो जरायुणा सह, यथायं वायुरेजति यथा समुद्रऽएजति एवायं दशमास्योऽ अस्रज्जरायुणा सह स्वाहा।।
यस्यै ते यज्ञियो गर्भो यस्यै योनिहिरण्ययी।
अङ्गान्युहुता यस्य तं मात्रा समजागम स्वाहा। यजु.अ. ८ मं. २८,२९

पुंसवन

पुंसवन संस्कार के पीछे यद्यपि पुत्र रत्न की प्राप्ति की इच्छा निहित है जिससे प्राप्ति हो इसके लिये स्त्री पुरुष के द्वारा एक विशेष प्रकार का आचरण एवं कर्म किया जाता है किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने के बाद पुत्र शब्द का अर्थ सामान्यतः पुरुष विशेष नहीं होकर प्रत्युत संसार को रास्ता दिखाने वाला कर्तव्य एवं निष्ठा के पथ पर चलने वाला समाज से बहुत कुछ कम लेकर बहुत अधिक देने वाला जो भी जीव है उसकी कामना की जाती है।

शरीर शस्त्र[१] का नियम है कि गर्भस्थ जीवन में दो तीन माह तक स्त्री पुरुष के रजो वीर्य के भ्रूणों में प्रतिस्पर्धा होती रहती है। उनमें जो प्रबल होता है गर्भस्थ जीव में उसी भाव का उदय होता है। पुंसवन नाम से 'पुम' शब्द लक्षणा से बल वीर्य पराक्रम को लक्षित करता है। शतपथ ब्राह्मण[२] के आधार पर वीर्य पुमान् वीर्य को पुमान् बताया है।

मनुस्मृति[३] में कहा गया है कि यदि जीव में पुरुष भ्रूण की प्रबलता हो तो पुरुष भाव और स्त्री भ्रूण की प्रबलता हो तो स्त्रीभाव का आधार होता है। इसलिये भ्रूण के पोषण और बल के मन्त्रोच्चारण के साथ बट, शुंग कुश तथा दूर्वा आदि का रस गर्भिणी के दाहिने नासा रन्ध्रक द्वारा प्रवेश कराया जाता है।[४] नासिका के छिद्रों का शरीर के अन्दर की नसों के साथ सम्बन्ध है जिनमें रक्त प्रवाहित होता है। दाहिने छिद्र से निकलती हुई वायु में उष्णता तथा वाम रन्ध्र वाली वायु में शैत्य की प्रधानता मानी गयी है। उष्मा पुरुषत्व प्रधान है।

---

१. चरक संहिता शरीर शास्त्र २/३३

२. शतपथ ब्राह्मण २/५/२/६

३. मनुस्मृति

४. श्वेतपुष्त्या: सिक्षेति रिङगणी कष्टकारिकाया पर पर्याया श्वेतानि पुष्पाणि पिष्ट्वा पेषयित्वा दक्षिणनासिकापुटे आसिञ्चति। पा.गृ.सू. १/३१/१ पृ. १६५

अत: दवा का जो विधान है यह विज्ञान सम्मत है। गर्भस्थ बच्चे के जीवन में उष्मा जन्म उत्साह भरा रहे ये भाव इससे ध्वनित होता है।

चरक संहिता[१] के अनुसार औषधि को दायें नथुने द्वारा पीने से पुत्र प्राप्ति और बायें नथुने द्वारा पीने से कन्या प्राप्ति होती है। इसी तथ्य की पुष्टि सुश्रुत संहिता[२] (शरीर स्थान) में की गयी है।

गर्भ के दूसरे अथवा तीसरे महीने में वट वृक्ष की जटा अथवा उसकी पत्ती लेकर स्त्री के दक्षिण नासापुट में सुंघावे और कुछ अन्य पुष्ट अर्थात् गुड़च जो गिलोय ब्रह्मी ओषधि खिलाना चाहिये।[३] यह गर्भ को स्थिर रखने के लिये हितकारी है। रक्त पित्त नाशक है टूटे को जोड़ता है स्त्रियों की योनि के दोषों को दूर करता है और गर्भ को पुष्ट करता है गिलोय ज्वर नाशक है पित्त कफ खाज उरूचि वमन वृषा और दाह को दूर करता है। गर्भावस्था में जो जो उपद्रव आते हैं गिलोय उन सबकी अन्यर्थ औषधि है।

पति के पत्नी से तीन बार पूछने का वैज्ञानिक दृष्टिकोण यह है कि गर्भस्थ शिशु माता के द्वारा गृहीत जल भोजन एवं वायु के द्वारा ही संश्लेषित होता है।[४]

इस तरह की स्थिति में यदि कोई स्त्री जिह्वा लौल्य के कारण किसी कुप्रभावकारी वस्तु को ग्रहण कर लेती है तो गर्भस्थ शिशु के लिये यह अपकारक ही नहीं जानलेवा भी साबित हो सकती है।

---

१. चरक संहिता – शरीर स्थान ८/३५-३६

२. लब्धगर्भायाश्च एतेषु अहःसु लक्ष्मण तटशुंग सिंहदेवी विश्वदेवानामनयतमं क्षीरेण अभिधुत्य त्रीन चतुरो वा बिन्दून दद्याद् दक्षिणे नासापुटेपुत्रकामायै न च तन्निष्ठीवेत। सुश्रुत संहिता – शरीर स्थान ३२/३४

३. कुशकुष्टकठ सोमर्ठशुचैके। कुशकण्टकं कुशमूलं सोमाशु सोमलता खण्डं च पिष्यमाणेषु न्यग्रोधावरोहशुङगेषु प्रयिज्त्येके आचार्या। पा.गृ.सू. गदा.भाष्य पृ. १६९

४. समानयोगक्षेमा हि माता तदा गर्भेण केषुचिदर्भेषु। शरीर स्थान ४/१६

मनोविज्ञान के अनुसार गर्भकालिक अवस्था में गर्भिणी की मानसिक दशा बच्चे के मन मस्तिष्क पर बहुत ही प्रभाव डालती है।[१]

सीमान्तोन्नयन

सीमान्तोन्नयन संस्कार **'सीमान्तः केशेषु'** अष्टाध्यायी के इस सूत्र के अनुसार केशों को विभक्त करने वाली मध्य रेखा सीमान्त कहलाती है। यह संस्कार स्त्री का मन प्रसन्न रखते हुये गर्भस्थ बालक के सामान्यतः शारीरिक और विशेषतः मानसिक एवं बौद्धिक विकास के लिये होता है। इस संस्कार का उद्देश्य गर्भपात को रोकना है।[२]

संस्कार पद्धतिकार सीमान्तोन्नयन को स्त्री संस्कारार्थ मानते है। इसका प्रयोजन क्षेत्रभूता नारी को संस्कृत करना है।[३] माता की रसवहा नाड़ी में गर्भ की नाभि नाड़ी बंधी होती है। वह गर्भनाड़ी नाभिनाड़ी माता के आहार रस वीर्य को बालक में पहुँचाती है। इस नाड़ी द्वारा उपस्नेहन पोषण मिलने से गर्भ बढ़ता है। योनि में शुक्रसिंचन रूपी गर्भाधान क्रिया से प्रारम्भ करके जब तक सम्पूर्ण अंग प्रत्यंगों का विभाग पूर्ण नही हो जाता तब तक शरीर के सम्पूर्ण अवयवों में तिर्यग्रुप में व्याघ्र रसवहा धमनियों द्वारा ही उपस्नेहन होने से गर्भ जीवित रहता है।

यह गर्भाधान के छठे या आठवें माह में यह संस्कार किया जाता है। इस विषय में सुश्रुत[४] के अनुसार खोपड़ी पाँच भागों में विभक्त है उसकी सन्धियों को भी सीमान्त कहते है। खोपड़ी मस्तिष्क का पर्याय है। मानसिक अथवा बौद्धिक शक्तियों का विकास करना इस संस्कार

---

१. संस्कार भास्कर – डॉ. विद्यानन्द सरस्वती – पृ. ११०

२. शुक्रशोणित संयोगे तु खलु कुक्षिगते गर्भसंज्ञा भवति। चरक संहिता शरीर स्थान ४/२ पृ. ८७५

३. मातुस्तु खलु रसवहानां नाऽयां गर्भनाभिनाड़ी-प्रतिबद्धा सा मातुराहारसवीर्यमभिवहति तेनोपस्नेहे-नास्याभिवृद्धि भवति। असंजाताङ्ग-प्रत्यङ्गप्राविभागमानिषेकात् प्रभृति सव्रशरीरावयवा नुसारिणीनां रसवहान्तं तिर्यग्गतानां धमनीनामुपस्नेहो जीवयति। सुश्रुत संहिता शा.अ. ३/३१

४. सुश्रुत शरीर स्थान अध्याय ६

का मुख्य उद्देश्य है। मस्तिष्क या मन का विकास चौथे मास मे होने लगता है पाँचवे महीने मे गर्भस्थ बालक अधिक जागृत व प्रबुद्ध हो जाता है।[१]

पाँचवे मास में मन अधिक प्रबुद्ध हो जाता है छठे में बुद्धि सातवें में सब अंग प्रत्यंग का विभाजन अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है। आठवें में ओज अस्थिर रहता है। इस मास में जन्म लेने वाला बालक जीता नहीं है।[२]

सीमान्तोन्नयन संस्कार के लिये शुक्लपक्ष मे मूल आदि पुरुष नक्षत्रों से युक्त चन्द्रमा नक्षत्र की स्थिति का काल उपयुक्त माना गया है। चन्द्रमा पुरुष नक्षत्र से युक्त होता है तो ऋतु प्रायः नहीं होती। आर्य लोगों ने जो नक्षत्र आदि जड़ पदार्थों को पुरुष तथा स्त्रीसंज्ञक कहा है तो उनमें पुरुषत्व और स्त्रीत्व की कतिपय विलक्षणताओं के कारण ही कहा है। महर्षि पतञ्जलि के अनुसार स्तर और लम्बे केश ये दोनों चिह्न कोमलता प्रधान स्त्रीत्व के बोधक हैं। जल स्वभाव से कोमल है। इसलिये जिन नक्षत्रों में जल अधिक है। वह उनमें जल अधिक उत्पन्न करने की शक्ति है वे तारे (नक्षत्र) स्त्री संज्ञक कहे गये और जो सूर्य के समान तेजस्वी होने के कारण रसवृद्धि के कारण नहीं है उन्हें पुरुष वाचक माना गया है। शुक्लपक्ष वृद्धि तथा प्रकाश ज्ञान का प्रतीक है और प्रकाश युक्त होने से किंसी भी प्रकार की गतिविधियों में सहायक है। चन्द्रमा किसी पुरुषवाची नक्षत्र से युक्त होता है तो ऋतु में समता होती है क्योंकि पुरुषवाची नक्षत्र अपना प्रभाव चन्द्र के विपरीत शोषण करने के लिये डालता है। कोमलता और कठोरता अर्थात् जल शक्ति तथा तेजशक्ति मिलाकर वातावरण को विषमता रहित कर देते हैं।

---

१. चतुर्थे गर्भमासे सीमन्तोन्नयनम्। आश्व गृ.सू. –
प्रथमगर्भे मासे षष्ठेऽष्टमे वा। पा.गृ.सू. १/१५/३

२. पञ्चमेः मनः प्रतिबुद्धतरं भवति, षष्ठे बुद्धि सप्तमे सर्वांग प्रत्यंग विभागः प्रत्यक्ततरः अष्टमे स्थिरीभवत्योजस्तत्र जातश्चेन्न जीवेत। स.भास्कर पृ. १०५

खिचड़ी में चावल तिल और मूंग ये तीनो पौष्टिक पदार्थों के प्रतीक है।[१]

गर्भवती के केशों की सज्जा और रक्षा के साथ-साथ गर्भस्थ शिशु के मस्तिष्क की भी रक्षा अपेक्षित है। मस्तिष्क को विशेष रूप से प्रभावित करने के लिये गर्भिणी के सिर पर तेल और कंघी करने का निर्देश किया गया है। कंघी करने से बालों का मल व विकार दूर होता है गर्भिणी के सिर पर कंघी करने से गर्भगत बालक के बाल भी सुन्दर एवं कोमल बनते हैं।

सोम एव नो रजा.[२] यह पारस्कर गृह्यसूत्र के वचन से तात्पर्य है कि हमारा जीवन चन्द्रमा की तरह शान्त हो और नदीमुपावसिता[३] से तात्पर्य है नदी की तरह मर्यादित हो। कंघी की नोक से भी सीधी मांग निकल सकती है। किन्तु यहाँ गूलर या अर्जुन वृक्ष की शलाका से अथवा साही के कटि से बालों की पट्टी निकाल पीछे की ओर जूड़ा बनाने का विधान किया है।[४] गूलर में एक ऐसी विलक्षणता है जो अन्य किसी फल से नहीं पायी जाती है। गूलर के अन्दर भी असंख्य जीवित कृमि पाये जाते हैं। आयुर्वेद में इसीलिये इसे जन्तुफल भी कहते है। जिस प्रकार गूलर के भीतर सजीव प्राणी रहता है फूलता फलता है उसी प्रकार तेरे गर्भ में सजीव बालक बढ़े।[५]

---

१. तिलमुद्गमिश्रः स्थालीपाक श्रपयित्वा। पा.गृ.सू. १/१५/४ पृ. १७२

२. सोम एव नो राजेमा मानुषीः प्रजाः
अविमुक्तचक्र आसींरस्तीरे तभ्यमसविति।

३. यां नदीमुपावसिता भवति तस्यां नाम गृह्णीति। पा.गृ.सू. १/१५/८

४. औदुम्बरवृक्षोद्भवेन द्वयाद्वियुग्म फलवता सटालुग्रप्सेन अपक्वफलस्तवकनिबद्धेन सटालुमिति अपक्वफलानामाख्या ग्रप्सः स्तबकसङ्घगत शलल्याख्यपक्षकण्टेन वीरतरशङ्कुना आश्वत्थेन शङ्कुना च सूत्रकर्तन साधनभूतो लोह कीलस्तर्कुरपर पर्यायश्चात्रं अतो द्रव्यपञ्चकेन स्त्रियाः सीमन्तमूर्ध्व विनयति। पा.गृ.सू. १/१५/४ पृ. १७२

५. अस्य उजवितो वृक्षस्यो जीवं सफलशाखेव फलिनी भव। वही १/१५/६

घृत में मुख देखना

घी की भाप वातावरण को प्राणावान् बना देती है। उसका स्पर्श और उससे उठने वाली गन्ध मनुष्य के मन मस्तिष्क को जो शक्ति प्रदान करती है उसे हर कोई अनुभव करता है। घृत में मुख देखना इस तथ्य का प्रतीक है कि बालक को शक्ति और सामर्थ्य की प्राप्ति के लिये प्रयास करना होता है।

जातकर्म संस्कार

'जातकर्म से अभिप्राय है जिसका जनन हुआ हो उससे सम्बन्ध कर्मों का किया जाना है।'

जलपूर्ण कलश प्रसूता[१] के सिर की ओर रखा जाता है जिससे सिर की ओर आने वाली विकृत वायु का जल में शोषण होता रहे। स्वास्थ्य की दृष्टि से कलश का जल प्रतिदिन बदलते रहना चाहिए मस्तिष्क की ओर जो कि समस्त देवों ज्ञानेन्द्रियों का आधार है। गर्भस्थिति काल में मल की सफाई के लिये गर्म औषधियाँ दी जाती हैं कहीं उनसे नवप्रसूता का मस्तिष्क प्रभावित न हो जाये एतदर्थ भी दश रात्रि तक जल रखा जाता है उससे मस्तिष्क को ठण्डक मिलती रहती है।[२] सोने से आच्छादित अनामिका से विषम मात्रा में मधु और घी से प्राशन कराने के पीछे यह तथ्य निहित था कि घृत सौम्य मृदु और चिकना होता है यह उन्माद उदावर्त शूल ज्वर और वायु पित्त को शमन करने वाला है। स्मृति मति बुद्धि मेधा कान्ति स्वर लावण्य ओज तेज बल वीर्य आयु इन सबको बढ़ाने वाला है। नेत्रों को हितकर पवित्र विषनाशक और विषैली जन्तुओं का हरण करने वाला है।

मधु कषाय अनुरस औषध के गुण को बढ़ाने वाला रुक्ष शीतल जठराग्नि हो उदीप्त करने वाला रंग रूप को निखारने वाला बल कारक हल्का कोमल शरीर को बनाने वाला है नेत्रों को प्रसन्न करने

---

१. प्रसवमूलवतीं स्त्रियं भर्ता अद्भिर्जलेनाभ्युक्षति प्रसिञ्चति। वही १/१६/१ पृ. १६९

२. संस्कार भास्कर – डॉ. विद्यानन्द सरस्वती पृ. ११२

वाला निर्मल रोम-रोम में पहुँचने वाला पित्त कफ प्रगेह हिचकी श्वांस खांसी अतिसार तृषा कृमि विष इन दोषों का नाश करता है। स्वर्ण वीर्यवर्धक मेधा स्मृति और आयु को बढ़ाने वाला है घृत और शहद के साथ मिलकर परमाणु अनुर्वता उत्पन्न करने की भावना निहित थी।[१] जीवन वर्द्धन कर्म पिता द्वारा किया जाता था क्योंकि अग्नि वनस्पतियों से आयुष्मान् होता है सोम ओषधियों से आयुष्मान् हुआ है, उसी प्रकार बालक के जीवन की वृद्धि होती रहे।[२] माता बालक को दुग्धपान कराती थी[३] इसका वैज्ञानिक दृष्टि से उपयोग बतलाया गया है कि माता का दुग्ध शरीर में जीवनी शक्ति को देने वाला होता है शरीर में स्निग्धता आती है रक्त पित्त रोग में नस्य देने से नेत्रशूल में नेत्र मे तर्पण करने में लाभप्रद होता है।[४] सरसों की आहुतियाँ[५] दी जाती थी इसका चरक संहिता में गुण बताया गया है सरसों खाज नाशक, शिरोविरोचनीय (दिमाग के बलगम को निकालने वाला और मलबन्धक लिखा है।) इसका तेल कटु उष्ण रक्तपित्त को दूषित करने

---

१. अनामिकयाङ्गुत्या सुवर्णेनाच्छादितया मधु च घृतं च मधुघृते सकृत्प्राशयति कुमारस्स जिह्वायां। पा.गृ.सू. १/१६/६ हरिहर भाष्य पृ. १८१

२. अग्निरायुष्मान्त्स वनस्पतीभिरायुष्मांस्तेन त्वाऽऽयुषायुष्मन्तं करोमि। सोम आयुष्मान्त्स औषधीभिरायुष्मास्तेन त्वाऽऽयुषाऽऽयुष्यन्तं करोमि। पा.गृ.सू. १/१६/५

३. अस्या: मातुर्दक्षिणं स्तनं प्रक्षाल्य धावयित्वा कुमाराय [illegible] इम स्तनमित्येतयत्वी। वही. १/१६/२०

४. जीवनं सात्म्यं स्नेहनं मानुष पय: नावनं रक्तपित्ते च तर्पणं चाक्षिशूलिनाम। चरकसंहिता २२४

५. तण्डुलकणै: मिश्रान मुक्तान सर्षपानतस्मिनुग्नौ आवपति जुहोति। शण्डमर्का उपवीर: शौण्डिकेय उलूखल: मलिम्लुचो द्रोणसश्च्यवनो नश्यतादित: स्वाहा आलिखन्ननिमिष: किवदन्त उपश्रुतिहयक्ष: कुम्भी शत्रु: पात्रपाणिनृपाणि हन्त्रीमुख: सर्षपाकणश्च्यवनो नश्यतादित: स्वाहेति। पा.गृ.सू. १/१६/२३ पृ. १९/१८९

वाला कफ शुक्र तथा वायु को हरने वाला तथा त्वचा के रोगों को नष्ट करने वाला है।[१]

चावल एक श्रेष्ठ पौष्टिक एवं वीर्यवर्धक अन्न है और सरसों परमौषध है। प्रसूता के कमरे में मिट्टी का तेल नहीं जलाना चाहिये वहाँ सरसों के तेल का दीपक लाना चाहिये।[२]

निष्क्रमण संस्कार

निष्क्रमण संस्कार उसको कहते हैं कि जो बालक को घर से जहाँ का वायु स्थान शुद्ध हो वहाँ भ्रमण कराना होता है उसका समय जब अच्छा देखें तभी बालक को बाहर घुमायें अथवा चतुर्थ मास में भ्रमण करायें।

शरीर और मन के विकास के लिये शुद्ध और ताजी हवा तथा प्रकाश नितान्त आवश्यक है और घर की चारदीवारी से बाहर निकलकर ही उपलब्ध हो सकते हैं। बालक और उसकी माता के दीर्घ जीवन और स्वस्थ एवं हष्ट पुष्ट शरीर के लिये आवश्यक है कि उन्हें सूर्य की जीवनदायिनी शक्ति और पेड़ पौधों से प्राप्त होने वाली स्वच्छ वायु सेवन करने का अवसर मिले।

जो बालक हष्ट पुष्टांग हो उसके लिये जन्म के पश्चात् तीसरे शुक्लपक्ष की तृतीया निर्धारित की है।[३] चार मास की अधिकतम सीमा अपेक्षाकृत निर्बल व कृशकाय बालक के लिये है। इसके बाद भी बालक बाहर नही निकलता है तो उसके स्वास्थ्य पर कुप्रभाव पड़ता है। बाहर की स्वच्छ वायु और उन्मुक्त वातावरण से उसका समुचित विकास होने लगता है।

निष्क्रमण संस्कार के मन्त्रों का उपसंहार 'त्व जीव शरद:शतं वर्धमान:' के साथ होता है अर्थात् माता पिता तथा उपस्थित बन्धु

---

१. चरक संहिता सूत्रस्थान चतुर्थ अध्याय

२. षोडश संस्कार एक वैज्ञानिक विवेचना – डॉ. बोध कुमार झा, गेय कुमार झा पृ.-१४

३. चतुर्थे मासि निष्क्रमणिका। पा.गृ.सू. १/१७/५

बान्धवों की यह हार्दिक कामना होती है कि निरन्तर उन्नति करते हुये बालक सौ वर्ष तक जिये और इस सबका मूल है। तत्वक्षुदेव ------ शरदः शतात्[1] इस मन्त्र में सौ साल तक जीने की प्रार्थना की गयी है।

संसार में जितनी भी शक्ति है उसका उद्गम सूर्य है इसलिये सब प्रकार का जीवन और शक्ति पर आश्रित है। वनस्पति तथा प्राणी का जीवन सौर शक्ति के कारण बना रहता है न फलों में रस होगा।[2] नियन्त्रण दो ही तत्व करते हैं – उष्णता तथा शीतलता, उष्णता – शरीर में गर्मी जीवन का चिह्न है जबकि गर्मी की कमी शरीर का ठण्डा पड़ जाना मृत्यु का चिह्न है। सूर्य का दर्शन बालक को जीते रहने और प्रगति करने की प्रेरणा देता है। चन्द्रमा का कार्य शीतलता प्रदान करना है।

तत्पश्चात् रात्रि में चन्द्रमा प्रकाशमान हो तब बालक की माता लड़के को शुद्ध वस्त्र पहना दाहिनी ओर से आगे आकर पिता के हाँथ में बालक को उत्तर की ओर शिर दक्षिण की ओर पग करके दे और बालक को माता दाहिनी ओर से लौटाकर बायीं ओर आ जल की अञ्जलि भरके चन्द्रमा के सम्मुख खड़ी रहके ओं यददश्चन्द्रमसि ------- रुदम् मन्त्र से परमात्मा की स्तुति करके जल को पृथिवी पर छोड़ दे।[3]

जल और चन्द्रमा का घनिष्ठ सम्बन्ध शास्त्रसम्मत विज्ञान प्रतिपादित है। लोक में यह प्रत्यक्ष है कि शुक्ल पक्ष की पूर्णमासी को चाँद की चाँदनी में समुद्र उछलता है और ज्यों-ज्यों चन्द्रकलायें घटती

---

१. तत्वक्षर्दुवहितं पुरस्ताच्छक्रमुच्चरत। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शत श्रृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्। वही. मं.सं. ३६/२४ पृ. २०५

२. षोडश संस्कार एक वैज्ञनिक विवेचन – डॉ. बोधकुमार झा, गेय कुमार झा, पृ. २०

३. ओं यददश्चन्द्रमसि कृष्णं पृथिव्या हृदय श्रितम्
तदहं विद्व स्तत् पश्यन् माहं पौत्रमघ रुद्रम मन्त्र.ब्रा. १/५/१३

जाती है त्यों-त्यों समय के उछलने में कमी आती है। यही बात लक्ष्य में रखकर चन्द्रमा की ओर जल छोड़ने में लिखा है। तात्पर्य यह है कि जैसे इस जल और चन्द्र का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है वैसे ही बालक हमारे साथ सदा घनिष्ठ सम्बन्ध बना रहे।[१]

अन्नप्राशन संस्कार

अन्नप्राशन संस्कार छठवें महीने में किया जाता है इसको प्रकृति ने स्वयं तय किया है। जब बच्चा अन्न पचाने योग्य हो जाये तभी अन्नप्राशन का समय है। छठे महीने में दाँत निकलने लगते हैं वही अन्नप्राशन का समय है। किन्तु यदि कुछ मास तक और बढ़ा दिया जाये तो उत्तम है।[२] अधिक दिनों तक माता के दूध के अभाव में या अपर्याप्त होने के कारण गाय या बकरी का दूध दिया जा सके बालक उतना ही स्वस्थ और पुष्ट होता है।

एक वर्ष के बालक की संज्ञा 'क्षीरपा' दूध पीने वाला, दो वर्ष के बालक की क्षीरान्नाद दूध और अन्न खाने वाला और तदनन्तर 'अन्नाद' (अन्न खाने वाला) होता है। यह स्थिति क्रमशः आनी चाहिये। दूध से एकदम अन्न पर नहीं आना चाहिये। धीरे-धीरे क्रमशः दूध की मात्रा में कमी और अन्न की मात्रा में बढ़ोत्तरी होती जानी चाहिये अन्यथा उदर में विकार हो सकता है। आश्व.गृह्यसूत्र[३] के अनुसार आरम्भ दही शहद और घी के मिश्रण से होना चाहिये क्योंकि दही का प्रयोग करने से लोग अधिक स्वस्थ एवं दीर्घजीवी होते है। दूध के भीतर मुख्य पोषक तत्व चूने calcium का होता है। जैमिनी गृह्यसूत्र, मानव गृह्यसूत्र[४], कौषीतकि गृह्यसूत्र[५] सभी ने अन्नपतेऽन्नस्य

---

१. संस्कार भास्कर – डॉ. विद्यानन्द सरस्वती, पृ.-१५३
२. षोडश संस्कार एक वैज्ञानिक विवेचन – डॉ. बोधकुमार झा, डॉ. गेय कुमार झा, पृ. २६ षण्मासं चैनमन्नं प्राशयेल्लघु हित च। सुश्रुत संहिता १०/४९
३. दधिमधु घृत मिश्रित मन्नां प्राशयेत्। आश्वःगृ. १/१६/५
४. जैमिनि गृह्यसूत्र १/२०/२, मानव गृह्यसूत्र १/२०/२
५. कौषीतकि गृह्यसूत्र १/२०/४

इसी मन्त्र को अन्नप्राशन संस्कार का मूल माना है। पारस्कर ने बालक को अनेक पक्षियों का मांस खिलाने का विधान किया है। पुत्र को वाग्मी बनाने के लिये भरद्वाज पक्षी[१] का मांस खिलाना चाहिए अन्न भक्षण के योग्य बनाने से पूर्व पिता बालको को कपिञ्जल पक्षी[२] का मांस खिलाना चाहिए इसके विषय में चरक संहिता में लिखा है कि तितिर के मांस में उष्णता रस में मधुर होता है। यह वातप्रधान सन्निपात ज्वर का नाशक हल्का होने के कारण रक्त के साथ पित्त एवं कफ से होने वाले रोगों में, और हीनपात से उत्पन्न सन्निपात में लाभकारी होता है। शिशु में धावक शक्ति को विकसित करने के लिये मछली[३] का मांस खिलाना चाहिए चरक संहिता में इसके गुण इस प्रकार बताये गये है मछली का मांस पचने में भारी, गरम मधुर बलवर्धक मांसवर्धक वातनाशक स्निग्ध और शुक्रवर्धक होता है।[४] चिरायु तथा ब्रह्मवर्चस् की कामना से बालक को केकड़े और आट्या (जल पक्षी) का मांस खिलाया जाता था।[५]

चूड़ाकरण

चूड़ाकरण का प्रचलित नाम मुण्डन संस्कार है। शिशु जब गर्भ में होता है तभी सिर पर बाल आ जाते हैं उन मलिन बालों को उस्तरे

---

१. भारद्वाज्यामा सेन वाक्प्रसारकामस्य पा.गृ.सू. १/१९/७

२. कपिञ्जलमा सेनाऽन्नाद्यकामस्य। वही. १/१९/८

३. तित्तिर: संजयेच्द्दीघंत्रीन् दोषाननिलोत्वणान्। पितश्लेष्मविकारेषु सरक्तेषु कपिञ्जला: मन्द व त्रिषु शस्यन्ते शैत्यमाधुर्य लाघवात्। चरक संहिता भाग १ पृ. ३७८

४. मत्स्यैर्जवनकामस्य – पा.गृ.सू. १/१९/९
गुरुण्णा मधुरा बल्या वृहणा पावनापहा:
मत्स्या: स्निग्धाश्च वृष्याश्च बहुदोषा प्रकीतिता। चरकसंहिता भाग-१ पृ. ३८०

५. कृकषाया आयुष्कामस्य, आट्या ब्रह्मवर्चकामस्य। पा.गृ.सू. १/१९/१०-११

से साफ करना नितान्त आवश्यक है। चरक संहिता[१] में मुण्डन के लाभ बताये गये है। केश दाढ़ी मूँछ तथा नखों को काटने से पुष्टि दृष्टा और आयु की वृद्धि होती है तथा पुरुष पवित्र एवं सुन्दर रूप वाला होता है।[२] सुश्रुत संहिता में कंघी के गुण इस प्रकार बताये गये हैं कंघी बालों में स्थित धूल जूं लीख आदि जन्तु एवं मैल को दूर करती है।

आयुर्वेद, निष्णात प्राचीन ऋषियों ने रोग निवृत्ति आयु वृद्धि शारीरिक पुष्टि आदि अनेक हेतुओं से इस संस्कार का विधान किया है।

मस्तिष्क का आवास होने से सिर सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है सभी ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मोन्द्रियों का केन्द्र होने के कारण समस्त शरीर की गतिविधियों का संचालन मस्तिष्क के द्वारा ही होता है। मस्तिष्क को ढकने वाली खोपड़ी की अस्थियों की सन्धियाँ तीन साल से पूर्व नहीं जुड़ जाती तब तक गर्भावस्था के सिर के बाल ही खोपड़ी की रक्षा करते हैं।

इस संस्कार का दाँत निकलने से विशेष सम्बन्ध है। दाँत निकालते समय मसूड़े सूज जाते हैं। लार स्रावित होने लगती है। ऐसे समय में बच्चे के सिर पर बालों का होना चिकित्सा की दृष्टि से बाधक होता है। मुण्डन संस्कार अनेक विधि रोगों के निवारण में उपयोगी होने के साथ-साथ नये और पुष्ट बालों के आने में सहायक होता है।

संस्कार आरम्भ करने से पूर्व चार शरावों में चावल जौ तिल और उड़द भरकर रखने का निर्देश है।[३]

---

१. पौष्टिकं वृष्यमायुष्यं शुचिरूपविराजनम्
केशश्मश्रुसखादीनां कल्पनं समप्रदसादनम्।।
चरकसंहिता सूत्र स्थान ५/१८/९६

२. केशप्रसाधनी केश्या रजोजन्तु नलापहा। सुश्रुत संहिता

३. संस्कार भास्कर – डॉ. विद्यानन्द सरस्वती पृ. २२६

चावल के गुण बताये गये है कि व्रण में गुणकारी मेधावर्धक और मल को निकालने में सहायक होते हैं। उड़द अत्यन्त पुष्टिकारक वीर्यवर्धक मलमूत्र और स्तन के दुग्ध निकालने में उपयोगी होती है। तिल बलकारक बालों को हितकारी त्वचा की रक्षा करने, स्तनों में दुग्धवर्धक और दन्तरक्षा में सहायक है।[१]

शिखा का संबंध मस्तिष्क में ज्ञान के लिये जो अत्यन्त संवेदन स्थल है वह ठीक शिखा के नीचे का भाग है उसी संवेदनशील[२] बच्चे का मुण्डन तीन वर्ष में होने के पीछे वैज्ञानिक कारण है तीसरे साल के बच्चे का मस्तिष्क चर्म अत्यन्त ही नाजुक होता है। छुरी से बाल छिलने में चमड़े की ऊपरी सतह भी छिल जायेगी वह व्रणित हो जायेगा। इसलिये यज्ञोपवीत संस्कार को एक अवधि के रूप में रखा गया है।[३]

आयमगन्त्सविता – पुराने बालों की जगह नये बालों को उगाने वाला यह नाई क्षुरेण छूरे उस्तरे के साथ आया है यह उष्ण जल लेकर आये हुये इस मन्त्र के द्वारा नाई को उबलते हुये पानी को लाने का आदेश दिया गया है। तात्पर्य यह है कि पिता अपने सामने खौलते हुए पानी में उस्तरे आदि में कुछ देर तक डलवाये रखे जिससे वे सर्वथा कीटाणुरहित हो जायें।

मुण्डन संस्कार के समय बालक का पिता उस्तरे की प्रशंसा करते हुए कहता है किस्वधिस्ते पिता तेरे पिता फौलाद है क्योंकि तू उसी से बना है और तू शिव कल्याणकारी है क्योंकि तेरे द्वारा आयुवृद्धि जठराग्नि की वृद्धि, स्वास्थ्य बल आदि की प्राप्ति होती है।

---

१. चरक संहिता – भाग प्रथम, पृ. ८५३

२. शिरसः शिखरे शिरा सन्धीनां सम्मिलनं भवति। अस्य स्थानस्याधिपती रोमार्क्ताः तत्रं केनापि प्रहारेण शीघ्रमेव मृत्युर्भवति। सुश्रुत शरीर ६.८३

३. तृतीये वाङ्प्रतिहते – पा.गृ.सू. २/१/२ पृ. २१८
षोडश संस्कार एक वैज्ञानिक विवेचना –डॉ. बोधकुमार झा, गेय कुमार झा, पृ. २५

कर्णवेध

वैज्ञानिक दृष्टि से कर्णवेध का अलग वैशिष्ट्य है। हाइड्रोसील नामक रोग से विमुक्ति भी इसके द्वारा सम्भव है। इसमें ऐसी नस छिद्र जाने से आन्त्रवृद्धि नहीं होती आंतो के थोड़े से भाग के अण्डकोशों की थैली में लटकनों को आंत्रवृद्धि कहते हैं।[१]

अन्त्रवृद्धि को रोकने के लिये शंख प्रदेश के ऊपर कान के पार्श्व पर सेवनी को यत्नपूर्वक छोड़ते हुये विरुद्ध पाश्व्र में शिरा का वेधन करें

व्यव्यय का अर्थ है कि दाहिनी ओर की आन्त्रवृत्ति को रोकने के लिये दायें कान को वेधे।

कर्णेन्द्रिय का वीर्यवाहिनी नाड़ियों से सम्बन्ध होने के कारण कर्णवेध अण्डवृद्धि के अतिरिक्त पुंस्त्व नष्ट करने वाले रोगों से रक्षा करता है।

सुश्रुत संहिता मुख्यतः Sugery का ग्रन्थ है कर्णवेध के विषय में लिखा है वैद्य अपने बायें हाँथ से कान को खींचकर देखे जहाँ सूर्य की किरणें चमके वहाँ दैवकृत छिद्र में धीरे-धीरे सीधे बाँधे जिससे कर्णवेध अपने प्रयोजन की सिद्धि में सहायक है।[२]

उपनयन संस्कार

यज्ञोपवीत धारण करने वाले व्यक्ति शरीर के स्वाभाविक शौचादि कर्म करने के समय अपने कान को यज्ञोपवीत के द्वारा मजबूती से बाँधते हैं जिसका प्रभाव साक्षात् हृदय रोग पर पड़ता है कान के पास एक पतली सी इस तरह की होती है जिसे यदि यज्ञोपवीत से बाँधा जाता है तो उसके दब जाने से हृदय प्रदेश के

---

१. शंखयोपरि च कर्णानते त्यक्त्वा यत्नेन सेवनीय। व्यत्यासद्धा शिरा विघ्नेदन्त्रवृद्धि निवृत्तये। सु.चि. स्थान ९-२

२. भिषक वामहस्तेनाकृष्य कर्ण दैवकृते छिद्रे आदित्य कसवे भासिते शनैः शनैः ऋतु विद्धयेत – सुश्रुत संहिता

अवयव प्रभावित होते है। तथा इस रोग की सम्भावना कम हो जाती है। यज्ञोपवीत धारण एवं उसके द्वारा कर्ण बंधन से मस्तिष्क सम्बन्धी चिन्तन प्रयुक्त रोग का भी निराकरण होता है। इसका तृतीय प्रभाव उस व्यक्ति पर भी पड़ता है जिससे शक्ति क्षय की बीमारी होती है। मल मूत्र के द्वारा अनजाने में व्यक्ति की शक्ति बाहर निकल जाती है। इस तरह के रोगी यदि उत्सर्जन के समय कान को शक्ति से बाँधते है तो उसे उक्त रोग से आराम महसूस होती है। दैनिक जीवन के उपयोग में आने वाली चीजों से जाने अनजाने अनेक प्रकार के कीटाणुओं तथा प्रदूषणों का हमें शिकार बनना पड़ता है जिससे भी यज्ञोपवीत धारण से बहुत कुछ विनियुक्ति मिलती है। यज्ञोपवीत कान में बांधने के पश्चात् उसे हटाने के लिये व्यक्ति निश्चित रूप से अपना हाथ धोता है।

इस प्रकार बार-बार हाथ धोते रहने से मैले हाथों के द्वार फैलने वाले प्रदूषण एवं कीटाणुओं का प्रसार अवरुद्ध होने में हमें स्वाभाविक रूप से सहायता मिलती है।

उपनयन संस्कार में शिशु के बाल प्रथम बार उस्तरे से काटे जाते है और सिर का जो पिछला हिस्सा होता है उसके ऊपर भाग में कतिपय बालों को छोड़ दिया जाता है जिसे शिखा, चूड़ा शिरा शब्द से अभिहित किया जाता है। जहाँ पर शिखा का स्थल होता है वहाँ मस्तिष्क के ज्ञान केन्द्र का स्थान भी रहता है जिससे बालों का एक समूह शीतलता प्रदान करता है जिसके फलस्वरूप ज्ञान केन्द्र की क्रियाशील में वृद्धि होती रहती है और थकान का अनुभव नहीं करता है।[१]

यज्ञोपवीत का समय उत्तरायण काल में रखा है क्योंकि उत्तरायण काल प्रकाश और प्रगति का काल है। इस काल में शारीरिक बल की अपेक्षा मानसिक तथा बौद्धिक बल की वृद्धि होती है।[२]

---

१. संस्कार भास्कर – डॉ. विद्यानन्द सरस्वती पृ.-१६२

२. षोडश संस्कार एक वैज्ञानिक विवेचना – डॉ. बोधकुमार झा, डॉ. गेयकुमार झा, पृ.-३८

यज्ञोपवीत संस्कार के द्वारा शारीरिक मानसिक एवं मस्तिष्क के क्रियाकलापों एवं प्रभावकारी प्रतिक्रिया तो होती है। साथ-साथ एक सुन्दर एवं स्वस्थ वातावरण में व्यक्तित्व का निर्माण किया जाता है।

वेदारम्भ

वेदारम्भ संस्कार उसको कहते है जो गायत्रीमंत्र से लेकर सांगोपांग चारो वेदों के अध्ययन[१] करने के लिये नियम धारण करना। मुख स्पर्श का आनुषांगिक लाभ है हवन की आग पर हाँथ तपाने से सुगन्धित वाष्प हाथ में बस जाती है और जल में हाँथ भिगोने पर वह वाष्प जलरूप हो जाती है जब उसका मुख से सम्पर्क होता है तो उसमें स्तन में प्रयुक्त घृत और सामग्री के धूम्र का सूक्ष्म अंश होने से मुख पर सुगन्धित और स्निग्धता तथा ताज्जन्य कान्ति आ जाती है।

मेखला बांधने के पीछे वैज्ञानिक दृष्टिकोण है इससे आँतो संबंधी रोगों से बचे रहना है। इससे थकावट नहीं आती है अति नहीं उछलती है। कटि पर दबाव पड़ने से मेखला प्राण अपान वायु को नियन्त्रित करती और वीर्य रक्षा में सहायक होती है। प्राण शक्ति के प्रबल होने का अर्थ यह है उस मनुष्य की सांस ठीक से चलती रहती है वह शीघ्र हांपता नहीं अपान की स्थिति में ठीक रहते पेट में वायु विकार नहीं होता।[२]

कोपीन धारण करना वीर्य रक्षा में तो सहायक है साथ ही साथ अंग विशेष की सुरक्षा चलने फिरने और विशेषतः व्यायाम करने में सुविधा होती है।[३] दण्ड धारण करने वाले को मेरुदण्ड के रोग नहीं होते गर्दन, सीना आदि सभी अंग सीधे रहते हैं।

---

१. अंग शिक्षा कल्प, व्याकरण, निरुक्त छन्द ज्योतिष – उपांग पूर्वमीमांसा वैशोषिक न्याय योग सांख्य और वेदान्त। आयुर्वेद धनुर्वेद, गन्धर्ववेद अथर्ववेद अर्थात् शिल्पशास्त्र। वेद – ऋक् यजु साम और अथर्व।
२. मेखलां बहनीते – पा.गृ.सू. २/२ डॉ. ओमप्रकाश पाण्डे पृ. ९८
३. दण्डं प्रयच्छति – वही.

ब्रह्मचारियों के लिये विभिन्न वृक्षों के लकड़ी लिये जाने का हेतु हो सकता है।[१] इसमें मन का प्रमाण है।[२] नन्दन टीकाकार ने ब्राह्मणादि के प्रमाण देकर पलाशादि के साथ ब्राह्मणादि की समानता दिखायी है।[३] ब्राह्मण जन्म से ही ब्रह्मवर्चस्व का प्रभाव धारण करता है। इस कारण ब्राह्मण पलाश का दण्ड धारण करता है।[४] इस कारण ब्राह्मण पलाश का दण्ड धारण करे। वेल वृक्ष वनस्पतियों में क्षत्रिय है क्षत्रिय राजा है इसलिये क्षत्रिय का दण्ड रखे। अश्वत्थ (पीपल) वायु के बल की प्रधानता से युक्त है और वायु देवताओं का वैश्य है क्योंकि वह उनके हव्य पदार्थ इधर उधर पहुँचाता है जैसे वैश्य लोग भोजन के लिये अन्नादि एक देश से दूसरे देश में ले जाते है इसलिये वैश्य पीपल का दण्ड धारण करे।[५] भिन्न-भिन्न ऊँचाई की लाठियों को धारण करने का विधान है।[६]

समावर्तन

भारतीय परम्परा के अनुसार मनुष्य की चारों अवस्थाओं के लिये चार आश्रमों की परिकल्पना की गयी है। इन आश्रमों के आधार पर प्राचीन भारतीय मनीषियों के द्वारा इस प्रकार की व्यवस्था बनायी गयी जो कि अत्यन्त ही मनोवैज्ञानिक है मानव की सहज प्रवृत्ति के अनुकूल सत्य के प्रति सकारात्मक रुझान एवं सहज मानव विज्ञान के

---

१. पलाशी ब्राह्मणस्य दण्डः, वैल्वो राजन्यस्य, औदुम्बरो क्षत्रियस्य। वही २/५/२५-२६, पृ. ११२

२. ब्राह्मणो वैल्वपलाशो क्षत्रियों वटखादिरौ। वैल्वोदुम्बरी वैश्यो दण्डानर्हस्ति धर्मतः। मनु. २/४५

३. असौ वा आदित्यो यतोऽजायत पतो बिल्व उदतिष्ठत सयोनिरेव ब्रह्मवर्चसमतरुधे इति श्रुतेः नन्दन टीकाकार का मत।

४. ब्राह्मणे छात्रं वा एवद्वनस्पतीनां यन्नयग्रोधः। ऐतरेय ब्राह्मण

५. नयगोधः क्षणं वै राजन्य इति। मरुतो वा एतदोजो यदश्वत्थो मरुतो वै देवानां विश इति श्रुतैः। ऐतरेय ब्राह्मण का कथन

६. केशान्तिको ब्राह्मणस्य दण्डः कार्यप्रमाणतः। ललाट संमितो राज्ञः स्यातु नासान्तिको विशः। मनु. २/४६

धरातल पर अवस्थित है। भारतीय संस्कृति की अनेकानेक विशेषताओं में आश्रम व्यवस्था एक ऐसी विशेषता है। अतः इस प्रकार का जीवन चरित्र की सहज एवं स्वाभाविक प्रवृत्ति है अन्य संस्कृतियों में चलने वाले प्रौढ़ व्यक्तियों में पाया जा सकता है। वैज्ञानिक परम्पराओं से गुजरने वाले व्यक्ति के लिये समावर्तन संस्कार का प्रावधान किया गया है जिसके तहत अपनी अत्यन्त शैशावस्था में पितृगृह को त्याग कर विद्याभ्यास के लिये ब्रह्मचर्य आश्रम के कठोर नियमों का अनुपालन करने वाला मानव आचार्य की आज्ञा से ब्रह्मचर्यव्रत का समापन करता है और जीवन के द्वितीय आश्रम गृहस्थाआश्रम में प्रविष्टि की अर्हता प्राप्त करता है यह क्षण दो अवयवों के मध्य का क्षण है।

समावर्तन संस्कार में अध्यापक अपने शिष्य से वैदिक परम्पराओं के अनुसार मातृ देवो भव पितृ देवो भव, अतिथि देवो भव इत्यादि आदर्श नियमों के अनुपालन हेतु शपथ ग्रहण करवाते हैं। सत्य की राह पर गमन त्याग तपस्या एवं लोकहित हेतु बलिदान के लिये शिष्य की मनसा जब दृढ़ हो जाती है और अनेक परीक्षाओं के पश्चात् जब गुरु को विश्वास हो जाता है कि वह गृहस्थ में प्रवेश के बाद अनुचित मार्ग का पथिक नहीं बनेगा। मानवीय जीवन दानवीय जीवन का रूप न हो, प्रकृति की विकृति मानवों के द्वारा न हो जाये तथा एक स्वच्छ एवं स्वस्थ समाज की संरचना हो इसके लिये समावर्तन संस्कार रूपी कदम भारतीय संस्कृति के अत्यन्त प्रशंसनीय है।[१]

विवाह

विवाह शब्द का अर्थ विशेषण वाह्यते इति विवाह : है जिसका अर्थ विशिष्ट प्रकार से वहन करना।[२]

विवाह का समय उद्गम आपूर्यमाण पदों के अनुसार पुष्प नक्षत्र में करना चाहिए क्योंकि पुष्प नक्षत्र होने से तब शीत ताप व वर्षा की

---

१. षोडश संस्कार एक वैज्ञानिक विवेचन – डॉ. बोधगया झा, डॉ. गेयकुमार झा

२. संस्कार भास्कर – स्वामी विद्यानन्द सरस्वती–पृ. २०९

विषमता नहीं होती। उत्तरायण काल में सत्वगुण के प्रधान होने से मानसिक बल बढ़ता है।[१]

गोत्र के सम्बन्ध में माता की छह पीढ़ियाँ छोड़ने के पीछे वैज्ञानिक मत था कि सन्तान उत्पन्न करने में स्त्री का रज मुख्यत: बीज की रक्षा करने का काम करता है। मुख्यता बीज की होती है। पिता के वीर्य की प्रधानता होने के कारण पिता के गोत्र को पूरी तरह छोड़ना चाहिए।[२]

विवाह किशोरवस्था में करना चाहिए क्योंकि बालक में किशोरवस्था में वीर्य बनना प्रारम्भ हो जाता है। बालिका में मासिक धर्म होने लगता है इस अवस्था में संयोग करने से सन्तान उत्पन्न हो सकती है। प्राणिशास्त्र के अनुसार बाल विवाह में प्रजनन नहीं हो सकता है। प्राणिशास्त्र के अनुसार किशोरावस्था में प्रजनन तो हो सकता है परन्तु शरीर और मानसिक विकास पूर्ण न होने से उनके रज वीर्य में परिपक्वता न आने के कारण सन्तान के जीवित व हष्टपुष्ट होने की सम्भावना कम होती है।[३] विवाह अत्यन्त ही वैज्ञानिक तथ्यों से भरा विषय है। जीवन के प्रत्येक क्षण प्रत्येक पल, दु:ख सुख के साथ निभाने वाली पत्नी बिल्कुल पति से एकाकार होती है। इसलिये पति पत्नी दोनों का एक दूसरे पर आधारित होना वैज्ञानिक है।

वैज्ञानिक विधियों में सप्तपदी का अपना अलग ही वैशिष्ट्य है वैज्ञानिक दृष्टि से यह क्रिया अतिसाधारण है। इसमें चिरस्थायित्व

---

१. वही.

२. परिणीय संगोत्रां तु समानप्रवरां तथा। समानप्रवरां कन्यानेक गोत्रामथापि वा।। पा.गृ.सू.-१/८/गदाधर भाष्य पृ. १०९

३. पञ्चविशे ततो वर्वे पुमान्नारी तु षोडशे। समत्वागतवीर्यो तौ जानीयात् कुशलो भिषक्। उन्षोडश वर्षायामप्राप्त: पञ्चविशतिम्। यद्याधत्ते पुमान् गर्भ कुक्षिस्थ: स विपद्यते। जातो वा न चिरं जीवेज्जीवेद्वा। दुर्बलेन्द्रिय:। तस्मादत्यन्तबालायां गर्भाधानं न कारयेत्। सुश्रुत शरीर स्थान १०/४६-४८

सफलता एवं आकर्षण लाने के लिये संस्कार के माध्यम से किया जाना अत्यन्त ही प्रभावकारी सुन्दर तथा विज्ञान से आप्रयुत है।

आर्यों के जीवन में संस्कारों का स्थान सर्वोपरि था। क्योंकि संस्कारों के अभाव में मानव शुप्त ही रहता है जहाँ संस्कार मानव को द्विजत्व प्रदान करते है वहीं पर वे मानव को स्वस्थ भी रखते हैं। आज का काल संस्कारों के अनुक्रम में बाधक नहीं है। काल चक्र अति शीघ्र गति से घूमता रहेगा भूमण्डल से लेकर खगोल तक के पदार्थ घूमते ही है। काल के व्यतिक्रम के लिये हमारा व्यतिक्रम कारण है।

कालश्चालयति प्रायः पण्डितान् पामरानपि
तञ्चेच्चि कीर्षसि वशे तितिक्षैव महौषधम्।।

तितिक्षा सहनशक्ति ही महान् औषध है यदि प्रकृत प्रकुपित हो जाती है। जिस प्रकार वैद्य या डॉक्टर रोगों को मिटाता नहीं किन्तु रोग की पीड़ा को सहन करने के लिये औषध देता है। ठीक उसी प्रकार महावैद्य परमात्मा सहनशक्ति प्रदान करता है। विज्ञान का अधिकतर संबंध पारलौकिक उन्नति से है और उसमें उसी व्यक्ति को श्रद्धा हो सकती है जिसकी बुद्धि में सत्वगुण की अधिकता रहे। सत्वादि गुणों की उन्नति और ह्रास जन्म सिद्ध है कार्यसिद्ध और संसर्गसिद्ध भी है। सात्विक माता पिताओं की सन्तान में सत्वगुण का आना स्वभावसिद्ध है यह जन्मकृत अधिकता तथा न्यूनता होगी। सात्विक गुणों के द्वारा अधिकार की परीक्षा करके आचार्य शिष्यों को पढ़ाते थे।

इस प्रकार उर्पयुक्त विवरण से स्पष्ट है कि संस्कारों ने वैज्ञानिक क्रिया सम्पूर्ण रूप से सन्निहित थी। संस्कार मात्र एक अनुष्ठान ही नहीं, स्वास्थ्य की दृष्टि से भी उपयोगी थे।

(क) गृहयज्ञों में प्रयुक्त पात्रों की सूची



पूर्णपात्र अ. १२, चौड़ा अंगुल ६



स्रुच सर्व ४, बहुमात्र



अभ्रि १, अं. २४



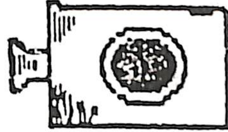
ओवली अं. १२



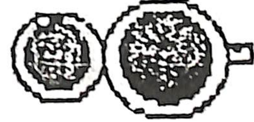
चात्र अं. १२



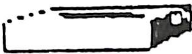
षडवत्त अं. २४



पुरोडाशपात्री



इडा अंगुल २४[1]



अंगुल ६ पोली अंगुल ४ ऊँची अधरारणी



प्राशित्रहरणे दर्पणाकार[2]



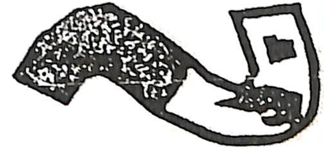
पिष्टपात्री



प्रणीता अं. १२



प्रोक्षणी अं. १२

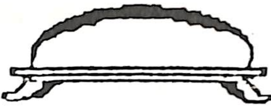


अंगोछा २४ अं. लंबा

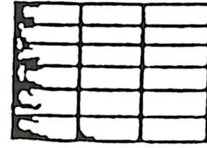
---

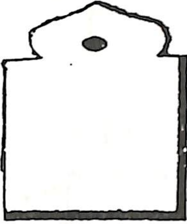
१. क. हस्तलेख में अंगुल २४ शुद्ध पाठ है। संस्कृत में २४ और २२ का विकल्प दर्शाया है। ख. हस्तलेख तथा अजमेर मुद्रित में अंगुल १२ अपपाठ है।

२. प्राशित्राहरण के समीप उसका ढक्कन है, अतः इसका परिमाण भी चित्र में उतना ही दिखाना चाहिए। प्राशित्रहरणे में द्विर्वचन ऊपर नीचे के पापों की दृष्टि में है, जैसे दोनों मिलकर एक पाप माना जाता है।

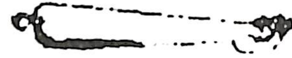

अन्तर्धान १, अं. १२

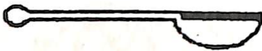

खाँडा अंगुल २४

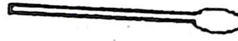

उत्तरारणी टुकड़ा १८


मूलेखात दृषद्


शूर्प


उपवेश १, अं. २४

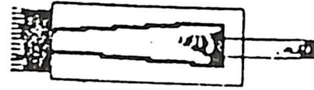

स्रुवः ४, अंगुल २४[१]

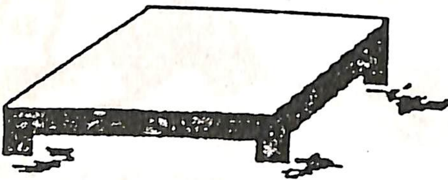

शम्या प्रादेश १

अरणी ४


उपल


श्रृतावदान प्रादेशमात्र


कूर्च बाहुमात्र १


पाटला ४, लम्बां
२४ अंगुल


उलूखल नाभिमात्र


मुसल

---

१. कौशं बर्हिः। ऋत्विग्वरणार्थं कुण्डलाङ्गुलीयकवासांसि।
पत्नीयजमानपरिधानार्थं क्षौमवासश्चतुष्टयम्।
आग्नयाधेयदक्षिणार्थं चतुर्विंशतिपक्षे एकोनपञ्चाशद् गावः, द्वादशपक्षे पञ्चविंशतिः, वरार्थं चतस्रो गावः।

सहायक ग्रन्थों की सूची

१. **अथर्ववेद का सांस्कृतिक अध्ययन** : लेखक डॉ. कपिल द्विवेदी
प्रकाशन केन्द्र – विश्वभारती अनुसंधान परिषद, ज्ञानपुर वाराणसी।

२. **अथर्ववेद संहिता** : लेखक पं. माधवाचार्य शास्त्रिणा
प्रकाशन केन्द्र -- पं. श्री कण्ठ शास्त्री, माधव पुस्तकालय, दिल्ली, प्रकाशन वर्ष संवत् २०३२

३. **अर्थशास्त्र कौटिल्य** : लेखक वाचस्पति नैरोला
प्रकाशन केन्द्र – हिन्दी साहित्य सम्मेलन, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी।

४. **अभिज्ञान शाकुन्तलम्** : लेखक नवकिशोर शास्त्री
प्रकाशन केन्द्र – चौखम्भा अमर भारती, वाराणसी।
प्रकाशन वर्ष १९८३

५. **आपस्तम्ब गृह्यसूत्र** : लेखक हरिदास
प्रकाशन केन्द्र – संस्कृत गृन्थमाला संस्कृत सीरीज पुस्तक माला, चौखम्भा।

६. **इण्डिया आफ वैदिक कल्पसूत्र** : लेखक डॉ. रामगोपाल
प्रकाशन केन्द्र – मोतीलाल बनारसी दास बग्लो रोड, दिल्ली।

७. **ऋग्वेद** : संपादन शिवनाथ अहिताग्नि पं. शंकर दत्त शास्त्री
प्रकाशन केन्द्र – नाग पब्लिशर्स ११/ए जवाहर नगर, दिल्ली।

८. **ऋग्वेद मण्डल मणि सूत्र** : लेखक पं. देव विद्यालंकार
प्रकाशन केन्द्र -- समर्पण शोधा संस्थान, नई दिल्ली।

९. **ऋग्वैदिक भूगोल** : लेखक डॉ. कैलाश नाथ द्विवेदी
प्रकाशन केन्द्र – साहित्य निकेतन, कानपुर।

१०. **कर्मकाण्ड भास्कर** : लेखक पं. आचार्य श्रीराम शर्मा
प्रकाशन केन्द्र – गायत्री तपोभूमि, मथुरा
प्रकाशन वर्ष – १९९८

११. **गोभिल गृह्यसूत्र** : लेखक डॉ. सुधाकर मालवीय
प्रकाशन केन्द्र – चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी।
प्रकाशन वर्ष – १९९७
१२. **कल्पसूत्र** : लेखक डॉ. कुन्दन लाल शर्मा
प्रकाशन केन्द्र – विश्वेवरानन्द वैदिक शोधा संस्थान होशियारपुर। प्रकाशन वर्ष १९८१
१३. **गृह्यमन्त्रों का विनियोग** : लेखक डॉ. कृष्णलाल
प्रकाशन केन्द्र – नेशनल पब्लिशिंक हाउस २/३५ अन्सारी रोड, दिल्ली। प्रकाशन वर्ष – १९७०
१४. **पौराणिक कोश** : लेखक राणाप्रसाद शर्मा
प्रकाशन केन्द्र – ज्ञान मण्डल लिमिटेड, वाराणसी।
प्रकाशन वर्ष – संवत् २०२८
१५. **पारस्कर गृह्यसूत्र** : (क) लेखक – सुधााकर मालवीय
प्रकाशन केन्द्र – संस्कृत संस्थान चौखम्भा, वाराणसी।
(ख) लेखक – महादेव शर्मा
प्रकाशन केन्द्र – मुंशी मनोहर लाल पब्लिशर्स प्रा. लि.
प्रकाशन वर्ष १९९७
(ग) लेखक – डा. जगदीश चन्द्र मिश्रा
प्रकाशन केन्द्र – चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी।
प्रकाशन वर्ष – १९९१
(घ) लेखक – डा. ओम प्रकाश पाण्डेय
प्रकाशन केन्द्र – चौखम्भा अमरभारती प्रकाशन, वाराणसी।
प्रकाशन वर्ष – १९८०
(ड.) लेखक – अनन्तराम डागरा शास्त्री
प्रकाशन केन्द्र – चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी।
प्रकाशन वर्ष – संवत् २०३४
१६. **मनुस्मृति** : लेखक पं. श्री हरगोविन्द शास्त्री,
प्रकाशन केन्द्र – चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी।
प्रकाशन वर्ष – संवत् २०३९
१७. **मैत्रायणी संहिता** : लेखक – श्रीपाद सातवलेकर
प्रकाशन केन्द्र – पारडी स्वाध्याय मण्डल
प्रकाशन वर्ष – १९३९

१८. **मानसोल्लसा एक सांस्कृतिक अध्ययन :**
लेखक डॉ. शिवशेखर मिश्र
प्रकाशन केन्द्र – चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी।
१९. **भारतीय संस्कृति के उत्थान :** लेखक डॉ. राम जी उपाध्याय
प्रकाशन केन्द्र – चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी।
२०. **भारतीय धर्म एवं संस्कृति :** लेखक बुद्ध प्रकाश
प्रकाशन केन्द्र – मेरठ मीनाक्षी प्रकाशन।
२१. **भारतीय संस्कृति :** लेखक आचार्य लोकन विदहाल
प्रकाशन केन्द्र – चौखम्भा सुरभारती गृन्थमाला, वाराणसी।
प्रकाशन वर्ष – १९९५
२२. **निरुक्त :** लेखक यास्क
प्रकाशन केन्द्र – मेहर चन्द लक्ष्मण दास पब्लिकेशन्स, दिल्ली।
प्रकाशन वर्ष १९३९।
२३. **वैदिक संहिताओं में नारी :** लेखक डॉ. मालती शर्मा
प्रकाशन केन्द्र – सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।
प्रकाशन वर्ष १९९०।
२४. **वेदकालीन समाज :** लेखक डॉ. शिवदत्त ज्ञानी
प्रकाशन केन्द्र – चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी।
प्रकाशन वर्ष १९६७.
२५. **वाजसनेयि संहिता :** लेखक अल्वेर्तेन बेबरेण
प्रकाशन केन्द्र – चौखम्भा संस्कृत सीरीज वाराणसी।
प्रकाशन वर्ष १९७२
२६. **वैदिक साहित्य और संस्कृत का स्वरूप :**
लेखक डॉ. ओम प्रकाश पाण्डेय.
प्रकाशन केन्द्र – विश्व प्रकाशन वाइली ईस्टर्न लि. प्रभाग।
प्रकाशन वर्ष १९९४.
२७. **वैदिक वाङ्मय का बृहद इतिहस :** लेखक वाचस्पति गैरोला
प्रकाशन केन्द्र – संवर्तिका प्रकाशन इलाहाबाद।
प्रकाशन वर्ष १९७०.
२८. **वैदिक साहित्य और संस्कृति :** लेखक डॉ. श्यामलाल पाण्डे
प्रकाशन केन्द्र – सूचना विभाग उत्तर प्रदेश, लखनऊ।

३०. **वैदिक धर्म दर्शन** : मूल लेखक – आर्थर बेरीडोल कीथ
अनुवादक – सूर्यकान्त
प्रकाशन केन्द्र – मोती लाल बनारसी दास, वाराणसी।
प्रकाशन वर्ष – १९६५.

३१. **वेदों में राजनीतिक सिद्धान्त** : लेखक आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति प्रकाशन केन्द्र – मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ

३२. **वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति** :
लेखक – म. म. गिरिधार शर्मा चतुर्वेदी
प्रकाशन केन्द्र – विहार राष्ट्रभाषा परिषद पटना।
प्रकाशन वर्ष – १९७२.

३३. **वैदिक इण्डेक्स** : लेखक रामकुमार राय
प्रकाशन केन्द्र – चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी।
प्रकाशन वर्ष १९६२

३४. **वैदिक संस्कृति के मूल** : लेखक सत्यव्रत सिद्धान्तालङ्कार
प्रकाशन केन्द्र – चन्द्रावती लखनपाल चेरिटेबर हस्त सोसाइटी।

३५. **वैदिक युग के भारतीय आभूषण** :
लेखक डॉ. रायगोविन्द चन्द्र
प्रकाशन केन्द्र – विद्याभवन राष्ट्रीय भाषा ग्रन्थालय चौखम्भा, विद्याभवन, वाराणसी।

३६. **बौधायन गृह्यसूत्र** : लेखक श्रीनिवासाचार्य
प्रकाशन केन्द्र – मैसूर
प्रकाशन वर्ष १९०९.

३७. **तर्कभाषा** : लेखक पं. पट्टाभिराम शास्त्री
प्रकाशन केन्द्र – चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन।

३८. **तैत्तिरी संहिता** : लेखक सायणाचार्य
प्रकाशन केन्द्र – काशीनाथ आगाशे सम्पादन पूना आनन्द आश्रम प्रकाशन वर्ष – १९७८.

३९. यज्ञाव्लकय समृ्थ : लेखक डॉ. गंगासागर राय
प्रकाशन केन्द्र – चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, नई दिल्ली।
प्रकाशन वर्ष १९९८.

४०. **संस्कार प्रकाश** : लेखक डॉ. भवानी शंकर त्रिवेदी
प्रकाशन केन्द्र – श्री लाल बहादुर शास्त्री केन्द्रीय विद्यापीठ, दिल्ली।

४१. **शतपथ ब्राह्मण एक सांस्कृति अध्ययन** :
लेखिका श्रीमती उर्मिला
प्रकाशन केन्द्र – मेहरचन्द लक्ष्मनदास पब्लिकेशन, नई दिल्ली।

४२. **शतपथ ब्राह्मण** : लेखक सायणाचार्य
प्रकाशन केन्द्र – नाग पब्लिशर्स ११/ए यू. ए. जवाहर नगर, दिल्ली।

४३. **संस्कृत हिन्दी कोश** : लेखक शिवराम आप्टे
प्रकाशन केन्द्र – मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली।

४४. **शुक्रनीतिसार** : लेखक जगदीश्वरानन्द सरस्वती
प्रकाशन केन्द्र – ऋषि देवी रूपलाल कपूर धर्माथ ट्रस्ट, बहालगढ़। प्रकाशन वर्ष – १९८९

४५. **षोडश संस्कार एक वैज्ञानिक विवेचन** :
लेखक डॉ. बोधगया झा
प्रकाशन केन्द्र – हंसा प्रकाशन चंदपोल बाजार जयपुर, राजस्थान, प्रकाशन केन्द्र – १९९७.

४६. **संस्कार भास्कर** : लेखक स्वामी विद्यानन्द सरस्वती
प्रकाशन केन्द्र – इन्टरनेशनल आर्यन फाउन्डेशन, बम्बई।
प्रकाशन वर्ष – १९९५.

४७. **सुश्रुत संहिता** :
लेखक डॉ. कृष्णलाल, अनुवादक श्री श्याम लाल
प्रकाशन केन्द्र – श्रीकृष्ण, बम्बई।
प्रकाशन वर्ष – १८२६

४८. **सामवेद** :
लेखक विनय कुमार अवस्थी, डॉ. कुंवर चन्द्रप्रकाश सिंह
प्रकाशन केन्द्र – भुवन वाणी ट्रस्ट मौसम बाग, लखनऊ।
प्रकाशन वर्ष – १९९४.

४९. **हिन्दू धर्मशास्त्र** : मूल लेखक पाण्डुरम वामन काणे
प्रकाशन केन्द्र – उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ।
प्रकाशन वर्ष १९६३.

५०. **हिन्दू संस्कार** : लेखक डॉ. राजबली पाण्डेय
प्रकाशन केन्द्र – चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी
प्रकाशन वर्ष – १९७८.

५१. **हिन्दू धर्मकोश** : लेखक डॉ. राजबली पाण्डेय
प्रकाशन केन्द्र – उत्तर प्रदेश संस्थान, लखनऊ
प्रकाशन वर्ष – १९४८

५२. **हलायुध कोश** : लेखक जयशंकर जोशी
प्रकाशन केन्द्र – हिन्दी समिति सूचना विभाग उत्तर प्रदेश, लखनऊ।

५३. **चरक संहिता** : लेखक डॉ. ब्रह्मानन्द त्रिपाठी
प्रकाशन केन्द्र – चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन
प्रकाशन वर्ष – १९८३

५४. **वैदिक संहिताओं में आचार मीमांसा** :
लेखिका डॉ. प्रतिभा रानी
प्रकाशन केन्द्र – परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली।

५५. **ऋग्वेदीय ब्राह्मणों का सांस्कृतिक अध्ययन** :
लेखक डॉ. बलवीर आचार्य
प्रकाशन केन्द्र – विद्यानिधि प्रकाशन, दिल्ली।
प्रकाशन वर्ष – १९९१.

५६. **यज्ञ मीमांसा** : लेखक श्री वेणी राम शर्मा गौड
प्रकाशन केन्द्र – चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी।
प्रकाशन वर्ष – १९९८

५७. **शुक्ल यजुर्वेद संहिता** : लेखक श्री कण्ठ शास्त्री
प्रकाशन केन्द्र – सद्‌गुरु गंगेश्वर इण्टरनेशनल, बम्बई
प्रकाशन वर्ष – संवत् २०३७

ALL MAHAPURANAS

Text with Shloka Index & Introduction

Agni Mahapurana
664 pp 500.00

Bhagavata Mahapurana-
4vols 2304 pp Set 1800.00

Bhavishya Mahapurana
3vols 1400 pp Set 1500.00

Brahma Mahapurana
728 pp 500.00

Devi Bhagavata Mahapurana
1154 pp 800.00

Ganesha Purana
832 pp 1993 500.00

Garuda Mahapurana
668 pp 500.00

Harivansha Purana
मूल, हिन्दी अनुवाद तथा श्लोकानुक्रमणी सहित
1802 pp 2vols set 1000.00

Kurma Mahapuran
298 pp 400.00

Linga Mahapurana
774 pp 400.00

Markandeya Mahapurana
मूल, हिन्दी अनुवाद तथा श्लोकानुक्रमणी सहित
828 pp 500.00

Narada Mahapurana
932 pp 600.00

Padma Mahapurana
2381pp 4vols set 2000.00

Shiva Mahapurana
1504 pp 2vols set 1000.00

Shiva Mahapurana (Small Type)
412 pp 500.00

Skanda Mahapurana
5600 pp 8 vols set 4000.00

Skanda Mahapurana (small type)
1452 pp 3vols set 2000.00

Vamana Mahapurana
472 pp 400.00

Vayu Mahapurana
540 pp 500.00

Vishnudharmottara Mahapurana
1246 pp 900.00

Vishnu Mahapurana - with two commentaries
680 pp 500.00

विष्णुमहापुराण (मूल, हिन्दी अनुवाद तथा श्लोकानुक्रमणी सहित) —डा० श्रद्धा शुक्ला
pp. 1000 2 vols Rs. 225.00

मत्स्य पुराण
मूल, हिन्दी अनुवाद तथा श्लोकानुक्रमणी सहित
—डॉ० श्रद्धा शुक्ला
Demy 1/8 2 vols set **Press**

Ekamara Purana
490 pp **150.00**

Kalki Purana
316pp **120.00**

Kuber Purana
(Text With Study) pp 752 **Rs.140.00**

Narasimha Purana
380 pp **100.00**

Saura Purana
290 pp **100.00**

Srimadbhargavopapuranam
—Brijesh Kumar Shukla
pp 348 **Rs. 124.00**

Vasuki Purana
260 pp **100.00**

आद्यु पुराणम् (मूल तथा हिन्दी अनुवाद साहित) **प्रेस**

Ashtadasha Purana Darpana
Contents of 18 Puranas
432 pp **180.00**

PURANAS WITH TEXT, TRANS & NOTES IN ENGLISH VERSWISE

Vishnu Purana – *H.H. Wilson*
1065 pp 2 vols Set 600.00

Matsya Purana – *N.S. Singh*
1252 pp 2 vols 600.00

Narasimha Purana —*Dr.S.Jena*
750 pp 400.00

Kalika Purana
Prof. Biswanarayan Shastri
1770 pp 3vols set 900.00

Shiva Purana (Uttara Khanda)
(Text with Eng. Trs. & Introduction)
Demy 1/8 pp 818 Rs. 152.00



NAG PUBLISHERS
11/A (UA) Jawahar Nagar, Delhi - 110007 (INDIA)